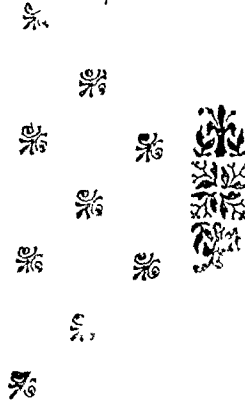


ग्रंथ प्रकाशकः—

रावजी सखाराम दोशी,

सोलापूर.

आमष्ट, मस १९२९



प्रिंटरः—

वंशीधर उदयराज पडित,

'श्रीधर' प्रेस, भवनीपेठ, सोलापूर.

आदिके दो शब्द ।

यह ग्रंथ पंचमकालमें होनेवाली जैनधर्मकी परिस्थितिपर तथा भेद प्रमेदोंपर प्रकाश डालकर हेयादेयको दिखानेकी इच्छासे निर्माण किया गया है। इसकी भाषा संस्कृतके समान है परंतु प्रचलित संस्कृत व्याकरण तथा कोषके अनुसार नहीं है। किंतु इसमें यह विशेष गुण है कि संस्कृत कम समझनेवाले भी इसका अर्थ पढ़ते ही समझ सकते हैं।

साहित्यमें चार भाषाएँ ऐसी बँटाई हैं जिनमें साहित्य लिखनेका काम होता है; उन्हींमेंसे एक अपभ्रंश भाषा है। अपभ्रंशका विशेष खुलासा कहीं देसनेमें नहीं आया है। परंतु हमारी समझ है कि इस ग्रंथकी भाषाको अपभ्रंश मानना चाहिये। इस हमारी कल्पनाको ध्यानमें लेकर साहित्यप्रेमी लोग इसकी भाषापर विचार करेंगे तो बहुत कुछ उपयोग होगा।

इस ग्रंथकी अंतिम सधिको देखते मानना पडता है कि इतना यह भाग एक ही अधिकार है।

इसके कर्ता और निर्माण समयका निश्चय अंतिम प्रशस्तिपर से पाठकोको करना चाहिये। अंतमें जो निर्माण काल बताया है उसका अर्थ अस्पष्ट है। इसलिये पाठक उसको ध्यानसे पढ़ें और मनन करें।

गत वर्ष कटनी शहरमें आचार्यवर्य श्री १०८ शांतिनागर महाराजने अपने सघके साथ चातुर्मास समाप्त किया था। सघमें ३० ज्ञानचन्द्रजी महाराज भी थे। उन्होने इस ग्रंथको हिंदी व्याख्यान सहित वहाँपर लिखकर तयार किया था और उसका वाचन सघमें किया जा रहा था। इमो समय वीर स. २४५४ के श्रावण मासमें सघके दर्शनार्थ १ गांधी नेमचंद भियाचंद, २ गांधी खेमचंद भियाचंद व गांधी उगरचंद भियाचंद जाति विसाहुमड उत्तरेश्वर गोत्रवाले दिगंबर जैन धर्मानुयायी ये तीनों भाई अपने निवास स्थान नातेपुतेसे कटनी पहुँचे थे। उस समय इस ग्रंथकी नवीनता और विशेषताका वर्णन श्री आचार्य महाराजके मुखसे सुनकर इन तीनों भाइयोको इस ग्रंथको छपाकर प्रसिद्ध करनेकी स्फूर्ति हुई और तदनुसार यह ग्रंथ उक्त बुधव्रयने छपाकर प्रसिद्ध किया है। यह भी एक पुण्यकार्य है। आशा है समाज इसके स्वाध्यायसे धर्ममें सुदृढ़ बनेगा।

रावजी सखाराम बोशी.

विषय परिचय.

श्रृंगिक महाराजका वर्णन व पचमकालकी धर्माधर्म प्रवृत्ति कैसी होगी ऐसा महावीर स्वामीसे प्रश्न पत्र १ से १७ उत्तरमें—अनेक अधर्माचरणोका वर्णन तथा कुदकुद स्वामीकी कथा, विदेह गमन (पृष्ठ ६४ से वैष्णव धर्मकी उत्पत्ति, पृष्ठ ८१ से गिरनारीपर श्वेताम्बरोसे कुदकुद स्वामीका वाद)

अष्ट द्रव्यके पूजनकी और अभिषेककी, स्तनकी, जपकी, प्रतिष्ठाकी महिमा
लुंठ मतकी उत्पत्ति, स्वरूप तथा सृतिपुजा समर्थन.

व्रत प्रकरण (श्रावकके दानादि कर्तव्य तथा सम्यक्त्वका स्वरूप व महिमा).
श्रीसमेदशिसरि वर्णन.

कर्म आसव तथा कर्म फलके और विधमा होना आदि दुःखोके संबधमें कुछ प्रश्न तथा उत्तर-
गिरनारी पर्वतका वर्णन तथा वहांपर श्रीधरसेन मुनिका वर्णन तथा श्रुतावतार कथा
ग्रथ प्रकृति.

११२ से
१८० से
२०९ से
२६१ से
२८८ से
३८९ से
३९३



विद्वद्धरनेभिचन्द्रविरचितः,

सूर्यप्रकाशग्रंथः प्रारभ्यते ।

१

मगल ।

श्रीमन्तं सर्वयोगीन्द्रव्याहृिह सन्मतिं जिनम् । वदे प्रारब्धसिद्धयर्थं सिद्धं सिद्धिकर वरम् ॥ १ ॥

अर्थ — अंतरंग अनतचतुष्टयादि लक्ष्मी और बहिरंग सभवसरणादि लक्ष्मी से सुशोभित, सर्व योगीश्वरों से पूजित, चार घातिया कर्मोंका नाश करने से सिद्ध अवस्था (भाविनयकी अपेक्षा) को प्राप्त हुए, समस्त प्रकारकी सिद्धियों को प्रदान करनेवाले, श्रेष्ठ ऐसे वीर प्रभुको मैं, प्रबलतर मोहनीयादि कर्मों के नाशकी सिद्धिकेलिये, नमस्कार करता हूँ । १ ॥

भावार्थ—श्रीवीरप्रभुके गुणों की अचिंत्य महिमाको प्रकट करनेके लिये ग्रंथकर्तानि श्रीमत आदि विशेषणों से यह बतलाया है कि जगत् में आम्बंतर और बहिरंग लक्ष्मीसे प्रभु वीर भगवान् अतिशय प्रभावित हैं । महान् ऋद्धियोंके

शर्मदं शर्मभोक्तार नेमिचंद्रं जितेश्याम् । वक्ष्ये सूर्यप्रकाशात्प्रयथमानददायकम् ॥ २ ॥

दृषभादिजिनान् सर्वान् पचकल्याणभूषितान् । ज्ञानादियारागान् शुद्धान् वदे भवविहानये ॥ ३ ॥

सर्वान् सिद्धान्हं वदे शर्ममशान् मदा खलु । लोकप्रशंसितारूढान् तेण सद्गुणसिद्धये ॥ ४ ॥

सुरीन् सर्वान्ह वदे पट्टन्दिशट्टणभृषितान् । मुक्तिमुक्तिप्रदानं नित्यं नानद्विगुणमडितान् ॥ ५ ॥

धारक योगीश्वरो से भी पूजित है । और ममस्त प्रकार रामादि भावों का नाश कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त होचुके है । ऐसे वीर भगवान्को नमस्कार करने से मेरे कार्य की सिद्धि हो । १ ॥

अर्थ—अंततसुखके स्वामी, अतएव जगत्के जीवों को अंतत सुखके प्रदान करनेवाले ऐसे श्री नेमिचंद्र जिनेंद्र भगवान्को नमस्कार कर परमानन्द देनेवाले इस सूर्यप्रकाश नामक ग्रंथका वर्णन करता हूं ।

भावार्थ—जिम प्रकार सूर्यके उद्योत से अधकार नष्ट होकर आनदकी प्राप्ति होती है उसी प्रकार इस सूर्यप्रकाश ग्रंथ से भव्य जीवों का चिरकालका घोर मिथ्याधकार नष्ट होकर उनको परम आनद अवश्य ही प्राप्त होगा । २ ॥

अर्थ—गर्भ जन्म तप ज्ञान निर्वाण ऐसे पचकल्याणों के द्वारा महान् अतिगम्य को प्राप्त हुए, समस्त प्रकारके दोषों से रहित, परम विशुद्धताको प्राप्त और जानरूपी मसुद्रके पारंगत ऐसे वृषभादि चतुर्विंशति परम तीर्थकर पमदेवको मैं संसार नाश करनेके लिये नमस्कार करता हू । ३ ॥

अर्थ—लोकके शिखरके अग्रभागमें विराजमान और अन्त सुख में निमग्न ऐसे ममस्त सिद्ध परमात्माओंको उनके गुणों की प्राप्तिके लिये मैं नमस्कार करता हूं ॥ ४ ॥

अर्थ—पचाचारादि छत्तीस गुणों से सुशोभित, अनेक प्रकारकी ऋद्धियों से विशुषित, और स्वर्ग मोक्षके प्रदान करने वाले ऐसे आचार्य परमेश्वरको मैं नमस्कार करता हू ॥ ५ ॥

पाठकान् बुद्धिशुद्धयर्थं वंदे देवेन्द्रवदितान् । सय पठति समाङ्गं शिष्यान् सपाठयत्यहो ॥ ६ ॥

सर्वान् साधून् वंदे त्रिहाले ध्यानकारकान् । योगसोषने ढक्षान् ध्यानज्ञानादिभिर्द्वये ७ ॥

जिानानात्पुत्राणां भार्तीं मतिवृद्धये । वंदे भवतु मे देवि । नोषलाभो भवे भवे ॥ ८ ॥

वंदे वृषभसेनादीन् ब्रह्मिपवगुणान्वितान् । नानर्द्धिमडितान् शुद्धान् गणाधीशान् सुरार्चितान् ॥ ९ ॥

अर्थ—जो ग्यारह अंग चौदह पूर्वको स्वयं पढते हैं और शिष्योंको पढाते हैं तथा देवेन्द्र नेन्द्र आदि से पूजनीक है ऐसे उपाध्याय परमेशीको बुद्धिकी वृद्धिके लिये मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ६ ॥

अर्थ—तीन कालमें ध्यानको धारण करने वाले, मन वचन कायका सरोधन करने वाले, इन्द्रियों को वश करने वाले, समस्त प्रकार के परिग्रह और आरंभ से विरक्त ऐसे साधु परमेशीको ज्ञान ध्यान की सिद्धिके लिये मैं नमस्कार करता हूँ । ७ ॥

अर्थ—श्री सर्वत्र वीतराग-अरहत प्रभुके सुसकल से प्रकट हुई अनादिनिधन सरस्वती देवी को बुद्धिके लिये नमस्कार दो । हे त्रिलोक को जानने वाली सरस्वती देवी ! आपक प्रसाद से मुझे भव भवमें सम्पन्नान की प्राप्ति हो ॥ ८ ॥

अर्थ—त्रैपन गुणों से सुशोभित महान् अतिशयोको प्रकट करनेवाली बडी २ ऋद्धियों से सपन्न, परम विशुद्ध, देवेन्द्रो कर वंदनीक ऐसे वृषभसेन आदि गणधर देवोको मैं नमस्कार करता हूँ ।

भावार्थ—२८ ब्रूल गुण और २५ उपाध्यायके गुण इस प्रकार दोनो गुण मिलाकर गणधर देवमें ५३ गुण होते हैं । गणधर देवोके मनःपर्यय ज्ञान होता है और भी अनेक सातिशय ऋद्धियां होती हैं । वे समस्त मुनीश्वरो के स्वामी होते हैं । तथा देव मनुष्य और अहर्मिद्रोंकर पूज्य होते हैं । आदि तीर्थकर ऋषभदेवके मुख्य गणधर श्री

मुनीन्द्रान् जिनसेवादीन् वंदे धर्मप्रकाशकान् । दिशावासोधगन् वीरान् ज्ञानध्यानात्मानसान् ॥ १० ॥

जिनेन्द्रं शर्मदातारं सीमंधरगृहं मुद्रा । दत्त सुदर्शनं पूर्वं कुंदकुदत्तपोनिधे ॥ ११ ॥

पूर्वालये सुदरे क्षेत्रे विदेहे भव्यसभ्यते । वदेहं मुक्तिभर्तारं तत्पदासाय केवलम् ॥ १२ ॥

कलंकनाशने वीरमकलंक दयापतिम् । वदे बौद्धमतेभाना नाशने सिंहसदृश (पाटवं) १३ ।

इपमसेन थे । इसी प्रकार अन्य तेईस तीर्थंकरोंके गणधर जानने । महावीर स्वामीके मुख्य गणधर गौतम स्वामी थे । ग्रंथकार इन समस्त गणधर देवोंको बुद्धिकी अतिशयता प्राप्त होनेके लिये नमस्कार करते है । ९ ।

अर्थ-परम धर्मके प्रकाशक, दिशारूपी वस्त्रको धारण करनेवाले (भगवती दैगंवरी दीक्षिके धारक) ज्ञान ध्यान में लवलीन ऐसे जिनमेनाचार्यादि मुनीश्वरोंको मैं नमस्कार करता हूं । १० ॥

अर्थ-स्वर्ग मोक्षके सुखों का प्रदान करनेवाले, तपोनिधि आचार्यवर्य श्रीकुदकुद स्वामी को अपना दर्शन देकर छुतकृत्य करनेवाले, भव्यजीवोंसे परिपूर्ण ऐसे पूर्व विदेह क्षेत्रको अपने अवतार से पवित्र करनेवाले, मुक्ति रमणीके स्वामी, ऐसे श्री सीमंधर स्वामी को मैं आनंदके साथ उनके गुणोंकी प्राप्तिके लिये सदा नमस्कार करता हू । ११ । १२ ।

समस्त प्रकार के कलकों को नाश करने में साहसिक वीरोत्तम, दयाके अधिपति और बौद्धमतरूपी उद्भूत गजराजके नाश करनेके लिये प्रबल सिंह ऐसे भगवान् अकलंक देव को नमस्कार करता हूं ।

भावार्थ, यदि बौद्धराजाके नगरमें जैन मतका रथ सबसे प्रथम उस के ही नगरमें नहीं निकलता तो जैन धर्म के लिये यह एक बड़ी भारी कालिमा थी । उस कालिमाका नाश करने वाले और ज्वालामालिनी देवीके सहा-रसे, बौद्धोंसे स्थापित तारा देवी की अदम्य शक्तिको नाश करने वाले और शास्त्रार्थ द्वारा जगतमें जैनधर्म की प्रभावना स्थापन करने वाले अकलंक भगवान्के लिये मैं नमस्कार करता हू । १३ ।

बड़े सकलकीर्त्याल्य मुनीन्द्र गबन मुदा । चन्द्रशीतिशयानां कतरिं तल्पदास्ये ॥ १४ ॥

मंगलार्थं नमस्कृत्य एतेषा चण्णाब्जयो । वरुच्यहं च शृणुष्व वै यथोच्येनं बुधोत्तमा ॥ १५ ॥

जबुद्धीपोड्र विख्यातस्तन्मध्ये राजते महान् । क्षेत्रोहि भारतो नाम्ना रिपुखडविमडित ॥ १६ ॥

तस्मिंश्च शोभते ह्यार्यखडो वै आर्यमर्ययुक् । देशे च माघे ल्यते सर्वेषु चोत्तमे खलु ॥ १७ ॥

अर्थ—शुद्ध चारित्रिके धारक, परमपवित्र और चौरासी ग्रथोके निर्माणकर्ता यतीश्वर सकलकीर्ति आचार्यकेलिये भे उनके गुणप्राप्त्यर्थं नमस्कार करता हूँ ।

भावार्थ—सकलकीर्ति आचार्यने चौरासी ग्रंथ बनाये है । यद्यपि इस समय समस्त ग्रंथ देखने में नहीं आते हैं तो भी उनमेंसे बहुत कुछ मिलते है । १४ ।

अर्थ—उपर्युक्त अरहत सिद्ध आचार्य उपाध्याय सर्व सांयु और सीमंधरादि मगलोत्तम परमेश्वरोंके चरण कमलको मंगल कामना के लिये नमस्कार कर यह सूर्यप्रकाश नामका ग्रंथ कहता हू हे भव्योत्तम हो ! आप लोग आत्मकल्याणके लिये इसको सावधानतापूर्वक श्रवण करें ।

अर्थ— इस प्रसिद्ध जंबू द्वीपमें भारत वर्ष नामका एक सुंदर क्षेत्र है । जो छह खंडोसे सुशोभित है १६ ॥

अर्थ— उस भारतक्षेत्रमें एक आर्य खंड है और पाच म्लेच्छ खंड हैं । आर्य खंडमें उत्पन्न हुए मनुष्योको क्षेत्रज्ञ आर्य कहते है । उस आर्य खंडमें एक मगध नामका सुंदर देश है । जो समस्त देशो से उत्तम है । १७ ॥

क्षेत्रज्ञ आर्य एक समान नहीं होते हैं । उनमें भी जाति आर्य कर्म आर्य चारित्र आर्य आदि अनेक भेद हैं जैसे ही मंगी चमार कोली आदि क्षेत्रज्ञ आर्य होने पर भी अत्यन्त हैं क्षेत्रज्ञ आर्यों में जिनको नीचगोत्र का उदय प्राप्त हुआ है ऐसे

पुरो वै साति देवाना नदद मज्जमैतु । नाभना गजगृहश्वर मधुत्रो पतपत्स । १८ ॥
 तमी दमी दृती पृथ्वी निर्वर्त्ता नृभिर्नृषी । युद्धशयि हयपत्न्यात्त्रिभङ्गपत्नी गुप्तो ॥ १९ ॥
 श्रीबीरङ्गिगानप्य मेतापिनसता सदा । गोक्ता धं पृथ्वी सार्धं मृ-गीमप्रती मृदु ॥ २० ॥
 त्रिवर्णीयान्ते दद प्रतापचिन्मूषण । मुर्धेश्वर सतिनामनी रूपेण स्म्यशोण ॥ २१ ॥

अर्थ— मगध देयमें - देवताओंको भी आनन्द देनेवाला, जेसा गजगृह नामका एक भव्य नगर था ।
 जिसमें मज्जम जन निवास करते थे । और जो नव धान्यादि सुग सामर्थीन परिपूर्ण था । १८ ॥

अर्थ— राजगृह नगरका अधिपति श्रमायान दगालु कृनहृल्य कामादि शुभोपाय दान करनेवाला, नीतिवत्
 समस्त कर्तव्योंको जाननेवाला, देवताओंमें पूज्य अथवा मनुष्य और गजाओंमें पूजित गृह क्षायिक सम्पददर्शन को

जीप अपने शरीरकी स्थिति प्रथम नीच की गये हैं उनके साथ साति आर्थों का दान पान संभय । दृग्गोच्यतादि मयं नृषी
 होता है । ऐसे मनुष्यों को मृनियत भाण करने की योग्य नृषी होती है । स्मिन्ने ही भोग उकार्य होने हैं । निनचा चारि
 आचाराण आन्व की आज्ञाके विरुद्ध होता है । जो स्त्रीका पुन संस्कार / पिथका विभाग करते हैं, जो रिजातीय रिवाज
 करते हैं जो अपने कुल व चारिके योग्य चारिण के विरुद्ध नाम ग-णादि करने स्थापित हैं वे भी उकार्य ही हैं ।

क्षेत्र आर्थों की अपेक्षा साति आर्थ अधिक पूज्य हैं । वे मोन वर्णिके पथभारी हैं । शिशु दृक और विशुद्ध नेत्रों
 जो ऊच गीत्र के उदय में उत्पन्न (चारित्र भाण करने योग्य) जातिमें उत्पन्न हुए हैं उनको चाति आर्थ कमत द ।
 जाति आर्थ में सावय कर्म और निरापय र्थ आदि के कारण वदुत में भेद है । जाति कुल अनादि निधन है । और उनका संबध
 नीच-ऊच गोत्र से है । ऐसा नहीं है कि जिसका गोत्राणार (भया) कला हो पर ऊच और जिसका भया नीचा हो पर नीच हो ।

पुत्रवस्त्वप्रजाना च पालको बुद्धिमान् शुचि । दुष्टाना नाशकर्ता च न्यायवान् पुत्र्योत्तम ॥ २२ ॥

इत्याद्यन्वयगुणैर्युक्तो नाम्ना श्रीश्रेणिको नृप । तस्मिन्नासीदुणे पूर्ण ईदृशैरुच्यलै परै ॥ २३ ॥

तस्यासीत् मृपते राज्ञी चेलना शातदायका । नास्ना शुभगुणैर्युक्ता दंभभावविवर्जिता ॥ २४ ॥

शुद्धशीलवैर्युक्ता रूपेण निर्जिताप्ससा । भर्त्राज्ञापालका नम्रा धर्ममार्गविवक्षणा ॥ २५ ॥

सृगभावममानेत्रा गुग्गा क्षायिकदर्शना । ज्ञानविज्ञानसभन्ना गत्या च कारिणी जिता ॥ २६ ॥

मनोमकरा भर्तुर्मोदवारविमडिता । वामासु खलु मर्वासि मुल्या ह्यष्टगदापहा ॥ २७ ॥

गुर्भज्ञाधारका मन्युवर्जिता सत्क्रियान्विता । जिनार्चनरता भक्त्या वासर प्रति शर्मणे ॥ २८ ॥

धारण करनेवाला, प्रतापमान्, तेजस्वी, महामत्ता, गुणमान्, श्री वीर भगवान् के चरणकमलोंकी सेवा करनेवाला, जैन धर्मका परमभक्त, कुटुम्ब परिवारोंकी बहुसख्याके साथ राज्यका उपभोग करनेवाला, शूर-वीरशिरोमणि, धर्म—अर्थ काम पुरुषार्थोंके पालन करनेमें समर्थ, अपने प्रताप कर सुर्गको भी तुच्छ करनेवाला, चलवान्, कामदेवके समान रूपवान्, भजाको पुत्रके समान पालन करनेवाला, बुद्धिमान्, पवित्र, दुष्ट और दुर्जनोंका निग्रहकर्ता (दण्ड देनेवाला) नीतिपर चलनेवाला इत्यादि अनेक उत्तमोत्तम और पवित्र गुणोंसे विश्वपितृ ऐसा श्रेणिक नामका राजा था । २३ ॥

अर्थ—श्रेणिक महाराजके चेलना नामकी अत्यन्त सुन्दर गुणवती रानी थी जो कि सवराजियोंमें मुख्य थी। यद्यपि चेलनामें अनेकानेक उत्तमसे उत्तम और पवित्रसे पवित्र गुण थे जिनकी गणना होनी अशक्य है। तो भी उनमेंसे मुख्य २ गुणोंका दिग्दर्शन इस प्रकार है। शुद्ध शील और शुद्ध व्रतोंको धारण करने वाली, दम्भवृत्तिसे रहित, रूपसे अप्सराओंको जीतनेवाली, अपने स्वामीकी आज्ञाका पालन करनेवाली, नम्र, धर्ममार्गके जाननेमें अतिशय निपुण, सृग-के बालकके समान सुन्दर नेत्रवाली, शुद्ध धार्मिक सन्त्यदर्शनको धारण करने वाली, ज्ञान और विज्ञान गुणोंसे विश्वपितृ,

स्वमतस्येषु वात्सल्यकरा न्यायादिभिः सह । मुनीश्विना गृहस्थाना वेददानप्रदायका ॥ २९ ॥

यात्राभिश्चैव धर्मस्य वर्द्धका स्यंदनस्य वै । स्वपुरे श्रामणेनैव सिद्धभूमौ निरालसा ॥ ३० ॥

प्रतिपद्दर्शनी भूयो तामाप्य शर्मदायकाम् । तथा साकं च संरेभे पूर्वसुकृतसंचयात् ॥ ३१ ॥

शर्मगनौ गंतं कालं न जानंतौ च तस्थुः । अविराध्य जिनेन्द्रोक्तं धर्म कामार्थदायकम् ॥ ३२ ॥

गतिसे हथिनीकी गतिका भी तिरस्कार करनेवाली, मनको हरण करनेवाली, स्वामीको आनंद देनेवाली, गुणवती, समस्त स्त्रियोंमें मुख्य, आठ प्रकारके मर्दोंसे रहित, धर्मगुरुओंकी आज्ञाको अखंड रीतिस पालनेवाली, क्रोध रहित, श्रेष्ठ क्रियाएँ जो श्रीजिनेन्द्र देवने आगममें कही हैं उनको पालन करनेवाली, आगमके अनुसार अपनी जीवनचर्याको पालन करने वाली, श्री जिनेन्द्र देव की पूजा भक्ति और सेवा आदिमें नित्यप्रति तत्पर रहनेवाली, अपने धर्म के अनुयायी गृहस्थों को भोजन पान आदि देकर वात्सल्य अगको प्रकट करने वाली, व्रती पुरुषों की भक्तिपूर्वक वैयावृत्त्य आदि सेवा करने वाली, मुनीश्वरोंको आहार दान-औषध दान-शास्त्रदान और वसतिका दानको भक्तिपूर्वक देनेवाली, जैनधर्मपरायण गृहस्थों की सेवा सुश्रुषा करनेवाली, जैनधर्मकी उत्कृष्ट प्रभावना प्रकट करने के लिये सदैव रथोत्सव मेला आदि महोत्सव करनेवाली, और सिद्ध भूमियों की यात्रा प्रतिष्ठादि के द्वारा अपने जीवनको कृतकृत्य माननेवाली । और प्रमाद रहित, धार्मिक कार्यों में तत्पर रहनेवाली थी । इनको आदि लेकर और भी बहुत से गुण चेलना रानीमें थे । २४ । २५ । २६ । २७ । २८ । २९ । ३०

अर्थ-प्रतिपदके चंद्रमाके समान आल्हाद करनेवाली और सुखोंको प्रदान करनेवाली ऐसी अपूर्व स्त्रीको पाकर श्रेणिक महाराज पूर्व भव के सातिशय पुण्यके योग से उसके साथ मनोहर भोगोंका सेवन करता था । ३१ ॥

अर्थ-चेलना महारानी और श्रेणिक महाराजने पूर्व पुण्यके उदयसे सुखमें निमग्न होकर अपना व्यतीत

एव राज्य प्रकृतीण सावद्यादिविबर्जितम् । यावदास्ते सुखेनैव उदरं शृणुथापरम् ॥ ३३ ॥

अथैकदा सभामध्ये आनदरसनिर्भर । वनपाल समागत्य भूपं नत्वा न्यजिज्जपत् ॥ ३४ ॥

राजेन्द्र शृणु मे गच्छ विपुलाद्रौ जिनाधिराट् । महावीरो गुणैर्युक्त मभावात् शुभोदथात् ॥ ३५ ॥

तस्य प्रभावत सर्वे सिंहा नागा दुराशया । मातंगा मुग्धेनद्या मंजाता भद्रमानसा ॥ ३६ ॥

चरावर्तु विना सर्वे नगा पुण्यफलोत्करं । मृणितान्तृषिक्तांरि आसन्नैनमनोहरा ॥ ३७ ॥

होता हुआ काल भी नहीं जाना । परंतु समस्त प्रकार की कामनाओं को पूर्ण करनवाला श्रीजिनेंद्र भगवान् के धर्म ही यथावत् पालन करनेमें यत्किञ्चिन्मात्र भी प्रमाद नहीं रक्खा ॥ ३२ ॥

अर्थ— इस प्रकार भेषिक महाराज सावध प्रवृत्ति से रहित, सुसपूर्वक राज्य शासनको नीतिपूर्वक पालन कर रहे थे उस समय एक नयीन बात हुई बृह श्रवण करना चाहिये । ३३-॥

अर्थ— जयानतर— एक दिनस श्रेणिक महाराज सभामें विराजे हुए थे कि चहापर आनदसे हर्षित एक वनवाली आया और महाराजको नमस्कार कर प्रार्थना करने लगा ॥ ३४ ॥

अर्थ— हे राजेंद्र ! मेरे वचनको कृपा कर श्रवण कीजिये । आपके पुण्यके उदयसे विपुलाचल पर्वतपर अनंत गुणोंके विकासमें परमोलूट पदको प्राप्त ऐसे देवाधिदेव श्री महावीर प्रभु पधारें है ॥ ३५ ॥

अर्थ— उनके प्रभावसे दुष्ट अभिप्रायवाले ऐसे सिंह हाथी भृग गाय आदि क्रूर गायी अपना २ स्वाभाविक वैर भाव तजकर भद्रपरिणामी होगये हैं ॥ ३६ ॥

अर्थ— हे राजेंद्र ! और भी महुतसे चमत्कार हो रहे है । वंसत ऋतुके विना ही समस्त वनामलि फल फलोसे प्लवित हो गई है । तृप्तिको करनेवाली और नेत्रोंको प्रिय ऐसी वनराजकी अपूर्व शोभा हो गई है । ३७ ॥

इत्याद्याश्चापरा शोभा या जाता वर्णिता मया । सा खलु मगधाधीन महदानंददायका । ३८ ॥
 वनाधिप इति धृत्त्या तस्थौ चोपायनं पुर । तम्यैव कथयित्वा च मोदद्वृन्देन स तदा ॥ ३९ ॥
 मगधेशोऽपि तस्मै च दत्त्वा वै पारितोषिकम् ॥ स्वांगे स्थित पुन स्थानादुत्थायासौ मुद्रा कृती ॥ ४० ॥
 यद्विशि आगतो वीर तद्विजि नम, अभ्यधात् । परोक्षा हि नतिलोकं मतं सदर्शनोपमम् ॥ ४१ ॥
 पश्चात्स्थनगरे भेरीमानदस्रपुरिताम् । दापयित्वा वर्लोकैः स्वस्ववाहनमूषितै ॥ ४२ ॥

अर्थ—हे मगधाधीन ! इस प्रकार आनंदके देनेवाली अनेक प्रकारकी शोभा जो मैंने वर्णन की है वह वनमें हो रही है । ३८ ॥

श्री भगवान् महावीर स्वामीका त्रिपुलाचल पर्वतपर पगारनंका शुभ समाचार निवेदन कर और उनके प्रभाव से विना ऋतुके फले फूले हुए फलफूलकी भेट रखकर खडा हो गया ॥ ३९ ॥

अर्थ—वह मगधेश्वर श्रेणिक महाराज उस वनपालको अपने शरीर पर के समस्त बख्ताश्रुपणको प्रदान कर अत्यंत आनंदके साथ अपने सिंहासनसे उठा ॥ ४० ॥

अर्थ—जिम दिशाकी तरफ महावीर स्वामी पधारे हुए थे उस दिशाकी तरफ मुख करके श्रेणिक महाराजने वीर प्रभुको नमस्कार किया । सो ठीक ही है, क्योंकि परोक्ष नमस्कार भी लोकमें सम्यग्दर्शनके समान माना गया है । भावार्थ—परोक्ष नमस्कार करनेसे विशेष श्रद्धा प्रतीत होती है । विना विशेष श्रद्धाके परोक्ष नमस्कार हो नहीं सकता । इसी लिये वीर प्रभुको परोक्ष नमस्कार करना विशेष सम्यग्दर्शनके समान बतलाया है ।

अर्थ—फिर श्रेणिक महाराजने परम आनंदकी देनेवाली ऐसी घोषणा अपने नगरमें दिलवाई और समस्त नगरनिवासियोंको वीर प्रभुकी वदनाके लिये चलनेको कहा । नगरनिवासी अपने २ वाहनो पर चढकर तथा

प्रभुको वीरयात्रार्थ स प्रियो भव्यभावयुक् । पुष्पदीपादिद्रव्यौघै सपन्नो नागवाहन ॥ ४३ ॥

आतोघै सकला काष्ठा रजथत् पूजनोचते । चचाल नगात्स्वन्य ससैन्य इव देवराट् ॥ ४४ ॥

आरात् वीरजिनेन्द्रस्य सरण ममवादिकम् । दृष्ट्वा गजात्सप्तुतीर्य राज्याक च निराकरोत् ॥ ४५ ॥

पट्ट्या सकलभव्यौघै सार्द्धे तन्मस्तकोपरि । गत्वा श्रीजितस्थानस्य दद्या प्रादक्षिणा मुदा ॥ ४६ ॥

पश्चाद्दि द्वारमार्गेण प्रवेशमकरोत्स च । मृत्यावलोकन चक्रे वीरराजस्य राजराट् ॥ ४७ ॥

वस्त्राभूषणोंसे मत्र प्रकार अलकृत होकर महाराज श्रेणिक के साथ वीर प्रभुकी वंदना करनेको चले ॥ ४२ ॥

अर्थ— श्रेष्ठ भावोंसे हर्षित महाराज श्रेणिक वीर प्रभुकी पूजाके लिये रत्नोंके थालोंमें पुष्प-टीप आदि मनोहर मामथ्री लेकर और हाथी पर बैठकर चला ॥ ४३ ॥

अर्थ—अपने प्रभावसे समस्त दिशाओंमें प्रकाश करता हुआ वह श्रेणिक महाराज सेना महित और पूजनकी सामथ्री महित गमन करता हुआ देवेन्द्रके समान शोभाको प्राप्त हुआ ॥ ४४ ॥

अर्थ—श्री वीर भगवान्के समनसरण को समीप आया देखकर श्रेणिक महाराज अपने हाथीसे नीचे उतरा और उसने समस्त राज्यचिन्हों का परित्याग किया । ४५ ॥

अर्थ—महाराज श्रेणिक सपूर्ण भव्यों के साथ २ अपने मस्तकको विनय से नवाकर समनसरण में पैदल ही गये । और बड़े हर्षसे श्रीजिनेन्द्र भगवान् के स्थान की प्रदक्षिणा दी ॥ ४६ ॥

अर्थ—महाराज श्रेणिक ने फिर द्वारमार्गसे समनसरण में प्रवेश किया और वहां पर समनसरण की महान दिव्य विभूतिको आश्चर्यके साथ देखा ॥ ४७ ॥

टीप—महान विभूतिके स्वामी मडलीक राजा श्रेणिकने वीर प्रभुके समनसरणकी विभूतिको बड़े आश्चर्यसे देखा । नीतराग

मानस्तंभादिभूतानां विभोर्भक्तिं व्यलोक्यम् । तत सोपि दृढगमि चेलनाचित्रजवधी । ४८ ॥

सभाद्वादशमव्यस्था गंधकुटी मनोराम् । पश्चात्तद्योपरि दृष्ट्वा त जिन भवनाग्राम् ॥ ४९ ॥

अर्थ - चेलना महारानीके चित्रको रजन करनेवाले श्रेणिक सहाराजने यममरणमें सभसे प्रथम मानस्तम्भ और स्तुपादिकों की दिव्य विश्वतीकों देखा और फिर, । ४८ ॥

अर्थ -- गारह मभाके मध्य मनोहर गंधकुटी पर विराजमान और जन्ममरणरूप समारको नाज करनेवाले ऐसे श्री वीरसगवानको देखा ॥ ४९ ॥

सर्वज श्रीवीर भगवानके अवलोकनको छोडकर विभूतिको देखनेका कारण क्या ? इस प्रश्नका समाधान यह है कि एक तो वीर प्रभुकी विभूति दिव्य थी जो राजा महाराजा और चक्रवर्तीके भी नहीं हो सकती है । इतनी महाविभूतिके धारक अदृश्य महान पुरुष है, इस प्रकार का ज्ञान श्रेणिक महाराजको उत्पन्न हुआ । जो बात मनुष्योंमें आसाधारण है वह बात श्रीवीर प्रभुमें है इस लिये वीर प्रभु जातके प्रभु हैं । दूसरे-भाषाण जनना विभूति आदि के देखने में स्वाभाविक रूपसे उत्सुक रहती है । कितने भव्य परिणामी भगवानकी विभूतिको देखकर तथा उससे भगवानकी लोकोत्तर महिमाको जानकर सम्यग्दृष्टी हुए हैं और फिर भगवानके गुणोंमें आसक्त हुए हैं । मंदिरोंमें आज चपर छत्र भामंडल आदि महान शोभा की जाती है उसका भी एक यही अभिप्राय है कि ससारी जीव दिव्य सपदाको देखते हुए श्रीजिनेन्द्र भगवानका स्वरूप भी देखते हैं और उससे आत्मकल्याण करते हैं । जो लोग कहते हैं कि मंदिरों में छत्र चपरादि विभूतिकी क्या जरूरत है । वीतराग प्रभुको वह क्यों चाहिये ? उनको जिनधर्मकी महिमाको प्रकट करनेका तरीका मालुम नहीं है और भगवानका समोसण कैसा था सो भी मालुम नहीं है ।

सिंहविष्टरमध्यस्थ तप्तकाचनभास्वरम् । तुर्यास्थभृषितं शुद्धं सार्वं नंत्रमनोहरम् ॥ ५० ॥
 बद्धमानं महादेवं मानमायादिवर्जितम् । वागात्मभायातिशयसंपन्नं च निरंजनम् ॥ ५१ ॥
 कोट्यादित्याधिकतेज कामद मोहभजकम् । सर्वदेवाधिदेवं वै शकर शरणार्थिनाम् ॥ ५२ ॥
 इन्द्रोरागरेन्द्राद्यै सेवगार्धि तामसापहम् । प्रातिहार्यादिभृत्योपलक्षित तारकं वरम् ॥ ५३ ॥
 ईदृश लोकपालेशं भूमिपालो हृदि स्फुट । प्रागानंद प्रदत्वाहि त्रिप्रभा च प्रदक्षिणाम् ॥ ५४ ॥
 वस्वंगविधिना त च नत्वा इज्या च तस्य वै । कृत्वाष्टशुभद्रव्यौधै पापालं नाशितुं स च ॥ ५५ ॥

अर्थ—सिंहासनपर विराजे हुए तपाये हुए सुवर्णके समान दिव्य क्रांतिके धारक, महान देवोंके भी अधिदेव, चतुर्मुख श्रीवर्द्धमान भगवान् देखे । जिनके मान मायादि एक भी विकार नहीं था, जो दिव्यध्वनि शुद्ध आत्मा और अपूर्व पुण्योदयसे अत्यंत सुशोभित थे । जो समस्त प्रकारके दोषोंसे रहित परमविशुद्ध तथा समस्त जीवोंके हितकारक थे । जिनके चार मुख थे । नेत्रोंको तृप्तिकारक अतिशय मनोहर थे । जो करोड़ों सूर्योंसे भी अधिक तेजस्वी ममस्त प्रकारकी कामनाको प्रदान करनेवाले, मोहका नाश करनेवाले, शरणार्थी जनोको सर्व प्रकारके सुखोंको प्रदान करनेवाले, इंद्र धरणेन्द्र नरेंद्र आदि महान पुरुषोंसे पूजित, मोहरूपी गाढ अधकारको सहसा नाश करनेवाले, प्रातिहार्यादि दिव्य विभूतियोंसे सुशोभित, सप्तासे तारक और जगतके ईश थे । ऐसे श्री वीर प्रभुको देवसक्र श्रेणिक महाराज अपने मनमें अतिशय प्रसन्न हुआ और भगवान्की तीन प्रदक्षिणा दी । ५०-५४ ॥

अर्थ—श्रेणिक महाराजन श्री वीर प्रभुको अष्टांग नमस्कार किया । और पापोंके नाशके लिए उत्तम और पवित्र अष्टद्रव्यसे भगवान्की पूजा की ॥ ५५ ॥

समारेभे पुनस्तस्य स्तवनं कर्तुमादरात् । पूर्वाहोर्ध्वं कृत यत्तत्राशार्थं चाग्रहानये ॥ ५६ ॥
 तुभ्य नम सकललोकहितंकराय । तुभ्य नम सकलकर्मविनाशकाय तुभ्यं नम सकलभूतसुतारकाय । तुभ्यं नमो जिनवैन्द्र सुखाकृताय ॥ ५७
 तुभ्यं नम सकलदोषविवर्जिताय । तुभ्य नम सकलमर्मप्रदर्शकाय ॥ तुभ्य नम परमसेवकतारकाय । तुभ्य नमो रतिपतेर्मदनाशकाय ॥ ५८
 तुभ्य नमोऽखिलरूपविवर्जिताय । तुभ्य नमोऽखिलभवोदधिशोषणाय ॥ तुभ्य नम परमकेवलज्ञानदाय । तुभ्यं नम परमदेवजिनेश्वराय ॥ ५९

अर्थ—महाराज श्रेणिकने पूर्वेके पापोंका प्रधालन करनेके लिए और आगामी होनेवाले पापोंकी शांतिके लिए श्री वीरप्रभुका स्तनन करना प्रारंभ किया ॥ ५६ ॥

अथ—हे वीर प्रभो ! समस्त जीवोंके आप हितकारक हो इसलिए आपको नमस्कार है । समस्त कर्ममल के नाश करनेवाले हो एतदर्थ नमस्कार है । समस्त प्राणियोंके संसार समुद्रसे तारक हो इसलिए नमस्कार है । और चंद्रमाके ममान सुरको प्रदान करनेवाले हे जिनचंद्र, आपको नमस्कार है ॥ ५७ ॥

अर्थ— हे वीर प्रभो, आप समस्त प्रकारके दोषोंसे सर्वथा विनिर्मुक्त है एतदर्थ आपको नमस्कार है । हे वीर, आप समस्त पदार्थोंमें सारश्रुत (समस्त पदार्थोंका मर्म) आत्माके प्रकाशक हो इसलिये नमस्कार है । हे भगवन् ! आप अनन्य भक्त सेनकोंके शीघ्रही ससारसे तारक हो एतदर्थ नमस्कार है । और कामदेवके मदकी नाश करनेवाले हो इसलिये आपको नमस्कार है ॥ ५८ ॥

अर्थ— हे भगवन्, आपने चारों प्रकारके (क्रोध, मान, माया, लोभ) कषायोंको नाश किया है एतदर्थ नमस्कार है । चार प्रकार नरक तिर्यच मनुष्य देवगति रूप ससारसमुद्रको शोषण कारक होनेसे नमस्कार है । परम केवलज्ञानके प्रदान करनेवाले ही इस लिये नमस्कार है । हे जिनेश्वर, हे परम देव, आपको नमस्कार है ॥ ५९ ॥

तुभ्य नम सकलदर्शनधारकाय । तुभ्य नम सकलज्ञानप्रकाशकाय ॥ तुभ्य नम सकलवीर्यसुधारकाय । तुभ्यं नम सकलशर्मपराधिकाय । ६०
 तुभ्यं नम सकलसत्त्वहितंकराय । तुभ्य नमो दशसुधर्मविवर्द्धकाय ॥ तुभ्य नम सकलपापविनाशकाय । तुभ्य नम सकलतत्त्वप्रकाशकाय ॥
 तुभ्य नम सकलव्यतिविनाशकाय । तुभ्यं नम सकलमूषणभूषकाय ॥ तुभ्यं नम सकललोकविभासकाय । तुभ्यं नम परमपूज्यनिरंजनाय
 तुभ्यं नमो हतप्रमादजिनाश्रिमाय । तुभ्य नम परमदेवमुनीश्वराय ॥ तुभ्य नम परमशातपदस्थिताय । तुभ्य नमो वसुगुणाकितगर्मदाय ॥
 इत्याद्यनेकगुणव्यूहयुक्त त्वा वीरवीरेशमह नमामि ॥ सुरेन्द्रभृतिर्गणनाथकोऽपि क्षमो हि नो वक्तुमहो गुणान् ते ॥ ६१ ॥

अर्थ— हे जिनेश ! आप अनंत दर्शनके धारक हो इस लिये आपको नमस्कार है । अनंत ज्ञान के प्रकाशक हो इस लिये नमस्कार है * । अनंत वीर्यके धारक हो इस लिये नमस्कार है । और हे जिनराज ! अनंत सुखके स्वामी होनेसे आपको नमस्कार है ॥ ६० ॥

अर्थ— हे प्रभो ! आप सबल जीवोंके हित करनेवाले दश प्रकार उत्तमक्षमादि धर्मके बढानेवाले हैं, समस्त प्रकारके पापसमूहों के नाश करनेवाले हैं । सकल तत्वोंके प्रकाश करनेवाले हैं । इसलिये आपको नमस्कार है । ६१ ॥

अर्थ— समस्त प्रकारकी पीडाके नाशक—समस्त प्रकारके भूषणसे विश्रुत समस्त लोकके प्रकाशक—समस्त दोषोसे रहित परमपूज्य हे वीर प्रभो ! आपको बार बार नमस्कार है । ६२ ॥

अर्थ— समस्त प्रकारके प्रमादोंके निरवशेष नाशक होने से जिनवर पदको प्राप्त, केवलज्ञान प्राप्त होनेसे मुनीश्वर पदके धारक, वीतराग होने से परम शांत अवस्थाको प्राप्त, और आठ प्रकारके गुणों से युक्त होनेसे समस्त प्रकारके सुखोंके प्रदाता परम देवाधिदेव हे वीर ! आपको नमस्कार है ॥ ६३ ॥

अर्थ— इत्यादि अनंत गुणोंके समूहसे सुशोभित हे वीर प्रभो ! आपको मैं नमस्कार करता हू । हे वीर !

गुणान् जिनाधीश कथ हि मंद शत्रुमि ते वक्तुमहो सुरार्थः ॥ शरण्ययोग्य मयि नाथ दीने दया कुरुत्तारक ताग्य त्वम् ॥ ६५ ॥
 जनार्दनो वा खलु ब्रह्मणो वा शिवस्तथा केवलनामुक्ताः । वार बहु दृष्ट दयोऽभिज्ञतो वै त्वं नो कदाचिन्नपि वीक्षितोऽपि ॥
 वरं न याचे सविधे तवापि त्रिलोकराजस्य जिनेन्द्रदेव । किंतु हृदि स्वदुणसततिर्हि मेस्तु सदा चिन्मय आशिषा ते ॥ ६७ ॥
 पूत्कारमेव शृणु वीरनाथ करोमि देव सदयो भव त्वम् । अन्योहि देवो भवनेषु नास्ति तस्सदृशो दोषविकाराहीन ॥ ६८ ॥
 आपके नमस्त गुणों का वर्णन करना मुझसे अशक्य है क्योंकि समस्तविद्याके पारगामी इन्द्र गणधर देव भी आपके समस्त गुणोंको कहने के लिये असमर्थ हैं ॥ ६४ ॥

अर्थ—हे जिनाधीश ! आपके गुणोंका गान करनेमें मैं मंदबुद्धि सर्वथा असमर्थ हूँ । भला जिन गुणोंका गान इन्द्र भी नहीं कर सक्ता उनका मैं कैसे करूँ ? मात्र एक यही प्रार्थना है कि हे नाथ, मुझ दीन-अनाथको शरण योग्य बनाइये और हे तारक, मुझ समारगमुद्रसे पार करिजे ॥ ६५ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! जगत्में विष्णु ब्रह्मा-शिव शक्र आदि जितने देव हैं ने केवल नाम मात्र से ही विष्णु ब्रह्मा-शिव कहलाते हैं-उनमें ब्रह्मा विष्णुके गुण नहीं है । दयागहित मैंने उनको अनेक बार देखा परतु कुछ भी लाभ नहीं । परतु हे भगवन ! आप कभी देखे नहीं ॥ ६६ ॥

अर्थ— हे स्वामिन, जिनेन्द्रदेव, त्रिलोकके नाथ, आपके समीप मैं कुछ वर नहीं मागता हूँ । किंतु हे चिदानन्द, मेरे हृदयमें आपके आशिर्वाद से आपके समस्त गुण विराजमान रहें ॥ ६७ ॥

अर्थ— हे स्वामिन् वीर प्रभो ! अग मैं अपने भव भवके दारुण दुःखसे अत्यंत ह्रेशित होकर दीनताके साथ पुकार करता हूँ । हे प्रभो ! अग तो मेरी प्रार्थना को सुनिजे । और मुझपर दया कीजिये । क्योंकि सारा मैं आपके समान दोष और विकारसे रहित अन्य कोई देव नहीं है । ६८ ।

अतो जिनाधीश क्षय कुरु मे पापस्य, मोक्षस्य पद प्रदेहि । सतारिता पापकलंकमना ये चांजनाद्याश्च नग- त्वया च ॥
इत्थ स चेलनाकात स्तुत्वा वीरं गणाधिपं ॥ गौतमादीन् मुनोन्नुवा नृकोष्ठेषु ह्युगविशत् ॥ ७० ॥

बीतरागप्रखोद्रीता वाणी संसारतापहाम् । समाप परम मोदं श्रुत्वा श्रेणिकश्रुमिषाद् । ७१ ॥

पुन प्रथमिति चक्रे सर्वभूतहितासये । स्वामनोऽजाननाशाय तत्वाना च प्रकाशकम् ॥ ७२ ॥

तीर्थाधिप महावीर सशयो मे प्रवर्तते । तस्य त्वं नाशकर्ता स्यां किंचित्पृच्छामि मे वद ॥ ७३ ॥

पंचमे कीदृशा भूता का चेष्टा कीदृशी क्रिया । भविष्यति कथं तेहि संज्ञन्यति नवाच ते ॥ ७४ ॥

अर्थ—हे जिनाधीश ! इसलिये मेरे पापोंका क्षय करिये और अनंत सुखोंका स्थान ऐसा मोक्ष पद प्रदान कीजिये । क्यों कि आपने अजन आदि अनेक पापीजन संसार समुद्र से पार कर दिये ॥ ६९ ॥

अर्थ— इसप्रकार चेलना महारानीका स्वामी महाराज श्रेणिक गणोंके अधिपति श्रीवीर भगवानका स्तवन कर और गौतम गणधर देव एव अन्यान्य मुनीश्वरोंको नकस्कार कर मनुष्यके कांठमें बैठा ॥ ७० ॥

अर्थ— श्रेणिक महाराज संसारके समस्त पापसमूहको नाश करनेवाली ऐसी श्री बीतराग देवके मुखकमलसे प्रकट हुई जिनगणीकी सुनकर परम आनंदकां प्राप हुआ ॥ ७१ ॥

अर्थ— फिर श्रेणिक महाराजने समस्त जीवोंके हितके लिये तथा अपने अज्ञानको नाश करनेके लिये और समस्त तत्वोंको जाननेके लिये नीचे लिरा प्रश्न किया । ७२ ॥

अर्थ— हे तीर्थाधिप ! हैं महावीर प्रभो ! मेरे हृदयमें कुछ सदेह हो रहा है आपही उसके नाश करनेवाले हो इसलिये उस सदेहको दूर करनेके लिये मैं कुछ पृथना चाहता हू । दयाकर मुझसे कहिये ॥ ७३ ॥

अर्थ—हे वीर प्रभो ! पंचमकालमें जीव कैसे होंगे । उनकी कैसी चेष्टा होगी । उनकी कैसी क्रियाएं होगी ।

इति मे मशयो वीर हृदि हि वर्तितराम् । नाशेऽस्य स्वहने स्मामिन्नयो देवो क्षमो नहि ॥ ७५ ॥
 वदतावर वीरेश तारक कल्पवाह । सशयस्य तिरस्कारं कुरु तीर्थाधिराट् प्रभो । ७६ ॥
 इति प्रसे तदा वीरो दिव्येन ध्वनिना जगान् । मोदयन् समलान् वक्तु वीरराट् म प्रवक्तमे ॥ ७७ ॥
 शृणु त्व भावितोर्धेश वर्णन पञ्चमस्य वै । समासलगा तथा चेष्टामायु काय क्रिया नृणाम् ॥ ७८ ॥
 पचमाभिधकालस्य अठ्ठसख्या नराधिराट् । दुःखदा त्व च जानीहि सहस्रभूकरप्रमाम् ॥ ७९ ॥

उनके आचरण कैसे होंगे ! उनके विचार कैसे रहेंगे ! उनको सुबोध प्राप्त होगा या नहीं ? सो सर्व खुलासा कहिये ॥
 अर्थ—हे वीर प्रभो ! मेरे हृदयमें यही सदेह जम रहा है । हे प्रभो ! आपके विना अन्य किसीसे उसका नाश नहीं हो सकता । क्योंकि आपके समान त्रिलोकका ज्ञाता सर्वशक्तिशाली अन्य कोई देव नहीं है । ७५ ॥
 अर्थ—हे वदतावर ! हे वीरेश ! हे सत्तार तारक हे पाप नाशक हे तीर्थाधिराट् हे सर्वज्ञ, मेरे उक्त संशयको दूर करिये ॥ ७६ ॥

अर्थ:—श्रेणिक महाराजके इस प्रकार प्रश्नोको सुनकर श्री वीर भगवान् समस्त द्वादश सभाको हर्षित करते हुए दिव्य ध्वनिक द्वारा उत्तर कहने लगे ॥ ७७ ॥

अर्थ:—हे मगधेश श्रेणिक महाराज, हे भावि तीर्थेश ! पंचम कालमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्योकी चेष्टा धर्माचरण विचार आयु काय और उनकी क्रियायें तथा वर्ष प्रमाण कहता हूँ उसको सावधान होकर श्रवण कर ॥ ७८ ॥
 अर्थ:—हे राजन् ! पंचम काल २१ हजार वर्षका है । वह अतिशय दुःखकर है । इस श्लोकमें (अठ्ठ संख्या का अर्थ वर्षोंकी संख्या और सहस्रभूकरप्रमां का अर्थ २१ हजार है । ॥ ७९ ॥

१—सू का अर्थ पृथ्वी है जो एक है; कर हाथोंको कहते हैं जो दो होते हैं । तथा अक्राना वामतो गति । संख्या बाई ओरसे लिखी जाती है । इस दिसावसे सू का का अर्थ २१ होता है । तथा सहस्र साथमें होनेसे इकईस हजार अर्थ होता है ।

तावत्प्रमाच षष्ठस्य पुन षष्ठस्य तत्प्रमाम् ॥ पचमस्यापि भो भूप ! बुद्धस्त्र खलु तत्प्रमाम् ॥ ८० ॥

मुनिइन्तप्रमा काया हायनं प्रतिहानिका । नो भविव्यंति यस्मिन् वै केवलाब्धा मुनीश्वरा ॥ ८१ ॥

यस्मिन् काले भविव्यंति मृता ये पापमडिता चलंचिता क्रियाशृष्टा मिथ्यामार्गस्य पोषका ॥ ८२ ॥

अर्थ — हे राजन् इक्कीस हजार वर्षका ही फिर छट्ठा काल होगा. अवमर्षिणीके छठे कालके बाद फिर भी इक्कीस हजार का लुठा काल उत्सर्पिणी का आवेगा। उसके बाद उत्सर्पिणीका पंचम काल भी २१ हजार वर्षका आवेगा। इस प्रकार ये चारो ही काल इक्कीस इक्कीस हजार वर्षके होंगे ॥ ८० ॥

अर्थ — हे राजन् ! पचम कालमें मनुष्योहा शरीर ७ सात हाथका ऊंचा होगा। वह भी प्रतिवर्ष घटता ही जायगा। और उप पचम कालमें केवलज्ञानके धारक मुनीश्वर उत्पन्न नहीं होंगे। भावार्थ — पचमकालमें उत्पन्न हुए मनुष्योको केवलज्ञान नहीं होगा। हां चतुर्थ कालमें जन्म लेकर पचम कालमें केवलज्ञान उत्पन्न कर सक्ता है। ८१ ॥

अर्थ — जिस पचम कालमें उत्पन्न हुए मनुष्य बड़े पापी होंगे। जिनका मन बड़ा चपल होगा। उनके आचरण बड़े श्रेष्ठ होंगे। उनके विचार और उनकी बुद्धि मिथ्यामार्गको ही पुष्ट करने वाली होगी ॥ ८२ ॥

१ — मर्कटस्य सुरापान तस्य वृश्चिकदशकम् । तस्यापि भूतसचरोः यद्वा तद्वा भविव्यति ।

भावार्थ — मर्कट—बंदरका मन बड़ा चपल होता है। यदि उस बंदरको शराव (मदिरा) पिलादी जावे तो फिर क्या कहना। बंदर का चपल मन सौगुण अधिक चाल हो जायगा। और फिर मदिरापान किये हुवे बंदरको विच्छूओसे कटवा दिया जाय तो फिर उसके मनकी चपलताका क्या ठिकाना ? फिर उस पर एक मृत ल्गा दिया जाय तो चपल बंदर जो न कुछ करे वही गनीमत है। ठीक इसी प्रकार कुशिक्षासे बचलचित्त मनुष्योको नेता पदवी मिलजाय तो वे स्वयं तो क्रियामुष्ट होते ही हैं और सारी समाजको क्रियाशृष्ट पापी बना डालनेका प्रयास करते हैं। ऐसे देभी बचलचित्त नेता कदाचित् धर्मका भेष धारण कर लेवें

अबकीटा कुरूपाल्या वीर्यहीना मदीद्धता । मिथ्यामार्गता क्रूरा देवगुर्वादिनिन्दका ॥ ८३ ॥

भावाथे—पंचम कालके मनुष्योंको पापाचरणकी नीति प्यारी लगेगी । और पापाचरणको सदाचार बतलायेगे । ऐसी राजनीतिके कानून बनाये जायेंगे जिनसे पापोकी वृद्धि हो । मनुष्य अपने पापोको पोषण करनेके लिये ऐसे ग्रन्थों की रचना करेंगे जिनमें भगवानकी पवित्र आज्ञाके विरुद्ध अनेक प्रकारकी मलिन बातोंका संग्रह किया जायगा । जिनसे वे संयं भ्रष्ट होंगे और धर्मात्मा भाइयोंका भ्रष्ट करेंगे तथा मिथ्यामार्गकी पुष्टि करेंगे ।

अर्थ— पंचमकालके मनुष्य अनेक कड़ी होंगे, कुरूपी होंगे वीर्यहीन होंगे, । तो भी मदीन्मत्त होंगे । मिथ्या मार्गमें गत होंगे । क्रूर परिणामी और देवगुरु आदि पूज्य पुरुषोंके निन्दक होंगे ॥ ८३ ॥

तो फिर उसका कुछ भी ठिकाना नहीं रहता । समस्त धर्मशास्त्रकी पवित्र आज्ञा पर पानी फेर कर अपनी मन्गनी कल्पनाका धर्मशास्त्र बनाकर दुनियाको उगत है । लोगोंको भ्रष्ट करते हैं । खोटे उपदेश द्वारा मिथ्यामार्ग बढाते हैं और अपने धर्मकी, अपने धर्मशास्त्रकी, अपने गुरुओंकी निन्दा (अवर्णवाद) का खुश होते हैं ।

१—पंचम कालके मनुष्यों के उत्तम संज्ञन और श्रेष्ठ संस्कारोंका अभाव होनेसे मन और शरीरकी कमजोरी इतनी अधिक होगी कि उनसे तपश्चर्यादि उत्तम धारण (उपवासादिक) नहीं हो सकेंगे । इतनाही नहीं बल्कि उपवासादि पवित्र कर्मोंका निषेध करेंगे । स्वयं अन्नके कीड़े होंगे । शक्तिहीन होनेपर भी बड़े मदीद्धत होंगे । धर्मकार्यों में स्वतंत्र विचार फैलायेंगे और अपने अभियन से मिथ्यामार्गको बढायेंगे । तथा देवशास्त्रगुरुकी निन्दा करेंगे—कोई देवको सर्वज्ञ नहीं मानेगा । कोई अष्टद्वय से पूजाका निषेध करेगा, कोई जिन्देवकी भूर्तीको अन्पश्य शूद्रोंसे पूजा-शालन करनेका उपदेश देगा । कोई शास्त्रोंकी समलोचना अपने स्वतंत्र विचारोंसे युक्ति और आगमविरुद्ध करेंगे । और इस बहाने से अपना मतलब बनायेंगे । अपनी निज बुद्धिको आचार्योंकी बुद्धिसे उत्तम मानेंगे । मुनियोंके सत्यस्वरूपकी निन्दा करेंगे । उनमें मिथ्या अवर्णवाद लगायेंगे और धर्मके स्वरूपमें

शिवविष्णुग्रा व्रतसेवाभक्तिपरायणाः । सर्वोच्छ्रमं स्वस्य त्यक्त्वा चान्यमते रता ॥ ८४ ॥

संसारार्णवसंभ्रमा मोहमग्ना दुराशयाः । निर्दिष्टा वैरसयुक्ताः स्वस्यैव पक्षनाशकाः ॥ ८५ ॥

आर्त्तरीद्रे सदा लीना निर्विचारा क्रियोद्भिन्ना । निशीला निष्पया दुष्टा दिवानिधिपक्षका ॥ ८६ ॥

अर्थ—पंचमकालके मनुष्य—अपने सर्वोच्छ्रम और पवित्र जैन धर्म को छोड़कर अन्यमतके शिव विष्णु ब्रह्मा और कुपुरुओंकी सेवामें लग जायेंगे ।

भावार्थ—पंचम कालके मनुष्य सत्य और असत्यकी परीक्षा रहित होंगे । जिससे उनको हिताहितका विचार नहीं होगा । वे सत्य जैन धर्मको छोड़ देंगे और मिथ्या धर्मको ग्रहण करेंगे ॥ ८४ ॥

अर्थ—पंचमकालके मनुष्य संसार रूपी समुद्रमें ही निमग्न होंगे, मोहमें निमग्न होंगे और दुष्ट अभिप्रायको अपने हृदयमें धारण करेंगे । निर्दय होंगे । वैरको धारण करनेवाले होंगे । तथा अपने धर्मका अपने आप नाश करनेवाले होंगे ।

भावार्थ—पंचमकालके मनुष्य ममारके बढानेमें ही अपना धर्म समझेंगे । और समागकी उन्नति मानेंगे । हृदयमें बड़े भयंकर दुष्ट अभिप्राय रखेंगे । तथा जैनी भाई ही अपने जैन धर्मका नाश स्वतः करेंगे ॥ ८५ ॥

अर्थ—पंचमकालके मनुष्य—आर्त्त रीढ़ भयानमें ही लगलीन रहेंगे । विचार रहित होंगे । क्रिया रहित होंगे । शील रहित होंगे । लज्जा रहित होंगे । दुष्ट होंगे । और रात्रि दिवस भक्षण करनेवाले होंगे ।

मी इसी प्रकार मिथ्या अवर्ण वाद लगायेंगे । धर्मकी पवित्रता नष्ट करेंगे । विवाहादिक धार्मिक क्रियाओंको व्यवहार कार्य बतलाकर शीलव्रतकी महिमाको नष्ट करेंगे । विषवाविवाह करेंगे करावेंगे । जाति पातिका लोप करेंगे । सदाचारकी क्रियाएं नष्ट कर शूद्रोंके साथ खानपान करावेंगे । इस प्रकार पंचमकालमें अनेक प्रकार देवशास्त्रपुरुओंकी निंदा कर मिथ्या मार्गें बढावेंगे ।

कंदमुलशाना चर्मआद्यभक्षणतस्या । जंतुनिकायभूताना घातकाः कर्मवर्जिता । ८७ ॥

द्राविशतेरभक्षणा भक्षका ज्ञानवर्जिता । आत्मशसे कृताभ्यासाः परनिदनचतुरा ॥ ८८ ॥

भावार्थ—पंचम कालके मनुष्योंमें सदाचार सम्कार-धर्म दान पूजादि शुभ क्रिया और भोजनपानादि उत्तम आचरणोका विचार नहीं रहेगा । धर्मका भेष धारण कर अधर्मको बढ़ानेवाले होंगे । जो निर्लज्ज होकर विधवाविवाहादि अधर्म फैलायेंगे । और जैनधर्मको धारण कर जैनधर्मके विषयमें ही दुष्ट अभिप्राय रखेंगे ।

अर्थ—पचमकालके मनुष्य कदमूल आदि अभक्ष्यभक्षण करनेवाले होंगे । चर्ममें रखे हुए घृत आदि अपवित्र पदार्थके सेवन करने वाले होंगे । छह प्रकारके जीवोंके घातक होंगे । तथा धर्मकर्म और चारित्रसे रहित होंगे । ८७।
अर्थ—हे राजर् ! पचमकालके मनुष्य वाईस अभक्षके सेवन करने वाले होंगे । धार्मिक श्रेष्ठ ज्ञानसे रहित करनेमें बड़े चतुर होंगे ॥ ८८ ॥

१ दर्शन मोहनी कर्मके तीव्र उदयसे जीवोंको श्रेष्ठ ज्ञान नहीं होता है । यद्यपि उनको ज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशम से मिथ्याज्ञान अधिक होता है । भग्नसेन मुनि ग्यारह अणका पाठी था तोभी उसको दर्शन मोहनी कर्मका उदय होनेसे उसको विक नहीं था—हिंसक व्यापार करनेमें उसको जरा भी स्थानि नहीं हुई । इसी प्रकार वर्तमान समयमें लोगों को कुजान अधिक होता है । परंतु सत्यज्ञान नहीं होता । जिससे वे अपने कुज्ञानके मदसे मटमते होकर मद्दिगपान करते हैं, मास भक्षण करते हैं, । होटलों में अभक्ष पदार्थोंका भक्षण करते हैं । बजार की अपवित्र वस्तुओंका सेवन करते हैं, नीच और म्लेच्छ लोगोंके साथ खाते हैं । ऐसे लोग जूता पहनकर खाते हैं । जिनको अपनी आत्माका स्वत विश्वास (श्रद्धान) नहीं परंतु ढोंगी धर्मात्मा बनकर लचके धर्मात्मा गृहस्थ और विद्वानोंकी निंदा करते हैं मुनि आर्यिका और श्रावक श्राविकों आदि चतुर्विध संघकी निंदा करने में बड़े चतुर होते हैं ।

किंचिद् द्रव्यं च सप्राप्य मानाद्रिमस्तके स्थिता । त्रिमूढिहानिमिलोक्य सदा शोके स्ता. खलु ॥ ८९ ॥

जिनवाच्यविहीनागा स्ववाक्यपोषणे स्ता । मनोभिमत्तसलीना पारुडमतधारका ॥ ९० ॥

साधुगुणविहीनागा वैकून्या मानधारका ॥ पूजका कुपरस्थाना कुत्वना न्यायवर्जिता ॥ ९१ ॥

अर्थ—पचमकालके मनुष्योंके पुण्य कर्मके उदयसे कुछ धन प्राप्त हो जाये तो वे फिर मानके पहाड पर बैठकर सबे धर्मान्माओकी निंदा करायेंगे और पापकर्मके उदयसे कदाचित धनकी हानि होगई तो सदैव शोकमें आतीरौद्र ध्यान करेंगे ॥ ८९ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज ! पचम कालके मनुष्य श्रीजिनेन्द्र भगवानके सत्य और श्रामाणिक वचनोंकी आज्ञाका पालनेवाले नहीं होंगे । उनका श्रद्धान श्रीजिनेन्द्र भगवानके वचनोंमें नहीं होगा । परतु अपने असत्य और कल्पित वचनोंको जनतामें सत्य बतलावेंगे । तथा अभिमानसे अपने ही वचनोंकी पुष्टि करेंगे । अथवा कल्पित वचन गटककर नवीन मतका प्रचार करेंगे । और अनेक प्रकारके ढोंग फैलाकर अतमें मिथ्यामार्गही पुष्टि करेंगे ।

अर्थ:— हे राजन ! पचमकालमें ऐसे साधु और भेषधारी ब्रह्मचारी होने जिनमें अपने पदके योग्य गुणोंका

१ पचमकालके कितने ही ऐसे भी मनुष्य होंगे जिनका जिनवर्णनमें अतरंग श्रद्धान सर्वथा नहीं होगा तो भी वे अपनेको बड़े चतुर और धर्मनेता कहकर अपने मिथ्या वचनोंको सिद्ध करेंगे । जिससे उनका स्वार्थ सिद्ध हो । तथा मनुष्यजनमतके समान नवीन मत स्थापित करेंगे । जिससे उनका मतलब सिद्ध होता हो वही उनका धर्मशास्त्र होगा । वे लोग अपने स्वार्थ और विषय रूपयुक्त सिद्धिके लिये श्रीजिनेन्द्रभगवानके वचनोंका अर्थ भी उलटा ही करेंगे तथा सत्य और यथार्थ अर्थको छिपाकर सदा अनीति और असदाचार ही फैलावेंगे.

मतिहीना वसुहीना दानेज्यात्रनविच्युता । सावहीना गुणहीना दमयुक्ताऽक्षयोषका ॥ ९२ ॥
 अभाव होगा । वे लोग अपने स्वार्थके लिये चुगली करेंगे । अभिमानको धारण कर धर्मका नाश करेंगे । तथा मिथ्या-
 दृष्टि नीच आदिकी वे लोग पूजा करेंगे । न्याय मार्गका परित्याग करेंगे । और बहुत बकवाद कर दंभ फैलायेंगे ॥ ९१ ॥
 अर्थ-पंचमकालके मनुष्य बुद्धिहीन, ड्रव्यहीन, दान-पूजा व्रत आदि रहित, सुख रहित, गुण रहित, दांभिक और केवल इन्द्रियोके पुष्ट करनेवाले होंगे ।

१ वर्तमान जैन समाजमें कितने ही दंभी श्रावक ऐसे भी हैं कि जो किसी न किसी बहानेसे जिनेंद्र भगवान की पूजा को ही उठा देना चाहते हैं । उनका इतना ही दुष्ट अभिप्राय नहीं किंतु भगवानकी मूर्ति तक को माननेको तैयार नहीं हैं उनमें कितनेही तो दान देना नहीं चाहते । और स्वतः दान न देकर दूसरोंकी दानको परिपाटी मंडते मुनिनिंदा-धर्मनिंदा शाल्लनिंदा आदि निंदाओंके द्वारा पूज्य पुरुषोंके महत्वको गिराकर मिथ्या मार्ग अथवा अपात्रमें दान दिलाकर वाहवाही लटना चाहते हैं ।

२ वर्तमान समयमें यह होरहा है । कितने ही मनुष्य धर्मका भेष धारण कर लेते हैं परंतु उनमें अपने पदके योग्य गुण नहीं होते हैं । गुणोंका रहना दूर रहा किंतु उनके जैन धर्मका पूर्ण श्रद्धान भी नहीं होता है । तो भी वे लोग अपने स्वार्थकी सिद्ध और विषय कषायका पोषण करनेके लिये अनेक प्रकार धर्मके ढोंग फैलते हुए देखे जाते हैं । परस्पर चुगली कर धर्मकी निंदा करते हैं और अपने मिथ्याभिमानको पुष्ट करनेके लिये अधर्म और अनीतिकी वृद्धि करते हैं । ऐसे दंभी और मायाचारी लोग भोले लोगोंको अपने चुंगलमें फसा कर अधर्म करते हैं । मिथ्या मार्गको बढ़ते हैं ।

समाजमें आज अधर्म और अनीतिकी वृद्धि ऐसे ही होगी पाखंडी और विषय कषाय सेवन करनेवाले लोगोंसे होरही है । धर्मका नाश करनेमें ही इनको शांति मालस होती है । यह सब पंचमकालकी बलिहारी है ।

तैऋग्य तथा ऋगुसामुद्रजाद्यने रुधा । वस्तुविषयमंलीना दयाव्रतविरजिता । ९३ ॥

वज्रारभराश्रैब परधवतचातुगः । राजः सेया रुग कृष्य रभारणतस्त्रा । ९४ ॥

परेषा दुःखदा नीचा क्रियाधर्मज्वलिता । धत्रिणाश्च द्विजा वैश्य स्वस्वधर्मविरजिता ॥ ९५ ॥

इत्यश्रुणुस वा मनुजा वा स्त्रियोऽपि च । अनुक्रमेण सर्वे ते मपथेश्व निश्चयात् ॥ ९६ ॥

भाग्ये - पचमकालके ऐसे भी श्रायक बढ़त होगे जिनसे भगवान् ही पूजा करना - दान देना - और व्रत पालन करना आदि एक भी पुण्य कर्म नहीं होगा । दामिह्लासे वे अपना जीवन विषय-कामयोगी पृष्टिमें ही व्यतीत करेंगे । ९२ ॥

अर्थ-पचमकालके मनुज अतिशय लोभके कारण जीवोकी हिमाका विचार नहीं कर तैल, नीग मछली, चर्बी, दाड आदि कृत्रिम पदार्थोंका व्यापार करेंगे-जिनको दयाका जग भी विचार नहीं होगा । ९३ ॥

वार्ता - हे राजन् ! पचमकालके मनुजोंके मनुनसा आरंभ होगा । ये लोग अपनी चालाकीमें भौले लोगोंके भगनेमें बड़े निगुण होंगे । कितने ही तो राजाकी सेवा करेंगे और कितने ही सेती आदि हिमक आरभक करनेमें ही तत्पर होंगे ॥ ९४ ॥

अर्थ - हे राजन् पचमकालके मनुज दूरोही दुःख देनेवाले बड़े नीच होंगे । उनके आचरण धर्मके अंशरहित होंगे । पचमकालके क्षत्रिय अपने छत्रिबलकी खाँ बैठगे । ब्राह्मण अपने पवित्र कर्म और श्रेष्ठ आचार विचारको मूल जायगे । वैश्य नीतिकी त्यागकर अनीति पथसे धन सचय करेंगे । उच्च वर्णीम धर्मकी मर्यादा नष्ट हो जायगी ॥९५॥

अर्थ-हे मपथेश्वर श्रैणिक महाराज पचमकालके मनुजोंमें तथा स्त्रियोंमें इत्यादि अनेक प्रकारके दुर्गुण क्रमसे बढ़ते जायेंगे . ९६ ॥

नीचा हि राज्यभोक्ता कुलजा. सत्त्ववर्जिता । कृपणास्तेपि तस्मिंश्च भविष्यति न सशय ॥ ९७ ॥

जिनधर्मस्थै हानिर्हि समये समये घना । भविष्यति च उद्योतो खद्योतवत् नरेधर ॥ ९८ ॥

अर्थ—हे राजन् ! पंचमकालमें नीच मनुष्य, जिनके धार्मिक संस्कार व विचार नहीं है और जो सदाचार की पवित्र नीतिको मान्य नहीं करते हैं, राज्य करेंगे जिससे प्रजामें सदाचार और नीतिका लोप हो जायगा । उच्च कुलीन क्षत्रियोंमें बल (क्षात्र धर्म) नहीं रहेगा । अथवा वे कृपण और लोभी होजायेंगे जिससे वे प्रजाको लूट लूट कर अन्याय और अधर्म फैलायेंगे ॥ ९७ ॥

अर्थ—हे राजन् ! पंचमकालमें जैन धर्मकी हानि समय समयपर बहुत होगी । परन्तु फिर भी कभी कभी खद्योतके समान जैन धर्मका उद्योत होता रहेगा ॥ ९८ ॥

१ पंचमकालमें यद्यपि अन्यभतावलंबियोंसे और मिथ्यामार्गी जैन माइयोसे भी जैन धर्मकी समय २ पर बहुतसी हानि होगी । जैन राजाओंके अभाव होजानेसे लोग निरंकुश बनेंगे, अपने आप ही अपने धर्मकी हानि करेंगे और खुश होंगे । परन्तु फिर भी कभी २ मुनियोंके प्रतापसे और भव्य विद्वानोंके प्रभावसे जैन धर्म खूब प्रभाव प्रकट करेगा और वह पंचमकालके अंतपर्यंत नियमसे रहेगा । जो लोग यह कहते हैं कि यदि जैनधर्मकी रक्षा करना है तो विधवाविवाह—नातिपाति लोप और विजातीय विवाह बाध कर देना चाहिये अन्यथा पचास वर्षमें जैनधर्मका सर्वथा अभाव हो जायगा । ऐसी मिथ्या भीति बतलाते हैं वे लोग अपने विषय कथायकी पुष्टीके लिये धोका देते हैं और समाजको भ्रममें डालते हैं । परंतु विचारशील मनुष्योंको यह दृढ अद्वान है कि जैनधर्म पंचमकालके अंत पर्यंत नियमसे रहेगा । और मुनि और विद्वानोंके द्वारा खूब उन्नति भी करेगा । कितने ही मनुष्य यह

कुकुला द्रव्यमोक्तारो न्यायहीनाश्च भूमिषा । एधिष्यन्नेव म्लेच्छानामुद्योत प्रति वासरम् ॥ ९९ ॥

शीलहीना भविव्यसि वामास्तस्मिन्मदोद्धता । त्यक्त्वा च स्वपतिं दासं मोक्षयति कालदोषत ॥ १०० ॥

लक्ष्मकोटिपु शीलाढ्या नारी होका नराधिपट् । शुद्धशीलधरा नापि भविव्यसि न संशय ॥ १०१ ॥

पंचमभिधकालस्य स्त्रियोऽपि माधेश्वर । भविव्यसि रता नूनं भङ्गानेषु निष्पन्ना ॥ १०२ ॥

अर्थ—हे राजन् ! पंचमकालमें नीच पुरुषोंके घर पर लक्ष्मी रहेगी । राजा लोग न्यायरहित हो जायेंगे और म्लेच्छ लोगोंका साम्राज्य जन धन कनक आदि संपत्ति प्रति दिन बढ़ती रहेगी ।

अर्थ—हे राजन् ! पंचमकालकी स्त्रियां भी शीलश्रेष्ठ होगी । धन कुशिक्षा और जमानी से मदमाती बनेंगी तथा काल दोषसे अपने सुंदर पतिको छोड़कर नाकर लोगोंके साथ कुकर्म करेंगी । १०० ॥

अर्थ—हे राजन् ! पंचमकालकी लाखों करोड़ों स्त्रियोंमें एक स्त्री शीलवती होगी । और शुद्ध शीलका पालन करनेवाली तो होंगी ही नहीं ।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य (शीलव्रत) नवकोटिसे पालन किया जाता है । नवकोटिसे शील पालन करनेवाली स्त्रियां कम होगी जिनकी सीताके समान अग्निमें शीलकी परीक्षा होसके । परंतु कायसे शीलको पालन करनेवाली स्त्रियां बहुत होगी । यह नहीं है कि शीलको धारण करने वाली स्त्रियोंका पंचमकालके अंत तक अभाव हो जाये । शीलका सर्वथा अभाव किसी कालमें भी नहीं होता है । हा कुशिक्षा और अज्ञानतासे उनका अधिकांश भाग श्रेष्ठ हो जायगा ।

अर्थ— हे मगधेश्वर ! पंचमकालकी स्त्रियां लाज रहित होकर भङ्ग गीत गानेमें तत्पर हो जायगी ॥ १०२ ॥

भी कहते हैं कि शुद्ध वंश और शुद्ध राजवंशसे उत्पन्न हुए मनुष्योंका शीघ्र ही अभाव हो जायगा, उनको भी इन जैन वचनोंका दृढ़ श्रद्धान करना चाहिये । शुद्धवंश—शुद्ध जाति और शुद्ध वर्णका अभाव कभी किसी कालमें सर्वथा नहीं होता है ।

प्रमृणा गानविद्यासु लज्जाघ्राणचतुर्ग । विग्राहे चान्यत्रे वा त्यक्त्वा हज्जा च म्वेच्छया ॥ १०३ ॥

मडगान च पिभरो सान्नि येच नृणा तथा । विगीष्यति कुनस्तेषा शीलरत्नंच दुर्लभम् ॥ १०४ ॥

नञ्य त मडगयोगेण व्रतदानक्रियाफलम् ॥ तीर्थयात्राफल सर्वं ज्ञाप्यादिक च गो स्त्रिय ॥ १०५ ॥

मडगयोगेण ना वास्य पडस्य ऋभो तथा । निर्जया यौञ्जे न्याद्वि नानन्दु खभोगका ॥ १०६ ॥

ये ये दु खश्च जायते स्त्रोणा दौर्भाग्यकाटयः । ते ते सर्वेषु भो मञ्य मडगागस्य कारणम् ॥ १०७ ॥

अर्थ—हे राजन् ! पचम कालकी स्त्रियोंको श्रीजिनेन्द्रदेव (भगवान्) के युग गाने में लाज आवेगी । और निमाहादिक दिग्गो से कुलित गान स्वेच्छार्पक करेंगी उम ममग लाज सम जाती रहेगी । १०३ ॥

पचमकालकी स्त्रिया अपने माता पिताके नामने भी कुलित गान गायेगी । और जन पचह में भी गायेगी इसलिये उनका दुर्लभ लीलान्न किम प्रकार रह मक्ता है । भाग्ये-प्रायः कुलित गानेवाली स्त्रियां अपने बड़ोके समने ही भ्रष्ट हो जायगी । १०४ ॥

अर्थ—प्राचार्य महाराज उपदेश देते हैं कि हे राजन् ! इस कुलित गानके फलसे इन स्त्रियोंका व्रत-दान आदि पवित्र आचरण मम नष्ट हो जायगा । तथा तीर्थयात्रा जा तप आदि सर्वं व्यर्थ जायगा ॥ १०५ ॥

अर्थ—इम मंडरागसे स्त्री और पुत्र्य दोनों ही नपुंसक हो जायगे और स्त्रियां यौवन अवस्थामें ही नाना दुःखोका प्रदान करनेवाले वैधव्यको प्राप्त हो जाया करेंगी ॥ १०६ ॥

अर्थ—हे मञ्य ! दुर्भाग्यके प्रदान करनेवाले जो जो दुःख स्त्रियोंको प्राप्त होते हैं वे सम मंडरागके गानके फलसे ही होते हैं ॥ १०७ ॥

अतो भो लक्ष्म्या यूय भडराण्य सर्वदा । त्यागमेव कुलध्व वै केवगनर्थाज्ञानये ॥ १०८ ॥

कुलोत्तमं च संपद्य भंडराण्य या वधू । गनं करोति वैवाहे सा मता चडकामिनी ॥ १०९ ॥

यदीच्छ, रागपानस्य तादृ गायतु नदये । मालाया शुभा गीता प्रमोर्गुणममस्तथा ॥ ११० ॥

ने मनान्य वा वान्ये आदिवारस्य वा गुण । विग्रहन्वैम तेषा हि विवाहमलासये ॥ १११ ॥

गूढच्छद तथा गद्य वरा प्रहेलिता इत । पठथ कुलथ चोच्चं प्रश्नोत्तरमहो स्त्रिय ॥ ११२ ॥

भंडरागे कुनो धर्मो धर्माद्वे कुन सुवम् । अतस्थम्बवा मवं यूय गायथ जितसद्गुणान् ॥ ११३ ॥

अर्थः— इसलिये हे स्त्रियो, तुम केवल आने अन्तर्धीको दूर करनेके लिये इस भंडरागके गानेका सर्वथा परित्याग करो ॥ १०८ ॥

अर्थः— उत्तम कुलको प्राप्तकर जो स्त्री विवाह आदि शुभ मागलिक कार्योंमें भंडरागका गान करती है, वह स्त्री चंडकामिनीके समान है ॥ १०९ ॥

अर्थ— हे स्त्रियो ! जा तुमारी इच्छा गान करनेकी हो तो भीजिनेंद्र भगवान्के मंगलगान और शुभ गीतोको सुशीसे गाओ । जिससे पुण्यकी प्राप्ति हो और पाप कर्मका नाश हो ॥ ११० ॥

अर्थः— इसलिये स्त्रियोको विवाहादि शुभ मंगलीक अमर पर श्री देवविदेम आदिनाथ भगवान् या नेमिनाथ भगवान् आदि पुण्य पुरुषोके विवाह आदिके शुभ और मंगलीक गीतोको गाना चाहिये ॥ १११ ॥

अर्थः— गूढ छद-गद्य-प्रहेलिका आदि शुभ और पवित्र वार्तिक गीतोको पढो । और धार्मिक प्रश्नोत्तरोंको आत्मकल्याणके लिये खूब करो ॥ ११२ ॥

अर्थः— इसलिये भंडरागके गानमें धर्म कहां है और धर्मके विना सुख कहां ? अतएव सुखकी प्राप्तिके

प्रमोर्गुणानुवादाच्च जायते मानसे मुद । पापहान्निर्घशो लोके पुण्यस्य संतति खलु ॥ ११४ ॥
 प्रमोर्गुणानुवादेन समं पुण्यं न भूतले । चापरं स्वर्गाराजोहि सदा गांयंति तद्गुण ॥ ११५ ॥

भंडारागस्य या नायौ त्याग कुर्वति ता पुन । दिवि सौख्यं च समाप्य लभते चाक्षय पदम् ॥ ११६ ॥

भंडारागपभावैव हत्वा शील पुनश्च ता । श्मरे दुःखमनेकं हि पाप्नुवंति न सशय ॥ ११७ ॥

द्वयोर्हि रागयोर्भवाः फल ज्ञान्वा सुखाप्तये । मा भृणुध्वमहो तं च भडगां कुटु खदम् ॥ ११८ ॥

लिये श्रीजिनेन्द्र भगवान्के सद्व्रणोका गान करना चाहिये । और कुत्सित गानका नाद छोड देना चाहिये ॥ ११३ ।

अर्थ—भगवान्के परमोत्कृष्ट और पवित्र गुणानुवादके गान करनेसे मनमें अनिश्चय हर्ष होता है । जिससे

पापकी हानि यशकी प्राप्ति और पुण्यकी वृद्धि होती है ॥ ११४ ॥

अर्थ—प्रभुके गुणानुवादके समान अन्य किसीमें पुण्य नहीं है । स्वर्गके देवगण भी पुण्यकी प्राप्तिके लिए

प्रभुके गुणोंका गान करते हैं ॥ ११५ ॥

अर्थ—भंडारागका जो स्त्रियां परित्याग करती हैं वे स्वर्गमें अपूर्व सुखको प्राप्त होती हैं । और क्रमसे

अक्षय पदको प्राप्त होती हैं ॥ ११६ ॥

अर्थ—भंडाराग से कितनी ही स्त्रियां अपने पवित्र शीलरत्नका नाश करती हैं और फिर उससे नरकके

दुःखको प्राप्त होती हैं ॥ ११७ ॥

अर्थ—धार्मिक पवित्र गीत-और कुत्सित भंडाराग दोनों प्रकारके गीतोंके शुभाशुभ फलको जानकर सुखकी

प्राप्ति के लिये धार्मिक गीतोंका गान करना चाहिये और भंडाराग को दुःखकारी समझकर नहीं गाना चाहिये ।

तथा श्रवण भी नहीं करना चाहिए ॥ ११८ ॥

यस्मिन् काले नराधीश नरा नार्यो घना खला । भद्रा हि स्वरुसंख्याश्च क्रियात्रतधरा वरा ॥ ११९ ॥
 शिथिलाचाराश्च केचित् केचिदाचारवर्जिता । केवलाभिवसपत्ना यस्मिन् वै श्रावकाः खलु ॥ १२० ॥
 आचारधारका केचित् तथा निंदा भविव्यति । कालाते जिनधर्मोय यत्र कुत्रैव स्थास्यति ॥ १२१ ॥

अर्थ—हे राजन् ! जिस पंचमकालमें प्रायः बहुतसे स्त्री पुरुष दुष्ट अभिप्रायवाले और धर्मसे वहिर्भूत होने ।
 उच्चम व्रत तथा उत्तम पवित्र श्रावककी क्रियाओको पालन करनेवाले भद्र परिणामी (सरल परिणामी) विशुद्ध हृदयवाले
 स्वल्प संख्यामें होंगे ।

अर्थ— हे राजन् उस पंचमकालमें कितनेही मनुष्य शिथिलाचारी होंगे तथा आचार रहित होंगे । उस
 पंचमकालमें श्रावकजन केवल नामधारी जैनी होंगे । इन दोनो श्लोकोका अभिप्राय यह है कि कुशिक्षा और व्यामोह
 से मनुष्यों में मायाचारी और पापिष्ठता बढ़ जायगी । जिससे उनके परिणाम सदैव दुष्ट रहेंगे । इस अज्ञान और
 दुष्टता से वे अपने स्वार्थ और विषय कर्पायोंको सिद्ध करने के लिये सदाचार पर पानी फेरेंगे । धार्मिक मर्यादा-
 का नाश करेंगे । पवित्र आचरणोंमें शिथिलता करेंगे और उपदेशोंके द्वारा करावेंगे जिससे शीलव्रत समयचारित्र्यमें
 लोग शिथिल होते जायेंगे । परिणामोंसे सरलता नष्ट हो जायगी । और नदाचार बढ़ता जायगा । सदाचार और धर्मकी
 मर्यादाकी पृष्टि करने वाले सच्चे धर्मात्मा भद्र परिणामी मनुष्य बहुत ही स्तल्प संख्यामें रह जायेंगे । श्रावकगण केवल
 नाममात्रके जैनी रह जायेंगे । ११९।१२०

अर्थ—हे राजन् पंचम कालमें श्रीजिनदेवके आगमानुसार आचारका पालन करने वाले सच्चे धर्मात्मा भाइयोंकी
 कुशिक्षित लोग निंदा करेंगे । तथा हे राजन् ! पंचमकालके अंतमें यह जिन धर्म कहीं पर ही स्थिर रहेगा । १२१ ॥

द्रव्ययुक्ता नरा केचिन्व स्वानि हर्षपुरिना । मन्त्रियं न्ययमानुष्यं गणियंति तृणोपमम् ॥ १२२ ॥

बनाथास्तं गृहे स्वस्य वीसीदासान् कुलोच्छ्रितान् ॥ रक्षयंति गनार्थं न्यादार्यं च ललाजया ॥ १२३ ॥

शुद्रलोचस्य य धाम्नि रक्षत ते कथं मता । स्वानपानादि कर्त्तव्यं श्रावकास्तममा खलु ॥ १२४ ॥

अर्थः-- दे राजन् ! पंचमकारम धनिक लोगोंमें अभिमान बढ जायगा जिसमें वे अपने धनके हर्ष में गहले वन जायंगे । और अन्य मनुष्योंका तृणके समान सम्झेंगे । १२५ ॥

अर्थः-- हे राजन् ! पंचमकारमें वे धनिक लोग अपने धनके मदमें अवे होकर विचार रहित हो जायंगे । जिससे वे अपने महमें नीच और अकुलीन नोकर चाकरोको रखेंगे । जोर उनके हाथमें भोजनपान करेंगे । जिस ममता कुमगति या कुशिक्षामे धनवान लोगोकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है उस समय उनका विचार भी गढा हो जाता है । उन्हो हितहितवा विवेक नहीं रहता जिससे वे धर्म और मद्राचारभी पवित्र मर्दादाका विचार नहीं कर अपने घरमें नीच मनुष्योंको (दासदासी) रखर उनके हाथका भोजन करने लगजाते हैं ।

नीचमनुष्योंके हाथका भोजनपान करना धर्मशास्त्रकी पवित्र आज्ञासे विरुद्ध है और मद्राचारमा लोप करने वाला है । जो लोग नीच मनुष्योंके हाथका भोजनपान करते है वे जैन नहीं है । उनके धर्मकी श्रद्धा नहीं है । अतएव वे नाममात्रके ही जैन है । १२६ ॥

जो लोग अपवित्र साधनोंके साथ समुद्रयात्रा कर नीच लोगोंके हाथका अपवित्र और अमक्ष्य भोजन कर अपनेको सम्यग्दृष्टी बतलाते है व श्रीजिनेन्द्र भगवानके आगमके श्रद्धानी नहीं है । तथा जो लोग ऐसे नीच पुरुषोंके हाथका अमक्ष्य भोजन कर अपनेको पच अणुन्नतधारी बतलाते है वे वनापटी जनी है ।

अर्थ--जो धनिक लोग अपने गृह पर शुद्रलोगोंसे खान पान आदि धार्मिक क्रियायें कराते है वे श्रावक शुद्रके समान ही है ।

भात्रार्थ — भोजन पान आदि केवल व्यवहार मार्ग नहीं है कि जिन तिस प्रकार शुद्ध अशुद्धका विचार नहीं कर नीच लागोका भोजन पान कर लिया जाय । परतु भोजन पानकी क्रियाको धार्मिक सदाचार (चारित्र) की पवित्र और उत्कृष्ट क्रिया माना है । मुनीश्वर भाजन पानका क्रियाके समय भी विशुद्ध भावोमे मातर्वै गुणस्थानको प्राप्त होते है । ओर इसालिए ही वे शुद्ध और विधियुक्त भोजन करते है । श्रावक लोगोके भोजन पानकी क्रियाकी विधि जिनागममें बतलाई है । अतएव यह विधि जिनाज्ञा रूप होनेमे धार्मिक ही मानी गई है । जो मनुष्य धार्मिक भाजन पान विधिक्रा जिनागमकी आज्ञाके विरुद्ध बतलाते है और शूद्रोके हाथका भोजन पान करते है वे जैन धर्मकी आज्ञा न मानने के कारण जैन धर्ममे रहित समझने चाहिए ।

जो लाग मुमलमान भगी चमार म्लेच्छ आदि नीच मनुष्यो को नाम मात्रका जैन बनाकर उनके हाथका भोजन करना चाहते है ओर उनसे कन्या का विवाह कराना चाहते है वे जैन मतकी पवित्र आज्ञा से पराङ्मुख है । क्यों कि जिनागममें बतलाया है कि शूद्र-भंगी चमार आदि नीच गोत्र कुर्मके उदयमे उत्पन्न हुये मनुष्य चाहे जैन-मतको अपने आमह्वरणके लिये मले ही पालन करे परतु उनके हाथका भोजन पान व कन्या दानादान आदि व्यवहार “ मुनिधर्म ” ओर “ सज्जाति ” का लोप करनेमाला है । जैन धर्मको तिर्यच घांटा गथा आदि सभी पशु पाल सक्ते है परतु उनके साथ मनुष्य घास नहीं खाने लगते । धर्मका पालन करना आत्मकल्याणके लिये है । परतु भोजनपान ओर कन्याव्यवहार यह सज्जातीयता की रक्षा करनेकेलिये है । यदि सज्जातिकी रक्षा न की जाय तो मुनि धर्म ओर श्रावक धर्म दोनों में से एक भी स्थिर नहीं रह सकेगा ।

शुद्धाणा न विने होस्ति मणो जन्मनि रजो—। मधवसास्त्रियाद्ये च रोचनेमं बुभु गच्छ ॥ १२५ ॥

या नास्ति क्रियाशुद्धि क्रियाशुद्धि नास्ति च । यतो भव्य र्थायै पालयन् चरा क्रियाम् ॥ १२६ ॥

अर्थ अद्र लोकोके जन्म-मरण-ओर ऋतुधर्मपालनका तथा मृतक पातलका विनेक नहीं होता । तथा मय माम आदि अवश्यका भरण कानमें विनेक नहीं होता है तथा रोम (कंगल पर भोजन पान करना) चाम आदि म-लिन पदार्थ पर भोजन कालमें विनेक नहीं होता है । इसलिये अद्रके हाथका भोजन पान करना आगमविल्कड है ।

भासाथ—मोलह मस्कार ब्राह्मण शत्रिय ओर वैश्य तीन वर्णमें ही होते है । जिन जीमोंमें मोलह मस्कार नहीं उनके मोथ मार्ग भी नहीं है । भोगधर्मिके जीम कितने उत्तम होते है परतु उनमें मोलह मस्कार नहीं होते अतएव वे मोथके अधिकारी नहीं होते है । सौत्रमें इन्द्र र्थायै अगका धारण करनेमाला ओर सम्यात्वी तायापि मोलह मस्कार नहीं होनेस मोथका अधिकारी नहीं है । इसी प्रकार अद्र लोकोम मोलह मस्कारोंका अथाप होता है तो फिर वे अद्र लोका जिनधर्मको पालन कर लेनेपर भी मोथके अधिकारी किस प्रकार हो सक्ते है ? त्रियर्ण (ब्राह्मण-शत्रिय-वैश्य) में ही संस्कार होते है इस लिये त्रियर्ण में ही मोथमार्गका अधिकार है । यदि अद्रो (जिनके संस्कार नहीं है) के हाथका भोजन पान त्रियर्णमें कराया जाय ओर कन्यादान आदि व्यमहार धर्म चालू कर दिया जाय तो त्रियर्ण के सस्कारोंका लोप होजायगा । ओर संस्कारके लोप होनेसे मोथमार्गका लोप होजायगा । इसलिये अद्र जैनधर्मको धारण कर लेवे तो भी उसके साथ रोटी वेटी व्यमहार नहीं करना चाहिए ॥ १२५ ॥

अर्थ—जिन पुरुषोंके (अद्र लोकोके) क्रियाकी शुद्धि नहीं है तथा जिनके संस्कारादि धार्मिक क्रियाए नहीं है उनके साथ खान पान आदि व्यमहार नहीं करना चाहिए । अतः धर्मकी र्थाके लिए हे भव्य

ते सर्वे पानचूर्णादि त्रयं सम्येयं नैव च । हस्तेन निर्विवेका हि करिष्यति मदोद्धता ॥ १२७ ॥
 गाढाराद्यस्य भेदो हि नैव तेषा मतो निश्चि । वनावा हि क्रियाहीना निर्द्रव्याश्च क्रियाता ॥ १२८ ॥
 भविष्यति गृहे तथा वियोऽपि मदमहिताः । क्रियाहर्गोऽस्मिन्ना मूढा पातसुखता सदा ॥ १२९ ॥
 पचाक्षपोपणे लीना वर्गभार्गविवर्जिताः । स्वात्मज्ञसे कृताभ्यासा मिथ्यात्वपर्यसेविका । १३० ॥

जीवो, आगमोक्त उत्तम और पत्रि क्रियाओका पालन करो अर्थात् भोजन पान आदि पत्रि क्रियाएं शूद्रके हाथसे मत कराओ । अन्यथा शूद्र क्रियाओका पालन होना अशक्य है ॥ १२६ ॥

अर्थ— उम पचमकालमें विनेक रहित और सरोनमत पुरुष ही खानपीने पीसने पानी मरने आदि धरके कामोंका अपने हाथसे नहीं करेंगे । अर्थात् ऐसे लोग शूद्रोंसे ही सब काम करवेंगे ॥ १२७ ॥

अर्थ— जो धनिक लोग शूद्रके हाथका भोजन पान करते हैं उनके साथ और असाधारण विचार सर्वथा नहीं होता है । वे लोग रात्रिमें साजन करने हैं । इम लिये फिन्ने ही धनाथ (कुशिक्षित-और कुस-गति में लगे हुए) क्रियाहीन होते हैं । ओर निर्द्रव्य (गरीब) लोग क्रियावान होते हैं ॥ १२८ ॥

अर्थ— क्रियाहीन धनिक लोगोंकी स्त्रिया भी सतगाली मनकर-खान पानकी विशुद्ध क्रियाओसे रहित होगी । बुखिणी होगी तथा दूसरोसे ईर्ष्या द्वेष करनेगाली होगी ॥ १२९ ॥

अर्थ— धनवानो की कुशिक्षिता स्त्रिये पाचो इद्रियोंके विषयोको पुष्ट करनेमें रात्रि दिवस मन रहेंगी । धर्ममार्गसे रहित होगी । जिनको अपनी आत्माका भी विश्वास नहीं होगा । केवल मिथ्यात्व मार्गका ही सदैव सेवन करेंगी ॥ १३० ॥

सस्य हस्तेन किञ्चिच्च गृहकार्यं क्रियोद्भवं । न करिव्यति ना भूप मदमात्सर्यमभृता ॥ १३१ ॥

शुद्धस्तेन तत्सर्वं भाद्रमासे व्रतंपु च । नूनं कारापापयिष्यति अन्नयानादिजा क्रिया ॥ १३२ ॥

निर्धं स्थानं सर्वमासेषु न्यादपानादिकं खलु । शुद्धकरणं संस्पृश्यं सदाचारविनाशकम् ॥ १३३ ॥

मद्यमासमधूना यदशनार्द्रोपो जायते । व स्याच्चन्द्रस्तसर्कवन्तुभक्षणतो बुधा ॥ १३४ ॥

अर्थः— मद्य और ईर्ष्या द्वेषसे भरी हुई धनवानोंका कुशिक्षिता स्त्रिया अपने गृहके खानपान और आचार विचारकी धार्मिक क्रियाओंको अपने हाथमें बिलकुल नहीं करेगी ॥ १३१ ॥

अथः--- हे राजा ! धनवानों ही कुशिक्षिता स्त्रिया भाद्रपद मास (पशुपण पर्व) और व्रतोंके दिवसोंमें भी भोजनपान शूद्रके हाथसे करायेगी । उनको पवित्र व्रतोंकी मर्यादा और पवित्र विधिका भी विचार नहीं रहेगा । १३२ ।

अर्थः--- भोजनपानकी क्रिया और विशुद्ध खानपानकी सामग्री शूद्रके हाथसे कराना सदा ही निंद्य है क्योंकि उससे सदाचार समूल नष्ट हो जाता है ॥ १३३ ॥

अर्थः--- हे विद्वानो, जो दीप मद्य मास और मधुके सेवन करनेसे उत्पन्न होता है वही दीप शूद्रके हाथसे संबंध किये हुए पदार्थोंके भक्षण करनेसे होता है ।

भावार्थः— शूद्रलोग मद्य मास और मधुका सेवन करते हैं । उनके हाथोंमें उन मलिन और अस्पृश्य पदार्थोंका संस्कार बना रहता है । यदि उस शूद्रके हाथसे स्पर्श किये हुए भोजनपानका सेवन किया जाय तो उस वस्तुके सेवन करनेमें मद्य मांस भक्षण करनेका दीप अवश्य ही लगेगा । क्योंकि शूद्रक हाथोंका अमर अपने भोजनपानमें अवश्य ही आयेगा ।

ये पुन शूद्रस्तस्य माद्रमासे व्रतपु च । चूर्णोदकाल्यं खादति ते नरास्तस्मा मता ॥ १३५ ॥
 शूद्रश्रावकभेदो हि दृश्यत व्रतपालनात् । शूद्राऽपि श्रावको ज्ञेयो त्रिभिः सोऽपि तत्सम ॥ १३६ ॥
 श्रपचो जिनधर्मेण कथित, श्रावकोत्तम । मृपुत्रोऽपि समोक्तो त विना श्रपचसम ॥ १३७ ॥
 ब्राह्मको व्रतयोगेन देवत्वं जायते खलु । देवो ह्यर्मादोषेण श्रयोनौ भो बुधोत्तमा ॥ १३८ ॥
 वर्चस्वे मुमिगालोपि कीटव लभने खलु । कीटोऽपि व्रतलेशेन भजते गतिमुत्तमाम् ॥ १३९ ॥

अर्थ—जो पर्युषण पूर्व और व्रतादि पुण्य दिवसोंमें भी शूद्रके हाथका आटा पानी और घी आदि भोजन पान सामग्रीका सेवन करते हैं वे शूद्रोंके समान ही माने गये हैं ॥ १३५ ॥

अर्थ—शूद्र और श्रावक में यदि भेद है तो मात्र इतना ही है कि शूद्रके सोलह सरस्कारके अभावमें व्रतोका पालन—भोजन पान आदि धार्मिक क्रियाओंका पालन नहीं होता है और श्रावकमें हाता है । जो श्रावक अपने भोजन पान आदि धार्मिक व्रत क्रियाओंको भूलजावे—नहीं करे तो वह शूद्रके समान ही है ॥ १३६ ॥

अर्थ—यदि चाडाल जिनधर्मकी आज्ञाके अनुसार जैन धर्मको धारण करता है तो वह श्रावकोत्तम माना जाता है । और जो राजपुत्र होकर भी जिनधर्मकी आज्ञाके अनुसार नहीं चलता तो वह चांडालके समान माना जाता है ॥ १३७ ॥

अर्थ—हे उत्तम बुद्धिमानो, देखो सम्यग्दर्शनादि व्रतों के धारण करने से चुत्ता भी देव हो जाता है और पाप कर्म करनेसे देव भी कुत्ता हो जाता है । इसलिये हे बुद्धिमानो ! जिन क्रियाओंसे सम्यग्दर्शन स्थिर रहे ऐसी व्रतादि धार्मिक क्रियाओंका पालन करो ॥ १३८ ॥

अर्थ—पापसे राजा भी कीडा (कीटक) हो जाता है । और धर्मसे कीट भी देव हो बनजाता है ॥ १३९ ॥

अतो भो मञ्जना श्रुयं मा कुट्टं कटाचन । मानप्रमादमात्म्यं यदीच्छा अर्मसंतते ॥ १४० ॥
मानेन गह्वरो नष्टा रात्रणाद्यां नरोत्तमा । सत्राप्य परम दुःख गतारो नरकावन्तौ ॥ १४१ ॥

मान दुर्गतिं काण बुधजैर्हेय च नियं म्बु । मानादि रात्रेऽग्ने त्वाशुतो रामेण वै नाशित ॥
स्वस्थेमाखिलदुःशोऽनित्यं सत्राण वै निश्चना । त्वा अन्ननिकेतन बुजवास्त नि जहीव सैन ॥ १४२ ॥

वर्थ है भव्य जीवो ! जो सुखको प्राप्त करनेकी इच्छा है तो जिन धार्मिक आचरणोंके पालन करनेसे सम्पूर्णदर्शन की स्थिरता होती है ऐसे पवित्र आचरणोंके पालन करनेमें मान या आलस मत रखा और मात्सर्य मत करो । १४० ।

अर्थ— धार्मिक चरित्रता यदि सत्ता और धनके अभिमानसे लोप किया जाय तो रावण आदि महान पुरुषोंके समान नरकादि लोक भयानक दुःख भोगन पड़ेगे । सार्गर्थ-त्म बड़े है तम राजा है हम बनवान है हम प्र-कार अभिमान में आकर यदि हम धार्मिक पवित्र आचरणोंका पालन नहीं करेंगे तो हमारी अवश्यही दुर्गति होगी । रावण ने अपने राजसत्ता और बलके अभिमानसे ही शील जैसे पवित्र धार्मिक आचरणको नष्ट करना चाहा हम लिये ही वह दुःख को प्राप्त हुआ । अतएव धार्मिक क्रियाओंको कभी नहीं छोड़ना चाहिये । १४१

अर्थ—मान दुर्गतिके कारण है, विद्वानोंको छोड़ने योग्य है और निश्च है । मानसे ही विद्याधरोका ईश

१ इन तीन लोकोंका मतलब यह है कि सम्यग्दर्शनके प्रभावसे कुत्ता-कीट-क-और चाडाल आदि तीन पशुओंको धारण करनेवाले प्राणी भी देवादि शुभ गतिको प्राप्त होत है । जो जीव सम्यग्दर्शन सहित चाडाल हों तो भी मकर देवपर्यायको प्राप्त होते हैं व्रत और सम्यग्दर्शनका महात्म्य ही ऐसा है ।

अन्नादिशोधने पानगारने न्यादपावने । प्रमाजने महधल कर्तव्यमजसा सलु ॥ १४३ ॥
 सशोध्य शक्येषु च विट्वाक नयनीतक । दधितक्रुद्धिदलात्र त्वाच्य त्रतास्ये सदा ॥ १४४ ॥
 हृदचूर्णाज्जर्हिगु च चर्मतैल दयासये । न ग्राह्य सर्वदा भव्यै कदमूलोत्करं खलु ॥ १४५ ॥
 यत्नेन जायते धर्मो विना यत्नेन नो खलु । अत सर्वत्र कार्येषु दयाभावो विधीयते ॥ ४६ ॥

रावण राम लक्ष्मणके द्वारा नाशको प्राप्त हुआ अथवा अपने आप ही दुःखोको प्राप्त होकर नाशको प्राप्त हुआ और अतमें नरकादिक दुखोका पात्र हुआ । इसलिए भव्य जीवोको मान करना छोड देना चाहिए ॥ १४२ ॥

अर्थ—अन्नादिक पदार्थोके शोधन करनेमें प्रसाद नही करना चाहिए । पानी छानना और भोजनपान आदि चौकेकी क्रियांमें महान् सावधानी और यत्न रखना चाहिए । भोजन बनाना पानी छानना—सडे हुए धान्यतो वीन छानकर आटा बनाना शरीर और बस्तीको शुद्धकर रमोई घर (चौका) में जाना चौकाको शुद्धादि लोगोसे स्पर्श न कराकर स्वतः उसको साफ काना आदि वातोंमें प्रसाद नही करना चाहिए । क्योंकि यह सने सोलह सप्ताहका फलरूप धार्मिक चारित्र हे । जो मनुष्य इस विषयमें प्रसाद करे अथवा करता है या हमरे शुद्धादि लोगोसे यह कार्य करता है वह धर्मसांगसे अष्ट समझा जाता है ॥ १४३ ॥

अर्थ—विना शोधे पदार्थ पुष्पादि सानेके पढाये सडा हुना हुआ अन्न, लोनी (मक्खन) और दही छाल के साथ बना मूग आदि द्विदलको अतही शुद्धताके लिए ग्रहण नही करे ॥ १४४ ॥

अर्थ— अपने चारित्रको शुद्ध रखनेके लिये व दयार्थमें पालन करनेके लिये बजारका आटा, अशुद्ध नजारका वी, हींग, वाममें रसा हुआ तैल और कंदमूल आदि पदार्थ मर्था ग्रहण नही करना चाहिये । १४५ ॥

अर्थ— अपने सथम और पवित्र चारित्रकी रक्षाके लिये भोजनपानको यत्नाचारसे शोधकर सेवन करो ।

वस्त्राणा घोहनं चापि गालिनेन जलेन च । कर्तव्यं त्रवरक्षार्थं दया सर्वेषु ह्युत्तमा ॥ १४७ ॥

यच्चित्तं हि दया नास्ति स पुणान् राक्षससम् । अतो भव्या मदा कार्या सर्वमृतेषु संरक्षण ॥ १४८ ॥

दयासमो न धर्मोऽन क्षमातुल्य तपश्च न । दानसमं न भूगस्ति त्रयस्ते मोक्षदायका ॥ १४९ ॥

कुलजा बुद्धिहीनाश्च संभव्यन्ति कुटुरा । मृपते बुद्धिवैतार स्वस्व-मृगा-सुखा ॥ १५० ॥

जैना दिपण्डमना ख्यातामंषा मध्ये नरेश्वर । भविष्यन्ति घना भेदा स्वस्व-तितिवकल्पत ॥ १५१ ॥

अशोभित अन्नपानका सेवन मत करो । क्योंकि यत्नपूर्वक शोधनेसे ही उत्तम प्रकारसे धर्मका पालन होता है, बिना यत्नके नहीं । इसलिये समस्त कार्योंमें दया रखनी चाहिये । १४६ ॥

अर्थः— त्रती पुरुषोंको अपने बख्त भी छुने दूए पानीसे धोना चाहिये क्योंकि उसके बिना दयाधर्मका पालन होना अशक्य है । जिनके यत्नाचार पूर्वक आचार विचार है उनके ही दयाधर्मका पालन होता है ॥ १४७ ॥
अर्थः— जिन मनुष्योंके मनमें दया नहीं है वे राक्षसके तुल्य हैं । इसलिये हे भव्य जंघो ! सब जानोपर दया करनी चाहिये ॥ १४८ ॥

अर्थः— दयाके समान अन्य धर्म नहीं है । क्षमाके समान अन्य तप नहीं है । दानके समान अन्य कोई श्रृपण नहीं है । समारममें दया, क्षमा और दान ये तीनों मोक्षक प्रदान करनेवाले रत्नत्रय है ॥ १४९ ॥
अर्थ— इस पंचमकाममें बुलीन पुरूप बुद्धिहीन होंगे । और कुकुलन राजाओंके मन भावते होंगे । तथा धर्म से रहित होंगे । १५० ॥

अर्थ— हे राजन् ! पंचमकालके पट मतके धागक मनुष्य होंगे । तथा जैन मतमें भी विपरीत मत अपनी र मन की कल्पनासे गठकर श्वेतांगदिक बहुत भेद होंगे । जो अपनेको जैन मतके धागक बतलायेंगे परंतु उनका मत मिथ्या मत के समान तीव्र मिथ्यात्वसे परिपूर्ण होगा । १५१ ॥

धार्मिकाणा भविष्यति हानिस्तु समय प्रति । गुरोर्निंदा करिष्यति श्रावका व्रतवर्जिता । १५२ ।।

अर्थ— उस समय धर्मात्मा पुरुषोक्ती हानि होगी । और व्रत रहित । (असदाचारी) श्रावक गण ही अपने धर्मगुरुओकी निंदा करेंगे । मिथ्या अर्णमाद लगायेंगे । १५२ ।

टीप—कुशिक्षित और असदाचारी लोगोसे सच्चे धर्मात्मा पुरुषोंकी बड़ी भारी हानि होगी । वे लोग अपने विषय कपाय की दृष्टिके अिये और आने कुशिक्षाके मिथ्याभिमानसे धर्मात्माओंको सब प्रकारके कष्ट देंगे , निर्दयतासे कार्य करेंगे । बास्वय और बहुत्व भावनाको मूलक) अपने धर्मका सत्यानाश करनेके लिये सच्चे धर्मात्माओंको शत्रु मानेंगे । तथा वीतराग-सर्वथा निरपेक्ष-परम पवित्र सर्व प्रकारके दोषसे विरहित और सब प्रकारकी आशाको छोडकर ज्ञान ध्यानमें लीन रहनेवाले धर्मगुरु (मुनि—आचार्य—प्रेलक आर्यिका) की ये व्रत और चारित्रविहीन श्रावक निंदा करेंगे । तथा निर्लेजताके साथ निंदा करते हैं । ये लोग स्वयं पापी, सदाचार रहित, कुशिक्षासे विषयोका पोषण करने वाले और क्रियाहीन पापिष्ठ होंगे सच्चे धर्मात्मा और धर्मगुरुका चारित्र-विचार-एवं मगकी भावना अयंत पवित्र और उत्तम होगी । उसको भी ये लोग सहन नहीं कर सकेंगे, उनकी इच्छा रहेगी कि यदि सच्चे धर्मात्मा पंडित और धर्मगुरु हमारे मतके अतुङ्गूल हो जावें तो हम समस्त समाजमें अपने विषय कथाओंकी प्रवृत्ति करा सके हैं । विधवाओंका धरोजा कराकर सहज रीतिसे कुमागका प्रचार कर सकते है । तभी समाजमें विषय कथाओंकी सिद्धि होगी । ऐसी कुलित घारणा से ही ये लोग सच्चे गुरु और सच्चे धर्मात्माओंसे पायकी प्रवृत्ति कराना चाहेंगे । परंतु अपने जीवनकी पवाह नहीं करनेवाले धर्मगुरु और सच्चे धर्मात्मा ऐसे धर्मबिरुद्ध पापोंकी प्रवृत्ति कभी नहीं करेंगे । बस ऐसेही कारणोसे ये धर्मात्माओंकी हानि और धर्मगुरुओंकी निंदा करेंगे ।

सहस्राह्येषु वर्षेषु नाशो धर्मस्य वा पुन । भविष्यति पुनर्धर्मगर्जनप्रभावंका ॥ १५३ ॥

भद्रमाहुस्तथा मू । जिनसेनकपीश्वर । समतभद्रयोगीन्द्रो बौद्धमातगर्भिहमः ॥ १५४ ॥

इत्याद्या वरयोगीन्द्रा वर्तयिष्यति निश्चयात् । दिगावामधरा पूज्या देवमानवबुद्धतः ॥ १५५ ॥

पश्चाद्दशमुनिजयाप्रभावे मगधेश्वर । कुदकुंदाभिधो मौनी भविष्यति सुगर्चित ॥ १५६ ॥

अर्थ—हे राजन् इस पचमकालमें—५०० पांचमी वर्ष व्यतीत होनेपर क्रमसे धर्मकी हानि होती जायगी । और पांचसौ पाचसी वर्षोंमें जैन धर्मका माहात्म्य अतिशय प्रभावनाके साथ नडेगा । मार्गार्थ, हजार्ग वर्षके आधे भागमें क्रमसे जैनधम घटता चला जायगा । और उत्तरार्द्ध भागमें जैन धर्म क्रमसे चढता जायगा । किसीको यह नहीं समझना चाहिये कि अत्र जैनधर्म चढेगा ही नहीं । यह बात त्रिलोक प्रजासिसे मालुम होती है कि हजार वर्ष व्यतीत होनेपर एक कलकी होगी जो धर्मका नाशक होगा । और आगेके पाचसौ वर्ष व्यतीत होनेपर एक उपकलकी मुनि होगा जो धर्मका स्थापन करनेवाला होगा । वस इनके योगसे धर्मकी हानि और बुद्धि होगी ॥ १५३ ॥

अर्थ—हे राजन् परम दिगम्बर, (निर्ग्रथ)—देव—मानवोंसे पूज्य, बौद्धादि मतरूपी हाथियोंको सिंहके समान नाश करनेवाले, पूर्ण योगी ऐसे भद्रवाहु जिनसेन समतभद्र आदि अनेक मुनीश्वर जैन धर्मके स्थापक होंगे । १५४ । १५५ ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर ! हमारे (श्रीवीरनिर्वाण सबतसे) चारसौ सत्तर वर्षके बाद देवोंसे पूजित कुदकुद स्वामी नामके यतीश्वर होंगे ॥ १५६ ॥

१ अत्रका अर्थ आकाश है और आकाशसे संख्यामें शून्य लिया जाता है तथा मुनिशब्दसे सात संख्या ली जाती है । और जाया शब्दसे चार संख्या ली जाती है । इस प्रकार 'अकाना वामतो गति' इकाई दहाई वाई ओर लिखी जाती है । इस न्यायसे ४७० वर्ष होते हैं ।

मुनेन्तस्य शृणुध्वच वृत्तगानददायकम् । एकाग्रमनसा भूप कर्मन्वनहुताग्नम् ॥ १५७ ॥

अर्थ—हे राजन् ! उन कुदकुद स्वामी का आनंद प्रदान करनेवाला वृत्तात एकाग्र मनसे श्रवण करो जिम पवित्र वृत्तातके श्रवण करनेसे कर्मरूपी इधन भस्मीभूत हो जाता है ॥ १५७ ॥

१ हमारे पास (ऐलक गवालाल दिगंबर जैन सन्वती भवन मुचईमे) एक गुटका है जिममे श्री कुदकुद भगवानका जीवन हिंदी भाषामे लिखा है । वन् यहापर उयोगी होनेसे अचिकल रूपसे अक्षरग्न रखते है । स. (वीर सयत्) ४७० की सालमें वारा नगरमें श्री कुदकुद मुनिराज थे । तिनका व्याख्यान करिये है । सेठ कुद और कुदलता सेठानी के पात्रवा सर्ग का देव चयकर गर्भमें आये तिस दिनसे सेठ का नाम प्रख्यात भया । नव महीने पश्चात् पुनजन्म भया । तिस समय स्वैतावर आम्नाय विगेष होय रही थी । दिगंबर आम्नायमें कुछेक विक्षेप पड गया था । एक जिनैन्द्रचंद्र मुनिराज रामगिरी पर्वत पर रहें । ताके दर्शन सेठजी करवो करे सो याके पुत्र आठ वर्षका हुआ और श्रीजिनैन्द्रचंद्रमुनिका आयुक्रमे नजीक आया । कुमार कुदकुद नित्य मुनिके दर्शनार्थ आया करता था । सो पूर्व सस्कार से कुदकुद कुमार दीक्षा लेता भया । आचार्य तो देवलोक सिधारे और कुदकुद मुनिने आचार्यो का मार्ग विशेष जाणया नाही सो अपने गुरु स्थापना के निरुट ही व्यान करांते भये । इनके ध्यानके प्रथामसे सिंह व्याघ्रादिक शातभावको प्राप्त भये । श्रीस्वामीके ऐसा ध्यान प्रगट भया । तीन ज्ञानके अगोचर श्री सीमर स्वामी पूर्वले विदेहक्षेत्रके तीर्थकर तिनका ध्यान स्वामी ने शुरू किया । आदिमें सबसरणकी रचना विधि पूर्वक चित्तरूपी महलमें बनायी । ताके बीच गधकुटी रबी । और वारह सभा सहित रचना बनाय, सिंहासन ऊपर चार अंगुल अतरीक्ष श्रीमथर स्वामीको विराजमान देलकर श्री कुदकुद मुनि नमस्कार करता भया । वे ही समयमे श्री सीमथर भगवानने मुनिराजको धर्मवृद्धि दीनी । तदि चक्रवर्ती आदि महत्पुरुषोके बडो विम्यय उत्पन्न भयो । अभी कोई इन्द्र देव या मनुष्य कोई भी आया नहीं । और स्वामीने धर्मवृद्धि दीनी ताका कारण कहा । तदि महापद्म

चकतीं आदि मन ही गजा उठ कर स्वामीको नमस्कार कर पड़ते भये । ओ सर्वज्ञ देव या धर्म वृद्धि भाप कौनको डीनी । ये वचन मन कर स्वामीने दिव्यध्वनिसे वासनात किया कि हे महाप्रभ ! भगवन्नेत्रके पाये-वड्डमें गमगिरी पर्वत पर भी तुम्हें मुनि तिष्ठे हैं उनमें अभी मन वचन शायकर गुह्यनाकर मते नमस्कार किया तदि धर्मवृद्धि डीनी । क्या वचन स्वामीका सुनकर या तोआके पचान हुआ । ओ भगवान आपकी दिव्यध्वनि पहले हमने सुनी थी कि भगवन्नेत्रादिकके दशज्ञेयमें बर्मका मार्ग नहीं । पागडी है । बैगन्नेको नाममात्र जानना नहीं । परीत मार्ग चान्सा पालंडी लोगानी भाग्यता ज्यादा डोगी । गुरुडोगी लोग हो जाये । भक्तलिखत अंग पाँचों । अनेक पागड चणों । जिनराजका मार्ग आगिया समान कहीं नहीं दिनेगा । पायेंहीके गड जगह (जागा जागा) पायेगा । व्यन्गदि देवनिका चमत्कार प्रति भासेगा । भव हमको छोड करि मं ही लोग उनमत मार्गमें बभोगे । जब ऐसा नुद्धिगारी मुनिराजका नाम सुया मो हमारे बडो आश्चर्य है । तदि केवली वर्णन कांय भये-ऐसे मुनिराज विरहे होते हैं । आगियाका चमत्कारत त्रोते रहेंगे । मार्यलंड में वे स्वर्गगामी देवका जीन है । या ममांमें रविपभ नामका देव है इदका यह जगले भवका भाई है । ऐसा शब्द होते ही दोय देव श्रीभागवान्के निकट आये । नमस्कार कर सकल व्याख्यात पछते भये । और मुनिराजका दर्शन करने वास्ते गमगिरी पर्वतपर आवतें भये । ता समय गनि थी । तदि मुनिराजको नमस्कार कर बैठ गए । मुनिराज बोले नहि । मुनिके गिण बहापर बिना ध्यान तिष्ठने थे तिनका दर्शन भया उनसे ही जार्नलाप हुआ । देग रही गी मीनेपर स्वामी इनको धर्मवृद्धि डीनी । तदि हप यदा आए । और स्वामी बोले नहीं सो हम भगवान्के समोसणमें पीछे जावा है । [चाते हैं] या कहकर देव भगवान्के समोसणमें गए । और प्रगतका समय भया । तदि प्रभातका समय भया देल सर्व शिष्यमने नमस्कार किया । और रात्रिका सर्व संयं श्री सीमंजर स्वामी समधी मने विधिपूर्वक मानुम किया । और कही, दो देव आपके दर्शन कानेको आया । आपके दर्शन कर पीछे ही समोसण मभामें गया । ये समाचार सुनिकर

श्री बुद्धदेव मुनि विशेष आनन्दकू प्राप्त भया । और चोडेमें ऐसा गूढ प्रकाशते भये कि अब श्रीसीमधर स्वामीका दर्शन साक्षात् करेंगे तदि आहार आदिक लेवेंगे । या कहकर स्वामी फिर मौन धारण करी । न्यानमे मग्न भये । ऐसा ध्यान आवे जदी वैसा कारण होय । फिर दो चार दिनेमें चित्तकी स्थिरतासे ऐसा ही ध्यान प्रकट भया । अर समोसरण बनाया । और साक्षात् श्रीसीमधर स्वामीको नमस्कार करता भया । ये ही समय फिर धर्मशुद्धि भगवान की हुई और प्रश्न भया । भगवान् कही जो देव गया छ (या सो पाछा आया । अब उसको नियम हुआ कि दर्शन विना सर्व त्याग है । तदि देवा कही गो स्वामी वे आये नहीं । तव भगवान् आज्ञा करी तुम वे समय गए । देव पृछते भये वे समय कौनसा ? तव भगवान् कही । यहा रात्रि टोय है वहा दिन होय है । वहा रात्रि है यहापर दिन है । सूर्यका गमन ऐसा है । सो तुम बहा दिवसमे जाओ तो उनका आगमन होवेगा । ऐसा वचन सुन कर वे दोनों मध्यान्ह समय आये । मुनिराजका दर्शन हुआ । परस्पर वचनालाप हुआ । देव हाथ जोड नमस्कार कर विनती करी । आप विमानमे विराजो । सीमधर स्वामी का दर्शन करो । या बात सुनकर प्रसन्न हुए । आप विमानमें विराजे । आकाश मार्गे जायता स्वामीके सामायिकका समय आगया तो सामायिक करते बलत पीछी हाथसे गिर पडी अर पवनका वेग अत्यंत लागा । तव स्वामी कही हमारा गमन नहीं । क्योंकि मुनिराजका बाना विना मुनिराज पिछाणा नहीं जाय । तव देव पीछी दूडनेका बडा यत्न किया । पीछी पाई नहीं । तव गिद्ध पक्षीके पल बहा पर पडे हुए देवोंने देखे । उनको अति कोमल देव पीछी बनाय श्री मुनिगज को सोपी । तदि आप कोमल जान अर धर्मकार्य करने निमित्त अंगीकार करी । फिर आगे गमन किया । इस हेतुसे गृद्धपिच्छाचार्य नाम पड गया । विदेह क्षेत्रमे जाय पहुंचे । श्रीसीमधर स्वामीका समोसरण मानस्तमकी विभुतिको देखकर प्रसन्न हुए । आप अंतरग की शुद्धता धार विमान से उतर भगवान के समोसरण मे प्रवेश किया । श्री सीमधर स्वामी की तीन प्रदक्षिणा करी । नमस्कार किया स्तुति करी । अहो तुम्हारी महिमा आगम है । अगोचर है । आप

सकलवस्तु सर्वदेव देवो हो । आन जगत गुरु हो । आपके नामसे अनेक जन्मके पाप विलय हो गए हैं । आप के बल ज्ञानी सर्व प्रतिभासी हो । आप पूज्य हो । आप ब्रह्म हो । महेश्वर हो । महेश्वर रूप हो । चतुर्भुज हो । गणेशादिक देव बुद्धारे गुणगान करतें एक गण, इसी की स्था सामर्थ्य । आज हमारा शरीर मज्जल भया । आप हमारी मोक्ष गई माने है । इत्यादि म्बुति कर पश्चात् देव इनको भगवान् की भय हूटीकी श्रुतीपर ब्रह्मके भये । ब्रह्मके मनुष्योंका शरीर ५-० अनुग्रह और ये सात (छठ ?) हाथके । उस कारणसे उस समय चक्रवर्ती पायो । गणेश्टीण वर गडे । ता हूट्टरन्द मुनिको अपनी हथेलीमें उठाए विचार करता भया । यत् होतमा अकार है । छठ तंउमें य आचार वनी देगा नहीं ऐसा आकार करसे आपया । ऐसा आचार कोन का है । तम चक्रवर भगवान् को पश्य भया ते निन्दे ! अ मनुष्यके आचारका कोन सा जीम है । तम भगवान् की दिव्य-वनि हुई । ये शक्तके मुक्तिगण है । तुम परम भगुच्छिन्ना मरण पृष्ठा ५ नो क् अत अर्ध निमित्त आयें है । ऐसा शब्द तुम पर चक्रवर प्रसन्न होय मुक्तिजको श्रुतीपर विराजता किये । नमस्कार करता भया । और मुनिराजका नाम एलाचार्ये मगट किया । और भगवान् की आज्ञा भई इनको राक्षस भरे का निराणेतान् भित्तत मिलयाओ और अर्थ नितोवो । अब बुद्ध मुनिके जो शंकर था मा भगवान् परमसे मन निराण किया । निम्बदेह भया । गत दिन चन्द्रवार चिन्ती करी । आप गहार अर्थे नमित्त उतरो । ता आप की जोयता नाही । सत्ये यहा अब दिन है तम हमार अंयम ररि है । हम ब्रह्मक उपजे मः गहार कैसे अर्गकार करे । मात दिवस तक मुनिराज बहापर (विदेह क्षेत्रमें) विराहाए रहे । भगवान् की दिव्य-वनि मुनिर तूत रहे । बुधा भाषा न देती भई । चार शाल लियाये । ब्रह्मके नाम थे ह. — मतान् निर्णय ८४०००, सर्वशाल ८२०००, कर्म पक्षाश ७२०००, न्याय प्रकाश ६२००० ऐसे चार ग्रन्थ लेकर भगवान् स आज्ञा मापी । देव निगाम भेटालकर रामगिरी पर्वतपर भाये । देव अपने स्वान्तको गये । अब मन ही आज्ञा मानते भये । अणित प्राणियोंको बर्षागर्भ लगाया । लालो प्राणियोंने स्वतावर धर्म छुडाय दिगंय

भारतेस्मिन् पुरे वारे लथाते भव्यनृभिर्मते । कुद्राव्हो भव्यभाबाढ्यः श्रेष्ठी श्रेष्ठगुणान्वित ॥ १५८ ॥

कुदा शीलसुभृणाढ्या भविव्यति शुभा प्रिया । तस्य धर्मरतस्यैव नाम्ना स्त्री तिलकोपमा ॥ १५९ ॥ ~

तस्य कुक्षौ सुरैः पूज्य कुदकुंदाभिष सुत । भविष्यत्यग्रधर्मस्यै वर्द्धनैकदिवामणि ॥ १६० ॥

निधनाव्दे स कौमागे पूर्वसत्कारयोगत । जिनचद्रमुनेः पार्श्वे जातरूपं ग्रहिव्यति ॥ १६१ ॥

शब्दालकारकाव्यादीन् सन्धिष्वे स्वयुगः स च । तथा हि मुनिमार्गे च ज्ञात्वा वै नूतनश्रुषि ॥ १६२ ॥

अर्थ—हे राजन् ! इस भरत क्षेत्रमें भव्य नीतिमान राजास्ये शासित और प्रसिद्ध वारा नगरमें भव्यात्मा, अनेक श्रेष्ठ गुणोंसे विभूषित कुद नामका एक प्रसिद्ध सेठ होगा ॥ १५८ ॥

अर्थ—हे राजन् ! उस सेठ की स्त्री का नाम कुदलता होगा । जो शीलवती-अतिशय मनोहर अपने पति की प्रिय और तिलक के समान हृदय हारिणी होगी । १५९ ॥

हे राजन् ! उस कुद नामके प्रसिद्ध धर्मात्मा सेठ की महाशीलवती स्त्री कुदलता के कृत्वसे मुख्य दिग्बर जैन धर्मको बढ़ाने के लिए सूर्यके समान, देवों से पूजित और दिव्य शक्तिके धारक श्री कुदकुद नामके पुत्र रत्न उत्पन्न होंगे । १६० ॥

अर्थ—हे राजन् ! वह कुदकुद आठ वर्षीय बालक पूर्वभवके पुण्योदय से [राम गिरि पर्वतपर] श्रीजिनचद्रमुनीश्वर के पाम नग्न दिग्बर भगती जिनदीक्षाको धारण करेंगे ॥ १६१ ॥

अर्थ— हे राजन् ! वे कुदकुद नामके बालयती अपने गुरुके समीप-शब्दशास्त्र [व्याकरण] काव्यशास्त्र और किये । धर्ममार्ग प्रवचोथा ; हजारों व्रती मये । हजारोंको मुनि कुदकुद स्वामीका चमत्कारसे ससारसे वैराग्य हुआ और दीक्षा धारण की । कितने ही राजाओंने जैनधर्म स्वीकार स्वामीकी आज्ञा पाली । कुदकुद स्वामीके सधमे ५९४ मुनियोंकी सख्या होगई ।

घणीमूषणादौ च श्यामे स्वर्णोश्काणम् । भरिष्यति महाभीमे व्याघ्रघानाय ब्राह्मणवित् ॥ १६३ ॥
 द्रव्यं कृने यति सोपि ध्यानञ्ज स्मरसोवञ्जी । श्रीसीमण्डेभ्यम प्राचिदिगुनायकस्य वै ॥ १६४ ॥
 यथाविधि नराधीशु सन्नतस्तस्य मोदन्मृत । कृत्वा च रचनां पश्चात् गोपकुट्टा मनोहराच्च ॥ १६५ ॥
 मंथाप्य परया भक्त्या तदोपरि मनोहराम् । इरिविष्टं महोत्तुंगं नानायोगासमन्वितम् ॥ १६६ ॥
 तदोपरि जिनाचीशु संगंधरमवा पद्मम् । महाकार्यं मनोज्ञं च निस्मही निस्मही पुन ॥ १६७ ॥

अलकार शास्त्र आदि शास्त्रोंका अस्याम करेंगे । इस प्रकार मुनिमार्ग [यत्याचार] को भी जान लेंगे ।

अर्थ—हे राजन् ! इस लिये अब उनका विद्याभ्यास का होना बंद हो जायगा और आत्माके जाता वे अपना समय महाभयानक—धरणी ध्रुवण (रामगिरी) नामक पर्वत पर अपने पापोंको नाश करने के लिये स्वर्ग मोक्ष का कारणभूत ऐमा उत्कृष्ट ध्यान लगायेंगे । १६३ ॥

अर्थ—कामदेवको वश करनेवाले और ध्यानकी सूचीको जानने वाले वे यति श्री कुंडकुंद स्वामी अपने हृदय कमलमें यथाविधि ममपमरणकी रचना कर उममें एक मनोहर गयकुटीकी रचना करेंगे । उस गयकुटीपर अनेक प्रकार की शोभासे युक्त महोन्नत और सर्वांग सुंदर ऐमा दिव्य मिहामन स्थापन करेंगे । उस मिहामनपर ममस्त प्रकारके पापपंक्तोंको दूर करनेवाले त्रिलोकके ज्ञाता सर्वज्ञ महा मनोज्ञ अनंतगुणोंके स्वामी श्री जितेंद्र भगवान् पूर्वविदेहके नायक श्रीसीमधर स्वामीको उड़ी भक्ति से स्थापन करेंगे । फिर तीन बार निस्सही निस्सही ऐमा शब्दका उच्चारण करेंगे । १६४ । १६५ । १६६ । १६७ ॥

जय त्रीणि इति प्रोच्य निप्राग वै प्रदक्षिणा । साष्टागविधिना पश्चात् नमस्कार करिष्यति । १६८ ॥

तदा हि धर्मतृद्धिं च दास्यति तत्र भूमिगात् । चक्रवर्त्यादयो भृषा श्रुत्वा ता हर्षदायकाम् ॥ १६९ ॥

प्रापूर्वै विस्मय पश्चाच्चक्रो चानन्य त जिनम् । कोपि नात्र ममायातो दत्ता कम्मं त्यया प्रभो ॥ १७० ॥

इत्युत्तर तदा तन्मै सीमधराजिनाधिगात् । दास्यति माधाधीश तस्य सदेहहानये ॥ १७१ ॥

तस्माश्च कारण सर्वं धर्मप्रभावकं ह्युभम् । एतात्रप्रवना लवच सार्वभौमाधिगात् शृणु ॥ १७२ ॥

अस्मिन् मारुद्भ्रष्टरीपे क्षेत्रा सति मनोहरा । समुनिस्तोमस्तस्याब्जा भव्यामध्यनृभिर्मता ॥ १७३ ॥

अर्थः— फिर वे कुङ्कुद सुनि तीन वार जय जय शब्दोंका उच्चारण कर तीन प्रदक्षिणा दंगे । फिर विधि पूर्वक अष्टाग नमस्कार करेंगे और उधर विदेह क्षेत्रसे नीमधर स्वामीकी दिव्यध्वनिमें धर्मतृद्धि होगी । उस धर्मतृद्धिको श्रवण कर चक्रवर्ती आदि अनेक राजा और सभोंके देव मनुष्य आश्चर्यको प्राप्त होगे । उसी समय चक्रवर्ती प्रभु श्री सीमधर स्वामीको नमस्कार कर प्रश्न करेंगा कि हे स्वामिन् इम समय समनमरणकी द्वादश वर्षोंमें कोई भी देव मनुष्य नहीं आया है । आपकी दिव्यध्वनिमें धर्मतृद्धि किसके लिये खिरी ? ॥ १६८ । १६९ । १७० ॥

अर्थ—उम समय प्रभु सीमधर स्वामीने चक्रवर्ति आदि महान पुरुषोंके संदेहको दूर करनेकेलिये कहा । १७१

अर्थ—भगवान् श्रीमधर स्वामीने कहा कि धर्मका शुभ प्रभावका उत्पादक उस धर्मतृद्धि का कारण है सार्वभौम चक्रेश्वर ! सावधान मनसे श्रवण कर । १७२ ॥

अर्थ—टाई द्वीप क्षेत्रमें कर्म भूमिके १७० एक सौ सत्तर मनोहर क्षेत्र है जिनमें भव्य अभव्य गहुतसे मनुष्य रहते हैं ॥ १७३ ॥

खलुचन्द्रक्षेत्रेषु समय आचलौ मत । इन्द्रिन्द्राम रुद्रा नास्ति शास्त्रत पुरुषोत्तम ॥ १७४ ॥
वर्मो हि आचलौ सत्र नो कुदेन कुलिगिन । गोम्यत्र न्वनम्यादि वीतरागामनायम् ॥ १७५ ॥

ममय पंक्तिक्षेत्रेषु इन्द्रिन्द्रासमुत मदा । वर्नव चतुर्भेदेन म म्यामी माह तान् प्रति ॥ १७६ ॥
भोगभृमिगते तत्र उपभादिजिनेश्या । अतीता भादशा गर्गै तत्पुन्या पुन्योत्तमा ॥ १७७ ॥

अधुना पचम कालस्तथैव वर्तत खलु । म्यादिज्ञानदीनां मर्त्या कुज्ञानमडिता ॥ १७८ ॥
श्रावकाश्च क्रियाहीना यत्याचारपरान्मुग्या । मुनीश्या नगर्थाश यत्या यत्र निश्यात् ॥ १७९ ॥

अर्थ—उन्में १६० एकसी माठ तो ऐसे क्षेत्र हैं जो सदा मर्मदा आश्रते रहते हैं, जिनमें सालचक्रके द्वारा

परिवर्तन (घटती बढती) नहीं होता है । जिन क्षेत्रोंमें मदा तीर्थकर परमदेन आश्रते विराजमान रहते हैं । ॥१७४॥
जिस विदेह क्षेत्र (एक सौ माठ क्षेत्र) में कुदेमोका अफाय सर्वथा नही है न कुलिगी गुरु ही किसी भी

सालमें होते हैं । वहा पर सर्वत्र एक जिनधर्म ही आश्रता धर्म रहता है । अन्य धर्म नहीं रहता । १७५ ॥
अर्थः— श्रीमीमधर स्वामीने चक्रवर्ती आदि भव्य जीमोको कहा कि भरत और ऐरातमें छह समयके

कारण वृद्धि और न्हाम होता है । १७६ ॥
अर्थः— भरत और ऐरातमें भोगश्रमिका चक्र नष्ट होनेपर उपभादि चतुर्विंशति तीर्थकर मेरे समान पुरुषो-

त्तम होगये । और तेरे (चक्रवर्तीके) समान चक्रवर्ती भी होगये ॥ १७७ ॥
अर्थः— हे चक्रिन् ! इस समय भरतधर्ममें पचमकाल प्रकट हो रहा है । जिससे वहांके जीव बुद्धिहीन और

कुज्ञानी हो रहे हैं ॥ १७८ ॥
अर्थ—हे चक्रधर ! पचमकालमें वहांके श्रावक क्रियाहीन होये तथा वहांके यतियोंमें यत्याचारका परिज्ञान

नहीं होगा ॥ १७९ ॥

यत्र भुषा हि धर्मस्य नाशका वा द्विजा खला । वर्तते भो धराधीश कालदोषप्रभावत ॥ १८० ॥
 ब्रह्मुना जिनधर्मस्य धारक स्वर्गजो मुनि । कुन्दकुन्दसमाख्यतो ध्यानमात्रपरिश्रु ॥ १८१ ॥
 धरणीभूषणद्रौ हि ध्यानलीनो हि मा स च । भक्तिपूर्व कृतो भय नमस्कारस्ततो मया ॥ १८२ ॥
 धर्मवृद्धि प्रदत्ता हि तस्मै शुद्धात्मने वा । इति श्रुत्वा सगलोकाश्रकवर्ष्यादयो घना ॥ १८३ ॥
 महद्दर्भ च संपापु कृत्वा च विस्मय हृदि । एयुना भारते क्षेत्रे ऋषि स्याच्चेदशो महान् ॥ १८४ ॥
 देवेंद्रा निर्जरा सर्वे भूमिगश्च यतीश्वरा । स्मररौ कुड्मलीकृत्य तस्मै युनेति तदा ॥ १८५ ॥

अर्थ—हे राजन् ! पचमकालमें भरतक्षेत्रके राजा गण ही धर्मके नाशक होये । और ब्राह्मण लोग जैन धर्मका द्वेष करनेवाले क्रूर स्वभाव वाले होये ॥ १८० ॥

अर्थ—चक्रधर, इस पचम कालके भरत क्षेत्रमें अब भी स्वर्गसे अवतार लेनेवाले, जिन धर्मके धारक ध्यान मात्र परिग्रहको धारण करनेवाले महा प्रभावशाली कुन्दकुन्द नामके मुनिने धरणी भूषण नामके पर्वतपर ध्यानमें संलीन होकर मेरा (सीमंधर स्वामीका) एकाग्र मनसे चिन्तन किया है और भक्तिपूर्वक मुझे (सीमंधर भगवानको) नमस्कार किया है । अत एव मेरी दिव्यधनिमें सभायरूपमें उम शुद्धात्मा कुन्दकुन्द मुनिराजको धर्मवृद्धि प्रकट हुई है । श्रीसीमंधर स्वामीसे इस बातको सुनकर द्वादश सभ में स्थित संपूर्ण भव्यजीव आश्चर्यको प्राप्त हुए । और विचार किया कि अन भी भरत क्षेत्रमें ऐसी दिव्य विशाल शक्तिके धारक महान तपस्वी मुनि है ? तत्काल ही समस्त इन्द्र-देव-मनुष्य-और चक्रवर्ती आदि राजाओंने कुन्दकुन्द मुनिराजको अपने दोनो हाथ जोडकर भक्तिपूर्वक नमस्कार किया ॥ १८१ । १८२ । १८३ । १८४ । १८५ ॥

प्रभो केनाप्युपायेन तस्य चागमनं भवेत् । तदा श्रीमल्लिजाधीशः कारणं ध्वनिनावदत् ॥ १८६ ॥

रभिकेतुगता चद्रकुण्डौ निर्जितौ वरौ । पूर्वमित्रे मुनीन्द्रस्य प्रेषणीशौ तदा भवेत् ॥ १८७ ॥

चासौ पूर्वसमव श्रुत्वा नत्वा जिनेश्वरम् । आगमिष्यतो राजेन्द्र तदानयनसिद्धये ॥ १८८ ॥

आयास्यतश्च तौ रात्रौ हृष्टा मौनीश्वर वरम् । ध्यानमग्न महाशातं नत्वा तस्यादर्पं क्रजम् ॥ १८९ ॥

ब्रूयुर्वै नैव रात्रौ च ध्यानस्था हि यतीश्वरा । स्थित्वा कियत्प्रथमं कालं पश्चात्तत्रैव यास्यत ॥ १९० ॥

अर्थ—सीमधर स्वामीको उमी समय किसीने पूछा कि हे प्रभो ! उन मुनिराजका आगमन यहाँपर किसी प्रकार हो सक्ता है ! तब सीमधर स्वामी ने दिव्यध्वनिके द्वारा कहा,

अर्थ:— हे राजन् ! इस समाप्त बैठे हुए रविकेतु और चंद्रकेतु नामके दो देव श्रीकुण्डकुण्ड मुनिराजके पूर्व

भक्तके मित्र है । अर्थात् कुण्डकुण्ड मुनिराजका जीव स्वर्गसे चयकर आया है सो स्वर्गके दो देव जो सीमधर स्वामीकी

समाप्त बैठे हुए है वे दोनों ही उनके मित्र है ।) वे दोनों उनको यहा पर ला सक्ते है ॥ १८७ ॥

अर्थ— वे दोनों देव अपना संबध श्रवण कर तत्काल ही श्रीसंमधर स्वामीको नमस्कार करेंगे और वे

धरणीश्रवण पर्वतपर उन्को (कुण्डकुण्ड स्वामीको) लेनेके लिए आवेंगे ॥ १८८ ॥

अर्थ— वे दोनों देव रात्रिमैं वहापर (कुण्डकुण्ड मुनिराजके पास) आवेंगे उम समय यहा शांत मुनिराज मौनमें

स्थित ध्यानमें सलग्न होंगे । वे देव उन मौनी मुनीश्वरके चरणकमलको नमस्कार कर कुछ कालपर्यंत बैठेंगे ॥ १८९ ॥

अर्थ— मुनीश्वरोंके रात्रिमैं नियमसे मौन व्रत होता है । अत एव कुण्डकुण्ड स्वामीके भी मौन व्रत होगा ।

और वे मौन व्रत सहित ध्यानमें लवलीन होंगे । इसलिए देवोंको यह मालूम होगा कि मुनीश्वर बोलते ही नहीं ।

अब यहाँपर बैठे बैठे क्या करेंगे; चलो पीछे चलेंगे; ऐसा विचार कर वे दोनों ही देव वहासे पीछे चले आएंगे ।

प्रभाते तस्य शिष्या हि कथयिष्यति गत्रिजम् । निर्जरी द्वौ समायातौ स्वामिन् ते दर्शनाय वै ॥ १९१ ॥

अस्यावा पूर्वजौ मित्रे कथयित्वा च तौ गतौ । सीमधरमभास्थानादागतौ वै तदासये ॥ १९२ ॥

तटास्मात्सर्ववृत्तात् श्रुत्या योगीश्वरोऽपि स । करिष्यत्येव तत्रोच्चैर्दुर्घट नियम तदा ॥ १९३ ॥

यावन्मे दर्शनप्राप्ति न वेत्स्य निश्चयात् । वेदप्रमथ न्यादस्य त्याग म्यान्वात्र संशय ॥ १९४ ॥

निर्जरी तौ समागत्य तत्रापृच्छच्च जिनैश्चम् । ज्ञात्वा तत्कारणं भूप न्यायास्थत पुनश्च तौ ॥ १९५ ॥

अत्र रात्रिर्दिवा तत्र रवेऽभ्रमणत खलु । विपर्यय च जानीहि सदा नैवात्र संशय ॥ १९६ ॥

अर्थ—हे राजन् ! प्रातःकाल श्री कुदकुन्द स्वामीके शिष्य, स्वामीसे रात्रि के समयमें देवोके आनेका जो वृत्तांत हुआ था उसे कहेंगे । और यह भी कहेंगे कि वे देव श्रीसीमधर स्वामीकी द्वादश समांसे आये थे । आपके पूर्व भवके मित्र थे । और आपके दर्शनक लिये आये थे । परतु आपको मौनी देखकर पीछे चले गये ॥ १९२ ॥

अर्थ—अपने शिष्योसे उपर्युक्त वृत्तातको सुनकर श्री कदकुन्द स्वामी तत्काल “ जवतक मुझे श्रीसीमधर स्वामीका प्रत्यक्ष दर्शन न होगा तवतक मेरे चारो ही प्रकारके भोजनका सर्वथा त्याग है । ” इस प्रकारका बडा भारी दुर्घट नियम करेंगे । १९३ । १९४ ॥

अर्थ— हे राजन् ! उधर देव पीछे लौटकर सीमधर भगवानके समव सरणमें जायगे और वहांपर श्रीसीमधर स्वामीको नमस्कार कर पूछेंगे कि हे स्वामिन् वे मुनिराज यहांपर क्यों नहीं आये ? स्वामीजी अपनी दिव्यध्वनि द्वारा कहेंगे कि— ॥ १९५ ॥

अर्थ— हे देवगण ! कुन्दकुन्द स्वामी मौनस्थ क्यों रहे और तुम्हारे साथ क्यों नहीं आये, इसका कारण यह है कि जब यहांपर दिवस होता है तब वहांपर [भारतक्षेत्रमें] रात्रि होती है । क्योंकि सूर्य के भ्रमणसे कालका परि-

वासरे तौ समागत्य तस्वा तत्पादपंकजम् । प्रकथ्य सर्ववृत्तांतं तदये तौ च स्थास्यत ॥ १९७ ॥

तदविमाने समासद्य ग्रस्थति स मुनीश्वर । केवलं धर्मकार्यार्थं पूर्वपुण्येन प्रेरित ॥ १९८ ॥

भूर्भोगान् जिनसद्भाव्यान् नानाश्रयान् मुनिश्च स ॥ चकार गमनं चाग्ने पश्यन् हि सकला महीम् ॥ १९९ ॥

विभोरास्थानमाराच दृष्ट्वा यानाच्च तै सह । उत्तीर्यान्तंसंयुक्तो विवेक शर्मदायकम् ॥ २०० ॥

वर्तन होता है । इस लिये रात्रिमें मुनि बोले नहीं और तुझारे साथ आये भी नहीं । समय की विपरीतता ही इसका खल कारण है ॥ १९६ ॥

अर्थ—फिर वे देव दिवसमें (भारतमें जब दिवस था) आंयगे और मुनिराजको नमस्कार कर और सर्व वृत्तांत कहकर स्वामीके सामने बैठ जायेंगे ॥ १९७ ॥

अर्थ—वे कुंदकुद स्वामी उन देवों के विमान में बैठकर विदेह क्षेत्र जायेंगे—वे मुनिराज पूर्व पुण्यसे प्रेरित होकर केवल धर्म काय की सिद्धिके लिये ही विदेह क्षेत्रको विहार करेंगे ॥ १९८ ॥

आगे ग्रंथकार उस कथनके अनुसार स्वय वर्णन करते हैं ॥

अर्थ—कुंदकुद स्वामीने विमानमें से हिमालयादि पर्वतों पर विचित्र शोभायुक्त कृत्रिम जिन मंदिरों को देखते हुए और सपूर्ण पृथ्वीकी विचित्र शोभाको देखते हुए आकाशमें विहार किया ॥ १९९ ॥

अर्थ—श्रीसीमंथर तीर्थंकर का समोसरण समीप आया हुआ देखकर श्री मुनि कुंदकुद उन दोनों देवोंके साथ विमान से नीचे उतरे और उन्हींने सुख देने वाले समोसरण में प्रवेश किया ॥ २०० ॥

सदने नंददे तस्य चकार सुरनिर्मिते । यातायातनृमिथुकेऽच्युतोपमविराजिते ॥ २०१ ॥
 निस्सही त्रीणि त्व नाथ जय त्रीणि दयापते । इत्यादिशुभशब्दौघान् कुर्वन् वै यतिराट् वरान् ॥ २०२ ॥
 तप्तहाटकसाहस्यं सभाद्वादशमंडितम् । महाकार्यं महातेज साम्यरूपमनौपमम् ॥ २०३ ॥
 जातरूपधरं भीरुमनिमेष निरामयम् । दात सार्व मनोहार निराभरणभास्वरम् ॥ २०४ ॥
 प्रातिहार्यादिभूत्योपलक्षित रागवर्जितम् । वसुचन्द्रमहादोषवर्जिताग निरौपमम् ॥ २०५ ॥
 पद्मासनसमासीनं शतेन्द्रपूजित वरम् । वेदान्यतिशयैर्युक्त कोटिमातंडुत्युपमम् ॥ २०६ ॥
 तारक हारक शुद्ध सीमंधरं जिनेश्वरम् । ईदृशं सर्ववचार हरिविग्रसस्स्थितम् ॥ २०७ ॥

अर्थ—वह सीमंधर स्वामी का समोसरण अतिशय आनंद का प्रदाता देवो कर निर्माण किया हुआ और मनुष्योके आवागमन से खचाखच भरा हुआ स्वर्गके समान शोभा देरहा था ॥ २०१ ॥

अर्थ—मुनि कुदकुद स्वामीने समोसरणमें निस्सही निस्सही इस प्रकार तीन वार शब्दोको उच्चारण कर जय जय शब्दोको बोलकर प्रवेश किया । २०२ ॥

अर्थ—तपाये हुवे सुर्णके समान देदीप्यमान शरीरको धारण करनेवाले, द्वादश सभासे निभूषित, विशाल काय से मंडित, महातेजस्वी, साम्यरूप, अनुपम, जातरूप, (दिगंबर) धीर वीर, नेत्रोके टिमकार रहित रागरहित, दांत, सर्व जीवोके हितकारक, मनोहर, विनाही आभूषणो के सुशोभित, ह्यर्ष से भी अधिक प्रभावाले, प्राति-
 हार्यादि विभूतिसे मंडित, रागरहित अठारह दोपरहित, निरुपम, पद्मासन विराजे हुए सौ इन्द्रों से पूजित, चौतीस अ-
 तिशय युक्त, संसारके तारक, महा मनोज्ञ, परमविशुद्ध, सर्व तत्वोको जाननेवाले, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनंत चतुष्टय मंडित,
 सिंहासन पर विराजे हुए, शरणार्थी पुरुषोको सुखके करनेवाले, मुक्ति क्रांताके पति, भक्त्योको सिद्धि प्रदान करनेवाले,

गा लाम्बचयस्थ शंभरं शणार्थिनाम् । मुक्तिकातावरं सिद्धं भव्याना सिद्धिकारकम् । २०८ ॥
 मशाङ्गादशगर्भस्थं तत्र सश्लेनन्दम् ॥ सार्द्धाः सकरुटेहाह्व्या वेदाननविभृषितम् ॥ २०९ ॥

स्तुरगुरमपृष्ठं श्राजमान महोज्वलम् । स मुनि कुंदकुदार्थो ददर्श तं मुदान्निवत् ॥ २१० ॥
 त्रयामध्योऽश्रुणां दूतचिचो मुनीश्वर ॥ त्रीश्व प्रदक्षिणा भावात् ददौ स्वम्यावाहानये ॥ २११ ॥
 कर्नाथं मन्यमान एव प्रमुदर्थनात् । जातोऽस्मि कर्मनिमुक्त स मुनिर्मोदिनिर्भर ॥ २१२ ॥

मष्टागेन महानदात् नत्वा तस्यादपंकम् । य पुन कर्तुमारंभे स्तव तस्य तटासये ॥ २१३ ॥

वाग्द प्रकार की मशके मध्य विराजे हुए, संपूर्ण जीवों को आनन्द प्रदान करनेवाले, अपने हाथसे साठे तीन हाथके शरीर-
 की ऊर्चाईको धारण करनेवाले, चार मुसवाले, मिहामन पर चार अगुल अतरीक्ष विराजमान, महाउज्वल, परमशाल,
 निर्विकार, ऐसे श्री सीमंथर स्वामीको कुंदकुद भगवानने देखा ॥ २०३१२०४१२०५१२०६१२०७१२०८१२०९१२०१० ॥

अर्थ—मुनिराज श्री कुंदकुद स्वामी का शरीर ७ हातका था और निदिह क्षेत्रमें पाचसों धनुष्यका शरीर
 होनेसे मुनिराज को विचार हुआ कि मैं इतने उच्च विशाल कायके मनुष्योके मध्य किस प्रकार प्रदक्षिणा दू । कदाचित्त
 किसीके नीचे दब गया तो ? इस विचारसे मुनिराज ऊर्ध्व अधः (नीचे) और मध्य क्षेत्र को देखा फिर उन्हेनि
 भावसे पाप के नाश करनेके लिये तीन प्रदक्षिणा दी ॥ २११ ॥

अर्थ प्रभु श्री सीमंथर स्वामीके दर्शने से अपने को कृतकृत्य मानते हुए मुनिराज कुंदकुदने अपनेको धन्य
 माना और हर्षसे प्रफुल्लित होकर अपने को कर्म रहित समझ लिया ॥ २१२ ॥

अर्थ—भगवान् श्री सीमंथर स्वामीके चरणकमलोंको महान हर्षसे साष्टांग नमस्कार कर भगवानके गु-
 णोंकी प्राप्ति के लिये मत्किस प्रभुका स्तवन प्रारंभ किया । २१३ ॥

भव्यमोजने त्व हि जय नद जिनाधिराट् । दयाधीश नमस्तुभ्यं त्राहि मा शरणागतम् ॥ २१४ ॥

वीतराग महादेव नमस्तुभ्य चिदात्मने । निर्विकार जिनाधीश पूज्यपाद नमोस्तु ते ॥ २१५ ॥

भव्यसिन्धोर्महावीर तारय तारक प्रभो । त्पदने क ममर्थोस्ति भवदुःखविघातने ॥ २१६ ॥

द्रव्याब्धोऽपिच निर्द्वयं करोति स्वात्मसदृश । त्वत्सुख्यं मा जिनादित्य किं न ऋरोवि दीनराट् ॥ २१७ ॥

सिन्धुशतमसो नाश कुरु कर्मरिणा विभो । शुद्धरत्नत्रयवासिर्भवतु तव दर्शनात् ॥ २१८ ॥

अर्थ — हे भव्यकमलोको प्रकाश करनेके लिये सूर्य ! जयवत हो । नद, चिरनद, हे जिनाधिराट् हे दयाधीश आपको नमस्कार है । हे प्रभो मुझ शरणागतकी रक्षा करो ॥ २१४ ॥

अर्थ — हे वीतराग ! हे महादेव ! हे चिदात्मा सीमधर स्वामी, आपको नमस्कार है । हे निर्विकार, हे जिनाधीश, हे पूज्यपाद आपको नमस्कार है ॥ २१५ ॥

अर्थ:— हे महावीर सीमधर देव ! हे तारक प्रभो ! मुझे संसारसमुद्रसे पार करो । आपको छोड़कर अब कोई भी सगरके दुःखोका नाश करनेके लिये समर्थ नहीं है ॥ २१६ ॥

अर्थ:— लोकमें ऐसा देखा जाता है कि धनाढ्य लोग अपनी भक्ति करनेवालेको अपने समान धनवान बनालेते हैं । तो हे प्रभो, हे दीनानाथ । आप मुझ दीनको अपने समान क्यों नहीं बनाते ? ॥ २१७ ॥

अर्थ:— हे विभो ! सिन्धुशत अंधकारका नाश करो । और कर्मरूपी शत्रुओंका भी नाश करो । हे प्रभो आपके पवित्र दर्शनसे शुद्ध रत्नत्रयकी प्राप्ति हो ॥ २१८ ॥

तिष्ठामि चेति सख्याच्चातिष्ठत् तत्र योगिगट् । तस्मिन्नेव वरे काले चक्री आयातवान् खलु ॥ २३० ॥

वंदनावसरे चक्री दृष्ट्वा त च करे मुदा । गृहीत्वाऽचित्तयश्चित्ते क्रोय कोऽग्रहो बलु ॥ २३१ ॥

नम्रो व कुट्टिकाभेकीपिन्धेन मंडित वाम् । पतादुगो मया कापि न दृष्ट सकलावनौ ॥ २३२ ॥

पुराणागसंयुक्त तुच्छक्रयोऽपि मुद्गर । सन्निवे वीतागास्य ह्यत किं ऋण महत् ॥ २३३ ॥

मनसि चेति मं गान्वा मुमिगट् स जिनेश्वर । नत्वा म्बुत्वा पुन प्राप्त्यत् चित्तद्वारग्रहानगे ॥ २३४ ॥

त्रिकालञ्ज दयाधीन कोशं भो मूनभाविवित् । चेदृगोक्ति मया भूतो नेव दृष्ट हृदिदपि ॥ २३५ ॥

तदर्थमाह भो चक्रिन् मेवाभीरया गिर । शृणु पूर्वं हि यद्योक्त सोस्ति भागसज्जो मुनि ॥ २३६ ॥

अर्थ—श्री सीमर स्वामीकी वदना करते समय स्वामी की वेदीके नीचे बंटे हुए कुटकुंद मुनिको देखकर और कौतुकसे अपने हाथ पर रखकर यह क्रौन है यह कौन है ? इस प्रकार हर्षरी विचार करने लगा ।

अर्थ—मुनिराज कुटकुट स्वामीको अपने हाथमें रखकर चक्रमूर्तिनि विचार किया कि यह नम्र है और कमंडलू तथा मद्युर पीछी लिए हुए है । ऐसा जीव तो मैने मारे संसारमें नहीं देखा ! यह देखो यह पुरुषाकार है परन्तु अत्यंत तुच्छ काय है तो भी देखनेमें परमसुंदर है । यह श्री भगवानके समवसरणमें कहाँसे आया ? और यहापर आनेका कारण क्या है ? चक्रमूर्तिनि ऐसा अपने मनमें विचार कर और श्रीजिनेन्द्रदेव श्रीसीमधर भगवानको नमस्कार कर अपने सदेहको दूर करनेके लिए पूछा ॥ २३२ ॥ २३३ ॥ २३४ ॥

अर्थ—हे त्रिकालञ्ज ! हे दयाधीश ! हे भूतभाविवित् । यह मेरे हाथपर रखा हुआ कौनसा प्राणी है । ऐसा प्राणी तो मैने कभी कहींपर देखा नहीं है । २३५ ॥

अर्थ—तब स्वामी सीमधरने मेघ समान गंभीर वाणीसे कहा कि हे चक्रधर मुन । प्रथम जिसको मैंने

विभोर्वाचमिति श्रुत्वा श्रीशोडपि तदा मुदा । भक्त्या तत्पादपद्माग्रं नत्वा उद्यो बभूव स ॥ २३७ ॥

मुहुर्निरीक्षणं कृत्वा पश्चात् स्वामिनं पुर । मोदेन स्थाप्यामास लुच्छक्रायभयात्स च ॥ २३८ ॥

बीतरागमुखोद्घोषितामेकान्तपथीं वराम् । सिद्धातगमितां शुद्धा भेदाभेदभ्रंशं धनाम् ॥ २३९ ॥

नयभेदप्रयुक्ता च सर्वभाषामयीं तथा । त्रिकालरुथका चैव पुरुषार्थभादकाम् ॥ २४० ॥

इत्याद्यनेकभेदाब्ज्या दिव्यवाणीं च स मनि । श्रुत्वा हृदि घनानंदमाप तत्समये वरे ॥ २४१ ॥

पुनः प्रश्नमिति चक्रे स्वामिन् तीर्थाधिगाट् प्रभो । मिथ्यान्धतमो नैकैकदिवामणिं कृपाधिगाट् ॥ २४२ ॥

दिव्यध्वनि द्वारा धर्मवृद्धि दी थी वही यह भरतक्षेत्रका मुनिराज है ॥ २३६ ॥

अर्थः— भगवान् श्री सीमंधर स्वामीके वचनोंको सुनकर चक्रधर अतिशय प्रसन्न हुआ । और कुदकुद मुनि के चरणरुमलोंको चारंगार नमस्कार कर परम हर्षको प्राप्त हुआ । मुनिराजको पुनः पुनः (चारवार) निरीक्षण कर और ये अत्यंत लज्जु नायक हैं, गिर पड़े तो दण जायने ऐसे भयसे उसने स्वामीकी वेदीके नीचे हर्षसे रख दिया ॥ २३८ ॥

अर्थः— श्रीबीतराग-परम देव श्रीसीमंधर स्वामीके सुनसे प्रकट हुई, अनेकान्तमयी, परमोत्कृष्ट, परम सिद्धांत के रहस्यको प्रकट करनेवाली, परम विशुद्ध, अनेक भेद प्रभेदोंसे विशुद्ध, नयप्रमाणसे युक्त, समस्तभाषायुगी, त्रिकालवर्ती पदार्थोंके स्वरूपको एक साथ प्रत्यक्ष प्रतिभास करनेवाली, परमपुरुषार्थके स्वरूपको यथाधत् प्रकाशित करनेवाली समस्त प्रकारके दोषोंसे रहित और परम आनंदको प्रदान करनेवाली ऐसी (दिव्य ध्वनि रूपी) जिनवाणीको सुनकर वे कुदकुद मुनीधर अपने मनमें अत्यंत हर्षको प्राप्त हुए ॥ २३९, २४०, २४१ ॥

अर्थः—कुदकुद मुनिराजने फिर नीचे लिखे हुये प्रश्न श्री सीमंधर स्वामी से किये—
हे स्वामिन् । हे तीर्थाधिगाट् हे प्रभो हे त्रिकालज्ञ हे मिथ्यात्वांधकारनाशक हे ज्ञानके स्वयं

षमते च भद्रिव्यंति भेदा. स्वमतिकल्पिता । ऋतुं ध्रुवमा भव्य स्वस्वमतस्य नाशका. ॥ २५६ ॥
 केचित् भूताश्च पाखंडा । भाविभूताश्च केचन । विप्राहि जैनधर्मस्य करिव्यंति विनाशनम् ॥ २५७ ॥
 भो भव्य आतुर्मोहाच्च कृष्णाग्रजन्मना खलु । बलभद्रेण यज्जातमुदतं सकलं शृणु ॥ २५८ ॥
 किमनर्थं च मोही न करोति धर्मनाशकम् । मोहेन बहवो नष्टा सत्ययुक्ता हि मानवा ॥ २५९ ॥
 आतुर्विलया तिसिद्धद्वयमिति क्षितौ प्रवचना । कृता च तेन लोकस्य प्रतारणार्थमेव हि ॥ २६० ॥
 किं कृत ज्योमयानस्थो भूत्वा कृष्णसमं खलु : सुरूपं सागनायुक्तं दध्र नेत्रमनोह.म् ॥ २६१ ॥
 अर्थ—हे भव्य पटूमतो से भी अपने अपने मनकी कल्पना से प्रत्येकमें साठ साठ भेद हो जायेंगे । वे अपने २ मूल मतके नाशक होंगे ॥ २५६ ॥

अर्थ—कितने ही तो पाखंडी होगये । और कितने पाखंड मतको भविष्यमें फलायेंगे । और ब्राह्मण लोग जैन धर्मका नाश करनेवाले होंगे ॥ २५७ ॥

अर्थ—हे भव्य अपने छोटे भाईके मोह मे कृष्णके बड़े भाई बलदेव के जीवने जो बोर मिथ्यात्वकी उत्पत्ति की उस नात को श्रवणर कर ॥ २५८ ॥

अर्थ—मोही मनुष्य धर्मके नाश करनेवाले कितने अनर्थीको नही करता है । अरे ! मोहके प्रभाव से बड़ी २ शक्तिके धारक और महान ज्ञानसंपन्न मनुष्य भी नष्ट हो जाते हैं ॥ २५९ ॥

अर्थ—उम बलदेवके मोही जीवने अपने छोटे भाई कृष्णकी प्रसिद्धिके लिये जो प्रपच रच कर संसारको धोखा दिया वह विचारणीय है ॥ २६० ॥

अर्थ—हे भव्य ! बलदेवके जीवने अपने भाईकी प्रसिद्धिके लिये स्वर्ग में से आकर और विमानमें बैठकर

स्वस्य रूप च लोकानामग्रे हि मायया युतम् । दर्शयित्वा पुन सर्वांनित्याह सुमत्तिन्युतान् ॥ २६२ ॥
 सर्वशोभासमायुक्त मोहवान स खलु सुर । दर्शयन्नतिशयान् लोके स्मभ्य प्रत्यक्षमजसा ॥ २६३ ॥
 शृणु व सकला लोकाना महानय शातदायरुम् । एकाग्रचेतसा शुद्ध श्रवणाच्छिबदायम् ॥ २६४ ॥
 अथ प्रभुत्ततो गर्भं प्रत्यक्षत्सेन सस्थित । अस्मिन् लोके पुनश्चाह शृणुध्वं अन्मथोदितम् ॥ २६५ ॥
 कल्लियु स्य द वेण फलो चास्मिन् प्रत्यक्षत । मानवा ये स्थिति नैव अत्रत्यक्षेण निश्चयात् ॥ २६६ ॥
 भतो यूयं मा नित्य जप व मकलार्थदम् । पूज्यनाथ जागृज्य पूजयध्व च सर्वथा ॥ २६७ ॥

अपना स्वरूप देनेने माया (चिकित्थारो) मे कृष्णके समान बनाया और वह सुदर स्वरूप स्त्रीसहित और नेत्रों को प्यारा
 महा मनोहर बनाया ॥ २६१ ॥

अर्थ—उस बलदेवके जीवने कृष्ण, स्वरूपमें (जो मायासे अपना कृष्णज्ञा रूप बनाया था) लोकोके
 सामने मायापूर्ण दिसलाकर भक्तिभ्रष्ट जीनोसे कहा । इसके प्रथम सपूर्ण गोभायुक्त मोही उस बलदेवके जीवने
 (देवने) समस्त लोगोको मडे चमत्कार बतलाये जिसमें लोग उन चमत्कारों (जो देवने विक्रिया से झूठे किए थे)
 को सत्य समझल्ल फस जाय । और प्रत्यक्ष भी अपना स्वरूप दिसलाकर लोगोको फसानेका प्रयत्न किया । इन सब
 बातोंसे विचारे मोले नाले जीवोको सिंथ्यात्वमें अनत समार बंध कराया और मत्स्य मार्गसे धोखा दिया । उस
 बलदेवके जीवने मायामयी कृष्णके रूपसे लोगोको कहा कि हे जीवलोको ! मेरे वचन तुनो जिनसे मोक्षकी प्राप्ति
 आप लोगोको होगी । हे लोगों आज तक तो मैं अपना प्रत्यक्ष रूप दिसलाकर सत्यधर्म (जो मोहसे विन्धिया द्वारा
 कल्पित और महान अनथका करनेवाला) प्रकट किया परंतु अबसे मैं प्रत्यक्ष प्रकट नहीं होऊंगा कलिके दापसे

भक्तिगाणादिगानौघैः यात्रा कुरुथ मे सदा । महते किमपि नास्ति मा कुरुध्वं परा क्रियाम् ॥ २६८ ॥
 कर्तास्मि पूर्णत्रिभाह शरूरोऽस्मि जनार्दन । तारकोऽस्मि नराणा च पालकोऽस्मि धरातले ॥ २६९ ॥
 गागाया मृतकम्योच्चैः अस्थीनि भो नरोत्तमा । गतिकर्तास्मि सर्वस्य क्षेपणीयानि निश्चयात् ॥ २७० ॥
 मत्तीर्थे मृतकस्यैव पिंडादिकारा क्रियाम् । करिष्यन्ति न च तेपा भविष्यत्यसुखं कदा ॥ २७१ ॥
 मान मर्त्याश्च मत्तीर्थे तर्पण पूजन जपं । करिष्यन्ति भजिष्यन्ति मह्योक्त ते . संशय ॥ २७२ ॥

ऐसा होना सामाविक है परतु आप लोग मुझमें विश्वास कर परोक्ष रूपसे मान्यता करें । इसलिये आप मेरा ध्यान करें जप करें और मुझे ईश्वर समझकर पूजन करें । मेरी पूजा करनेसे सपूर्ण सिद्धि प्राप्त होगी । भक्तिसे मेरा गान करें । मेरी यात्रा करें । मुझको छोड़कर आप लोग अन्य किसीको नहीं मानें । जो कुछ करना हो सो सो सब मेरे रहे अनुभार करें ।

अर्थ:— इस धरातलमें मैं ही सर्व जगतका कर्ता हूँ । मैं ही पूर्ण ब्रह्म हूँ । मैं ही शंकर हूँ । मैं ही जनार्दन हूँ । मैं ही तारक हूँ । और मैं ही मनुष्योका पालक हूँ ॥ २६९ ॥

अर्थ:— मृतक पुरुषोंकी अस्थिया (हाड) गगानदीमें बहानी चाहिये । जो जो ऐसा करेंगे तो मैं उनकी सद्गति करूँगा ॥ २७० ॥

अर्थ:— जो पुरुष मेरे तीर्थमें मृतकोका पिंडदान आदि क्रिया करेगा उसको कभी भी दुःख नहीं होगा ॥ २७१ ॥

अर्थ:— जो मनुष्य मेरे तीर्थमें स्नान करेगा, तर्पण करेगा, पूजन करेगा, जप करेगा, मेरा भजन करेगा मैं उसको निःसदेह वैकुण्ठवास करा दूँगा ॥ २७२ ॥

पुनः स्वमायया तेन गंगायास्तीर्था स्थापिता । दर्शितातिशयास्तत्र मोहनीयोदयाच्च वै ॥ २७३ ॥

स मोही श्रावुर्नागाकमयुक्ता सकला महीम् । कृत्वा जगाम स्वस्थान तद्वेतु विद्धि निश्चयत् ॥

ततः प्रभृतित सर्वे मूढलोकोक्ताः खलु । मिथ्यामार्गं च म्नीचकुः प्रत्यक्षफलदर्शनात् ॥ २७५ ॥

पतत्येव यथा गर्ते श्लोकोऽपि नर्णको जनु । तदनुसारत सर्वे उर्णकास्तत्र निश्चयात् ॥ २७६ ॥

तथा मिथ्यात्वगर्ते हि पतिता प्रतिवर्जिता । एकरथैव प्रयोगेन मूर्खाणां लक्षणां परम् ॥ २७७ ॥

अर्थः— गिर उग वरदेवके जीवने अपनी निःक्रिया क्रद्धिने मायामयी गंगादि तीर्थोंका स्वरूप दिखलाकर उनको स्थापित किया और अतिशय दिखलाकर लोगोंको उगकी सत्थता प्रकट की । सच है कि मोहनीय कर्मके उदयसे जीव कितने सायाचार नहीं करता है ? और कितनी प्रवचना नहीं वनाता है २७३ ॥

अर्थ— उग महा माही और पापी बलदेवके जीवने अपने भाईके माहसे भाईका नाम मयस्त पृथ्वीपर प्रकट किया और गिर वर देव (बलदेवका जीव) अपने स्थापनपर गया । हे भव्य (कुम्हूद युनि), भारतसे मिथ्यात्व तासे ही प्रकट हुआ । तभीसे असत्य एव कल्पित मत (जिसमें जीव हिमादि पापोंका विचार नहीं है) प्रचलित हुआ ॥ २७४ ॥

अर्थ— हे भव्य तवसे ही बृढ अज्ञानी लोगोने प्रत्यक्ष चमत्कार (देवकी मायामयी विक्रिया) देखकर मिथ्यामार्ग स्वीकार किया ॥ २७५ ॥

अर्थ— हे भव्य जैसे एक भेड गड्डु में गिर पडे तो बहुतमी भेडे बिना विचारे ही उस गड्डुमें गिर पडती है । उसी प्रकार प्रथम किसी भोले बेममझ मनुष्यको बलदेवके जावने अपनी विक्रियासे चमत्कार बतलाया उसपर विचार न कर उसको सत्य समझकर उस मिथ्याकल्पित बातको उसने सत्य माना और उसके देखा देखी

पक्तिभेदेषु सर्वेषु कालद्वेषभावत । भवति चंद्रशुभा मार्गि मिथ्याश्रममभृता ॥ २७८ ॥
 जिन-भारता शय्य । भवति स्वल्पमंल्यथा । मानमाद्येतर-कुरा मिथ्याश्रमपाचनाना घना ॥ २७८ ॥
 जिनागमस्य शान्ताणि चाढौ संक्षिप्तानि ते । दुष्टलोके एतो जैन इत्येव जे-गम्यता ॥ २७९ ॥
 वरसेनयतीन्द्रेण रचिता धवलाढ्य । भवन्ते ननुना तन जेनाशिवगुणे वरे ॥ २८० ॥

अस्य मनुष्योने विचार न कर उसी तातकों स्वोत्तार किया । इसमें गमहना यादिए कि राजानी जीव गतासुगतिक
 हाते है । मच तात ना यह है कि मूख जीमोका वही लक्षण है कि जो मित्त विचार एकर है सनारे गमन करे ।
 २७६ ॥ २७७ ॥

अर्थ—मरत्क्षेत्रमें काल दोपसं ऐसे ही कुमार्ग उत्पन्न होंगे । जो मिथ्यात्वको नडाएने आर जिनमें बलता
 नही होगी ॥ २७८ ॥

अर्थ:—भारतक्षेत्रादि क्षेत्रोंमें पंचम कालके प्रभावमें जैनधर्मके प्रारक स्वल्प गम्यामें होंगे । परंतु मिथ्यात्व
 के पालन करनेवाले कुर बहुसख्य मनुष्य होंगे ॥ २७८ ॥

अर्थ:—जिनागमके शास्त्रियोंको दुष्ट लोग द्वेषके कारण ममुद्रांमें प्रक्षेपण कर देंगे । इसलिये जैनशास्त्र बहुत ही
 कम संख्यामें देखनेमें आयेंगे ॥ २७९ ॥

अर्थ:—श्री आचार्य वय श्रीधरसेन मुनीन्द्रके तनाये हुए धवल-जयधवल-महाधवलदि महान ग्रंथ बन मी
 जैनपुर (मूढविद्वी) में विराजमान है ।

अर्थ:—महामिथ्यात्वके पोषक ऐसे ब्राह्मणलोगोंके पूजक राजा लोग होंगये । राजाके आधीन इतर

वेदकाले नृषा जैनास्तदा प्रजापि तरममा । तदाहि जैनधर्मोयं चाद्भुतत्वेन दृश्यते ॥ २८३ ॥
प्रतिष्ठां च श्लेखानामुदयस्तत्र हानिर्वे । भविष्यति च धर्मस्य प्रकाश कुत्रचिदपि ॥ २८४ ॥

ह्यतीतामागतात् वर्तमानजातमर्ववस्तुत । नि संदेह मुनेश्चित्त चकार स जिनेश्वर । २८५ ॥

पश्चाद्दि चामवेदेवं प्रभोःवर्निर्नोहर । सिद्धाताना रहस्य चागार्थनारजाः क्रिया । २८६ ॥

अथाप्येनंहि योगीन्द्र तर्वासिद्धान्तमृत्कान् । प्रगाश्च लेखयिष्य वा वै प्रेषणीयं ततः पश् २८७ ॥

प्रजा होती है सो प्रजा भी राजाके समान ही मिथ्यात्वी ब्राह्मणोकी उपासक बन गई इसलिये जैन मंदिर स्वल्पसंख्यामें होते चले गये ॥ २८२ ॥

अर्थ:— चौथं कालमें राजा भी जैनी थे और इसी लिये प्रजा भी सब जैनधर्मको धारण करनेवाली थी । इसीकारण उमसमय यह धर्म बड़ी अद्भुत उन्नति करना हुआ जिसलाई पडता था ॥ २८३ ॥

अर्थ:— हे भव्य ! भरतक्षेत्रमें पंचम कालमें श्लेच्छोका उदग प्रति दिवस बडेगा इसलिये धर्मकी हानि नियमसे होगी । परंतु उमका अर्थ यह नहीं है कि धर्मका लोप हो जायगा । कही २ पञ्च धर्मका महान उज्वल प्रकाश पंचम कालके अंत पर्यंत शिमसे रहेगा । मुनि आर्थिका श्रावक श्राविका रूप चतुःभव रहेगा २८४

अर्थ:— इस प्रकार त्रिलोकज्ञ श्रीसीमधर साामीने अपनी दिव्यध्वनिके द्वारा भगवान् कुदकुद मुनिके श्रुत-भविष्य और वर्तमान वस्तुओंसे उत्पन्न हुए सर्व संदेह को निवारण किया ॥ २८५ ॥

अर्थ:— फिर प्रभु श्रीसीमधर स्वामीकी दिव्यध्वनि सिद्धांतोहा रहस्य प्रकट करनेवाली और गृहस्थ-मुनियोंके चारित्र्यका स्वरूप प्रकट करनेवाली हुई ॥ २८६ ॥

अर्थ:— समस्त सिद्धांतके रहस्यको प्रकट करनेवाले सिद्धांत ग्रथ लिखाकर योगीश्वर कुदकुद स्वामीके

इत्याख्य जिनैन्द्रोऽपि घोषमाप दयाद्रधीः । प्रभोध्वनिमिति श्रुत्वा सर्वे चानंदनिर्भराः । २८८ ॥

समाप्य परमं मोदं सोऽपि योग-श्वस्तदा । तस्यै तत्र सभास्थाने पठनार्थं समग्रधी ॥ २८९ ॥

एरुदा भूमिगाट् चक्रे आहारार्थं मुनि प्रात । पुरे वै प्रार्थना स्वात्मिन् विहारं कुरु पावनम् ॥ २९० ॥

सोऽप्याह त्वं न किं विद्धि अत्रहि योग्यता न मे । न्यादस्य भो नराधीश । श्रुतंयाह पुनश्च स ॥ २९१ ॥

मुने मे कारणं बृहि तस्य द्वापहावये । तदावदत् मुनिरेव शृणु त्व दानवत्सल ॥ २९२ ॥

साथ भेजना चाहिए ।

अर्थ— इस प्रकार श्रीजिनेन्द्र भगवान की घोषणा दिव्यध्वनी के द्वारा श्रवण कर ममस्त भव्य जीव आनंद को प्राप्त हुए ॥

अर्थ— भगवान् श्रीसीमधर की दिव्य ध्वनिकी सुनकर मुनि कुंडकुद भी अतिशय आनंद को प्राप्त हुए । और अथ पढ़नेकी इच्छासे गणनरो के समीप मभास्थानमें बैठे ॥ २८९ ॥

अर्थ— एक समय विदेह के चक्रवर्ती ने मुनि कुद कुद से आहार के लिये नगर में पवित्र विहार करने की प्रार्थना की ॥

अर्थ— मुनि कुदकुद ने कहा कि हे राजन् ! आप क्या नहीं जानते है कि यहां पर मेरी भोजन पान (आहार ग्रहण करने की) योग्यता ही नहीं है ॥ २९१ ॥

अर्थ— हे मुनीश्वर ! मेरे सदेहको दूर करने के लिये आप दया कर कहिये कि यहां पर आपकी आहारकी योग्यता क्यों नहीं है ? मुनि ने कहा कि हे दानवत्सल राजन् इसका कारण सुन ।

मत्क्षेत्रे ह्यधुना रात्रि त्वत्क्षेत्रे ह्यधुना दिवा । भारतलोप्यहं न्यादं कथ कुर्वेऽत्र दोषदस ॥ २९३ ॥
 इत्युत्तरं मुनीन्द्रो हि ददौ तस्मै सहासधी । सोऽपि चक्री मुनीन्द्रस्य धैर्यं दृष्ट्वा मुद गत ॥ २९४ ॥
 प्रशस्य वचनौधैस्त नला स्वस्याकमाप्तवान् । सस्मरन् तद्गुणग्राम शुद्धसव्यक्त्वधारकः ॥ २९५ ॥
 कुदकुंदयतींद्रोऽपि प्रभोः पादाब्जवद्गदः । सक्ती शुद्धधी वाडमी स्मरवारणसिंहम ॥ २९६ ॥
 पपाठ सर्वसिद्धातसूचकान् सक्धिंः गुरो । यथान् बुद्धचनुसारेण जैनमार्गप्रवृद्धये ॥ २९७ ॥

अर्थ— हे राजन् मेरी जन्म भूमि भारत है वहां पर ही यह जिनदीशा मैंने ग्रहण की है । वहां पर इस समय रात्री है । यद्यपि इस समय यहां पर दिवस है परंतु मेरे हिसाब से रात्री है । इसप्रकार मैं रात्रिमें भोजन ग्र नहीं सकता—क्योंकि मुनिचर्यामें यह सबसे भारी दूषण है ।

अर्थ—इसप्रकार मुनि कुंदकुंदने उस चक्रीको आहार ग्रहण नहीं करनेका कारण कहा जितको सुनकर और मुनीश्वर की धैर्यता को देखकर चक्री परम हर्षको प्राप्त हुआ ॥

अर्थ—फिर सम्पक्त्वके धारक उस चक्रवर्तीने मुनि कुंद कुंद स्वामी को अपने अक्र (गोदी) में रखकर उत्तम वचनो के द्वारा स्तवन किया और उनके गुणो का स्मरण कर नमस्कार किया ॥ २९५ ॥

अर्थ—प्रभुके चरण कमलों में श्रमर के समान श्रेष्ठ व्रतके धारक शुद्ध बुद्धि के धारक वाडी और कामदेव रूपी हाथीको वश करनेके लिये सिंह समान ।

अर्थ—ऐसे उन कुदकुंद मुनिने गुरु गणधारके समीप सिद्धांत ग्रथोंका अध्ययन अपनी बुद्धिके अनुसार जैनमार्गकी बुद्धिके लिये किया ।

सप्ताहानि प्रमाणानि भो भव्या धर्मधी क्षमी । वशी दभी तपस्वी च जिनागमप्रकाशक ॥ २९८ ॥
 मोदभाक् शुद्ध्याक् तत्र निगहारेण स मुनि । तस्मै हि धर्मप्रद्वयर्थं पूर्वपुण्योदयात्बलु ॥ २९९ ॥
 पूर्वपुण्येन जीवानां कार्यसिद्धिश्च सर्वदा । भोग्रहो शिवाप्स्यर्थं कुन्ध्व पुण्यकारणम् ॥ ३०० ॥
 पुण्यं श्रीमञ्जिनेन्द्राणामभिषेकपुस्सरा । पूजा च पात्रदान च तीर्थयात्रादय तप ॥ ३०१ ॥
 ईशाद्यैर्नैकभेदा हि पूयाना मति निश्चयात् । यद्विचया शिवस्थानस्य कुरुध्व पुण्यसततिसु । ३०२ ॥
 विदेहक्षेत्रभूमि क भरतस्याचला क हि । पुण्योदयेन सर्वाच करस्था इव दृश्यते ॥ ३०३ ॥
 दुर्घट च प्रहरं च तु प्राप्य वस्तु यत् सलु । तत् सर्वं पुण्यभाजाच स्वयमेवोपजायते ॥ ३०४ ॥

अर्थ-हे भव्य धर्मवुद्धिवाले, इन्द्रियोंको वश करनेवाले, महा तपस्वी-ज्ञात जितेन्द्रिय-जिनागमके प्रताशक, परम आनदी विशुद्ध वचनोंके कहने वाले ऐसे कुद कुद मुनि वहा पर (विदेह क्षेत्र में) सात दिवस पर्यंत निगहार रहे । इसमें एक पूर्वभवला पुण्य ही प्रधान कारण है । २९८ । २९९ ।

अर्थ-हे भव्यजीवो पूर्वभवके पुण्य से ही जीनोंको समस्त प्रकारके कार्य अनायाग ही सिद्ध होजाते हैं । इस लिये मोक्ष की प्राप्तिके लिये पुण्य कारणों को सपादन करो । ३०० ॥

अर्थ-हे भव्यजीवो ! श्रीसञ्जिनदेवकी पचामृताभियेक पूर्वक पूजा करना, पात्र में दान देना, तीर्थयात्रा करना, गुरुसेवा करना, जैन धर्म ही रक्षा के लिये जैन धर्म के अतरग शुभुओंका नाश करना आदि अनेक कारण पुण्य प्राप्ति के हैं । जो मोक्ष जानैकी इच्छा है तो पुण्य कार्योंको करो । ३०१ । ३०२ ॥

अर्थ-हे भव्य ! कहा तो विदेह क्षेत्र ? और कहां यह भारत क्षेत्र का धरणीभूषण पर्वत ? महा श्रीसीमधर तीर्थकार और कहां पचमकालीन कुदकुद मुनि; परंतु पूर्व पुण्योदय से सब कुछ होता है । जो वात अस्यत दुर्लभ है वह भी

नागा चाश्वा बुद्धेयोरौ स्मथाः पुत्रा द्रच्यं धान्यम् । कौशल्य कौ नित्यं शर्म जायत वै क्रमद्विजात् ॥ ३०५

हिरण्यगारपासिता तथैव रात्सशुद्धता । गुरुपासन्नमात्रता निर्धर्मैश्च मान्यता ॥ ३०६ ॥

विद्युपो मैत्री सुन्वनता विजुसममा धर्मप्राप्तिः सुमरुद्वेष्टास्मिन् लोके सुपुण्य विना नैवासा. स्युः ॥ ३०७ ॥

ज्ञात्वैथ भो बुध्ना नित्यं सर्वशर्मैर्नदायकम् ॥ दानपूर्णाभिप्रे कथि कुरु व धर्मसंततिम् ॥ ३०८ ॥

स सुनि कुतमुन्दब्हो यत्पाचारस्य सूचकम् । अथस्य शिग्र्यैर्प्यर्षे मन्थापयविद्वानये ॥ ३०९ ॥

अपने हाथ पर रखी दृई के मगान दीगती है । दुर्वेट, दुःप्राप्य और आगमजस तत्तु भी पूर्ण पुण्योदयरो सिद्ध होती है । ३०३ । ३०४ ॥

अर्थ—हाथी-बोडे-उत्तमबुद्धि, आज्ञाकारी पुत्र, द्रव्य धन-धान्य-कृशालता और सुख पूर्वपुण्योदय से मर्भ प्राप्त होता है । ३०५ ॥

अर्थ—सुपर्णकी प्राप्ति आन्माकी विद्युद्धता गुरुकी प्रसन्नता और लोकमें मान्यता यह मा त्रात पूर्व पुण्योदयसे होती है ॥ ३०६ ॥

अर्थ—विद्वानो से मित्रता, सुस्वराता, चद्रसमान काति, सुदर देह और धर्मकी प्राप्ति; विना पुण्यके नहीं होती है ॥ ३०७ ॥

अर्थ—इस प्रकार जानकर हे विज पुण्यो! मदैव सुख का प्रदान करने वाली और पुण्य की उत्पादिका ऐसी विनेन्द्र भगवान्की पूजा अभिप्रेत पूर्वक करनी चाहिये । यह सर्वसे महान पुण्यका कारण है । ३०८ ।

अर्थ—मिथ्या मार्ग का नाश करने के लिये, और गुरुके वतलाये हुए मार्गकी वृद्धि के लिये यस्याचार के १०

गुरुपदिष्टमार्गेण कृत्वा स्वहृदि धारणाम् । कथागमनसिद्धयर्थं गतिं चक्रे च शुद्धधीः ॥ ३१० ॥
 स्वरौ कुञ्जलीकृत्य त्रिप्रभा वै प्रदक्षिणां । सीमं गजिनेन्द्रस्य दत्त्वा संमारहानये ॥ ३११ ॥
 वस्त्रेण पुनर्नवा चोत्थाय प्रार्थना वगम् । चक्रे विभोर्हि साञ्चिध्ये महदानन्दसप्तुन ॥ ३१२ ॥
 जिनादित्य जिनाधीश धर्मचक्राधिगट् प्रभो । निर्विकार निगतकृते पदाब्ज नमाम्बहं ॥ ३१३ ॥
 कर्मदावाग्निमेधाय पापाद्रिमजने पवे । भवाडुद्वाराय वीर मा दीन शरणागतम् ॥ ३१४ ॥
 त्वा विना क क्षमो देव दातु मोक्षदं वरम् । तूर्णं च देहि त्रस्तोस्मि भवतु त्वात् कृपापर ॥ ३१५ ॥

बढानेवाले ग्रथ को मोक्षकी प्राप्तिके लिये गुरु से हृदय में धारण कर कुंदकुंद मुनिने कहाँसे अपने देशमें आनेका विचार किया ॥ ३०९ ॥ ३१० ॥

अर्थ—उस समय कुंदकुंद मुनिने अपने दोनो हाथोको कुडमलाकार (कमलाकार) बनाकर अपने भालपर रखा और भक्तिसे सीमधर प्रभुको तीन प्रदक्षिणा दी । अष्टांग नमस्कार कर और प्रभुके सामने खडे होकर महान आनंदके साथ प्रार्थना की । ३११ । ३१२ ॥

अर्थ—हे जिनसूर्य ! हे जिनाधीश ! हे धर्मचक्राधिगट् हे निर्विकार हे निगतकृ हे पापाद्रिमजकपवे पापरूपी पर्वतको नाश करनेके लिए वक्रके समान, हे वीर, आपके चरणकमलको नमस्कार है । मुझ दीन शरणागतका संसारसमुद्रसे उद्धार करो ॥ ३१३ ॥

अर्थ—हे जिनेंद्र आपके विना मोक्षपद देनेको कौन समर्थ है । इसलिए हे कृपापर भवके दुःखोसे मुझे छुडाओ ।

रागद्वेषादिषु मग्ना भूते सर्वे दयोच्छ्रिता । कापट्यपुरिता देवा सावराः सांगना खला ॥ ३१६ ॥
 तरुह्रा धर्मदत्तस्य चान्तभवदायकाः । भवाब्धिदारका न म्युः तेहि मग्नाः परान् क्रम ॥ ३१७ ॥
 तारकस्व हि लोकेस्मिन् नान्यो देवश्च नास्ति वै । वीतरागाहो जीवा नो तरंति क्वचिदपि ॥ ३१८ ॥
 आशिवं ते सदा भक्तिरस्तु मे चेतसि सदा । शुद्धज्ञानवत्स्य प्राप्तिं पुरुषार्थदा वरा ॥ ३१९ ॥
 आराधनाविधानेन मरण कर्मनाशदम् । चित्तशुद्धिं जिनाधीश जिनचन्द्र भवापहा ॥ ३२० ॥
 भट्टारक गुणाधीश चानन्तगुणसागर । पूज्य पुरुषेश तीर्थेश नमोऽस्तु तवा प्रथो (१) ॥ ३२१ ॥

अर्थ—ये मिथ्यात्वी पाखण्डी देव रागद्वेषसे पूर्ण दयासे रहित धर्मरत्नके चोर अनन्तभक्तके चंद्रक-महान
 पापाचारी, स्त्री परिग्रह और पापारंभसहित और भी अनेक द्रवण सहित, ससारसमुद्रसे कैसे तार संकेत हैं ।
 जो स्वयं ससारसमुद्रमें डूब रहे हैं वे दूसरोंको क्या तार सकते हैं ॥ ३१६, ३१७ ॥

अर्थ—हे सीमंधरस्वामिन् आप ही ससारके तारक हो । आपके सिवाय अन्य किसी भी देव मे यह शक्ति
 नहीं है । वीतराग अरहत भगवान को छोड़कर अन्य देवों में ससारसमुद्र से तारने की कभी भी शक्ति नहीं है । ३१८
 अर्थ—हे प्रभो आपकी मुझे यही शुभ-शाशीर्वाद हो कि मेरे चित्तमें आपकी भक्तिभावना निरंतर बनी
 रहे । परमपुरुषार्थको प्रदान करते वाली—शुद्ध दर्शन-शुद्धज्ञान-और शुद्ध चारित्रकी प्राप्ति भी सदैव बनी रहे ॥ ३१९ ॥
 अर्थ—हे जिनाधीश आराधनाकी विधिस कर्मोंका नाश करनेवाला मेरा उत्तम मरण हो, मेरा मन सदैव
 पवित्र और सरल बना रहे जिनसे मैं ससारका नाश कर सकूँ ॥ ३२० ॥

अर्थ—हे भट्टारक हे गुणाधीश हे अनन्तगुणसागर हे त्रिलोकपूज्य हे तीर्थेश आपके चरणकमलको

सर्वज्ञ सर्वदर्शी त्व सर्व शान्त. शमी दमी । करस्थामलवष्टोक भवान् पश्यन्नपि प्रभो ॥ ३२२ ॥
 तथापि न श्रमस्य चाल्यमात्रापि दृश्यते । भवान्त खलु लोके सर्वदर्शी च कथ्यते ॥ ३२३ ॥
 ते नमोस्तु विदोषाय चिन्मयाय नमोस्तु ते । गुणभूषाय ते वीर मे नमोस्तु सदात्मने ॥ ३२४ ॥
 ते नमोस्तु विमानाय विरागाय नमोस्तु ते । भक्तिरूपकभूनाना तारकाय नमोस्तु ते ॥ ३२५ ॥
 मात्सर्यमदमुक्ताय शुर्वीराय ते नम । आनालब्रह्मरूपाय शिवरूपाय ते नम ॥ ३२६ ॥

नमस्कार है । प्रभो आप सबके जाननेवाले सर्वज्ञ हो—सबके देखनेवाले सर्वदर्शी हो ।
 सबके हित करनेवाले हो । परम शांत हो. जितेन्द्रिय हो, मनको वश करने वाले हो । आप
 समस्त जगतके त्रिकालवर्ती पदार्थोंको और उनकी अनतानंत पर्यायोंको एक साथ ही हाथके आंगुलिके समान
 प्रत्यक्ष अवलोकन करते हो तो भी आपको रंचमात्र भी श्रम नहीं होता है । इस प्रकारकी अद्भुत शक्तिसे ही
 आपको सर्वदर्शी कहते है । ३२१ । ३२२ । ३२३ ॥

अर्थ—हे भगवन् आप दोपरहित है इसलिए नमस्कार है । चिद्रूप स्वरूप भगवन् आपको नमस्कार है ।
 गुणोंके भूषण आपको नमस्कार है । हे वीर शुद्धात्मन् आपको नमस्कार है । हे प्रभो मानरहित-परम वीतराग—
 आपके लिए नमस्कार है । हे प्रभो आप भक्तिमान जीवोंको ससारसमुद्रसे तारनेवाले हो इसलिए
 आपको नमस्कार है । हे प्रभो आपमें मात्सर्य नहीं है । अभिमान नहीं है । क्रोध नहीं है । विकार नहीं है
 इसलिये नमस्कार है । हे प्रभो आप शूर हैं, परम वीर हैं, आवाल ब्रह्मरूप हैं । शिवस्वरूप है, योगीश्वर हैं
 नमस्कार है । ३२४, ३२५, ३२६.

भ्युभे ते गुणाः सर्वे चात्मनि मोहकर्मण । नाशो वै स्मरभृष्यश्चैरोम्यं सर्वदा तनौ ॥ ३२७ ॥
 स्वर्गाज्यस्य वाछा न मे हृदि सर्वदा प्रभो । त्वं तिष्ठ नास्ति क्विदु वै सर्वपापशितोद ॥ ३२८ ॥
 पुनर्भूयात् प्रभो स्वामिन् दर्शनं ते मनोहरम् । त्वदाधीनं कुरु मेहि ते नमोस्तु जिनेश्वर ॥ ३२९ ॥
 स पुनर्जिनपादाब्जमुहुर्नत्वा गणाधिपान् । सर्वयोगीश्वरान् भक्त्या लेभे तदाशिपो मुनि ॥ ३३० ॥
 गृहीत्वा तैः प्रदत्तानि पुस्तकानि यतीश्वर । धर्मार्थं न च शर्मार्थं सिद्धातसुचकानि वै ॥ ३३१ ॥
 नयनेन विमानं हि धृत्वा चारुण्यं तौ सह । तस्माद्धि चात्रमार्गेण चचालामदमोदभृत् ॥ ३३२ ॥

हे प्रभो ! उपर्युक्त आपके समस्त गुण मेरी आत्माको प्राप्त हो । तथा इस कामके राजा दुष्ट मोहनीय कर्मका नाश हो । मेरे शरीरकी निरोगता हो । जिससे मैं तपश्चरण कर रत्नत्रयकी प्राप्ति करूँ ।

हे प्रभो ! स्वर्गके राज्यकी प्राप्ति हो मेरे मनमें ऐसी इच्छा नहीं है । किंतु हे प्रभो ! आप सदैव मेरे मनमें वास करें एक यही मेरी इच्छा है । जिससे मैं अपने पापोंका नाश कर सकूँ ।

हे प्रभो अब एक यह प्रार्थना है कि आपका परम पवित्र दर्शन पुनः पुनः हो । और मुझको अब अपने आधीन रखिये । हे जिनराज ! आपको नमस्कार है ।

इस प्रकार मुनि कुंदकुंदने बड़ी भक्तिसे चार २ श्री सीमंधर स्वामीके चरणकमलोंको नमस्कार कर, और गणधर देव तथा अपर समस्त मुनीश्वरोंको नमस्कार कर उनकी शुभ आशिषको तथा यतीश्वरोंके द्वारा प्रदान किये हुए सिद्धांतके ग्रंथोंको ग्रहण कर और प्रयत्नसे विमानमें बैठकर उन देवोंके साथ आकाश मार्गसे अत्यंत हर्षपूर्वक विहार किया ॥ ३२७, ३२८, ३२९, ३३०, ३३१, ३३२ ॥

क्षणेन तौ मुनीन्द्र त तस्थाने चित्तनन्दम् । स्थापयित्वा प्रणय्योर्बैल्लब्ध्वा तदाश्लिषं मुदा ॥ ३३३ ॥
 प्राध्याज्ञा पुन स्वस्थाने गतौ तद्रुणचित्तकौ । सम्यग्दृगारकौ मित्रे परोपकारकाकौ ॥ ३३४ ॥
 पश्चाच्छ्रीकुन्दकुदाख्यो धगया सकलार्थवित् । लेखवारप्रपुञ्जहात् विलयातल्वं च जातवान् ॥ ३३५ ॥
 सर्वमित्यात्वदावाभोजेनसिद्धातवारिणा । शम चभार सर्वत्र स मव्यः शुभबोधक ॥ ३३६ ॥
 तदोपदेशमासाद्य तदा भव्याः सुखापथे । दानं वा पूजन यात्रामभिषेकादिमत्क्रियाम् ॥ ३३७ ॥
 जिनदेवस्य विमाना प्रतिष्ठाच मनोहराम् । श्रीमज्जिनालयस्यापि जीर्णस्योद्धारणं तथा ॥ ३३८ ॥

अर्थः— उन दोनों देवोंने मुनीश्वर कुन्दकुन्दको, चित्तको आनन्दप्रद ऐसे उनके स्थानमें पहुँचाकर उनको बड़ी भक्तिसे नमस्कार किया तब मुनीश्वरने उनका धर्मवृद्धि रूप आशिर्वाद दिया उसको ग्रहण कर और मुनीश्वरके गुणोका स्मरण करते हुए सम्यग्दर्शनके धारक-परोपकार करनेवाले वे दोनों देव अपने स्थानको गये ॥ ३३३, ३३४ ॥
 अर्थ— उसके बाद श्री कुन्दकुन्द स्वामी इस पृथ्वीतलमें-समस्त पदार्थों के जानने वाले देवोंसे पुजित सर्वत्र प्रसिद्ध होगये ॥ ३३५ ॥

अर्थ— उसके बाद प्रचंड ज्ञानके धारक श्री कुन्दकुन्द मुनीश्वरने सर्व प्रकार की मिथ्यात्व रूपी अप्रिका जैनसिद्धांतरूपी जलसे नाश किया ॥ ३३६ ॥

अर्थ— भगवान् कुन्दकुन्द मुनीश्वर के उपदेश के प्रभावसे कितने ही भव्यजीव सुखकी प्राप्ति के लिये मुनि आर्यिका आदि सत् पात्रों में दान करने लगे । श्री अरहंत भगवान् की पूजा करने लगे । और विवाहादि श्रेष्ठ क्रियाओंको यथापस पालने लगे । अपरिमित धनादिक के व्ययके द्वारा श्रीमज्जिनेन्द्र के विनों की प्रतिष्ठा और

चक्रुः इत्यादि ते सर्वे महादानदर्निर्भा । तदा जैनेन्द्रधर्ममोक्षोत्तमं ब्रह्मवत् महान् ॥ ३३९ ॥
 धर्मस्योद्धारणं तेन कृतं चास्मिन् कलौ ललु । जयधरसौ मुनीन्द्रो वै मोहमातङ्गकेशरी ॥ ३४० ॥
 तदातिशयभावीश्वर बुधा केचिच्च तत्क्षणे । स्वत्वा संसाजं सौख्यं जगद्भुनिर्नयमं ॥ ३४१ ॥
 नंदाद्यास्तस्य संजाताः शिष्या बुद्धशब्धिपारागाः ॥ संबोधार्थं चतुर्दिल्लु भव्याना तानसौ मुनि ॥ ३४२ ॥
 प्राणिनोत्तेपि चानस्य गुरो पादौ जगन्नुतौ । प्रकट जिनधर्मं हि चक्रु मर्वे मुनीश्वरा ॥ ३४३ ॥
 तदाहि प्रकटो वासीव जिनधर्मं क्षितौ खलु । मिदानान् प्रकटं चक्रं पुनः सोपि वतीश्वरः ॥ ३४४ ॥

महान् उरसव कराने लगे । प्राचीन जिनमद्विरो का जीर्णोद्धार करने लगे । और रथोत्सव आदि विविध प्रकारके उत्सव करने लगे । व्रत तपादिकोके द्वारा जिनधर्मकी प्रभावना बढाने लगे । इस प्रकार श्री कुदकुंद मुनीश्वर के प्रभावसे जैन धर्मकी महिमा अतिशय प्रकट हुई । यो कहना चाहिये कि उस समय का ही उद्धार मुनीश्वर ने करादिया । ऐसे दिव्य महिमाके धारक स्वामी कुदकुंद मुनि जगत्में सदैव जयवत रहो ॥ ३३७ । ३३८ । ३३९ ॥ ३४० ॥
 अर्थ — उस समय कितने ही भव्यजीवोंने उनके मटुपदेशसे समाार की विचित्र दशाका विचार कर मुनिदीक्षा धारण की ॥ ३४१ ॥

अर्थ — श्री कुदकुंद मुनीश्वरके मरुण नंदादि शिष्य हुए जो बुद्धिमें बड़े पारगामी थे । उनको मुनीश्वरने भव्यजीवोके संबोधन करनेके लिये पृथ्व्यातलमें भ्रमण कराया और मर्वव जैन धर्मकी स्थापना कराई ॥ ३४२ ॥

अर्थ — शिष्योंने अपने गुरुके पवित्र चरण कमलोंको नमस्कार कर मर्वव जिनधर्मका प्रचार किया ॥ ३४३ ॥

अर्थ — उस समय समस्त समाारमें जिन धर्म प्रकट हुआ । और उन्होंने जिनसिद्धान्त ग्रंथोको प्रकट किया ॥ ३४४ ॥

अते समयमारं च नाटकं च शिवार्थदम् । पंचास्त्रिकायनामाख्य वीरवाचोपसंहिता; ॥ ३४५ ॥
 आद्य प्रवचन चैव अत्रस्थं सारसंज्ञकम् । संबोधार्थं च भग्याना चक्रे सत्यपदार्थदम् ॥ ३४६ ॥
 यत्याचारामिध ग्रथ श्रावकाचारमजसा । ध्यानग्रथ क्रियापाठ प्रत्याख्यानादिसद्विधीन् ॥ ३४७ ॥
 प्रतिघनाहोनाशार्थं प्रतिक्रणमंयुत । सुनीनाच गृहस्थाना चके सामायिक तदा ॥ ३४८ ॥
 जिनन्द्रस्नानपाठं च स्नानार्थं जिनम्य वै । यस्याकरणमात्रेण पाण्डुवति सुरै प्लवम् ॥ ३४९ ॥
 प्रमृणा पूजन चापि तेषा गुणविभूषितम् । स्तवन चित्तोपशार्थं रचयामास स मुनि ॥ ३५० ॥
 पूजाविधिस्याग् स्नानविधिर्विस्तारत खलु । ग्रथेषु निर्मितस्तेन सर्वभूतहितासये ॥ ३५१ ॥

इत्यादिमकथान् ग्रथाच् चेलकातसुधर्ममाक् करिष्यति प्रभावार्थं जनार्मस्य वमधी ॥ ३५२ ॥

अर्थ—श्रीकृदकृद सुनीश्राने सप्रथमार ग्रथ अतमें बनाया । चौरासी पाहुड ग्रथोक्ती रचना की । सबसे प्रथम प्रवचनसार नानागा जिंगमे भव्योका आत्माका सत्य २ ज्ञान हांता है । एक श्रावकाचार भी ग्रंथ बनाया । भगवान् कृदकृद वामीने निदेहमें यत्याचार और सर्व सिद्धांत ग्रथोका अध्ययन किया था तदनुसार उस यत्याचार की तृया गृहस्थोके आचार की प्ररूपणा करनंमाले श्रावकाचारका रचना की । गतिकरण—और क्रिया पाठ ग्रथ निर्माण किया । मुनि और श्रावकोके पापोकी शांतिके लिये वह प्रतिरक्षण और सामायिक पाठ बनाया । अभिषेक पाठ बनाया । जिनसे पशुना अभिषेक करनेमे महा पुण्य की प्राप्ति हो । विरतार से अग्रहत भगवान्की पूजा करनेकी विधिक्रा ग्रथ बनाया । म्तीत्रो की रचना की । जिनमें प्रयुके अनेक गद्य पद्य सुरस स्तन थे । जिनसे मनका निरोध हो ऐसे ध्यानके ग्रथ बनये ।

इत्यदि बहुतेसे ग्रंथ बनाये । मुनिधर्मके प्रकाश करने वाले ग्रंथ भी बनाये । जिससे श्री जिनद्रके धर्मकी

स यतीन्द्र राममहर्षि विभाग्न करिष्यति । तदावतौ नाराधीन भव्यभोषार्थमजना ॥ ३०३ ॥
भवान् तमो लम्भं मर्षं रक्षता तानो नैः । मिथ्यांशतमस सैव हनिष्यति भगवति ह्रस्व ॥ ३०४ ॥

गिग्याग्निमथ वृत्त नम्य मक्षये बुभोत्तना शृगुश्र धर्ममार्गस्य वर्द्धक मर्मिणो मुदा ॥ ३०५ ॥
श्रीभक्तमिजिनेन्द्रस्य यात्रार्थं स मुनीश्वर । एकदा धर्ममुद्धर्षं चकार गन्त बुधी ॥ ३०६ ॥

अपूर्वं महिमा प्रष्टु ह्ये । जैन नर्मकी पभावना हुई, तथा विद्वानोंमें जैन धर्मका चमत्कार हुआ । और जगतमें जैन धर्मकी मान्यता बढ़ी ॥ ३०२ ॥

अर्थ—हे नराधीन । कुरुकुरु मुनीश्वर धर्मकी सिद्धिके लिय यमस्त पृथीमें विहार करेंगे ।

अर्थ—श्रीकुरुकुरु स्वामी अपन नचन किणोके द्वारा जीवोंसे धर्मका प्रचार करते हुए मिथ्यांचकारका समूल नाश करेंगे ओग जैन धर्म के द्वारा जगतके जीवोंको सखार से पार करेंगे ॥ ३०४ ॥

अर्थ—कुरुकुरु स्वामीने श्रीगित्तारि पर्वत पर जो चमत्कार मतलाया था और धर्ममार्गकी वृद्धि की थी उसका वृत्तान्त राजन् श्रेणिक श्रमण कर ।

अर्थ—एक दिनम श्री कुदकुद स्वामी एक महान मद्यका निर्माण कर श्री गित्तारी पर्वतपर श्री नेमिनाथ भगवानके निर्माण भूमिको यात्रा करनेको प्यारे x ।

x इस चतुर्विध संघर्ष विषयमें जैन धर्मके धनेक अर्थोमे प्रमाण मिलते हैं । यहाग दो तीन प्रमाण जो शोलवीं शताब्दीमें बनाए गए है एक प्राचीन गुटका से उद्धृत कर नीचे देते हैं । यह गुटका ईडरके प्रसिद्ध भडारमें श्री संभवनाथके चैत्यालयमें विराजमान है गुटका पर सं० १६०५ लिखा है ।

(त्रैविध विद्येश्वर तर्कपद्मेश्वर-सिद्धांतप्रकाशक श्री मुनि कुटुंबेन्द्र (पद्मनंदी) का
शुक्लाचार्य श्वेतांबर साधुके साथ वाद हुआ उसकी

गुजराती भाषामें कविता ।)

दीली सिंहासन ईश मूलसंधी मुनिगले । परम पुनीत अजीत पद्मनदी मुनि गले ॥
सष चतुर्विध सहित गिरनारी आये । ध्वजा ढोल नीशान बाजते भविमन भाये ॥ १ ॥
ताही समय बहु वैभव साथे साये । स्वैतांबर सष त्या आवो शुक्लाचार्ये साथे ॥
मिध्याभिमानमा मद माते थहने । पहुच्या गिरिवर चरसंधे लहने ॥ २ ॥
मूलसंधी मुनि कहे प्रथम अमो पूजा कासुं । तव स्वैतांबर कहे अमो वलि पहला कासुं ॥
यह विधि हुबो विवाद तदा सौ एम बोले । आदि दिगंबर धर्म एहने नहि को बोले ॥ ३ ॥
तव स्वैतांबर कहे अमो बडा पहला उपर्या । वली दिगंबर .. पाछेथी निपल्या ॥
तव विद्यासागर कहे ग्रथ संभालो आपणा । ... ॥ ४ ॥
यह विष बहु विवाद हुआ पण कोई न हारे । पद्मनंदी मुनिराय तदा पण एम विचारे ॥
शास्त्रवाद नहि यहा तो मंत्रवाद सुखकारे । .. ॥ ५ ॥
नेमि जिनेश्वरतषी यक्षिणीं गोमुखाणी । ते कहे सो निरधार करो जो निर्मलवाणी ॥
आदि अनादि संषकरी बहैला तमो मानवा । श्रीविद्यासागर कहे और उगाधि जाणवा ॥ ६ ॥
यह विधि विचार निरधार करी यति सूरी सषे । मनमा परी आनंद पूजना जिनवर मनरंगे ॥
अमारी अविना सुजन वेगे पडोची जई तरे । प्रबल प्रताप पद्मनंदि मुनिवर कहे ते हचे ॥ ७ ॥

भो स्वेतावर सामलो जग अथा पृष्ठो जहँ । विद्यासागर गुरु कहे फिर मनमें बहु दुःसहँ ॥ ८ ॥
 आदि दिगंबर धर्म अवर कही उपाधि । जो कडो तो बोलावो देवी आराधी ॥
 तव मुनिवर धीर वीर यहँ मतिरमा पेठा । पद्मवटन मुनि पद्मनंदि पद्मासन बँठा ॥ ९ ॥
 तजी मान ध्यान धीर धरे चित्ते मुनिवर तदा । श्रीविद्यासागर कहे अबा प्रकटी हबै तडा ॥
 सुदर सुदर रूप धरी शृंगार वनाबी । पद्मनदी मुनिराय शील महातपसी आबी ।
 सकलभधसु कहे अवका अविचल एवुं । आदि अनादि धर्म दिगंबर छे एवुं कहेवुं ॥ ११ ॥
 यह विरुवचने कहु अविना अति उजल । श्रीविद्यासागर कहे सब सपे तबे सामल्यु ॥ १२ ॥
 लज्जिन थईने तबे स्वेतावर त्याधी नाठो । सर्व सभा माहि वलि तेने लाषो चाटो ॥
 तव मुनिवर धरि धीर नेमि जिनसुवने आग्या मुनिबरना गीत तदा सौ मगल बहु गाग्या ॥ १३ ॥
 संप तबे अतिपचुर बालिन्न बहु हर्षे बाजे । नादे गडगडं धरीया गिरि अंबर गाँजे ।
 बिरद भाट वोले मला जय जय सुर उच्चरे । मूलसंच तिह संसे अतिपमोद मनमा धरे ॥ १४ ॥
 आदि दिगंबर धर्म सत्य स्वेताबरे जाण्यो । पाछलथी भयो श्वेतावर एवु सहु मान्यो ॥
 सकल संच सणगार सारस्वन गच्छ मुभावो । नलाकार गण सार अपार महिमा सौ गायो ॥ १५ ॥

एवुं भला सहु जण कही बहुप्रकारे स्तुति करी ।

श्रीविद्यासागर गुरु कहे दिगंबर कीर्ति विस्तरी ॥ १६ ॥

धन्य धन्य दिगंबर धर्म धन्य गिरिवर गिलारी । यदुवशी जगपति धन्य श्रीनेमिकुमार ॥

यक्षिणी जग अबा धन्य अनुगम देवी । पद्मनंदि मुनि धन्य वाणी अमृतसम छे जेबी ॥ १७ ॥

साकं तस्य (तेन) घना ध्वजा प्रचेलु सागना खलु । मुन्यर्थिकाश्च यात्रार्थं भवभ्रमणहानये ॥ ३५७ ॥
तस्मिन् चतुर्विधं सधे दिगम्बरा मरा । सप्तशतप्रमा ज्ञेया मुनयो बुधसत्तमैः । ३५८ ॥
द्विभुज. गार्गिःकान्तम्बान्तु क्षेत्रमाटीरिग्रहा । तपसा कृगमर्गा ॥ ज्ञेया तत्वविदावैः ॥ ३५९ ॥

अर्थ—मुनि उरुकुद स्वामीके नाय बहुत से भव्य श्रानकरण, अनेक श्रानिकाए—मुनि और आर्थिकाएं यात्राके लिये चले ॥ ३५७ ॥

अर्थ—उम कुंडलुर हाथीके चतुर्विध भवमें ७०० मातसी निर्ग्रथ दिगंबर जैन मुद्राके धारक मुनि थे । एक साडी जात परिश्रमका कारण नमनेपत्न्य, सपक द्वारा शरीकी भीणता को प्रकट करनेवाली, और तत्वोको

(टी०)— समकित शोभता देवी जितवरतणा प्रकट करी ।
विद्यामागर कहे कीर्ति दिगंबर तणी कति विस्तरी ॥

समर सौलसोनोभ अधिरु वेदे हर जाणो । कार्तिक सामतणो शुभ शुभ पस वलाणो ॥ १८ ॥
उत्तम तिग्री नयोदगी वाग् रथिवाग् विगजे कारजा वर नगर दिगंबर सिंहनु गाजे ॥
चंद्रपभ भवने गही अभयान्द्र मुनिवरे । आविद्यसागर कहे रामासा मच उचारे ॥ १९ ॥ —

१—यह कथा एक गुटकामं (जो ऐच्छक पन्नालाल दि० जैन स० भवन मुम्बई में है ।) लिखी है उमकी नकल यहाँ पा १ ।

कल सध सहित श्री गिरनारजीकी यात्रावान्से चाले, और धेनावरियोंका संघ भी यात्रा गिरनारजीको गया ।
की गणना—चौरासी गच्छके जती १२ हजार, ओसबालादि श्रावक दो लाख भावन हजार और चाकर पिगदा

श्री गिरनारजीके नीचे अपने २ सध में सुकाम करते भये । तदि श्री कुंडकुंड आचार्यजीका संघ ऊपर चढने

मालासहस्रसंख्याः श्राद्धाश्च त्रतपालकाः । द्विगुणा श्राविका श्रेयास्तस्मिन् वै बुधमत्तमै ॥ ३६० ॥
एव चतुर्विधे सधे कुंडुनो यतीश्वर । सयुक्त क्रम प्रात उर्जयतवने वरे ॥ ३६१ ॥
जाननेमाली चौदहसौ १४०० आर्षिका थी । त्रतोको पालन करनेवाले जिनामके दृढ श्रद्धानी ऐसे पंतीस हजार
३५०० श्रावक, और ७००० सत्तर हजार श्रानिर्णय थी । उन सबके साथ अपने २ नौकर चारु निपाई
पयादे तथा सा प्रकाशके साधन गाडी घंटे आदि थे । ३५८ । ३५९ । ३६० । ३६१ ॥

लगा । त द स्वेतावर लोगोंका हलकासा अगाडी गमल नहीं काने दिया और वही पहली यात्रा हनारी होयेगी । पीछे तुमारी
होगी । यह समाचार सुनकर सब ही पाठा आय गया और आचार्यमो विनती करी । हे नाथ । ये स्वेतावरी बहुत और अपना
संघ थोडा सो यात्रा कैसे होयगी ? तदि आचार्य आज्ञा करी तुम उनसे कहो-तुमारे हगरे कुछ नै तो नहीं । और जो तुम
अपने मनका आडम रख्या चाहो तो अंखवरु आवो । जो जीतेगा पहले याना करेगा । अब याच तुम भी नहीं रोये । ऐसा
वनन होता थका दोनों सधका वाद ठहर गया । जो जीत सो यात्रा पहली करणी । दिगवरियो के स्यामी कुंडकुदायाय और स्वेता-
वरियोके मालिक शुक्लाचार्यजी । सो इनके कितने ही दिन तक बाददिमाद हुआ । एक दिन शुक्लाचार्यजोन भेनयोगस
कुंडकुद स्वामीका कमहलमें मन्ची कर दीनी । और सन्स्थास कोइ नई वरि-
ये मुनी हे परंतु इनका आचरण धीवरकासा है । ऐसी वात सुनके कोई श्रावक नही स्यामी कमडलमें गई छे । स्वामीकी
कमडलमें कमरके फूल है । स्वामी दिखावो-सो कमडल ओधो कर्षी सो कगलके डेर होगये ; और स्वामीका चौथा नाम पद्मानदी
(कमल-पद्मेके आनदी) प्रकट हुआ । कुंडकुदाचार्यने शुक्लाचार्यके वल सब उडा दिये और सब जती लोगोके बैठना और वल
उडा दिये । सबको नम कर दिश । चादर नीचे और पीछी ऊपर । इस तरह चादर चादपर पीच्छिका होगई । चादरके ताई पीछी
झटने छी । और यती लोग रोने लगे । ऐसा चमत्कार स्वामी बतलया । तब श्वेतावर नोल कि ऐसी घूर्तविधासे वाद नहीं होता

स्वस्वस्थाने स्थिति चतुः तोडि तद्दर्शनेत्युक्ता । मार्गस्य श्रमनाशार्थं शृणुष्वमपरा कथाम् ॥ ३६२ ॥

तत्रैव नेमियात्रार्थं सप्तो वै स्नेतवाससाम् । महान् द्विभेन संपन्न आगतश्च नवोदयः ॥ ३६३ ॥

अर्थ—समस्त संघने अपने अपने डेरा लगाकर गिरानार पर्वतकी तलहटीमें मार्गथमको दूर करनेके लिये निवास किया । इतनेमें वहांपर एक दूसरी कथा हुई वह श्रवण करना चाहिये । ३६२ ॥

अर्थ—वहांपर (श्री गिरानारी पर्वतकी तलहटीमें) श्री नेमिनाथ भगवानकी यात्रा के लिये श्रेतांबरियोंका एक नवीन महान संघ बडे आडंबरके साथ आया ॥ ३६३ ॥

है । अब हम कहने हैं कि ये पापणभई सरस्वती की प्रतिमा है । यह अपने मुंहसे कहे सोई प्रथम यात्रा करे । तब शुक्राचार्यने अनेक प्रयत्न किये, प्रतिमा नहीं बोली । तब स्वामी आय कर्मद्वन्द्व पिच्छिका हाथमें लेकर श्रीसीमवर स्वामीको नमस्कार कर के पीच्छिका सरस्वतीके शिर पर धरी । आप प्रकट कहते भये कि हे देवि ! अब तुम सत्य वचन का प्रकाश करो । तब देवी गर्जना रूप तीन बोल प्रकट बोली “आदि दिगंबर ! आदि दिगंबर ! गर्भका बालकमत है चिन्ह जाके ।” तदि दिगंबर सप्रदाय सत्यरूप प्रतीति भई । श्वेतांबर फिर उस प्रतिमाको बुलवाना शुरू किया । तदि देवी कही तुम बाह वर्य तक भी झगडा करो । हमने एक सत्य था सो ही कहा । तब श्वेतांबरोंमेंके सैकड़ों शिष्य भये । और प्रथम यात्रा श्रीकुन्दकुन्दाचार्यका संघ करता भया । और श्रीगिरानारी पर्वतपर जिन मंदिर की प्रतिष्ठा सबसे प्रथम हुई । तदि मूलसंघ —बलात्कार गण—श्रीकुन्दकुन्दाचार्य (वश) प्रकट हुआ । बडे शिष्य नदी मुनिराजके ताई आचार्य पद दिया । सो उनकी आन्नाय आन्तक प्रसिद्ध है । आचार्य कुन्दकुन्द स्वामीने अनादि कालसे प्रचलित सध्यदर्शन ज्ञान चारित्र रूप यज्ञोपवीत विधान सर्वत्र प्रकाशित किया और जैन धर्मकी प्रभावना प्रकट की । अतमें आप वारा नगरमें आये और एकमास प्रथमही निमित्त ज्ञानसे अपना मरणका निश्चय कर संन्यास धारण किया और पांचवे स्वर्गमें देव हुए ।

तस्मिन् संघे बुधैर्ज्ञेया दंडपात्रविमंडिताः । शुक्लाशुक्रधरा वृद्धा यतयो नामतो मताः ॥ ३६४ ॥
यक्षव्यतरदेवीनां साधने एव चचव । लबेदकरसंख्याढ्या पोषका स्वतनो रसैः । ३६५ ॥
तदाज्ञापालका ज्ञेया द्विलक्षप्रमानवाः । धनोत्करघराः तस्मिन् बुधैस्तत्त्वार्थवेदिभिः ॥ ३६६ ॥
नानानिशयसंपन्ना यतयस्तै मदीदृता । लयापयन्तो मत स्वस्य दर्शयत् विमन महान् (१) ॥ ३६७ ॥
एवं सकलसंधेन गिरनारविने शुभे । वासं चक्रुश्च तत्रोच्चैर्मानादिरिसि स्थिताः ॥ ३६८ ॥

पूर्वांगतश्च य, संघ पूजयित्वा जिनेश्वरान् । कुंदकुंदयतीन्द्रं त ह्यग्रे कृत्वा चचाल स ॥ ३६९ ॥

गानवाद्यादिसद्भोपान् कुर्वन् नृत्यादिसत्कला । सधलोकाश्च ते चेलु संघरथाग्रे प्रदान्विता ॥ ३७० ॥

अर्थ—स्वेतांबर संघमें दंड और पात्रोंसे सुसज्जित और सफेद वस्त्र धारण करनेवाले बहुतसे यती थे परंतु उनमें यतियोका एक भी गुण नहीं था—नाम मात्रके थे यती थे । ३६४ ॥

अर्थ—वे स्वेतांबर यती केवल यक्ष-यक्षिणियों के आराधक, अपने शरीरके पोषण करनेमें ही दत्तचित्त ऐसे दोसी चालीस थे । ३६५ ॥

अर्थ—उस स्वेतांबर संघमें उन यतियोकी आज्ञा पालन करनेवाले दो लाख श्रावक थे जो धनके मदमें मस्त थे । ३६६ ॥

अर्थ—स्वेतांबर साधु अनेक अतिशयो (चमत्कार) से सपन्न और अपने मंत्र तंत्रके मदसे मदोद्धत थे जो अपने मतकी प्रसिद्धि श्रावकों का वैभव दिखलाकर करते थे । इस प्रकार श्वेतांबर संघ गिरनारीके शुभ वनमें आकर वास करने लगा । उन लोगोंकी अपना वडा घमड था ॥ ३६७ ॥ ३६८ ॥

अर्थ—सबसे प्रथम आया हुआ श्रीकुंदकुंद भगवान का संघ, नगर (जूनागड) के मंदिरों की पूजा कर

न्येषधि समये तस्मिन् म्वेतवासत्रैः खलैः । पूर्वं यात्रा करिष्याम वयमस्य च सोढ्यत ॥ ३७१ ॥
 अस्म क सर्वत पूर्वं मत सकलविश्रुत । अतः सर्वेषु वृद्धाश्च वयं नान्ये धरातले ॥ ३७२ ॥
 इत्युद्धृतमया वाचं श्रुत्वाच श्रावकास्तदा । नत्वा गणपति तथा तूर्णमागत्य तत्र वै ॥ ३७३ ॥
 या श्रुता कथिता वार्ता तन्मुखात् सा मुनीश्वर । ताच श्रुत्वा मुनीन्द्रोपि सविचार्य एवचेतसि ॥ ३७४ ॥
 वसुपालामिध श्राद्धमेकमाह्वय तत्तन्ने । शिक्षा दत्त्वा शुभालपैः प्रथितस्तान् पति तदा ॥ ३७५ ॥

और पर्वत [श्रीगिरिनार] पर श्री कुंदकुंद स्वामीको अग्रोपर बनाकर वंदना करनेके लिये चला । सवमें तीर्थयात्राकी
 उमंगसे गान वाद्य आदि विविध प्रकार के महोत्सव हो रहे थे ॥ ३६९ । ३७० ॥

अर्थ—उम्मी समय उन श्वेताश्वर लोगोंने उस दिगार सवको तीर्थयात्रा करने से रोका—और कहा कि गनसे
 प्रथम हम लोप यात्रा करेंगे । क्यों कि हमारा मत समये पूर्वका हे—प्राचीन है । हमारे मतकी सर्वत्र प्रसिद्धि है । इस लिये
 समसे प्रथम यात्रा करनेका हमारा हक है । इस प्रकार उद्धृत और अनौतिके बचनोको सुनकर कितने ही श्रावक गण
 नातिसे किसी प्रकार की कलह अपनी तरफ से किये बिना ही मोन सहित गणपति कुंदकुंद स्वामी के समीप आ-
 ये ॥ ३७१ । ३७२ । ३७३ ॥

अर्थ—श्वेताश्वर लोगोंने तीर्थयात्रा रोकनेके विषय में जो वार्तालाप हुई थी वह जो कि तयो आ... गणों ने
 आचार्य श्री कुंदकुंद मुनिको आकर कहदी । उसको सुनकर स्वामीजीने अपने मनमें विचार किया—और वां तन्ने
 यात्रा पूर्ण हो इस इरादे से आचार्य महाराजने सेठ वसुपाल को सब प्रकार की शिक्षा देकर श्वेताश्वर सवके
 पास भेजा ॥ ३७४ । ३७५ ॥

सोपि तत्रैव गत्वा च तानाह शृणुथ ब्रह्मो । समाधिना वचासि मे भो श्वेतवसनाकिता ॥ ३७६ ॥
 सत्याख्या सर्वलोकेषु मान्या स्यात् नात्र संगय । वाणीं यूयमपि मत्या नदय इतरा च मा ॥ ३७७ ॥
 विश्रुत चास्ति सर्वत्र दैगंबरमतो बायं । प्रत्यक्ष जिनर्षिषु यूयं पश्यथ निश्चयात् ॥ ३७८ ॥
 नान इत्यभिधोय च पूज्य स्य त्सकलेश्वरैः । नानत्वात् सिद्धस्थानस्य प्राप्तिः स्यान्नान्यतः कदा ॥ ३७९ ॥
 वृषभ-दिजितेन्द्राथ गृहाश्रमे गता न किम् । मोक्षे तेपि यद्व जाता तदा नन्वा सुरैः स्तुता ॥ ३८० ॥
 वचनादंबरेणाल सर्वमतशिरोमणिम् । दैगंबरमत यूयं जानीथ निश्चयाच्च भो ॥ ३८१ ॥

अर्थ— उस वसुपाल सेठने श्वेतांबर सघके मुखिया लोगोसे जाकर कहा कि हे श्वेतांबर भाइयो ! जो आप मेरे समाधिके (परस्पर एकताके) वचन सुनिये । समारमें सत्य वात मान्य होती है और सत्यका ही सर्वत्र विजय होता है । इसमें कुछ भी सदेह नहीं है । इसलिए आप भी सत्य २ कहिये मिथ्या कहनेमें कुछ भी लाभ नहीं है । क्या आप नहीं जानते हैं कि दिगंबर मत सबसे प्राचीन है । समारमें सर्वत्र दिगम्बर मतकी प्राचीनता प्रसिद्ध है । यह बात आप लोग जिनर्षियोंको देखकर प्रत्यक्ष निश्चय कर सके है । और समस्त राजागण नग्न दिगम्बरोकी ही पूजा करते है । नग्न होने से ही मोक्षकी प्राप्ति हांती है आप ऐसा मानते हैं । यदि नग्न दिगम्बर कं भेषसे मोक्ष नहीं होती तो वृषभादि चतुर्विंशति तीर्थंकर गृहका परित्याग कर नग्न दिगंबर होकर दीक्षा ग्रहण क्यों करते ? बल्कादि परिग्रह महित घरमें ही मोक्षको प्राप्त हो जाते ? परंतु जब उन्होंने परिग्रहका त्याग किया तब ही देवोसे पूजित हुए और मोक्षके अधिकारी बने । अधिक कहनेसे क्या प्रयोजन है । समारमें समस्त सर्वोत्कृष्ट शिरोमणी मत दिगंबर जैनमत है । ऐसा आप समझें । कदाचित् आप अपने मतको ही उत्तम समझते हो और आप

शक्ति स्याद् यदि युष्माक विशेषा वादकर्मणि । तर्हि आगच्छथ यूय तन्निष्ठे शीघ्रमेवहि ॥ ३८२ ॥
 अस्माक चैव युष्माकं वादोस्तु तत्र ये खलु । तत्रैव दर्शन तस्य करिष्यति प्रनिश्चयात् ॥ ३८३ ॥
 भेष्यति तेहि तीर्थस्य पूर्वं वै वादकर्मणि । सज्जा भवथ तस्यार्थमत, श्वेताशुधारका ॥ ३८४ ॥
 इत्युक्त्वा वसुपालाल्यो शोभयित्वाच तान् खलान् । आगत्य सर्ववृत्तात् गुरवे समचीकथत् ॥ २८५ ॥
 सर्वसयेन सयुक्त कुन्दकुन्दसुनीश्वर ऊर्जयंतसमोपेहि । गत्वाऽश्वाच्च प्रदीप्तवान् ॥ ३८६ ॥
 तेषि तत्रैव ह्यागत्य तस्थुः वादार्थमेवच । जषयंत्येव ते मूर्खाः पशुपरमहो तदा ॥ ३८७ ॥

लोगोको अपने मतका अभिमान है तो अपने मतकी प्राचीनता एवं उत्कृष्टता सिद्ध करनेके लिये हमारे पूज्य आचार्य कुन्दकुन्दस्वामीसे वाद कर निश्चय कर लीजिये । यदि आप लोगो में शक्ति है तो अवश्य ही वादके लिये तैयार होजाओ । इस बातमें जो जीतेगा वही प्रथम यात्रा करेगा—पूजा करेगा और तीर्थंती बढना करेगा । इग लिये अब आप लोगो को अपनी शक्ति गुरु कुन्दकुन्द स्वामीके निकट शीघ्र चलकर प्रकट करनी चाहिये । इस प्रकार निर्णय कर और समस्त श्रेतांगरियोको शोभ कर वह वसुपाल अपने संघ में आया और समस्त वृत्तात् आचार्य कुन्दकुन्द स्वामीसे ल्यो का तयो कह दिया । ३७६ । ३७७ । ३७८ । ३७९ । ३८० । ३८१ । ३८२ । ३८३ । ३८४ । ३८५ ॥

अर्थ—तदनन्तर मुनि कुन्दकुन्द स्वामी समस्त सवसहित ऊर्जयत (गिरिनार) पर्वत के समीप जाकर वाद के लिये स्थित हुए ॥ ३८६ ॥

अर्थ—उसी समय श्वेतार सव के मुखिया लोग अपने आचार्य और यतियोंके साथ परस्पर अपने आप ही अपनी महिमाको गाते हुए वाद करानेके लिये वहां पर जहां श्री दिगम्बर जैन सव कुन्दकुन्द स्वामीके पास बैठा था आये । ३८७ ॥

क्रियमात्रा इमे नाम्ना सर्वातिशयवर्जिता । अहमेको हि भो म्वामिन् जेतु हि सकलान् क्षम ॥ ३८८ ॥

एव सर्वे मदोन्मत्ताः तस्मिन्ववसरे खलु । द्रुवत्येव मन कल्पात् स्व स्व प्रति गुरु खला ॥ ३८९ ॥

तदा सनस्र वादार्थं प्रयोगै मत्रतत्रामि । अन्यैः तिशयैस्तेव आजमुमुनिसन्निव ॥ ३९० ॥

द्विशान्धराणाञ्च यत्नेगट् हरिसदृश । श्रुष्टुपे संघमध्येच परमतेमघातने ॥ ३९१ ॥

श्रुत्रदासोघराणाञ्च मध्ये वै वारणोपमः । शुक्लाचार्यतिन्नाभात् केवलैर्नैव नो गुण ॥ ३९२ ॥

द्वयोरस्तत्रैव संजातो वादो वादार्थयदयो । चमत्कारकरो लोके सिंहात्मंगतुल्ययो ॥ ३९३ ॥

अर्थ—उसमें से कितने ही यदि लोग मिथ्याभिमानमें चुर होकर कहने लगे कि हे स्वामिन् समस्त प्रकार के अतिशय रहित ये नग्न दिग्गजर कितने हे ? मैं अकेला ही इन सबको जीतने में ममर्थ हूँ ॥ ३८८ ॥

अर्थ—इस प्रकार अपने अभिमानमें मदोन्मत्त वे स्वैतावरी यतिलोग अपना अपना अभिमान अपने २ गुरुओंको बतलाते हुए वहापर आये ॥ ३८९ ॥

अर्थ—उम समय वादकलिये सुमल्लिजत होकर, तथा मत्रतन एव अन्य चमत्कार के घमडको प्रकट करते हुये वे मुनिराज कुदकुद स्वामीके समीप आये ॥ ३९० ॥

अर्थ—उस समय दिग्गजर जैन यतिराट् कुदकुद स्वामी सकल संघके मध्य परमतरूपी हातियोंको नाश करनेके लिये सिंहेके समान शोभाको प्राप्त होरहे थे ॥ ३९१ ॥

अर्थ—श्वैतांत्र मन्त्रके मुख्य आचार्य हाथीके समान बलकं धारण शुक्लाचार्य नामके यति वाद करनेके लिये तयार हुये । शुक्लाचार्य नाममात्रके शुक्लाचार्य थे । परतु गुण शुक्लाचार्य नहि थे ॥ ३९२ ॥

अर्थ—शुक्लाचार्य और कुदकुद स्वामीका प्रत्येक शास्त्रमें चमत्कार करनेवाला सिंह और हाथीके समान वाद हुआ । ३९३ ॥

या या प्रश्न वल्लिस्तेन कृता च स्वामिन प्रति । क्षणेन छेदिता सर्वा सुनिना तेन तत्क्षणे ॥ ३९४ ॥
 यथा वार्द्धेन्दुनाणेन अन्यद्वाणोत्करा खलु । क्षणेन क्षयता याति निष्ठुरा देहभेदका ॥ ३९५ ॥
 तथा हि मुनिवाक्येन तस्य वचनसतति । क्षयभावात् क्षणेनैव शक्तिमतस्य (१) वै तदा ॥ ३९६ ॥
 म तदा निर्जिनस्तेन स्याद्वादमतमादिना । बुकोप सावरीयुक्त तस्योपरि सिताशुक्र ॥ ३९७ ॥
 कमण्डलुजले तेन मायया स्नस्य तत्क्षणे । मीनानुजा कृताश्चैव मुनेस्तस्य दयापते ॥ ३९८ ॥

अर्थः - शुक्लाचार्यने जी जो प्रश्न आचार्य श्री कुदकुद स्वामीसे किये उनका समाधान स्याद्वाद सप्त भंगीके द्वारा तत्काल ही एक क्षणमात्रमे किया ॥ ३९४ ॥

अर्थः— जिम प्रकार चंद्रनाणसे सप्तन वाणोंके समूह एक क्षण मात्रमें नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार आचार्य कुदकुद स्वामीकी सप्तभाग स्याद्वाद वाणोंसे शुक्लाचार्यके समस्त प्रश्न उसी समय क्षणमात्रमें नष्ट हो जाते थे । सच है शक्तिशाली जीवोकी महिमा ही विलक्षण होती है । प्रभु कुदकुद स्वामी श्रेतावर शुक्लाचार्यके प्रश्नोका समाधान तत्काल ही क्षणमात्रमें कर देते थे ॥ ३९५ । ३९६ ॥

अर्थः— इस प्रकार समस्त शास्त्रोंके वादविवादमें स्वैतांबर शुक्लाचार्य स्याद्वाद विद्यापति श्री कुदकुद स्वामी से हार गया । तब शास्त्रोंके ज्ञानमें अपनी गति न देखकर सांवरी मन्त्री शक्तिके बलसे स्वामीके प्रति क्रोध किया । और मंत्रके चमत्कारके द्वारा स्वामीको परास्त करना चाहा ॥ ३९७ ॥

अर्थः— मन्त्री प्रबल शक्तिसे शुक्लाचार्यने परम दयालु-अहिंसा महाव्रतके प्रतिपालक स्वामिके कमंडलुमें मण्डलियां उत्पन्न कर दी ॥ ३९८ ॥

नेत्रनिषेधतः स्वस्य सेवकानां खलेन वै । दर्शित. स तथा तेषु मुदमापु. खलात्मकाः ॥ ३९९ ॥

मुनिं प्रत्याह कश्चिन्ना किमस्ति भो मुने तव । कमडलाविति श्रुत्वा स प्रत्याह मुनीश्वर ॥ ४०० ॥

पृच्छ स्वस्वगुरुं त्वव स चादिमतधारकः । मुनेर्वाचमिति श्रुत्वा गुरु पृष्ठश्च तेन वै ॥ ४०१ ॥

आचल्यत् मानयोगेन प्रत्यक्षमेव स कुधी । पश्यथ मो नरा यूयमय जीवस्य भक्षक ॥ ४०२ ॥

निर्दयस्य रवं श्रुत्वा इत्थ स यतिगट् तदा । नत्वा सीमंधर देवं करे धृत्वा कमडलम् । ४०३ ॥

अधोमुख चकार ते सर्वेणा सन्निधे खलु । तस्य मानबिनाशार्थं जिनधर्मप्रवृद्धये । ४०४ ॥

अर्थ—शुक्लाचार्यने अपने इस चमत्कार को [मछली कमडलमें करदी] अपने शिष्योंको नेत्रके इशारेसे तलाया जिससे वे दुष्ट बड़े प्रसन्न हुए ॥ ३९९ ॥

अर्थ—शुक्लाचार्यके उन शिष्यों मेंसे एक मनुष्य ने स्वामीजीको पूछा कि हे मुने आपके कमडल में क्या है ? इस प्रश्नके उत्तर में स्वामी ने कहा कि तू अपने गुरुसे पूछ । क्यों कि वह आदि मतका धारक सर्वदर्शी है । मुनिके वचनों को सुनकर उसने अपने गुरु शुक्लाचार्य से पूछा ॥ ४००।४०१ ॥

अर्थ—शुक्लाचार्य अपने मंत्रके बलसे कमडल में मछलियां उत्पन्न हुईं समझकर बड़े अभिमानके साथ कहने लगा । अरे मनुष्यो ! देखो देखो यह मुनिका वेप धारण करने वाला जीवोका भक्षक है (क्योंकि इस के कमडल में मछली हैं ॥ ४०२ ॥

अर्थ—निर्दयी श्वेतांबर शुक्लाचार्य के ऐसे दुष्ट वचनोंको सुनकर स्वामी इन्द्रकुन्द मुनिने सबसे प्रथम श्री सीमंधर स्वामीको नमस्कार किया और अपना हाथ अपने कमडल पर रखवा । तत्काल ही श्वेतांबर और दिगम्बर संघके समस्त मानव समाजके समक्ष, शुक्लाचार्यका मान मर्दन करनेके लिये और जैनधर्मकी सत्य प्रभावना प्रकट करने

पद्मपुष्पोत्करा, तस्मात् पेतु तस्मिन् क्षणे शुभाः । तेषामामोदतस्तत्र त्रमराश्चागता खलु ॥ ४०५ ॥

तदातिशयमावीक्ष्य कुदकुदतपोनिधे । सघलोकाश्च ते सर्वे मुदमापुञ्च्युतोपमम् ॥ ४०६ ॥

पद्मनद्यभिधानेन मुनेस्तस्य तदा नरा । इति चक्रस्तुतिं सर्वे अयं हि सार्थनाममृत ॥ ४०७ ॥

तस्मिन् काले मुनीन्द्रस्य प्रख्यातिशयदर्शनात् । म्लानवक्त्रास्तदा जाता स्वेतवासोधाराश्च ते ॥ ४०८ ॥

पुनस्तत्र तयोरसीत् वाद सकलसाक्षितः । शुक्लेन मन्त्रयोगेन मुने विच्छिद्युता च खे ॥ ४१० ॥

के लिये कुन्दकुन्द स्वामीने वह कमड्डु ओधा हर दिया जिनसे उस रुमड्डुके मुत्र में से पत्र (कमल) के फूलोका डेर नीचे गिर पडा । जिसकी मनोहर और दिव्य सुगन्धीसे भोरा आगये । यह अद्भुत चमत्कार देखकर समस्त मानव अतिशय हर्षको प्राप्त हुए । और स्वामी कुन्दकुन्द मुनिके अतिशय से अत्यत आश्चर्यको प्राप्त हुए । समस्त संघमें हर्ष हुआ । उसी समय वामीका नाम पद्मनदी प्रसिद्ध किया (क्योंकि स्वामीके चमत्कार से कमड्डुमें पत्र होगये अतएव पद्मनदी नाम रखा) और सार्थक इस नामसे ही प्रमुका स्तवन समस्त सघने किया । ४०३।४०४।४०५।४०६।४०७॥

अर्थ—उस समय मुनि कुन्दकुन्दका यह लोकोत्तर चमत्कार देखकर समस्त स्वैतांश्र लोगोका काला मुख होगया । ४०८ ॥

अर्थ—उस समय कुदकुदस्वामी पद्मनदीके नाम से समस्त ससारमें प्रसिद्ध होगये । और उनका दिव्य अतिशय भी सर्वत्र प्रकट होगया ॥ ४०९ ॥

फिर भी स्वामी और शुक्लाचार्य में मात्रिक वाद हुआ । शुक्लाचार्यने अपने मंत्र बलसे स्वामीकी पीछी उडाकर आकाशमें रखदी ॥ ४१० ॥

मुनिना तस्य शुक्रस्य गात्रादुत्तार्य तन वै । वल्ल तस्य ममीपे हि स्थापितं चैव तत्क्षणे ॥ ४११ ॥
 एव तत्र महान् वाद संजातश्च द्वयो खलु । सागता स्वामिसान्निध्ये तत्रैव सस्थिताच वै । ४१२ ॥
 पुनर्धर्ममकाशार्थं तं प्रत्याह यतीश्वर । भो यदि चादिधर्मोस्ति ते तर्हि वचन शृणु । ४१३ ॥
 पाषाणनिर्मिता मूर्ति इमा च भारती खलु । प्रकटीकुरु त्व तूर्णं विल्व मा भजस्व वै । ४१४ ॥

अर्थ—कुदकुद स्वामीने शुक्लाचार्य स्वैतांबर यतियोंके वल्ल उनके शरीरपर से उडाकर आकाशमें स्थापित कर दिये । और उनको नग्न दिगंबर उसी क्षणमें बना डाला । ४११ ॥

अर्थ—और कुन्दकुन्द स्वामीकी पीछी (जो शुक्लाचार्यने आकाशमें उडाई थी) उनके पास आ गई । परन्तु उन दोनोंमें परस्पर मात्रिक वादविवाद अतिशय चमत्कारी हुआ । और स्वैतांबर यतियोंके वल्ल आकाशमें उडा देनेसे (मंत्र द्वारा भगवान् कुदकुद स्वामीने उडा देनेसे) उनको वडा ही नीचा देखना पडा ॥ ४१२ ॥

अर्थ—फिर भी यतीश्वर कुंदकुंद भगवानने अपने दिगंबर मतकी अतिशय प्रभावना प्रकट करनेके लिए स्वैतांबर यति शुक्लाचार्यसे कहा कि जो तुमारा धर्म आदिका है तो हमारे वचनको श्रवण करो ॥ ४१३ ॥

अर्थ—हे स्वैतांबर शुक्लाचार्य जो तेरेमें शक्ति है और जो तू अपने धर्मको आदि धर्म मानता है तो यह सामने पर्वत पर (गिरनारी पर्वतपर) पाषाणकी सरस्वती देवीकी मूर्ति है उसको प्रकट कर-उससे ही कहलादे कि कौनसा आदिधर्म है । जो पत्थरकी सरस्वती की मूर्ति अपने मुहसे कह देगी वही धर्म आदि धर्म समझा जायगा । इसलिए शीघ्र ही इस पत्थरकी मूर्तिसे कहलाइये । देरी न करिये । ४१४ ॥

कथिय्यति यस्योच्चैरियमाद्यमन्ते खलु । पूर्वा तस्यैव यात्राच भूयात् वै नात्रा सशय ॥ ४१५ ॥

मुनेर्वाक्यमिति श्रुत्वा स शुक्लश्चाह ते प्रति । एवमस्तु हृदि ध्यत्वा प्रयोगमत्रतत्पर ॥ ४१६ ॥

तदैव भारतीं नत्वा शुक्लपाषाणनिर्मिता । गिरिस्था सोमरूपाढ्या तस्थैवावदन्निति ॥ ४१७ ॥

सत्यवाणीं महादेवि वद त्व कस्य स्यात् खलु । सुरार्च्यमंत्रयोगेन मताद्य शुक्लचेलमूत् ॥ ४१८ ॥

इत्थ श्रुत्वापि सा देवी नाह सकलदर्शकान् । तदा शुक्लव्य वक्रावज श्यामत्वमगमत् खलु ॥ ४१९ ॥

अर्थ—जो तुमने शुक्लाचार्य, इस पत्थरकी देवीके मुखसे कहला दिया तो आप सबसे प्रथम यात्रा करें ॥ ४१५ ॥

इस प्रकार श्री आचार्य कुदकुंद स्वामीके वचनोको श्रवण कर शुक्लाचार्य अपने मनमें बहुतही प्रसन्न हुवा और उसने कहा कि एवमस्तु—ऐसाही हो, ऐसा कहकर वह शुक्लाचार्य अपने मंत्रके आराधन करनेमें तत्पर हुवा ॥ ४१६ ॥

अर्थ—उसी समय वह शुक्लाचार्य सफेद पत्थरकी मूर्तिको स्वैतांबर मत प्राचीन है ऐसा कहलानेके लिये देवीके सामने मंत्राराधन करनेके लिये बैठा ॥ ४१७ ॥

अर्थ—हे महादेवी सरस्वती तू सत्यवाणीके द्वारा प्रकट कर कि स्वैतांबर मत आदिका है । इस प्रकार देवीसे कहलानेके लिये उस यतीने सुरार्च्य मंत्रके द्वारा सरस्वती देवीकी आराधना की ॥ ४१८ ॥

अर्थ—इस प्रकार शुक्लाचार्यके मंत्रके प्रयोग द्वारा वचनोको सुनकर भी वह देवी समस्त दर्शकोके समक्ष कुछ भी नहीं बोली तब तो शुक्लाचार्यका मुह एक दम काला पड गया । ४१९ ॥

१ स मुनि कुङ्कुन्दाख्यस्तस्मिन्नवसरे खलु । करे धृ वा वरा पिच्छिठ नत्वा सीमंधरं जिनम् ॥ ४२० ॥
 तस्माद्धि भारतीमाह इत्य तूर्णेन मोदन्मुत् । कथय कथय क्षिप्रं सत्यवाणीं जिनास्थजे ॥ ४२१ ॥
 इति श्रमणमात्रेण अईपजा साच भारती । मेववत् गर्जनारूपा वाणीमचीकथञ्च सा ॥ ४२२ ॥
 ऊर्वाघोषमध्यलोकेषु ह्ययं देगपरो मत । विख्यातो नात्र सदेहश्चात्र वै शिवदायक ॥ ४२३ ॥
 अस्मादन्वये मता ये हि सस्त्रमतिविकल्पजा । ते हि ससारादा जेशा शिम्बदा न कदाप्यहो ॥ ४२४ ॥

अर्थ:— जब शुद्धाचार्यसे पापाणकी देवी नहीं बुलाई गई तब मुनि कुङ्कुद स्वामी अपने हाथमें श्रेष्ठ मद्यर पीछी ले कर और सीमंधर स्वामीको भाव भक्तिसे नमस्कार कर उस पापाणनिर्मित सरस्वतीकी मूर्तिके समक्ष उपस्थित होकर बोले । हे देवि तू मत्स्य २ प्रकाशान कर कि आदि मत दिग्गमर है या स्वेतावर? मुनि कुङ्कुद स्वामीके इस प्रकार वचनोको सुनकर उस पत्थरकी मूर्तिने मेघकी गर्जनाके समान गंभीर वाणीसे कहा ॥ ४२२ ॥

अर्थ—अबोलोक ऊर्ध्वलोक मध्यलोक इन तीनों लोकों में यह एक दिग्गमर मत ही प्रसिद्ध है । और उस मत से ही मोक्षही प्राप्ति होती है इय लिये इसमें सदेह नहीं कि आदि मत दिग्गमर ही है । इस मतके सिवाय अन्य जितने मत हैं वे अपनी २ बुद्धिमें कल्पित आधुनिक है—सर्वज्ञप्रणीत नहीं है । और उनके सेवन से ससारकी बुद्धि

१—कुङ्कुदोप्रणी येनोब्यतगिरिभस्तके । सोवदत्तादृदिता ब्राह्मी पापाणघटिता कलौ ॥ पाडवपुराणे ।

पद्मनदी गुरुजितो बलात्कारगणाप्रणी । पापाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती ॥ सकलकीर्ति ।

कुङ्कुदमुनिन्द्रेण चोर्ब्यतगिरौ किल । पापाणनिर्मिता देवी वादिता वादकर्मणि । नेमचन्द्रगुरु ।

अत आद्यश्च सर्वेषां दैवव्यसने स्वयं । त्रिनारं चैव भो शुक्र इति प्रोक्ताव सा तदा ॥ ४२५ ॥

बंदो वै निर्जराधीशे माननीयो मुनीश्वरे । सातत सर्वजीवानां दोषोत्करविवर्जिते ॥ ४२६ ॥

शंकरः नारकः पूज्य त्रिपु लोकेषु चोत्तम । संकरन स्यत्रय यूयं मीनमाप मरुस्वती ॥ ४२७ ॥

केवलाभियुक्तानां यतीनां सर्वदेवता । पलायिताश्च तस्माद्भि तत्पभावाच्च श्रानमत् ॥ ४२८ ॥

ही होती है । मोक्षकी प्राप्ति रुदापि नहीं होती । इस लिये आदि मत दिग्गज मत ही है । आदि दिग्गज । आदि दिग्गज । आदि दिग्गज ! ! इस प्रकार तीन गण देवीने उच्चारण किया । हे शुद्धाचार्य सुन, इस प्रकार देवीकी गर्जना होती ही स्वैतांज के समस्त यति और सवके समस्त मनुष्य तथा शुद्धाचार्य एकदम लज्जित होगये । और सर्व प्रकार अपनी हाग मानते भगे । ४२४ ॥

अर्थ—हे शुद्धाचार्य दिग्गज जैन मतही देव इन्द्र आदि महान पुरुषों से वेदनीक है । मुनीश्वरो से माननीय है । ममस्त जीवों को सुखका प्रदान करने वाला है । ममस्त प्रकार के दोषों से रहित है । कल्याण करनेवाला है । ममारसे ताक है । परम पूज्य है । तीन लोकमें उत्तम है । इसलिये सब प्रकार के संकल्पोंको छोडकर एक दिग्गज जैन मतका आराधन करना चाहिये । वही सर्व श्रेष्ठ आदि मत है । अतना कह कर वह पत्थर की मरुस्वती की मूर्ति बुप (मौन) होगई ॥ ४२७ ॥

अर्थ—श्वेतावर यतियों के आराधन किये हुये समस्त देवता गण सरस्वतीके प्रभाव से पलायमान होगये । जससे उनका समस्त अभिमान मिट्टोंमें मिल गया ॥ ४२८ ॥

दिगंबरस्य पक्षेहि जयभासीच्च तत्क्षणे । निपक्षात् सर्वदा स्याद्धि ज्योस्य सर्वमूले ॥ ४२९ ॥
 समीपे केशरी सिंहेः किं कर्तुं च क्षमा गजा । तत्पदाब्दाद्धि पलायते प्रत्यक्षेण न सदाय ॥ ४३० ॥
 तस्मिन्नवसरे तत्र एवभासीत् भयोत्करः । तेषां विपक्षहस्तिना स्वस्य मदविनाशनात् ॥ ४३१ ॥
 तदा स यतिराट् साकं चतुर्विधाणैर्वरैः । श्रीमन्नेमिजिनेन्द्रस्य वकार दर्शन मुदा । ४३२ ॥

अर्थ—उसी समय शुक्लाचार्य आदि श्वेतांबर यतीगण सर्व प्रकार मुनि कुन्दकुन्द स्वामीसे हारकर समस्त सघसे तिरस्कारित हुए । दिगंबर मतका विजय हुआ । सो ठीक ही है । विपक्षके नाश होनेपर विजय ही होता है ।

अर्थ—केशरी सिंहेके सामने गज कितनी दूर पर्यंत ठहर सके हैं ? केशरीकी गर्जना मात्रसे ही भयभीत होकर प्रत्यक्ष भाग जाते हैं इममें कोई संदेह नहीं । इसी प्रकार केशरी मुनि कुदकुद स्वामीसे भय खाकर श्वेतांबर गज भाग गये ॥

अर्थ—उस समय श्वेतांबर यतियोहा यही हाल हुआ । कुदकुद मुनि रूपी केशरीसे अपने २ मदको छोडकर सब भाग गये ॥ ४३१ ॥

अर्थ—उस समय समसे प्रथम दिगंबर जैन सब अपने समस्त चतुर्विध सघ सहित श्री गिरनारी पर्वतपर श्रीमान नेमि जिनेश्वरकी वदना करनेको गया । और अतिशय हृषके साथ प्रभु श्री नेमिनाथ जिनराजके दर्शन लिये ॥ ४३२ ॥

१—पद्मनदियतीन्द्रेण चोर्जयतिगिरौ किल । संशयिमतसवादे वादिता येन चाश्मजा ।

संघसहित श्री कुन्दकुन्द मुनि, वदन हेत गये गिरनार । बाद पन्थो तहां संशयिमतसों साक्षी बदी अविकाकार ॥
 सत्यपथ निर्ग्रय दिगम्बर कही सरी तह प्राट पुकार । सो गुरुदेव वसो उर मेरे विषनहरन माल करवार

तत्रैव स्थापयामास स मुनि धर्मवर्द्धक । सास्वत्यभिर्घं गच्छ सार्थनाम्युतं खलु ॥ ४३३ ॥
 बलात्कारगण शुद्ध तत्रैव स मुनीश्वर । स्थापयामास सर्वस्य साक्षितो घमैवृद्धये ॥ ४३४ ॥
 स्वस्य नामकृतो वंश शिष्याश्च स्वस्य ये खलु । आम्नायं कृतवान् तेषा नद्याद्यानदकारकं ॥ ४३५ ॥
 सर्वसधेषु मुख्योय श्रीमूलसवनायक । अद्यममृतितो यूय भजन्ध्वं च ह्यत इम ॥ ४३६ ॥
 इमे पर्वत्र लोकेषु जाता विरुपातता खलु । जिनधर्मं परा प्रीतिं नरा भेजुश्च ते तदा ॥ ४३७ ॥
 स मुनि सिद्धमेश्वर तै साकं दर्शन मुदा । कृत्वा स्मस्थानमागत्य चकार तप सग्रहम् ॥ ४३८ ॥

अर्थ:— वहांपर ही कुंरकुंद स्वामीने सरस्वती नामका गच्छ स्थापन किया । क्योंकि सरस्वती नामकी पत्थरकी मूर्तिसे आदि दिगंबर मत बुलगाया था । यह सार्थक नाम था । और वहापर बलात्कार गण स्थापित किया । समस्त संघकी साक्षीसे यह कार्य धर्मकी वृद्धिके लिये किया ॥ इसी प्रकार अपने नामसे अपने शिष्योंकी आम्नाय कायम की । और उस आम्नायको नद्यादि महर्षियोने स्वीकार किया । समस्त सधमें यह मूल संघ मुख्य है । दिगंबर जैनोंमें इस सघ की मुख्य मान्यता है (श्री मूल सधे सरस्वतीगच्छे^x बलात्कारगणे कुंदकुदाम्नाये इत्यादि पाठ अत्र भी प्रायः कितनीही प्रतिमाओपर लेखमें मिलता है) । यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध होगई^१ और कुंदकुंद स्वामीका यश सर्वत्र प्रकट हुआ । जैनधर्ममें समकी उत्कृष्ट भावना हुई ॥ ४३३ । ४३४ । ४३५ । ४३६ । ४३७ ।

अर्थ— श्री कुंदकुंद स्वामी श्री गिरनारी पर्वतकी (सिद्धमृमि) वंदनाकर अपने तपस्थान धरणी श्रृण पर्वतपर वापिस आये ॥ ४३८ ॥

एकदा ध्यानकालेहि तस्यायात् वक्रता मुने । ग्रीवा तत्रैव स्वचिचे विचारं कृतवान् सच ॥ ४३९ ॥
 केन वै कारणेनैव इयमासीच्च वक्रता । तदाभवत् पुरस्तस्य ब्राम्हा वाणी मनोहरा ॥ ४४० ॥
 अकाले जैनसिद्धता नो योग्या पठने खलु । युष्माकं तद्विदोषेण इय जातांच वक्रता ॥ ४४१ ॥
 भारथा वचन श्रुत्वा इत्थ मुनीश्वरस्तदा । स्वामनो निदा परमा चकार स्वात्मसिद्धये ॥ ४४२ ॥
 पुनस्त्वद्दोषनाशार्थं नत्वा सीमधर जिनम् । तस्यैव ह्यकरोस्तोत्र तदा तस्या प्रमोदये (१) ॥ ४४३ ॥
 अवक्रता तदा ताच आप सापि गता तदा । स्वस्थाने वक्रग्रीवाख्यामस्य कृत्वा मुदान्विता ॥ ४४४ ॥
 अनेन कारणेनैव तृतीयाभिधजातवान् । तस्य सर्वमुनीन्द्रेषु तस्मिन्वत्सरे बुधा ॥ ४४५ ॥

अर्थ—एक समय ध्यान कालमें मुनि कुदकुद स्वामी धरणी भूषण पर्वतपर विराजे हुए थे कि इतनेमें उनकी ग्रीवा (नार) स्वयमेव वक्र (टेढी) होगई । स्वामीने उस वक्रताका कारण अपने मनमें विचारा पंतु रोगादि कोई भी ऐसा कारण मालुम नही हुमा कि जिससे मानलिया जाय कि अमुक कारण से ग्रीवा वक्र हुई है । मुनि इस बातके विचारमें ही थे कि उनके सामने एक मनोहर ब्राह्मी (सरस्वती) की चाणी हुई । उस वाणीसे प्रगट हुआ कि हे मुने आपने अकालमें जैन सिद्धांतका अध्ययन किया है उस पातकके फलसे वक्र क्रीवा हो गई है । ऐसे वचनोको सुनकर कुदकुद स्वामीने अपनी आत्माकी निदा की ॥ ४३९ । ४४० । ४४१ । ४४२ ॥

अर्थ—भगवान् कुदकुद स्वामीने ग्रीवा की वक्रता के दोष को दूर करनेके लिये श्री जिनन्द्र सीमधर स्वामीको नमस्कार कर और उनकी ही स्तुति बडी भक्तिसे श्रेम सहित की जिससे तत्काल ही वह ग्रीवा जैसी की तैसी अपने स्थानमें आकर सरलरूप होगई । वक्रता मिट गई । इस कारण से स्वामीका तीसरा नाम वक्रग्रीव समस्त मुनि संघमें प्रसिद्ध होगया । ४४३ । ४४४ । ४४५

तदाप्रभृतिः स्वामी वाणी सिद्धांतमडिताम् । कालेहि प्रस्तिषसंच प्पाठ नैव तद्विना ॥ ४४६ ॥
 अकाले ये पठिष्यन्ति मोक्षशास्त्रादिकान् खलु । तिर्यच्योत्पि तु तेहि यास्यन्ति नात्र संशय ॥ ४४७ ॥
 शिवनेन्द्रियतीन्द्रैः सिद्धाताकालयाठनात् ॥ हृद्रेऽमुच्य महात्मस्य तपसारं कृतोऽपि च ॥ ४४८ ॥
 कालाकालस्य मर्यादां ज्ञेया वै मूलग्रन्थतः । बुधै विस्तारतस्तत्र वर्णना च कृता खलु ॥ ४४९ ॥
 एलाचार्यो ह्यय नामो विदेहक्षेत्रतो बुधैः । ज्ञेयस्तस्य वै विख्यात आसीच्च सकलावनौ । ४५० ॥
 पिच्छिका पतिता यानात् तस्य ध्यानयुतस्य वै । गृद्धस्य पिच्छिका दत्ता देवैर्ना तक्षणे शुभा ॥ ४५१ ॥
 एतत्कारणतस्तस्य नामासीत्सकलक्षितौ । बुधोत्तमाश्च गृद्धादिपिच्छाचार्यातविश्रुते ॥ ४५२ ॥

अर्थ—उस समय से श्री कुन्दकुन्द स्वामी जैनसिद्धांतरूपी जिनवाणीको कालमें ही पढने लगे । फिर ऊभी भी उनने अकाल में अध्ययन नहीं किया । ४४६ ।

अर्थ—अकालमें जैनसिद्धांत (मोक्षशास्त्र) का पाठ करते हे ये लोक तिर्यच योनिमें उत्पन्न होते हैं । इसमें संदेह नहीं है । ४४७

अर्थ—बड़े भारी तपस्वी शिवनेंदी नामके एक मुनीश्वर अकालमें जैनसिद्धांतका पाठ करनेसे तिर्यच योनिमें बड़े मन्त्र उत्पन्न हुए ॥

अर्थ—काल और अकालका स्वरूप जैनग्राम से जानना चाहिये । ग्रंथ बढ जानेके कारण यहाँपर नहीं लिखा ॥ ४४९ ॥

अर्थ—विदेह क्षेत्रमें सीमंधर स्वामीके समोसरण में चक्रवर्ती ने एलाचार्य (लघु शरीरको एला कहते हैं)

एवं पंचभिधानेन स मुनिः सकलार्थवित् । आसीत् विश्रयातता पूज्यः विपश्चिजयात्सुरैः ॥ ४५३ ॥

अश्मजा वादिता येन भंगमाप्ता. खलाशया । स्वेतवासोधरा. क्रूरा तस्मै श्रीमुनये नमः ॥ ४५४ ॥

सीमंधरजिनेन्द्रस्य येनासं दर्शनं शुभम् । प्राचीनपुण्ययुक्तेन तस्य पादौ नामाम्यहम् ॥ ४५५ ॥

आस्मिन् कलौ मुनीन्द्रेण तेनैव रचना कृता । शाल्वादीनामहो भव्या तस्मै नमोस्तु सर्वदा ॥ ४५६ ॥

कुदकुंदसप्तश्यास्मिन् काले विधयात्वंसंभृते । नाभून्वैव पुनश्चात्र भविष्यति सुनिश्चयात् ॥ ४५७ ॥

नाम रखा । विदेहकी यात्राके समय विमानमें ध्यान में बैठे हुए स्वामीकी पीछी विमानमेंसे गिरजानेसे देवोंने गृद्धकी पीछी बनाकर दी इमलिये गृद्धपिच्छाचार्य नाम प्रसिद्ध हुआ । ४५० । ४५१ । ४५२ ॥

अर्थ—इस प्रकार श्रुतज्ञानसे समस्त पदार्थोंको जाननेवाले कुद कुंद स्वामी पांच नामोंसे प्रसिद्ध हुए थे । तथा देवोंसे पूज्य हुए थे ॥ ४५३ ॥

अर्थः— जिसने पत्थरकी देवीको बुलवाया और दुष्ट आशयवाले क्रूर ऐसे स्वर्तांत्रियोंसे वादविवादमें विजय प्राप्त की ऐसे कुंदकुंद स्वामीको नमस्कार है ॥

अर्थः— जिन कुंदकुंद स्वामीने पूर्व पुण्योदयसे विदेह क्षेत्रमें सीमंधर स्वामीके शुभ दर्शनोका लाभ लिया उनके चरणकमलको नमस्कार है । ४५५ ॥

अर्थ — जिन कुन्दकुन्द स्वामीने ८४ पाहुड आदि ग्रंथोका निर्माण कर जगत्में महान उपकार किया उनको सर्वदा नमस्कार है ॥ ४५६ ॥

अर्थः— कुदकुद स्वामीके समान महापराक्रमशाली जैनधर्म के उद्योतक इस कलिकालमें न हुए और न भविष्यमें होंगे ॥

ग्रन्था सा जननी लोकं यन्था कुक्षौ सूरै स्तुत । अमुद्धै उद्वेग पुत्रो मिथ्याघतम पूषण ॥ ४५८ ॥

कुदकुदपुनीन्द्रस्य तस्यैवाह करोमि वै । स्तवनं चित्तगोघार्थं नित्याइसो विनाशकम् ॥ ४५९ ॥

कुदकुदमहमाद्यमाह जन्मसमुद्भवम् । वडे कुदसमं देहं तसदासाय केवलम् ॥ ४६० ॥

द्वितीयं षडान्ध्याख्य भ्रान्तिगगदर्शकम् । वडे पद्मसमनेत्र विषकादौ पविसमम् ॥ ४६१ ॥

तृतीय वक्रग्रीवाख्य ध्यानसमसुरै स्तुतम् । वडेऽह ध्यानसिद्धयर्थं दिशावर्यं वरम् ॥ ४६२ ॥

एलाचार्याभिध तुर्य सीमघरस्य दर्शकम् । तद्वि साहससिद्धयर्थं वदेह सर्वदा मुदा ॥ ४६३ ॥

अर्थः— देवोमे पृजित और जगत मान्य कुरकुड रामी जिस माताकी क्रुससे उत्पन्न हुए वह माता धन्य है । जिसके प्रभावसे मिथ्यात्व रूपी वोर निहिड अग्रहाग नष्ट हुआ ॥ ४५८ ॥

अर्थः— मैं अपने चित्तको नश करनेके लिये और नित्यके पापोंकी शांतिके लिये कुदकुन्द स्वामीका स्तवन करता हू ॥ ४५९ ॥

अर्थ— कुद कुद स्वामीके पांच नाम प्रसिद्ध थे । जिनमें से प्रथम कुद कुद यह नाम जन्मका नाम था सेठ कुद और सेठानी कुदलताने अपने पुत्रका नाम कुदकुद रखा था । दूसरा पञ्चनदी यह नाम कमडलूमसे पबके फूलोंके डेरोंका अतिशय प्रकट करनेसे प्रकट हुआ । तीसरा वक्रग्रीव यह नाम अकालमें जैन सिद्धांतोंका पाठ करनेके दुष्परिणामसे उनकी ग्रीवा स्वयमेव वक्रताको प्राप्त होजानसे वक्रग्रीव नाम प्रसिद्ध हुआ । चौथा एलाचार्य यह नाम विदेह क्षेत्र में सीमघर स्वामी के समोसरणमें चक्रवर्ती ने इनको एला (इलायची) के समान लघुकाय देखकर प्रकट कियाथा । इनका साहस और शक्तिकी सीमा विशेष देखकर चक्रवर्तीने एलाचार्य नाम रक्खा था ॥ ४६३ ॥

पतमाभिधस्युक्तं गृह्णन्ति न भूयिष्यन् । पिच्छाचार्यं च गृह्णन्तं वेदशुभ्रैस्तुत ॥ ४६५ ॥
 वसुधाराया मुनिस्तमोऽप्य पंचैव (१) नाम्ना कलितं सुबुद्धिः । जातो हि बदे तमहं त्रिशुद्धया विख्यातता भो बुधसतमा वै ।
 इमानि वरनामानि कुंदकुंदमुनेश्च ये । प्रातश्चोत्थाय नित्यं वै पठिष्यति नरा कलौ ॥ ४६७ ॥

अस्मिन् भक्त्या प्रयास्यति दि- शर्मानियसभृते । ते शिवे ऋततो भव्या सदा शर्मविभूयिते ॥ ४६८ ॥
 अस्य पभावत सर्वे विषमादिज्वरास्तथा । व्यतरा राक्षसा क्रूराः सर्वे यात्येव नाशताम् ॥ ४६९ ॥

अर्थ—पाचना नाम गृह्णन्ति यद् विदेहकी यात्राके समय विमान में बैठे हुए ध्यानमें मग्न थे उस समय विमानसे पिच्छी (मयूरपिच्छी) नीचे गिर पड़ी । जब इनका ध्यान पूर्ण हुआ तब पीछी गिर जानेके समाचार देवोंसे कहे और यह भी कहा कि बिना पीछीके गमन नहीं होगा । तब देवोंने पीछी तलाम की । परंतु वह मयूर पीछी नहीं मिली । तब गृह्णके क्रोमल पंख पड़े हुए देसकर देवोंने उनकी पीछी बनाकर दी और उस पीछी पर से इनका नाम गृह्णन्ति आचार्य सिद्ध हुआ ।

इस प्रकार पाच नाम कुंदकुंद स्वामी के समस्त जगतमें प्रसिद्ध हुए । इस प्रकार ममस्त प्रकारके दिव्य अतिशयोक्ते सुसप्तक, महान प्रभावशाली, ममस्त विद्याओं के पारगामी ऐसे कुंदकुंद भगवानको नमस्कार है । जो मनुष्य प्रातः काल इन नामोंका स्तोत्र पाठ करता है सो उत्तम गतिको प्राप्त होता है ॥ ४६७ ॥

अर्थ—इस कुंदकुंद स्वामीके स्तोत्रको जो मनुष्य भाव भक्ति से पढ़ते हैं उनको ममस्त सुखोंका निधान स्वर्गका सुख प्राप्त होता है । और ऋतसे मोक्ष भी होता है । इस स्तोत्र के प्रभावमें विषमज्वर आधि व्याधि और ममस्त प्रकार की उपाधि स्यमंत्र शांत हो जाती है । व्यतर राक्षस और क्रूर पिशाचादिको की बाधा नष्ट हो जाती है ।

काकोदर महाकूरा सद्य प्राणहरा हि ये । नहि चास्य प्रमावेन क्रष्टिव्यति भयं नृणाम् ॥ ४७० ॥
 धनाप्तिर्नीयते पुंसा पुत्राप्तिर्नात्र सशय । स्तोत्रस्य पठनात् भव्या सर्वसिद्धिः सुखास्पदा ॥ ४७१ ॥
 इत्थ स प्रकटं कृत्वा धर्मभागं जगन्नुतं । पश्चात् स्वपुरवाढ्यस्थवने वै नदनोपमे ॥ ४७२ ॥
 स्नाशुपहि तदा जात्या मायमात्रं च स मुनि । ममा-य ययसिद्वृच्यर्थाजगाम सुबोधवान् ॥ ४७३ ॥
 प्राशुके तत्र मुनौ स स्थिवा ह्यनुकृमात् मुनि । जेमनं चोदक क्षीर तत्याज चित्तशुद्धये ॥ ४७४ ॥
 पश्चाद्धि सर्वमाहार न्यस्तवा साहस गारक । नत्वा सीमन्तं देवं तस्थौ स कर्महानये ॥ ४७५ ॥

काकोदर जलोदर आदि भयकर रोग भी स्वयमेव शमन होजाते है । धनके चाहनेमाले को धन मिलता है और पुत्रार्थी को पुत्रकी प्राप्ति होती है । इम स्तोत्र से ममस्त सिद्धि त्रुद्धि-और नित नये मगलों की प्राप्ति होती है । ४६८ । ४६९ । ४७० । ४७१ ॥

अर्थ—इस प्रकार कुंदकुंद स्वामी जैनधर्मको समस्त पृथ्वीतल में विस्तार कर फिर अपने द्वारा नगरके उद्यानमें धरणी भूषण पर्वतके उद्यानमें) वापिस आये ॥ ४७२ ॥

अर्थ—बहापर कुंदकुंद स्वामीने जन अपनी आशु एक महिनाकी अवशेष रहगई थी ऐसा अपने निमित्त ज्ञानसे जान लिया तब चतुर वै मुनि समाधिभरणके लिये तैगरी करने लगे । ४७३ ॥

अर्थ—बहांपर धरणीभूषण पर्वतपर एक प्राशुक स्थानमें बैठकर और चित्तकी शुद्धिके लिए क्रमसे चार प्रकारके आहारोका परित्याग किया ॥ ४७४ ॥

अर्थ—फिर चार प्रकारके आहारको सर्वथा छोडकर कर्मके नाश करनेके लिये अपने मनमें ग्रीषधर स्वामी को नमस्कार किया । ४७५ ।

परिचर्या तदा चक्रु तच्छिष्या न्वगुरो पुर । तथासमाधिषि-मर्थ पाठ सिद्धातसूचकम् ॥ ४७६ ॥
चतुराराधनापाठ हस्तपादादिभर्दनम् । मंत्रराजस्य श्रमण सर्वपापाद्रिभजनकम् ॥ ४७७ ॥

यच्छ्रवणानुलर्काद्या दिवमापु सुखाकितम् । तिर्यचोप्यंजनाद्याश्च पाटञ्चरक्रियोयता ॥ ४७८ ॥

तारिता तरति ये मन्थान्तरियतिहि केमन्म् ॥ अनेन मंत्रराजेन नान्योपायोहि प्राणिनाम् ॥ ४७९ ॥

शयने चाभन मार्गे विपने चाद्रिभस्तक । सख्ये शाने तथा दु खे ऐन जपतु भो बुधा ॥ ४८० ॥

नैव विस्मरणोय च मंत्रराज रुद्राग्रहो । दातु हि शिवदर्शण ह्यमो नैवापरो बुधा ॥ ४८१ ॥

अर्थ—कुन्दकुन्द स्वामीके नद्याचार्यने अन्य शिष्य वर्गीको प्रभुकी परिचर्या करनेकी प्रधान आज्ञा दी । कितने ही शिष्य सिद्धात शास्त्रोका पाठ करते थे । कितने चाग आगमना का स्वरूप निरूपण करते थे । कितने ही णमोकार महामंत्र श्रमण करते थे । कितने उनके मलयुत्रका प्रक्षेपण करते थे । कितने पदमर्दन आदि वैयाधृत्य करते थे । णमोकार महामंत्रका श्रवण करनेसे समस्त पापोका नाश होता है । श्रान आदि तिर्यच जीवोको भी मंत्रके श्रवण मात्रसे स्वर्गकी प्राप्ति हुई है । अजन चोर आदि पापी जौन भी सद्गतिकी प्राप्त हुए है ॥ ४७६।४७७।४७८ ॥

अर्थ—जो मन्थ जीव सत्सार समुद्रसे तिरगये, तिसरे हे अथवा तिरंगे वे सन एक एक णमोकार मंत्रके प्रभाव से ही पार हुए है । सत्सार से पार होनेका इससे अन्य कोई दूसरा उपाय नहीं है ॥ ४७९ ॥

अर्थ—सोनेमें बैठनेमें मार्गमें मकंठमें पर्यतपर-सुख दुख आदि सर्वत्र इस णमोकार मंत्रका जाग करना चाहिये ॥ ४८० ॥

अर्थ—इस महामंत्रको कभी भी भूलना नहीं चाहिये । क्योंकि इसके सिवाय अन्य कोई भी मोक्षके सुखोको प्रदान करनेके लिये समर्थ नहीं है ॥ ४८१ ॥

महिमा मन्त्रराजस्य इयं ज्ञात्वा शिवासये । जयंतु सर्वदा भव्या इमं सकलशर्मदम् ॥ ४८२ ॥

कुदकुंदमुनीन्द्रश्च विमोह. तत्वधी शमी । विभो पादारविदेहि धृत्वा स्वचित्तमंजसा ॥ ४८३ ॥

निर्विकल्पो निरुपाय चायुरंते वशी दमी । एरुग्रामनसा तस्थौ स्मरन् पंचपदावलिम् ॥ ४८४ ॥

शुक्रगात्रोपि स योगी धीवीराग्रणी खलु । नाभजत् मनसि क्लेशं स किंचिदपि शिवासये ॥ ४८५ ॥

ततोहि सन्निभे काले चागते स यतोश्चरः । पद्मासन गृहीत्वाहि सतस्थौ शुद्धमानस ॥ ४८६ ॥

अर्हदभ्य मर्वसिद्धेभ्य आचार्येभ्यो नमोस्तुवै । पाठकेभ्यस्तथा योगीश्वरेभ्य सर्वदाहि मे ॥ ४८७ ॥

अर्थ—इम महामंत्रराजकी इस प्रकार अद्भुत महिमा जान कर मोक्षकी प्राप्तिके लिये भव्यजीवोको सदैव जपना चाहिये । जिसमें सर्व सुखोंकी प्राप्ति हो ॥ ४८२ ॥

अर्थ—भगवान् कुदकुंद स्वामी समाधि मरण के समय मोह रहित होगये । समस्त तत्त्वोके वेत्ता, शांत निःकृपाय इन्द्रियोका विजय करने वाले, परमसाहसी, मनकी चपलता को वश करनेवाले और निर्विकल्प दशाको प्राप्त होकर श्री सीमंघर स्वामीके चरणकमलोको हृदयमें धारण कर केवल पंच गणोक्कार मन्त्रका स्मरण करते हुए ध्यान में स्थिर हुए । ४८३ । ४८४

अर्थ—भगवान् कुदकुंद स्वामीका शरीर ध्यान और तपके प्रभावसे शुष्क होगयाथा तोभी धीर-वीर परम साहसी अपने मनमें जरा भी सकोचको नहीं प्राप्त हुए । और परम शक्तिसे आत्मज्ञानमें लवलीन होगये । ४८५ ॥

अर्थ—भगवान् कुदकुंद स्वामीका जब मरण काल अतिशय समीप आगया तब प्रभु अपना पद्मासन लगाकर मन वचन कायकी शुद्धि कर निःशक्य होकर ध्यानमें निमग्न हुए । प्रभुने 'नमो अर्हदभ्य, नमः सिद्धेभ्यः । नम आचार्येभ्यः, नम पाठकेभ्य, नमः सर्वसाधुभ्यः' इस प्रकार मंत्रोंकेद्वारा अपनी आत्मामें पंच परमेष्ठी की

त्रिशुद्ध्या देवदेवेश सीमंवरमवापहम् । पुन पुन ननाम च तस्यदाप्तये केवलम् ॥ ४८८ ॥
 नमोऽस्तु चेति अहंद्भ्य ध्यानमानस्तदा मुनि । त्यक्त्वा समाधिना प्राणान् दिवमाप सुखास्पद ॥ ४८९ ॥
 नानाङ्गिर्मंडिता तत्र सुक्त्वा वै शर्मसंततिम् । स मुनिस्त्र्युर्काले च यास्यति मोक्षधामनि ॥ ४९० ॥

कुद कुंदसमुज्वल सुविमलो ध्यानादिभि शुद्धधी । सत्पसा कृशता गतोपि न भजेत् दुर्मानस त कदा ॥
 भव्यभोजदिवाकर सुरगुत पङ्जीवरक्षाकर । बुद्ध्या गी पतिसदृशो हि यतिराट् स पातु नो व सदा ॥ ४९१ ॥
 प्राप्त येन जिनेश्वरस्य सुखद पुण्योदयासुष्यदस । पूर्वाख्ये वसुदरे सुविमले सीमधरस्याजसा ॥

स्थापना कर तीन प्रकार की शुद्धिसे जगद्गुरु देवाधिदेव सीमधर स्वामीको उनके पदकी प्राप्तिके लिये वारंवार नमस्कार किया और प्राणांत समय नमोऽहंद्भ्य ऐसा कहकर एकाग्रमनसे ध्यानमें मग्न होगये । इस प्रकार अपने स्वरूपमें लीन होकर शांतिसे प्राणोंका परित्याग किया और स्वर्गमें देव पर्याय को प्राप्त हुए ॥ ४८६ । ४८७ । ४८८ । ४८९ ।

अर्थ:— वहांपर (स्वर्गमें) अनेक प्रकारकी ऋद्धियोंसे संपन्न समस्त प्रकारके सुखोंको भोगकर भगवान् कुंदकुंद स्वामीका जीव आगामी चतुर्थ कालमें नियमसे मोक्षको प्राप्त होगा ॥ ४९० ॥

अर्थ—कुंदकुंद स्वामी सदैव निर्मल भावके धारक थे वडेही पवित्र थे और समस्त प्रकारके दोषोंसे रहित थे । ध्यान आदि उत्तम कार्योंसे जिनका ज्ञान परमपवित्र होगया था । तपसे जिनका शरीर कृप था तो भी अत्यत कठिन तप धारण करनेपर भी जिनके परिणामोंमें कमी संक्लेश नहीं होती थी । भव्य जीवरूपी कमलोंके लिये सूर्य, छह प्रकारके जीवोंकी दयां पालनेवाले, बुद्धिमें बृहस्पति से भी अतिशय गरिष्ठ ऐसे कुंदकुंद स्वामी सदा हमारी रक्षा करो ॥ ४९२ ॥

अर्थ—कुंदकुंद स्वामीने अतिशय पवित्र और सर्वोत्तम ऐसे पूर्व विदेहक्षेत्रमें पूर्व पुण्योदयसे महान

सर्वशर्मविनाशकं शिवकरं सदर्शनं मोदद ॥ क्षेत्रे शर्मनिकेतने वसुधा पुण्याच्च किं दुष्कर्म ॥ ४९२ ॥

पुण्य पापविनाशकं भवहरं पुण्यं परं महात्म ॥ पुण्य श्रीजिनस्नानपूजनभव पुण्य च रागोज्झनम् ॥

पुण्यं सिद्धिप्रदायकं मुनिनुतं पुण्याय नित्यं नमः । ज्ञान्वैद्यं बुधसत्तमा ह्यनुदिनं पुण्यं कुरुष्व खलु ॥ ४९३ ॥

कालेऽस्मिन् मुनिवृन्दपूजितपदं श्रीकुन्दकुन्दाभिषेज्जातो धर्मपकाशको वरमतिं मिथ्यादिनामे पवि ॥

कौमारै हि धृता महासुखकरा जैनेन्द्रदीक्षा मुदा । वीर्यशरत्तमो महासुखकरो न पातु संसारत ॥ ४९४ ॥

पुण्यस्यैव फलं जिनागमविदा ज्ञात्वा महाशर्मणे । न्यक्त्वा पापक्रिया महादुःखकरा ससारबीजाङ्कुराम् ॥

पुण्यका प्रदान करनेवाला समस्त पापोंका नाश करनेवाला, समस्त सुखोंको देनेवाला अपार आनन्दका कारण ऐसा सीमधर भगवान् का पवित्र दर्शन किया । ठीक है पुण्यसे सब बातें माध्य होजाती हैं ॥ ४९२ ॥

अर्थ:— पुण्य ही पापका नाश करनेवाला है । संसारका उच्छेद करनेवाला है । पुण्य ही परम मंगल है । पुण्य समस्त सिद्धियोंका देनेवाला है, मुनियों से भी पूज्य है । अरहत परमात्माका पचासूत स्नान पूजन-जप-गुण स्मरण-और भक्तिसे महान दिव्य पुण्य की प्राप्ति होती है । अथवा मायायिक-जप-तप-ध्यानके द्वारा रागादिक दुष्टभावोंका परित्याग करनेसे भी पुण्य प्राप्त होता है । ऐसा पुण्य बुद्धिमानोंको सदा सचय करते रहना चाहिये । इस कालमें मुनियोंसे पूजित, श्रेष्ठ धर्मके प्रकाशक, उग्र ज्ञानके धारक, मिथ्यात्वरूपी पर्वतोंके भेदक, और धीर, परमसाहसी, सुखके प्रदान करनेवाले और कुमार कालमें ही अतिशय कठिन जिनेन्द्र दीक्षाको धारण करनेवाले ऐसे कुन्दकुन्द मुनि हमारी इस ससारसे रक्षा करो ॥ ४९४ ॥

अर्थ-इसलिये जिणवाणीसे पुण्यको ही समस्त वस्तुओंसे दुर्लभ और सर्वोत्कृष्ट समझकर ससारकी वीजसूत समस्त दुःखोंको प्रदान करने वाली ऐसी पापक्रिया का परित्याग करो । तथा ध्यान-संयम-सदाचार—चारित्र्य

ससारात्पनाशक सुविमलैः ध्यानादिसकर्मभिः । त पुण्यं ह्यवनाशक मुनिनुत चागीकुरुध्व सदा ॥ ४०५ ॥
 पुण्यात् सिद्धपदे त्रजल्यनुदिन योगीश्या पावने । क्तातीतसुशर्मवृन्दनिचिते क्षोभादिकर्मीञ्जिते ॥
 पुण्याःसुसुप्तभासिता वरगुण्युक्ता मनोनन्दका । भवेत्य नरसत्तमा सुविमल पुण्य कुरुध्व सदा ॥ ४०६ ॥
 इत्थं श्रेणिक भूप सर्वगदितं वृते मया तेऽखिलम् । पापौघस्य विनाशक सुविमल श्रीकुदकुदस्य वै ॥
 ित्ते त्व कुरु धारण च मनसः शुद्ध करं नन्दद । अत्रे धर्मविवर्द्धक दध्मुरे पूज्यं च पूज्योदयम् ॥ ४०७ ॥

आदि उत्तम पुण्यक्रियाओ का पालन करो । जिससे ससारका नाश हो । और पापोंका क्षय हो । यह ऐसा पुण्य मुनि-
 योंसे भी पूज्य है इसलिये ऐसा पुण्य सदा करते रहना चाहिये ॥ ४०५ ॥

अर्थ—पुण्यसे ही मोक्षपदकी प्राप्ति होती है । योगीश्वर भी पुण्यकी प्राप्तिके लिए जप तप करते हैं । पुण्यसे
 अनतसुख निर्विघ्नतापूर्वक होता है । पुण्यसे पुत्र-राज्य-धन धान्य आदि विभूति होती है, अनेक गुणोंकी प्राप्ति होती है
 और मनको आनन्द होता है । इसलिये हे भव्यजीवो, पुण्यको नित्य ही संपादन करो । ४०६ ॥

अर्थः— हे श्रेणिक महाराज ! अत्यन्त पवित्र, समस्त पापोंका नाश करनेवाला, धर्मको बढ़ानेवाला, देवोंसे
 पूज्य, पूज्य पुरुषोंके उदयको प्रगट करनेवाला और आनन्दका प्रदाता ऐसा कुदकुद स्वामीका सक्षिप्त जीवन चरित्र
 कहा है । उसको भावभक्तिसे श्रवण कर आत्मकल्याण करना चाहिये ॥ ४०७ ॥

नदाद्या ये करिव्यति जिनधर्मप्रभावनाम् । ततो भूप सुयोगीद्रा धर्मस्योद्धारणे क्षमा ॥ ४९८ ॥

अथापरं शृणु भूः पंचमसमयस्य वै । वृत्तात् भाविकं वक्ष्ये सर्वचिंतासमाधिना ॥ ४९९ ॥

श्रावकाणा मता भूप जिनसेवासुशर्मदा । पट्क्रिया नित्यपापस्य वातार्थमघरोधका ॥ ५०० ॥

पूर्व श्रीमज्जिनेन्द्रस्य कर्तव्य कञ्चपापहम् । अभियेक वरं शुद्धि पचासुतरसैर्घनै ॥ ५०१ ॥

पचैक्षुससमिर्षिभिर्दुग्धधिरसोत्कैर । स्वर्णरचितकुंभस्थै नेत्रानन्दकैर वरै ॥ ५०२ ॥

एभीरसर्जिनेन्द्रस्य स्नान कुर्वति ये नरा । प्राप्नुवन्ति खलु ते च स्वर्णाद्रौ निर्जोत्कैर ॥ ५०३ ॥

अर्थः— हे राजन् ! इसके बाद जैनधर्मकी प्रभावना धर्मका उद्धार करनेमें समर्थ ऐसे नंदाचार्य आदि महर्षिगण करेंगे ॥ ४९८ ॥

अर्थः— हे राजन् ! अब मैं पंचमकालमें होनेवाले वृत्तातको कहता हूँ । एकाग्र मनसे श्रवण कर । ऐसा महावीर स्वामीने राजा श्रेणिकसे कहा ॥ ४९९ ॥

अर्थः— हे राजन् ! श्रावकोकी पट्क्रियायें परमावश्यक होती है । इसलिये उनका स्वरूप जानना परमावश्यक है ॥ ५०० ॥

श्रावको की समस्त क्रियाओंमें से मुख्य क्रिया जिनेन्द्रपूजन है । इस क्रियासे समस्त प्रकारके पाप एक क्षण मात्रमें नाश हो जाते हैं । और सर्व प्रकारके सुख अनायास ही स्वयं प्राप्त हो जाते हैं । अभियेकपूर्वक ही पूजन होती है । क्योंकि पूजन का प्रारंभ अभियेक पाठ से ही होता है । पूजन के पंच अंगोंमें से तीन अंग तो अभियेक के प्रारंभमें ही करने पड़ते हैं । इसलिये पूजन का अर्थ अभियेकपूर्वक पूजा है । अभियेक पचासुत रसों से होता है ।

पश्चाद्द्वाराणां प्रमाणं कंकौलकुरुमुः । कर्पूरादिवै द्रव्ये आमोदापृरितावै ॥ ५०४ ॥
 नाराचनविप्रि पश्चात् वाजानहानये प्रभो । पुरो ह्युत्तारणीयं च सर्वसंपत्तिकारकम् ॥ ५०५ ॥
 गृहस्थानामहो भूय सर्वासु च क्रियासु वै । काथतो वीतरागस्य चाभियेकविधिर्महान ॥ ५०६ ॥
 द्विविदि निर्भा पूर्वं हरग नान प्रभोर्मुद्रा । पश्चात्तमकलसवत्तिमगीकुर्वति ते खलु । ५०७ ॥
 दुर्गाचर्तुमत्तमा जिततेर्पिास्य धन पति । शुद्धैः नेनमनोर्दरः समकै पाणालिनाशाप्तये ॥

ममसे प्रथम जलका अभियेक जिन प्रभु का क्रिया जाता है । फिर क्रमसे इक्षुरम द्रुत दुग्ध दधि मधुपयधि आदि मसोसे स्वर्णके कुभासे ररना चाडिण् । जो मनुष्य इस पञ्चामृत से श्रीजिनदेनका अभिपेक करता है वह देवोसे अभियेक क्रिया जाना है । फिर एला (इलायची-अगर गधसार चदन ककोल [शीतलचीनी] कुकुम रपूर आदि सुगन्धी द्रव्योंमे अभियेक करना चाहिए । समसे पीछे कलशाभियेक करना चाहिए । गंधलेपन पुष्पद्रुष्टि आदि कर नौगजन आरती राना चाहिए । यदि इप क्रममे पुजा की जाय तो सर्व संपत्ति प्राप्त होती है । हे राजन् यह अभियेककी मुख्य क्रिया श्रीजिनागममे प्रतिपादन की है । इसलिए यह आगमोक्त क्रिया मव क्रियाओंमे श्रेष्ठ है । ५०६ ॥

अर्थ—द्रवलो क म्पममे उत्पन्न होते ही सबसे पहले भगवान्का अभिपेक करते हैं और फिर स्वर्णकी सपदा को स्वीकार करते हैं । ५०७ ॥

अर्थ—हे भव्य जीयो जां आप सुसुकी प्राप्ति चाहते हो तो श्रीजिनन्द्र भगवानकी प्रतिप्रियका निलपति दुग्ध दधि आदि मनोहर और पवित्र द्रव्योंसे अभियेक करना चाहिये । पापोंका नाश इस पचासृत अभियेक से एक

अखडासनसदोढे शुभे नेत्रमनोहरै । चाक्षयदसिद्धयर्थमर्चनीयो जितेश्वर । ५१७ ॥
 कुण्डलज्जालिमकुलैर्ल्यै पुष्पोत्की वरै । पूजनीयौ विभो पादौ मकराध्वजनाशये ॥ ५१८ ॥
 शाल्योऽनैस्तथा सर्वभक्तान्धजनोरकै । क्षुण्णतक्रविनाशार्थं पूजनीयो ज्वालति ॥ ५१९ ॥
 शतमह्यमदीर्घगजमिश्रितवर्तिजै । उद्योते जिनपादोऽमे कर्तव्यो मोहहानये ॥ ५२० ॥
 परस्याद्विद्वद्व्यथोत्तरवधूपस्य धनजये । दहन जिनपादोऽमे कर्तव्यं कर्महानये ॥ ५२१ ॥
 कश्चन गोस्वनीगजादनकरुद्रवर्कं द्वीकनीयौ प्रभो पादौ शिवशर्मफलाप्तये ॥ ५२२ ॥

अर्थ:—जो भव्य जीव अखड अथतो के मनोहर शुभ पुजोसे भगवानकी पूजा करता है उसको अक्षय पदकी प्राप्ति होती है ॥ ५१५ ॥

अर्थ—जो भव्यजीव नोगा वक्रुल जई जाही आदि सुगंधित पुष्पोमे भगवानके पवित्र चरण कमलकी पूजा करता है वह कामदेवके मदका नाश करता है ॥ ५१८ ॥

अर्थ:— जो भव्य जीव नैरेद्य वी, शकमें प्रकाये हुए नाना प्रकारके व्यजनोमे श्रीजिनराजकी पूजा करता है वह क्षुधा रोगका नाश करता है ॥ ५१९ ॥

अर्थ—जो भव्यजीव तुजागे लासो धोके महान दिव्य दीपरु से भगवान के पवित्र चरणरूपलोपर प्रकाश करता है वह मोहनीय कर्मका नाश करता है ।

जो भव्यजीव अपर तगर आदि सुगंधी द्रव्योसे बनाई हुई धूपमे श्रीजिनेन्द्र भगवानके पवित्र चरण कमलकी पूजा करता है वह कर्मीका नाश करता है ॥ ५२१ ॥

अर्थ—जो भव्यजीव केला आम्र द्राक्ष विजोरा नीचु आदि फलोंके द्वारा भगवानके पवित्र चरण कमलो

अष्टभेदैर्वेदेषु द्वैर्वेदोर्वादेश्च सर्वेषु । अर्थं कृत्वा पुनः पादौ पूजनीयौ विभोऽसुदा ॥ ५२३ ॥
 जय नद दयाधीश तारय तारक प्रभो ! इत्यादिशब्दभिकरं चानर्घ्यपद भिद्ये ॥ ५२४ ॥
 एकैकद्रव्यतो भूय सुखमाप्सा घना जना । तेषां नामानि वस्तुं क क्षमोस्ति माहृशं विना ॥ ५२५ ॥
 तथापि शृणु चाष्टाना नामानि सुखदानि च । वक्त्रिभ सक्षेपतो भूय फल चापि फलामये ॥ ५२६ ॥
 भासते गुजरे देशे तस्मिन् स्तम्भपुरे वरे । सोमिलोऽभूच्च भदेवस्तस्य सोमोविधा प्रिया ॥ ५२७ ॥

की पूजा करते हैं वे मोक्षके सर्व सुखको प्राप्त होते हैं ॥ ५२२ ॥

अर्थ—जो भव्यजीव अष्टद्रव्य और दूर्वा दर्भ सरसौं आदि भंगलीक द्रव्योंसे भगवान् के चरण कमलों का अर्घ्य उतारता है वह कर्म नाश करता है ॥ ५२३ ॥

अर्थ—हे प्रभो ! जय जय जय ! नद नद नद, तारय तारय तारय, हे तारक हे दयाधीश ! इत्यादि मगलीक शब्दोंके द्वारा गुणगान करें ॥ जिससे मोक्षपदकी प्राप्ति हो ।

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज, जिन भव्य जीवोंने भाव भक्तिसे प्रभुकी पूजा एक भी द्रव्यमें की है वे परम सुखको प्राप्त हुए हैं । उनके नाम कहनेको भरे विना (महावीर प्रभुके समान) अन्य कोई भी समर्थ नहीं है ॥ ५२५ ॥

अर्थ— हे राक्षस ! तो भी उनमेंसे कितने ही भव्योंके सुखद नामोंको कहता हू । जिससे पूजाके फलमें विशेष रुचि हो ॥ ५२६ ॥

अर्थ— भारतदेशके आर्य खडमें गुर्जर देशमें एक खमात (स्तम्भपुर) नामका नगर प्रसिद्ध था । जिसमें सोमशर्मा नामका एक क्रियाकाण्डमें निपुण और समस्त वेदोंका पारगामी ब्राह्मण था । उसकी स्त्रीका नाम सोमा था । दोनों ही वेदधर्ममें बड़े कट्टर थे ॥ ५२७ ॥

सापि मृत्वा सुपुण्येन श्रीधराभिभूयते । श्रीदेव्याया सुता जाता कुशश्रीरम्बरोपमा ॥ ५४० ॥
 तत्रैव सापि मोदेन चकार कानं प्रभो । प्रतिधन च दुग्धाद्यै पूजन वपुद्रव्यत ॥ ५४१ ॥
 अनें समाधिना मृत्वा परमेष्ठिमन्तसग । सा गता तेन स्वर्गादि अग्रे यात्यति-निवृत्ते ॥ ५४२ ॥
 भो भग्या पश्यथ यूय सरुल खानम्यर्धै । पर्यक्ष शर्मकर्तार कुरु-व सान प्रभो ॥ ५४३ ॥
 नार्था मर्त्येन येनैव कृत जिनपदाब्जयो । लेपनं च तयो वदये सवध चदनादिभिः ॥ ५४४ ॥
 अस्मिन् खगाचले शुभ्रे खगवारविभृषिते । औदीच्याथा च श्रेण्याच तस्मिन् रत्नाडिसचये ॥ ५४५ ॥

श्री जिनदेवका अभिषेक किया आर यह अतिगप हर्षको प्राप्त हुई ॥ ५३९ ॥

अर्थ—सोमश्री श्री जिनेंद्र भगवानका एक कुम्भके जलमें अभिषेक करने के फलसे मग कर श्रीधर राजाकी रानीके कुम्भश्री नामकी पुत्री उत्पन्न हुई । और उसने तहा भी भगवान का अभिषेक किया । पचासृत अभिषेक प्रति दिन किया । आठो द्रव्योसे पूजन की । अतसे समाधि मरण धारण कर पच नमस्कार मंत्र का ध्यान करती हुई शरीर छोड कर स्वर्ग में देव हुई । और वहामे चय कर मोक्ष जायगी । ५४० । ५४१ । ५४२ ॥

अर्थ—हे भव्यजीवो ! आपने श्रीभगवान्का पचासृतसे अभिषेक करनेका फल प्रत्यक्ष ही देखा-सोमश्रीको कैसा उत्तम सुख प्राप्त हुआ । इसलिये सर्व सुखकी प्राप्तिके लिये नित्य ही जिनेंद्र प्रभुका खान करना चाहिये ॥ ५४३ ॥
 अर्थ—जो स्त्री पुरुष श्री जिनचरण कमलोपर सुगन्धित चदनादि द्रव्योसे लेप करता है उसके लिये कथा कहता है । ५४४ ॥

अर्थ—इस विजयार्ध पर्वतपर उत्तर दिशामें एक रत्नसचयपुर नामका नगर है । ५४६ ॥

पुरे आसीव धरावीशो मणिशेखरनामभाक् । तस्य वामाऽभवत् साध्वी नाम्ना शुभमती सुभीः । ५४६ ॥
 मय्यङ्गतरानमृषाब्धा गुर्वाज्ञापालका शुभा । पत्युर्भक्तिकरुणा नम्रा प्रभो पूजनतल्पा ॥ ५४७ ॥
 तस्योदरे सुर कश्चित् सम्यग्दृष्टि जिनाचकः । ह्यत्रातच्च दीप्याब्ज पूर्वपुण्योत्करोदयात् ॥ ५४८ ॥
 तत्तभावाच्च तस्या हो दोहलोजनि मुदरः । अष्टाष्टदगिरीन्द्रभ्य यात्रा करोमीति हृदि ॥ ५४९ ॥
 पंचासृत्रसैस्त्रत्र करोमि स्तनन प्रभो । तथा काश्मीरकृष्णघमारादिभि खलु ॥ ५५० ॥

जिनापादाब्जयो लेप सत्रा सौरभ्युक्तयो । पूजयोः सुरवृद्धैस्त्रत पूजा जलादिभि । ५५१ ॥
 श्यावे ते सह भूषेन सा गरुड तत्र मूरे । व्योमयानसमारूढा नत्वा तत्र जिनाधियान् ॥ ५५२ ॥
 पुनः सन्नाप्य सङ्गत्या दुग्दव्यादिमद्गै । विलेपन चकार सा सुगधै कुकुभादिभिः । ५५३ ॥

अर्थ—इम स्तनसचयपुर नगरका राजा मणिशेखर नामका विद्याधर था । और उसकी रानी शुभमती थी । यह रानी सम्यग्दृष्टी थी । गुरुको आज्ञा पालनेवाली थी । पतिसेगामें तत्पर और जिनेन्द्र भगवानकी संगमें लवलीन थी । पूर्ण पुण्योदय से उसके गर्भमें भगवानकी पूजा करनेमाले सम्यग्दृष्टि एक पुण्यात्मा देने अवतार लिया ॥ ५४६ । ५४७ । ५४८ ॥

अर्थ—उस पुण्यात्मा देवके प्रभावसे शुभमती सतीको दोहल हुआ कि कैलाश पर्वतकी यात्रा करूं । और कैलाशपर जाकर श्रीजिनेन्द्र देवका पञ्चामृत अभिषेक करूं । तथा सुगन्धित द्रव्यसे परम पवित्र प्रभुके चरण कमलका लेप करूं । फिर अष्टद्रव्यसे पूजा करूं । ऐसा विचार कर वे दम्पती विमानमें बैठकर कैलाशको गये और वहाँपर प्रभु की दिव्य प्रतिमाओका पचासूत रससे अभिषेक किया और कुकुमादि सुगन्धी द्रव्यों से प्रभुके चरण कमलो पर विलेपन किया ॥ ५५३ ॥

पश्चादित्या च गानं च स्तवनं तद्गुणोद्भवम् । कृत्वा पुनः चचालसौ तस्माच्च स्तपुर प्रति ॥ ५५४ ॥

तावत्तद्वह्नरस्थानात् निस्ततो गंगदुःसहः । जनैः सोढुमश्वयोपि दुष्टैर्जतिजुगुप्सकैः ॥ ५५५ ॥

दुर्गंधं कुत्रत स्वामिन् आयातो देहदुःखदः । कथय सत्वर मय कारण मम शतद ॥ ५५७ ॥

शुद्धा इत्याह ता मूः शृणु त्व प्राणवल्लभे । कश्चिद्योगीश्वरो ह्यत्र दृश्यते ध्यानतत्पर ॥ ५५८ ॥

मन्वाविलो मन्वाधीरस्तस्य दहस्य योगतः । आगतश्च प्रिये चाय दुर्गंधो नात्र मशय ॥ ५५९ ॥

अर्थ—फिर उस विद्याधरने श्रीजिनेन्द्र भगवानकी अष्ट द्रव्यमे भक्तिपूर्वक पूजा की, भगवानका गान किया, स्तनन किया और प्रभुके गुणोका स्मरण किया । फिर वहाँसे (कैलाशसे) अपने नगरको आनेका विचार किया ॥ ५५४ ॥

अर्थ — उसी समय पर्वतकी एक गुफामे से अत्यंत दुःसह दुर्गंध ऐसा निकला कि जिसको निर्विचिकित्सा अगके पालनसे रहित (सम्यग्दर्शन विहीन) जीव सहन करनेको सर्वथा असमर्थ हो ॥ ५५५ ॥

अर्थ:— उस दुर्गंधको सूघते ही शुभमतिने अपने पति विद्याधरसे पूछा कि हे स्वामिन् इस परम सुगंधित नंदन वनके समान महान उत्कृष्ट वनमे शरीरको दुःख देनेवाली यह दुर्गंध कहासे आई ? हे प्रभो मुझे सुख देनेवाला इसका कारण कहिये ॥ ५५७ ॥

अर्थ:— अपनी धर्मपत्नी शुभमतो रानीके ऐसे वचनोको सुनकर विद्याधरने कहा कि यहांपर कोई योगीश्वर अतिशय तपस्वी महान् मलसे पूर्ण हो रहा है और यह दुःसह दुर्गंध उसीके शरीरसे आ रही है इसमें संदेह नहीं है ॥

पते वाचमिति शुस्वा सा गत्वा तस्य सकिधे । ददर्श तत्तनु दीप्त तपसा कृपता गतम् ॥ ५६० ॥
 व्यासान् स्वेदग्लौघै ध्यानमम निरवरं । कायोत्सर्गं स्थितं सौम्य चिदात्सससभृतम् ॥ ५६१ ॥
 ईदृगस्य मुनीन्द्रस्य किञ्चिच्चकार सा हृदि । तस्मिन् काले जुगुप्सा च दृष्ट्वा सर्वार्थिनाशकाम् ॥ ५६२ ॥
 पश्चात्प्रासुकरीरेण पक्षाल्य तत्तनुं च सा । चकार लेपन तस्य कृष्णागुर्वादिजै रसै ॥ ५६३ ॥
 मुनिं नत्वा तत्रौ पश्चात् स्तुता स्मरुमागतौ । शृणु ख चान्यवृत्तान् यज्जातं तत्र लाल ॥ ५६४ ॥
 लेमजातपुण्येन तदा मत्ता भुव्रता । लम्बाश्चाग्ल्य देहस्य मुने. सहस्रश प्रमा ॥ ५६५ ॥

अर्थ—अपने स्वामीके ऐसे वचनो को सुनकर वह शुभमती रानी शीघ्रही मुनि समीप गई । और परम दी-
 दीप्यमान तपसे कृषितशरीर ऐसे दिव्य मुनिको देखा । जिनके शरीरमें स्वेद (परसेन) के कारण मल बहुत होगया
 था । तो भी ध्यानमें लमलीन थे । कायोत्सर्ग स्थिर थे । शांत थे । और अपने चैतन्य परस्नानद रसका पान करने
 में दत्तचित्त थे ॥ ५६० । ५६१ ॥

अर्थ—एसे परमध्यानी और शरीर से सर्वथा मोह रहित मुनीश्वरको देखकर प्रथम तो उस रानीने अपने
 मनमें समस्त प्रकार के अनर्थको करनेमाली किञ्चित्त जुगुप्सा (ग्लानि) की । फिर तत्कालही प्रासुक और पवित्र
 जल से मुनीश्वरके शरीर को प्रक्षालकर अगर तगर आदि सुगंधी द्रव्यो का सुगंधित लेप किया ॥ ५६२ । ५६३ ॥

अर्थ—मुनीश्वर को नमस्कार कर और स्तुति कर वे दंपति (विद्याधर व रानी) अपने नगरमें आये ।
 इसकं वाद वहां पर दूसरी कथा वनी वह मुनो । उस सुगंधी लेपकी सुगमसे मुनीश्वर के शरीर पर हजारो अमर
 आकर लिपट गये । ५६४ । ५६५ ॥

चेतन्यजडरूपे च पश्यन् भिन्नत्वमंजसा । आत्मन्येव तदा तस्थौ स मुनिः धीरभावयुक् ॥ ५६६ ॥
 नाल्यजत् आत्मनो ध्यानं तदा घोरोपसर्गिके । बायुना किं नागाधीशः प्रचलत्येव निश्चयात् ॥ ५६७ ॥
 तदोपसर्गो संजाते स यतिरात्मवेदक । स्थिरोऽभवत् शिवाकाक्षी आत्मनि मेरुवत् क्षयी ॥ ५६८ ॥
 मुने देहात् पलं सर्वमश्नति शोणित तकाः । तथाऽप्येप मुनिश्चिते न चचाल स्वध्यानत ॥ ५६९ ॥
 एव पक्षमे घसे याते स भार्ययान्वित । पूर्वोक्तश्चायगौ तत्र यात्रार्थं लचरेस्वर ॥ ५७० ॥
 नो दृष्ट स यतिश्चात्र सा चाह स्वपतिं प्रति । कं गत स मुनि स्वाभिन् वस्माभि पूजिनश्च य ॥ ५७१ ॥

अर्थ— वे धीर वीर मुनीश्वर आत्मा और शरीरको सर्वथा भिन्न विचार करते हुए अपने आत्म विचारमें लवलीन होगये ॥ ५६६ ॥

अर्थ— यह वीर उपसर्ग आनेपर भी मुनिराजने अपना ध्यान नहीं छोडा । सच है कि मेरुपर्वत कही वायुसे कंपित होता है ? ॥ ५६७ ॥

अर्थ— इस प्रकार असुरोका वीर उपसर्ग आनेपर भी वे मुनीश्वर अपने आत्मीक ध्यानसे रच मात्र भी चलायमान नहीं हुए । मेरुके समान अडोल रहे ॥ ५६८ ॥

अर्थ— मुनीश्वरके शरीर का सर्व मांस और रक्त असुर (भोरा) भक्षण करने लगे पगन्तु मुनिराज अपने ध्यानसे रच मात्र चलचित्त नहीं हुए ॥ ५६९ ॥

अर्थ— इस प्रकार यह घोर उपसर्ग पंद्रह दिवसपर्यंत रहा । पंद्रह दिवस बाद वही विद्याधर और शुभमती रानी कैलाश गिरीकी वदनाके लिए पनः वहांपर आए ॥ ५७० ॥

अर्थ— शुभमती रानीने अपने स्वामी विद्याधरसे पूछा कि जिन मुनीश्वरकी हमने प्रथम पूजा की थी,

सर्वत्रालोकनां चक्रे श्रुत्वा राज्यदितं वच । स खगो अमर्युक्त ददृशाग्रे मुनीश्याम् ॥ ५७२ ॥
 प्रियामाह खगाधीश पश्य पश्य दयोलिम्बते । त्वया भक्त्या कृतो लेखत्राणिप्रस्तु जातवान् ॥ ५७३ ॥
 सापि श्रुत्वा पते वाच दृष्ट्वा योगीश्वर तदा । भात्मनः परमां निंदा चकार खचरमिया ॥ ५७४ ॥
 निर्घातितास्ततः सर्वे तथा षट्पदसंचया । तदा ध्यानप्रभावेन स लेभे केवलोदयम् ॥ ५७५ ॥
 समायुः सुरेन्द्राश्च तस्य पूजार्थमज्ञसा । कृत्वा पूजा जिनेन्द्रस्य तस्य तत्रैव भावत ॥ ५७६ ॥

लेप किया था सो वे यहांपर दीखते नहीं हैं कहांपर गए ॥ ५७२ ॥
 अर्थ—शुभमती रानीके कहनेसे विद्याधरने मुनीश्वर को सर्वत्र देखा, तम अमरो से आच्छादित उसी स्थान पर मुनीश्वर को देखा ।

अर्थ—हे बल्लभे हे निशुरे ! देख देस तेन मुनीश्वर को भक्ति से सुगंधी पदार्थों का लेप किया परतु बिना विचारे हुए कार्यका कैसा अनिष्ट परिणाम हुआ है । ५७३ ॥

अर्थ—शुभमती रानीने अपने स्वामीके ऐसे वचनोंको सुनकर और मुनीश्वर का वोर उपसर्ग देखकर अपनी धोर निंदा की । ५७४ ॥

अर्थ—शुभमती रानीने उन समस्त अमरोंको दूर किया । उपसर्ग के निवारण होते ही ध्यानके प्रभावेसे चार घातिया कर्मोंका नाश हुआ और मुनीश्वर को केवलज्ञान प्रकट हुआ ॥ ५७५ ॥

अर्थ—उसी समय मुनिराजके केवलज्ञानकी पूजा करनेके लिये देवगण आये और भगवानकी पूजा कर वहांपर धर्मोपदेश श्रवण करनेके लिये ठहरे ॥ ५७६ ॥

तावद्वधिनेत्रेण पूर्वाक्ति खचेश्वर । तस्या. पति. गत भवो ज्ञात्वा तस्या सुदुःखक ॥ ५९० ॥
 आजगाम सुरस्तत्र तस्याग्रं सकल स्वकं । वृत्तान् पूर्वज्ञे न्दिय कथयामास मोदत ॥ ५९१ ॥
 पुन इत्याह त्व भावात् सप्ताहानि प्रमाणिच । पचाभृतामै शुद्धे जिनाना स्नपन कुरु ॥ ५९२ ॥
 तत काश्मीरकर्पूरगंधसागजसद्रूपे । जिनाना शुद्धभावेन पादयो लेखन कुरु ॥ ५९३ ॥
 अनेनैव प्रयोगेण त्वत्तनौ शतता खलु । भविष्यति प्रिये नात्र सदेहगाकुरुष्व मो ॥ ५९४ ॥
 इत्याख्याय सुरो दक्ष स्वस्थानंच गतस्तत । तच्छ्रुत्वा सापि तत्सर्वं चकार स्वस्य शतये ॥ ५९५ ॥

अर्थ— हाय ! हाय ! पापिनी मेने पूर्वभवं ऐया कौनमा भयकर पाप क्रिया होगा कि जिसके फल से यह दारुण दुःख सुझे प्राप्त हुआ । ऐया विचार मदनावली अपने मनमें कर रही थी कि उसी समय पूर्वभवंके स्वामी विद्याधरका जीव (जो विद्याधरकी पर्याय से स्वर्गमें देव हुआ था) स्वर्गसे मटनावलीके पाम आया । मदनावलीके जीवने पूर्व भवमें मुनिनिंदा की थी और उसके फलसे ही यह रोग होगया है ऐया मुनिनिंदा करनेका ममस्त पूर्वभव का वृत्तात् उस देवने बतलाया ।

अर्थ— उस देवने फिर कहा कि हे मदनावलि ! तू मात दिवस पर्यंत भावसे श्री जिनदेवका पचाभृत रस से अभियेक कर और पवित्र सुगंधित केशर-कर्पूर-चंदन आदि पदार्थों के रस से श्रीजिनदेवके पवित्र चरण कमलोंका लेप कर तो ऐसा करनेसे तेरी यह दुस्सह व्याधि शीघ्रही शमन हो जायगी । इसमें जरा भी सदेह नहीं । ऐसा कहकर वह देव अपने स्थानको गया और मदनावलीने वह सच विधि समस्त सांगोपांग की । ५९२ । ५९३ । ५९४ ।

अर्थ— मदनावलीने अपने रोगकी शक्तिके लिये तीनों काल पचाभृतसे श्रीजिनदेवका अभियेक किया और सुगंधी पदार्थोंके रससे प्रभुके पवित्र और सुगंधित चरणोपर लेप किया । इस प्रकार करनेसे उसकी देह अत्यंत सुगंधित

त्रिकाले सा जिनन्द्वानामभिषेक विधानत । चक्रं च पादयोल्लिपं नित्यं सुगण्डै रसै ॥ ५९५ ॥
 एव च क्रियमाणे हि तस्या देहोऽभवन्महान् । सुगण्डाब्जस्य सर्वेषां प्रियं स्नानप्रभावत ॥ ५९६ ॥
 प्रतिवत्न तत सापि चकार घनमोदत । अभिषेक जिनन्दानां पादयो लेन तथा । ५९७ ॥
 कालञ्चञ्चया तत सापि लास्या दीक्षा जगन्नुताम् । दुर्धरं च तपस्तेपे कर्मवृद्धारिहानये ॥ ५९८ ॥
 अने सन्यासमादाय विशुद्धकन्या तप -- । प्रभावात् सा निहत्याशु स्त्रीलिङ्गं निन्दितं बुधै ॥ ५९९ ॥
 सागप पचमे नाके देवत्व गर्भसंभ्रुने । धर्मत जिवसंप्राप्ति का कथा नारुसञ्चन ॥ ६०० ॥
 मोमरो दिव्यसौख्यानि प्रसुज्यति स सर्वदा । पूर्वधर्मप्रभावेन धर्मतो दुर्घटं च किम् । ६०१ ॥

तथा सुदर होगई ॥ ५९४ । ५९५ ॥

अर्थ:-- तदनंतर यह मदनानवली हर्षके साथ प्रति दिवस श्रीजिनदेवका पूचामृतभिषेक करने लगी । और सुगंधी द्रव्योंसे जिनंद चरणोंका लेप करने लगी । काललब्धि प्राप्तकर वह मदनानवली श्रीभगवती जिनंददीक्षाको धारण कर दुवर तपश्चरण करने लगी । अतमें विद्युद् भावोंसे सन्यास धारण कर स्त्रीलिङ्गको छेद पाचमें स्वर्गमें देव हुई । मच है धर्मसे सा कुठ होता है । जम मोक्षकी प्राप्ति धर्मसे होती है तो स्वर्गकी प्राप्ति में क्या आश्चर्य ?

अर्थ-वह देव स्वर्गके दिव्य सुखोंको प्राप्त हुआ । सो ठीक ही है क्योंकि धर्मके प्रभावे कोई भी कार्य दुर्घट नहीं रहता । ६०१ ॥

तस्माच्छुद्धा स्वकालाते नरजन्म शुभे कुत्रे । नंप्राप्य मयं धृ या मोमर शिवमिद्वय ॥ ६०२ ॥
 याश्रति कर्मनिर्णाशात् मिद्वस्थानेच्युतोमै । मुनि भो मगधावीश तत्रापि भर्वपूजिनम् । ६०३ ॥
 भो भग श्रीजिनेन्द्रस्य पादयोश्च प्रलेयनात् । सुखमासाच सा राज्ञी प्रत्यक्ष सत्तु पश्यश ॥ ६०३ ॥
 चन्दनस्य प्रलेपेन सुखमादा घना जना । लेयनीयौ जिनपादौ यत्तथ्यंदनसुकुम् ॥ ६०४ ॥
 शुक्रः कीरी जिनेन्द्रस्य पादाश्रय धृ मजसा । शालिक्रण पुन तौहि गतौ स्वर्ग मनोदरे ॥ ६०५ ॥
 याम्यत क्रमतो मोक्षे बुग नित्य जिनोत्तमम् । पुजश्च वै शुद्धैश्वर्यक्षणासये ॥ ६०६ ॥
 पुष्पाधि कुंदपक्षौध विभो पूजा कृत यत् । लीलामत्यभिग श्रेष्ठश्रेष्ठिन्या प्रतिमासम् ॥ ६०७ ॥

अर्थ-वह देव स्वर्ग से चपकर मनु-य पर्यागको प्राप्त कर और जिनेन्द्र मगधानकी पवित्र दीक्षाको धारण कर मोक्षको प्राप्त होगा । हे श्रेणिक महाराज यह मम महिमा भगवान पर चन्दन चढानेके गुण्यके फल की है । भगवानके चरणकमलोंकी चन्दन मे पूजा करने का महान् फल है । ६०१ । ६०२ ॥

अर्थ—हे भव्य जीवो ! श्रीजिनेन्द्र देवके पवित्र चरण कमलोंपर चन्दनका लेप करनेके फलसे मद्दनापली ने प्रत्यक्ष फल प्राप्त किया । भगवानके चरण कमलपर चन्दनका प्रलेप करनेमे महतु से जीत मुरको प्राप्त हुए हे इस लिये चन्दन स पूजा नित्य ही करनी चाहिये ॥ ६०३ । ६०४ ॥

अर्थ—एक तांता दपती तांताके जोडा) ने श्रीजिनेन्द्र भगवानके पवित्र चरण कमलोंकी अक्षत के कर्णसे बडी भक्तिपूर्वक पूजा की । उसके फलमे वे दोनों स्वर्ग को प्राप्त हुए । और क्रमसे मोक्षको प्राप्त होगे । इसलिये भव्य जीवों को शुद्ध अक्षतसे श्री जिनेन्द्र देवकी पूजा नित्यही करनी चाहिये ॥ ६०५ । ६०६ ॥

अर्थ--श्रीजिनेन्द्र भगवानके पवित्र चरण कमलोंकी कुंद-पत्र चमेली गुलाब आदिके फूलोंसे पूजा कर

दिवि साच गता ह्यंमं मोक्षं यास्यति निश्चयात् । अतो भव्या जिनेन्द्राश्च पूजयध्वं लुपुप्यत ॥ ६०८ ॥
 हालािकाभिवर्षश्यो यत्युयेशात् कृतीति वै । नियमं एकग्रासेन पूजयिष्यामि वै जिनम् ॥ ६०९ ॥
 सोपि नृपार्चितो जात तत्कलेन पुनश्च स । दीक्षा जैनेश्वरीं धृत्वा दिवि देवोऽभवत्खलु ॥ ६१० ॥
 भोऽपर स्वर्गतश्च्युत्वा लप्स्यति मोक्षमक्षयम् । कुर्वतु सर्वदा भव्या नैवेद्ये पूजन प्रभो ॥ ६११ ॥
 जिनपादारविंदायै नार्शार्थं मोहकर्मण । यत् खलु शुद्धभावेन दीपस्योद्योतनं कृतम् ॥ ६१२ ॥
 धूपश्रीकन्यका जाता दिवि देवागनापि सा । चांमं यास्यति मोक्षं हि अनुकमाच्च सा सुरी ॥ ६१३ ॥

लीलापती नामकी संठानीने स्वर्ग पद प्राप्त किया और क्रमसे मोक्षको जापणी । इस लिये भव्य जीवोको भगवान् जिनेन्द्र देवकी फूलसे पूजा नित्य करना चाहिये ।

अर्थ:— एक मुनीश्वरके धर्मोपदेशसे हालिक नामके एक अतिशय दरिद्र वैश्यने श्रीजिनेन्द्र भगवानके पवित्र चरणकमलके समक्ष एक ग्रास मात्र चढानेका नियम लिया था । उस पुण्यके प्रभावसे उसका उसी पर्यायमें समस्त दरिद्रताका दुःख दूर होगया और राजासे पूजित हुआ । अतमे पररु रह स्वर्गमें देव हुआ । और आगे वह मोक्षको नियमसे प्राप्त होगा । इसलिये भव्य जीवोको भगवान् जिनेन्द्र देवकी पूजा नैवेद्यसे प्रतिदिन करानी चाहिये ॥ ६०९ । ६१० । ६११ ॥

अर्थ:— मोहनीय कर्मका नाश करनेके लिये श्रीजिनदेवके समक्ष शुद्ध भावसे दीपकोका उद्योत अवश्य ही करना चाहिये । धूपश्री नामकी कन्याने दीपकी पूजाके फलसे स्वर्गमें देवांगनाकी पर्याय प्राप्त की । और क्रमसे मोक्षको भी प्राप्त करेगी ॥ ६१२ ॥ ६१३ ॥

विनयघरो नाम्नेति श्रेष्ठिपुत्रश्च शुद्धवी । धूपपूजाप्रभावेन तुर्यरूपेऽमरोभवत् ॥ ६१४ ॥
 सोपि यात्यति भो भग्या ष्णुकुमात् शिवास्पद । पूजयध्वं जिनेंद्रं वै धूपय्यूहे शिवास्तये ॥ ६१५ ॥
 रूपिणी नामत लयाता दरिद्रवणिजात्मजा । केलाद्वादि फलोघ च सा जिनाग्ने फलास्तये ॥ ६१६ ॥
 धृत्वा इत्याह भो स्वामिन् देहि मोक्षफल च मे । कृत्वा प्रतिदिनं चैव मृत्वा समाधिना तत ॥ ६१७ ॥
 आद्ये स्वर्गमरो जातश्चाग्ने मोक्ष गमिष्यति । फलेज्याफळतो भग्या किं न म्यात् गर्मसंतति ॥ ६१८ ॥
 एकैकद्रव्ययोगेन पूत्रयि वा जिनाधिषम् । संप्राप्ता गर्मनिकरं नराश्च वहवो भुवि ॥ ६१९ ॥
 विष्णुभद्रो द्विवश्वैको वसुद्रव्यैजिनं मुदा । पूजयित्वा दिवि चाद्ये संजातो देवगट् खलु ॥ ६२० ॥

अर्थः— विनयंधर नामके एक सेठके पुत्रने शुद्ध भावसे श्रीजिनेंद्र भगवानकी धूपसे पूजा की । उसके फलसे वह चौथे स्वर्गमें देव हुआ । और वहासे चयकर क्रमसे मोक्षको जायगा । इसलिये हे भव्य जीवो धूपसे भगवानकी पूजा महान फल देनेवाली है । इसे प्रति दिन करो ॥ ६१४ ॥ ६१५ ॥

अर्थ—मोक्षफलकी इच्छासे रूपिणी नामकी एक दरिद्र वणिक्पुत्रीने केला आम-नारंगी-नीरु आदि उत्तम फलोसे श्री जिनेन्द्र भगवानकी पूजा की उसके फलसे वह मर कर स्वर्गमें देव हुई । और फिर वहासे चयकर मनुष्य पर्यायको प्राप्त कर मोक्षको प्राप्त होगी । फलोकी पूजा से भव्यजीवोको समस्त प्रकार के सुख प्राप्त होते है ।

अर्थ—एक एक द्रव्यसे ही भावभक्ति पूर्वक श्रीजिनेन्द्र देवकी पूजा करनेवाले बहुतसे भव्य जीव उत्तम सुख को प्राप्त हुए है ।

अर्थ—विष्णुभद्र नामक एक ब्राह्मणने श्रीजिनेन्द्र देवकी आठ द्रव्योसे पूजा की थी उसके फलसे वह इन्द्रपद को प्राप्त हुआ था ।

भेकाद्या शुद्धभावेन जिनपूजात्तमानसा । तेपि स्वर्गं गता भव्या अत कुर्वन्तु ता सदा ॥ ६२१ ॥
 पूजा ये नरसत्तमा सुविधिना कुर्वन्ति ते निश्चयात् । इन्द्रस्यैव खगेन्द्रपद्मगपते भूर्ति समाप्याशु वै ॥
 यास्यथैव शिवास्पदं मुनिमुतं नाशादिकर्मोच्चितं । मत्स्येव वुधोत्तमा जिनपते इज्या कुरुव्व च भो ॥ ६२२ ॥
 अनेन विधिना भूप कलौ मूढाश्च ये नरा । करिष्यन्ति जिनन्द्राणा पूजा नैव मदोद्धता ॥ ६२३ ॥
 तस्मिन् तद्दुद्वा क्रूरा सुबोधलववर्जिताः । वचनोत्थापका स्वस्यागमस्यैव प्रतिश्रयात् ॥ ६२४ ॥
 अंगपूर्वा नराधीश स्थास्यन्ति मत्सर खलु । पक्षन्तुसोमवर्षति प्रत्याष्टहीनतश्च ये ॥ ६२५ ॥

अर्थ—मैंदक आदि शुद्ध पर्याय के धारक जीवोंने भावोकी विद्युद्विसे श्रीजिन देवकी पूजा की और स्वर्गादिक उत्तम पदकी प्राप्ति की । इसलिये भगवान जिनेंद्र देवकी पूजा सदा करते रहना चाहिये । ६२१ ॥

अर्थ—जो भव्य जीव भव्य भावसे विशिष्टपूर्वक श्रीजिनेंद्र भगवानकी पूजा करते हैं वे निश्चय से इन्द्र धरणेन्द्र आदि की महान् दिव्य विभूतिको प्राप्त होते हैं । वे भव्य जीव मुनियोसे पूज्य और समस्त प्रकारके कर्मासे रहित ऐसी मोक्षको प्राप्त होते हैं । इसलिये भव्य जीवोंको भगवानकी नित्य पूजन करनी चाहिये ॥ ६२२ ॥

अर्थ—हे राजन् शास्त्रोकी उपर्युक्त विधिसे जो मनुष्य जिनेंद्र भगवानकी पूजा नहीं करते हैं वे मदोद्धत उसी भवमें क्रूर और हठग्राही बन जाते हैं उनका सम्यग्ज्ञान नष्ट हो जाता है । जो आगमके वचनोका उत्थापन करता है उसका क्या हाल नहीं होता । ६२३ । ६२४ ॥

अर्थ—श्रीसर्वज्ञ देव महावीर स्वामीने राजा श्रेणिक से कहा कि हे राजन् मेरे निर्वाण होनेके बाद एकसी नासठ वर्ष पर्यंत अंगपूर्वोका ज्ञान पूर्ण रूपसे रहेगा ।

चात्रे धर्मप्रकाशार्थं करिष्यति मुनीश्वरा । श्रथाना सकलानाच षण्णु रचना खलु ॥ ६२६ ॥

हायन प्रति तस्मिन् वै मुनिमार्गस्य हानिता । भविष्यति शरीरस्य हीनसहननाश्च वै ॥ ६२७ ॥

जिनधर्मात् भविष्यति भूदेवा भूमिवास्तवा । सुबोधवर्जिताश्वास्य निदकाश्च परान्मुखा ॥ ६२८ ॥

अर्थ—इसके बाद मुनीश्वर गण निःस्वार्थ और पवित्र वृत्तिसे धर्म प्रकाशनके लिये श्रीजिनदेवकी ही वाणी को ताड पत्र पर लिखकर ग्रंथोकी रचना करेंगे ।

अर्थ—इसके बाद क्रमसे प्रतिवर्ष मुनिमार्गकी हानि होती जायगी । पचम कालमें हीन सहनन होनेसे सिंह वृत्तिके चारित्रको धारण करने वाले विरले ही होंगे । ६२७ ॥

अर्थ—हे राजन् ! पचम कालमें राजा और ब्राह्मण जिनधर्मसे परान्मुख हो जायेंगे । उनमें सम्यग्ज्ञानका अभाव हो जायगा जिससे वे उलटे जैन धर्मके निदक बन जायेंगे ॥ ६२८ ॥

१ धर्मकी स्थिति और वृद्धि के कारण राजा धर्मगुरु और निर्ध्रिय ऋषिगण माने है । राजा यदि नीतिवान सदाचारी और सत्य धर्ममें तत्पर है तो प्रजा भी राजाके समान नीतिमान सदाचारी और धर्ममें तत्पर होगी । यथा राजा तथा प्रजा । वर्तमान समयमें राजाओंमें धर्मवासना-नीति-और सदाचारका अभाव होगया तो प्रजा भी वैसी होगई । ऐसे कायदे कानून बन गए जिनसे अधर्म फैलाया जासके-हिंसा की जासके—व्यभिचारमें धर्म कायदा कानूनसे होने लग गया । इसी प्रकार धर्मगुरु ब्राह्मण गृहस्थाचार्योंके अभाव होनेसे(ब्राह्मण लोगोंने जैनधर्म छोड देनेसे) सोलह संस्कार और उत्तम आचरणोंका अभाव होगया नीति प्रतिदिन उठने लग गई । ब्राह्मणोकी देखा देखी अन्य प्रजा भी धर्मसे परान्मुख होगई । निर्ध्रिय ऋषियोका अभाव होनेसे धर्मका मूल ही नष्ट होगया । लोगोंने धर्ममें मनमानी कल्पना काली और ऋषिगणोंके अभावके कारण उपदेश न होनेसे जैनसंख्या का अभाव हुआ । नवीन जैन बन्ते नहीं, जो हैं सो अन्य धर्म स्वीकार करने लगे ।

खतो मुनिपदस्यैव धारका पुरुषाः कलौ । तुच्छा जानीहि त्वं मूप यथा मृपास्तथा प्रजाः ॥ ६२९ ॥

आदिवीरस्य पुत्रेण रचिता ब्राह्मणाश्च ये । जिनधर्मप्रकाशार्थं पूज्याः सर्वेषु चोचमाः ॥ ६३० ॥

जिनधर्मविनाशाय तेन जाता बुधोचमाः । दुष्टकालप्रदोषेण न दोषः कस्यचिद् मुवि ॥ ६३१ ॥

तुर्यकाले समा सर्वे वैश्याश्च क्षत्रिया द्विजा । खलु चैकैव चेष्टाब्जा जिनधर्मप्रसेवकाः ॥ ६३२ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक उपयुक्त कारणों से मुनिपदके धारक वीर पुरुषों की सख्या स्वल्प होगी । सो ठीक ही है जैसा राजा वैसी प्रजा होती ही है ।

अर्थ—हे श्रेणिक—श्रीआदिप्रभु भगवान ऋषभ देव के पुत्र भरत चक्रवर्तीनि जिन ब्राह्मणोंकी स्थापना धर्मकी वृद्धि और धर्मकी पवित्रता स्थिर रखनेकेलिये की थी—इसीलिये जिन ब्राह्मणों को पूज्य माना था और सर्व वर्णोंमें श्रेष्ठता प्राप्त हुई थी वे ही ब्राह्मण जैनधर्मके नाशक—निंदक—और द्वेष करने वाले हो जायेंगे । यह सब कालका ही दोष है । इसमें किसी का अपराध नहीं । ५३० । ६३१ ॥

अर्थ— चौथे कालमें समस्त वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मणोंकी एक समान क्रिया—आचरण और धार्मिक प्रवृत्ति थी । इसलिये सब एक ही जिनधर्मके सेवन करनेवाले धार्मिक श्रे ॥ ६३२ ॥

१ धर्मकी वृद्धि और पवित्रताकी स्थिरता रखनेवालों में मुख्य मुनिराजही होते हैं । वे एकसाथ हजारों जीवों से अर्धं खुडाकर सबको धर्म मार्गमें लगा सकते हैं । ऐसी सामर्थ्य गृहस्थमें नहीं होती है—परतु कालके दोषसे अपने धर्मभाई ही मुनियों की निंदा कर मुनिधर्म का उठाने का प्रयत्न करेंगे । मुनियोंमें मिथ्या अवर्णनाद लगावेंगे । इन कठिनाइयों से मुनि धर्मका अभाव होगा । और मुनि धर्मके अभाव होनेसे जैनधर्मकी भी अत्यंत हानि होगी ।

अस्मिन् भूपा द्विजाः सर्वे प्रामाथ्यैकान्ता रज्जु । कैवल्य स्थिता वैश्याश्चैकाश्चास्य प्रपालका ॥ ६३३ ॥

अतो हि श्रीजिनेन्द्रोक्तो धर्मीय दृश्यते च वै । अलखत्तस्य दृष्टात शृणुथ यन्मयोदितम् ॥ ६३४ ॥

कंठीरवो यथा मत्तारणवागसंशयम् । क्षणैकेन सकुर्वति एकश्च नात्र संशय ॥ ६३५ ॥

स च आम्ररस्थाना फलानामदनेषु च । नो क्षम कारण किं तु विश्रवात् बुधा खलु ॥ ६३६ ॥

अर्थः— हे राजन् ! पचम कालमें तो ममस्त ब्राह्मण एव राजा गण विधर्मी किगाभ्रष्ट और सदाचार विहीन होगये । एक केवल वैश्य ही जिनधर्मके प्रतिपालक रह गये ॥ ६३३ ॥

अर्थः— हे राजन् ! इमी लिये यह सर्वोत्कृष्ट जैनधर्म इस पचम कालमें अल्प सख्यधारक जीवोंमें ही देखा जाता है । इसका दृष्टात बतलाते हैं— ॥ ६३४ ॥

अर्थः— हे राजन् ! महाविक्रमशाली सिंह अकेला ही ममस्त गजोंको मार कर शीघ्र ही भगा देता है । इसमें कुछ भी संदेह नहीं है । सिंहकी शक्ति सर्वोंपरि और सर्वोत्कृष्ट है । तो भी वह पर्वतपरके आम्रने फलोंको तोड़नेके लिये समर्थ नहीं है । इसका कारण क्या है ? इसका कारण गृही है कि उसके पक्ष (पस) नहीं है । यद्यपि कौआ शक्ति रहित है और जातिसे हीन है । तथापि वह पक्ष वा पंखोंको धारण करनेवाला है । इसलिये अर्थात् केवल पक्ष धारण करनेसे ही वह कौआ उन पर्वतके आम्रके फलोंको खानेमें समर्थ हो जाता है । इसलिये अर्थात् केवल कि फल एक सर्वोत्तम पदार्थ है । उसको पक्षधारी पक्षी ही खा सकते हैं । पक्ष रहित होनेसे सबसे अधिक बलवान सिंह भी उनको नहीं खा सकता । इसी प्रकार मोक्ष भी एक सर्वोत्तम पदार्थ है । उसको वही पा सकता है जिसके भगवान अरहत देवका पक्ष है । जिसके अरहत भगवानका पक्ष नहीं है, उनके वचनोंमें जिसका श्रद्धान नहीं है उसे कभी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकती । इसलिये मोक्ष प्राप्त करनेके लिये भगवान

ध्माक्षश्च शक्तिहीनाख्य तथापि पक्षमाकृ खलु । स्याद्वदनेषु तेषा च जातिहीनोपि स क्षम ॥ ६३७ ॥

बान्धनतश्च सप्तारं पक्षः स्यात् यस्य दृश्यते । महत्त्व च तस्यैव तद्वत् अमहत्त्वता ॥ ६३८ ॥

अरहत देवके बचनोका पक्ष अग्रथ रसना चाहिये । भगवान् अरहंत देवके बचनोका श्रद्धान करना ही मोक्षका मूल कारण है ।

अथवा समुदाय शक्तिसे जातिहीन समुष्प अपने ऐसे कार्य निकाल लेते हैं । जो समुदाय शक्ति रहित उत्तम जाति वालोंसे भी नहीं हो सकें । परंतु इसमें बडप्पन नहीं है । बडे २ शक्तिशालियोंको नीचा दिखा देते हैं ॥ ६३५ ॥ ६३६ ॥ ६३७ ॥

अर्थ — हे राजन् कलिकालमें इस समारम जिसके पक्षमें बहुतसी सख्या है वह अपना बल प्रकट करेगा उसका महत्व प्रकट होगा । और जिनके पक्षमें सख्या स्वल्प है वे सर्वांग शक्तिशाली होने पर भी अपना महत्व प्रगट नहीं कर सकेंगे । अपना जैन धर्म यत्रपि समारमें समोच्छ्रुट है सर्वोत्तम है पवित्र है सदाचार से परिपूर्ण है परंतु राजा-ओका पक्ष न रहने से कमजोर होगया है । इसी प्रकार महत्त्व प्रगट करना चाहते हैं उनको धर्मगुरुओकी आज्ञा शिरोधार्य कर लुपता जाता है । इसलिये जो लोग धर्मका महत्त्व प्रगट करना चाहते हैं उनको धर्मगुरुओकी आज्ञा शिरोधार्य कर धर्मके रहस्य जाननेवाले सब्बे विद्वान त्यागियों की पक्षमें रह कर अपने धर्मकी रक्षा और बृद्धी करनी चाहिये । जो सुधारक मुनिगण और विद्वानोंको सत्य और आगमोचित पक्षको छोडकर धर्मके गहने अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं और धर्मकी पवित्रता विधमाविगाह, जाति पांति लोप और विजातीय विवाह आदि धर्मविरुद्ध कारणोंसे नष्ट करना चाहते हैं उनको विचार करना चाहिये कि इस प्रकार पक्षभेद कर देनेसे धर्मका सत्यानाश ही होगा । समुन्नति नहीं ॥ ६३८ ॥

मित्रकालेच अश्वैव पालका धारणा नृणा । प्रजा सर्वा द्विजा सर्वे अत सर्वेषु भो नृणा ॥ ६३९ ॥

उत्तमता च ह्यन्यैव अन्यस्य न्यूनता खलु । तद्वै ननु विज्ञेयं विरीत्यस्य कारणम् ॥ ६४० ॥

तल्लौ "भयनाशार्थं सर्वलोकस्य माक्षिनः । नृतना स्थापना लोका करिष्यते च नाशिन ॥ ६४१ ॥

अर्थः— चतुर्थे कालमें इस जैनधर्मके प्रतिपालन राजा और ब्राह्मण आदि सभी प्राणी थे । इसलिये इसका डका सर्वत्र अत्रिच्छिन्न रूपसे वृजता था ॥ ६३९ ॥

अर्थः— यह धर्म मर्याद-रुट है । त्रिलोक पूजित है । और सर्व मान्य है । और धर्म इस धर्म (जैनधर्म) में सब धर्मोंमें अवर्ष है । परन्तु लौकिकधर्मका पक्ष मुनियोंके मनुष्यवर्गके विना मयस्त जीवोंको मिलना कठिन है । इसलिये इस जैनधर्मके पालन करनेवालोंकी सन्तान कम होगई है । इसलिये मुनिधर्म और सर्व आंग-मके जानकार द्विजानोकी पक्षकी एकदम मना देना चाहिये जिससे धर्मकी विपरीतता नष्ट हो जाय ॥ ६४० ॥

१ कलिकालमें जैनधर्मके भीतर इस प्रकार धर्मकी स्थापना गायत्री लोगोंसे कितनी चार हुई है । परन्तु दिगम्बर जैन महर्षियोंने उनको सगृह्य ममज्ञान उनका बहिष्कार ही किया है । जैन सन्ध्या गढ़ानके लोभमें उनको अष्ट श्रेयधाराकारी सन्तान नदली जैनधर्मपरक जैनोंकी अपने में नहीं मियागा । भद्रनाहूके ममठ जा स्वतन्त्र मंष उरान्त हुआ तर भी दिगम्बर जैन महर्षियोंने उनको (स्वतन्त्र) अपने में नहीं मिलाया । गायत्री लोगोंने लोगोंका धर्मका गढ़ाना बतलाकर नवीन धर्म-अपने स्वार्थको सिद्ध किया । समाजमें भेदभाव डालकर कितने ही मनुष्योंको अनुकूल बनाया । और जो सबे वर्ग-भा थे उनको देखी माना । इसी प्रकार चार २ जैन धर्ममेंसे कितनेही नकली धर्म उत्पन्न हुए ।

केचिच्च द्वेषका मर्या केचिच्च सेवका खलु । एव तस्मिन् भविष्यति कलौ च सावाधिप ॥ ६४२ ॥

जैनागमभुव ऋषेणु जमीमा मावेध्वर । विश्वयो न भविष्यति संशयाचीनचेतसाम ॥ ६४३ ॥

अथाना पूजता केचिन् विनयिस्थं निहता । कलौ भेदा जानेके च ज्ञातया श्रेणिक स्वया ॥ ६४४ ॥

अर्थ--हे अगधाधिय कलिकाल में सागावी मनुष्य धर्म प्रकाशनके लिये समस्त लोगोंकी साक्षीमें नूतन स्थापना करेंगे। कितने हो मनुष्य उनके उमों हो जायगे। और जिनने वो भेदक बन जायगे ॥ ६४२ ॥

अर्थ--हे श्रेणिक महाराज ! संशय से मन और बुद्धि जिनकी श्रमित होगई है ऐसे उपायुक्त मनुष्य श्री जिनागमके सत्य २ मचनोज्ञा भी विश्वास (श्रदान) नहीं करेंगे ॥ ६४३ ॥

अर्थ--ठे श्रेणिक ! कितने ही तो केवल श्रमोंके पूजन तक जायगे। तितन ही जिन विमोंकी पूजा कर-नेका निषेध करेंगे। हे राजस्य ! कलिकालमें जैनधर्मसे नूतन से पंग अपने अपने सत्तसे अपना कल्पना कर अनेक प्रकार से जैन धर्मका रूप विगाडेंगे। ६४४ ॥

१ वर्तमान समयमें कितनेही यन्त्रजाती धाने मतलमके लिये सच श्रमोंकी आमन्यता का रहे है। उनके जिनागमका सर्वथा श्रदान नहीं है तो भी अपने को जैनधर्मकी वताकर लोगोंको यह जाहिर करते है कि हम भी जैन है। परंतु उनके जप आगमका सर्वथा ही श्रदान नहीं है तम जैनपना केसा ? उनका जैनपना कुछ स्मार्थ पर है। जो अतिशय भयानक है।

२ श्वेताश्रमों में से हृदिश जिनविमोंकी पूजाका निषेध करते हैं। शिंगर में तारण पथी भी जिनमदिर में पूजन नहीं करते। परंतु दिगम्बर जैन धर्ममें या उसके आगममें अवर्णवाद नहीं लगाते। जो लोग दिगम्बर जैन भी जैनविमोंकी पूजन करनेका निषेध करते है इसका कारण उनको आगमके श्रदान का धभाव है।

वसुधूपालवत् स्वस्य मतस्य ते नरा खला । दृढ पक्ष करिव्यति मसघावन्दिदु खदम् ॥ ६४५ ॥
 जिनात्पुरुषाणा च केचिच्छूद्धानिका नरा । खला निंदा करिव्यति जिनामप्रघातका ॥ ४५६ ॥
 पूर्वाचार्यकृता सर्वाभियेकादिका क्रियाम् । तस्मिन्नुत्थापयिव्यति न मूढा पंचमोद्भवा ॥ ६४७ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज ये लोग वसुधूपालके समान अपने अपने मिथ्या मतका हठग्राही पक्ष कर सातवें नरक जाने लायक पाप सचय करेंगे ।

भाषार्थ—मत्स्यधर्म (जो अग्रहत भगवान्ने कहा है) को दूषण लगा कर ये लोग जैनधर्मसे नवीन धर्म अपने मनकल्पना से गढ कर अहंत भगवान् का कहा हुआ है ऐसी मिथ्या घोषणा करेंगे । और अपने मिथ्यामतके पक्षको दृढ करेंगे । श्वेतांबर—दृष्टिया-और भी अनेक पथशालोने इसी प्रकार अपने २ मत दिग्गज जैनमतमें से निकाल कर बनाये । और कितने ही दुष्ट मनुष्य अब भी ऐसा ही पाप कर रहे हैं ॥ ६४५ ॥

हे राजन् ! कितने दुष्ट श्रावक अतरंग से श्रीजिनागमका वात कर मूलोच्छेद करेंगे परतु फिर भी अपनेको श्रावक कहला कर जिनात् पुरुषोक्ती (मुनियोक्ती) अत्रा साधर्मि मज्जनी को निंदा करेंगे । भाषार्थ, कितने दुष्ट हृदयके श्रावक मनकी दुष्टता और मिथ्यात्वके तीव्रोदयमें जिनागमका तो नाश करेंगे ही परतु जिनागमके अनुसार चलने वाले मुनिगण तथा भव्य धर्मात्मा श्रावको की निंदा भी करेंगे । इस प्रकार अपने धर्मका मूलोच्छेदन वे स्वयं कर पापके भागी बनेंगे ॥ ६४६ ॥

अर्थ—हे राजन् पचम कालके श्रावकगण पूर्वाचार्यप्रणीत और तीर्थकर द्वारा प्रतिपादित अभियेकादि पवित्र आगमोक्त क्रिया का उच्छेद करेंगे ॥ ६४७ ॥

नृतानां नृतानां सर्वो कारिष्यति जडाशया । ते नराश्च क्रिया भूप स्वस्वमतिविकल्पतः ॥ ६४८ ॥
 वय श्रद्धानिका यूयं मिथ्यात्वपथसेवका । मानयिष्यति ते चित्तं क्रियालेशो जिह्वाता खलु ॥ ६४९ ॥
 स्वधीकल्पितग्रंथान् वै स्वाध्याये पूजनादिके । कार्ये प्रवर्तयिष्यति नो तद्धिते खलाशया ॥ ६५० ॥
 इत्य जैनेन्द्रधर्मस्य मध्ये भेदो क्का खलु । तस्मिन्नेव भविष्यति सत्त्वमतविनाशका ॥ ६५१ ॥
 भवंत्येव कलौ भेदा प्राक् चतुर्थाच्च निश्चयात् । चेलनाकात बुद्ध्वा शर्मलंशविवर्जिते ॥ ६५२ ॥

अर्थ—हे राजन पंचम कालके श्रावकगण दवीन नवीन क्रियायें अपने मनसे गढ़कर करेंगे । और धर्मके सत्य मार्ग का लोप करेंगे ॥ ६४८ ॥

अर्थ—हे राजन् ! श्री जिनदेन गदिपादित ग्राचीन क्रियाओका लोप करनेवाले श्रावकगण अपनेको सम्यग्दृष्टी असिद्ध करेंगे । और जो श्री जिनदेवके मार्ग पर आगमाचुक्ल चल रहे हो उनको मिथ्यात्वी वतलायेंगे इस प्रकार की पवित्र क्रियाओका परित्याग करेंगे । ६४९ ॥

अर्थ—हे राजन् ! अपने मनकी कल्पना से अपने मतलबके ग्रंथ बनाकर उनका ही स्वाध्याय करेंगे, प्रचार करेंगे और उन ग्रंथोंसे ही पूजन आदि धर्मक्रियाओकी प्रवृत्ति करावेंगे । ऐसे लोग आत्महितके लिये कुछ नहीं करेंगे ।

अर्थ—इस प्रकार इस जैन धर्ममें अनेक भेद होंगे और वे अपने अपने धर्मका नाश करने वाले ही होंगे ।
 अर्थ— हे श्रेणिक ! जिसमें कल्याणमार्गका सर्वथा अभाव है ऐसे इस कलिकालमें आगामी चौथे कालके पहले पहले इस जैनधर्ममें बहुतसे भेद हो जायेंगे ।

भावार्थ— इस पंचमकालमें जैनधर्ममें भी बहुतसे भेद हो जायेंगे जो आत्मकल्याणसे सर्वथा रहित होंगे ॥ ६५२ ॥

हुडासर्षिणि काले हि भवति नो कदाचन । जिनधर्मस्य हानिश्चान्यत्र भो माधेव्य ॥ ६५३ ॥
 चेहन्विभो । दयाधीश किञ्चकले गते सति । आयात्येव तदा चाह त प्रति दिव्यभाषया ॥ ६५४ ॥
 वसुधैदेन्दुसह्यानां चतुर्विंशतीनां गत । हुडको जायते ह्येको । तत्रायणा मतश्च स ॥ ६५५ ॥
 आसिञ्चैव भवत्येव ह्यनर्था चेलनापने । तीर्थकरस्य पुत्र्यौ चक्रैश्चस्यापमानता ॥ ६५६ ॥
 प्रभोगात्रिादप्यविको दोषत्रैश्चञ्चला तनो । जेपनार्थं च अमला धरया वृषभस्य वै ॥ ६५७ ॥
 पदवीधारकाणां च हासोपसर्गमेव च । धार्मिकणां कलकाश्च मतीनामपमानता ॥ ६५८ ॥

अर्थः— हे राजन् यह इतना धर्मका भेदभावका विद्वत् हुंदासर्षिणी कालमें ही होता है । अन्य कालोंमें नहीं । इसी लिये इस कालमें जैनधर्मकी हानि विशेष होगी ॥ ६५३ ॥

अर्थः— महाराज श्रेणिकने हुंदासर्षिणी कालको ऐसा दुष्ट सुनकर भगवानसे पूछा कि हे रामिन् ! हे वीर प्रभो ! कितने कालके बाद हुंदासर्षिणी काल आता है ? तब दिव्य धनिसे भगवानने कहा कि १४८ एरुनी शब्दतालीम चौथीसी व्यतीत होनेपर एक हुडक काल आता है ॥

अर्थ— हे श्रेणिक ! हुडक कालके प्रभाव से बड़ी २ विपरीत बातें उस भरतक्षेत्रमें होगी । यान् अनर्थ होने १ तीर्थकरोंके पुत्रीका जन्म होना । २ चक्रशरणा अपमान होना । ३ प्रभु तीर्थकरके शरीर से अधिक ऊंचा शरीर बाहुबलि का होना । ४ नीचपदविका आत्मारकेलिये पट्टमास पर्यंत परिश्रमण होना । ५ पदवी धारक त्रेपट्टि सलाका पुरुषोंका न्हास होना । ६ तीर्थकर देवकी छत्ररथ आस्था में उपसर्ग होना । ७ धर्मात्मा पुण्यपुरुषोंको कलकका लगना । ८ सतिगोत्रा अपमान होना । ९ सिद्ध क्षेत्रोत्री अतिशय दूर स्थापना होना । १० जिनशासन यक्षगणोंका अतिशय क्रम होना । ११ मिथ्या शासन देवोंकी महिमा का बढना । १२ पार्वलियोकी बढवारी

स्थापना सिद्धक्षेत्राणां चातिदूरा शिवार्थेन । जिनशासनयज्ञाणां तुच्छाश्चातिशया खलु ॥ ६५९ ॥
 मिथ्याशासनदेवानां पचार सर्वतो ननु । श्रीजिनाधिपनिधानमपमानं कुमानवै ॥ ६६० ॥
 साधर्मिपुरुषाणां च निंदा ते श्रावणा राला । करिष्यन्ति कलौ भूय निंदाया किं फलं भवेत् ॥ ६६१ ॥
 भवति परनिंदाया जाताया परजन्मनि । मूका सदातरुमना कुञ्जा दुष्टाश्च कुन्वना ॥ ६६२ ॥
 वधिरा विकलागात्र्य पडा दाग्निधामका । कुरुषा दुष्प्रभोक्कार पुनपौनाद्विवर्जिताः ॥ ६६३ ॥
 सदा शोकधरा क्रूरा निर्गम्या मतिर्निन्दता । नराश्चेदुग्बिधा भूः जानलेशविवर्जिता ॥ ६६४ ॥
 मुन्यादित्रजिता धर्ममार्गपराम्मुखा खलाः । गुणमानविहीनाग परसन्ननि सेवका । ६६५ ॥

होना । १३ श्री जिनविबोका कुमनुयो के द्वारा अपमान होना । १४ और श्रावको के द्वारा ही सत्यमार्गपर जिनागमके अनुकूल चलने वाले सायमी पुरुषोही निंदाका हाना । १५ जैनमर्ममें भेदभानका होना । इत्यादि न-
 हुत से अनर्थ कालके प्रभाव से इस भारत क्षेत्र में होंगे ।

उपर्युक्त दिव्य ध्वनिके द्वारा सुनकर श्रेणिक महाराजने पूछा कि हे प्रभो श्रावकगण सच्चे धर्ममाओ की निंदा करेंगे उसका क्या फल है ? ६५६ । ६५७ । ६५८ । ६५९ । ६६० । ६६१ ॥

अर्थ--हे श्रेणिक महाराज जिनागम के अनुकूल चलने वाले भव्य जीवोकी निंदा करनेसे पर जन्ममें अधे-
 गूने-बधिर-रोगी-कूबडे-विकलाग-नपुसक-दरिद्र-कुरूपी-दुःखी-कुटुब परिवार रहित-भाग्यहीन शोकातुर और
 ज्ञान रहित होते हैं । वे बड़े भयकर दुखेको प्रत्यक्ष प्राप्त करते हैं । उनसे मुनियोका धर्मपालन नहीं होता । इतनाही
 नहीं बल्कि वे धर्ममार्ग से पराम्मुख-गुणविहीन-दूसरोके गुलाम होते हैं ।

हुंडासर्पिणि काले हि भवति नो कदाचन । जिनधर्मस्य हानिश्चान्यत्र भो माधेश्वर ॥ ६५३ ॥
 चेद्विभो ! दयावीश किभक्तारे गते सति । आयाच्येव तदा चाह त प्रति दिव्यभाषया ॥ ६५४ ॥
 वसुवेदेन्दुसह्याना चतुर्विंशतीना गते । हुंडको जायते ह्येको । तत्राणा मत्स्य स ॥ ६५५ ॥
 अस्मिन्नेव भवत्येव ह्यनर्थी चेलनापने । तीर्थकरस्य पुत्र्यौ चक्रेद्यस्यापमानता ॥ ६५६ ॥
 प्रभोगत्रिद्वयधिको दोषत्रैरुच्यता तनो । जेनार्थच अमता धराया वृषभस्य वै ॥ ६५७ ॥
 पदवीधारकाणा च हासोपसर्गमेव च । धार्मिकाणा कलत्राश्च मतीनापमानता ॥ ६५८ ॥

अर्थ:— हे राजन् ग्रह इतना धर्मका भेदभान्दका विप्लव हुंडावसर्पिणी कालमें ही होता है । अन्य कालोंमें नहीं । इसी लिये इस कालमें जेनधर्मकी हानि विशेष होगी ॥ ६५३ ॥

अर्थ:— महाराज श्रेणिकने हुंडावसर्पिणी कालको ऐसा दुष्ट सुनकर भगवानसे पूछा कि हे स्वामिन् ! हे वीर प्रभो ! कितने कालके बाद हुंडावसर्पिणी काल आता है ? तब दिव्य ध्वनिसे भगवानने कहा कि १४८ एकवौ अडतालीस चौबीसी व्यतीत होनेपर एक हुंडक काल आता है ॥

अर्थ:— हे श्रेणिक ! हुंडक कालके प्रभाव से बड़ी २ विपरीत बातें इस भरतक्षेत्रमें होगी । महान् अनर्थ होने शरीर बाहुगलि का होना । २ चक्रशरका अपमान होना । ३ प्रभु तीर्थकरके शरीर से अधिक ऊचा शरीर बाहुगलि का होना । ४ श्रीवृषभदेवका आहारकोलिये पद्मास पर्यंत परिश्रमण होना । ५ पदवी धारक त्रेपठि मलाका पुरूपोका न्हास होना । ६ तीर्थकर देवको छत्रस्थ अन्धता में उपसर्ग होना । ७ धर्मात्मा पुण्यपुरूपोको कलंकका लगना । ८ सतियोंका अपमान होना । ९ सिद्ध क्षेत्रोकी अतिशय दूर स्थापना होना । १० जिनशासन यक्षगणोका अतिशय कम होना । ११ मिथ्या शासन देवोकी महिमा का बढना । १२ पाखंडियोंकी बढनारी

स्थापना सिद्धकेनाणा चातिदूरा शिवार्थदा । जिनशासनयज्ञाणाः तुच्छाश्चातिशया खलु ॥ ६५९ ॥
 मिथ्याशासनदेवाना पचार सघनो ननु । श्रीजिनाधिपविधानामपमान कुमानैज्ज ॥ ६६० ॥
 साधर्मिपुरुषाणा च निंदा ते श्रावभ राला । करिष्यन्ति क्लेशे मृत्यु निंदाया किं फल भवेत् ॥ ६६१ ॥
 भवति परनिंदाया जाताया परजन्मनि । मृत्ता सदात्तऋग्ना युग्मा दुष्टाश्च कुम्बना ॥ ६६२ ॥
 वधिरा विकलागाश्च पडा दारिद्र्यकारका । पुरुषा दुःखभोक्ताः पुनर्पौनाद्विवर्जिताः ॥ ६६३ ॥
 सदा शोक्रधरा क्रूराः निर्भयश्चा गतिनिन्दिता । नराद्येदृशिया मूय जानलेशविवर्जिता ॥ ६६४ ॥
 गुन्याद्विवर्जिता धर्ममार्गव्यान्मुटाः खलाः । गुणगानविहीनाया परसञ्जन सेवका । ६६५ ॥

होना । १३ श्री जिननिंदाका कुमनुष्यो के द्वारा अपमान होना । १४ और श्रावको के द्वारा ही सत्यमार्गपर जिनागमके अनुकूल चलने वाले सार्थी पुरुषोही निंदायका होना । १५ जैनमर्ममें भेदभावका होना । इत्यादि व-
 हुत से अनर्थ कालके प्रभाव से डग भरत क्षेत्र में होगे ।

उपर्युक्त दिव्य ध्वनिके द्वारा मुनकर श्रेणिक महाराजने पूछा कि तं ग्रभो श्रानकगण मक्खे धर्मात्माओं की निंदा करेंगे उसका क्या फल है ? ६५६ । ६५७ । ६५८ । ६५९ । ६६० । ६६१ ॥

अर्थ--हे श्रेणिक महाराज जिनागम के अनुकूल चलने वाले भव्य जीवोकी निंदा करनेसे पर जन्ममें अर्धे-
 गुरो-गधिर-रोगी-कूबडे-विटलांग-नपुसक-दरिद्र-कुरूपी-दुःखी-कुटुब परिवार रहित-भाग्यहीन शोकातुर और
 ज्ञान रहित होते हैं । वे बडे भयकर दुखोको प्रत्यक्ष प्राप्त करते हैं । उनसे मुनियोका धर्मपालन नहीं होता । इतनाही
 नहीं बहिक वे धर्ममार्ग से परान्मुख-गुणविहीन-दूसरोके गुलाम होते हैं ।

प्रतिपददर्शनीवाते प्रियते माघाधिनि । षष्टमैकादशे चैव हायने द्वादशे तथा ॥ ६६६ ॥
पोडशे यौवने काले अत्रामुत्र घवाश्च ये । जानीहि परिनिदाया तच्च भो कारणं लल्लु ॥ ६६७ ॥

ससारभयभीतैश्च महादुःखप्रदायका । अतोहि परिनिदाच नो कर्तव्या ऋदाचन ॥ ६६८ ॥

परदोष न दातव्यं मा वक्तव्यमसत्यवाक् । प्रमादं नैव कर्तव्यं देवपूजादिकर्मसु ॥ ६६९ ॥

सोमशर्मद्विजस्येय सुता लक्ष्मीमती वरा । रूपयौवनसपत्न्या किञ्चिन्निदा यते कृता ॥ ६७० ॥

तेन पापेन तत्रैव तस्या गात्रेऽसुखाकारः । उदरमहाकुण्ड समुत्पन्नोतिट्टम्सह ॥ ६७१ ॥

व्याधिना तेन संतप्ता महादुःखेन सा मृता । शुनी च गर्दभी पश्चारुकर्रीत्यादिभ्योनिपु ॥ ६७२ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक ! धर्मात्मा भव्य जीशोकी निंदा करनेवाले प्रतिपद चंद्रमाके समान शीघ्रही मरण को प्राप्त होते हैं । अथवा आठ-दश-ग्याह-वारह-और सोलह वर्ष जवानी अवस्थामें ही मरण कर जाते हैं । इस लोक तथा परलोक में विद्युर अथवा विद्यमा ही जाते हैं । ६६६ ॥ ६६७ ॥

अर्थ—इसलिये ससारके दुःसोसे भयभीत पुरुषोको चाहिये कि महान् दुःखकी देनेवाली दृसरोकी निंदा न करे । न किमी धर्मात्सामें मिथ्या द्रूपण लगावें । न झूठ वचन बोलकर गुणोका निन्दन करें । तथा देवपूजादि महान् पुण्यकार्यमें प्रमाद न करे । सच्चा धर्मात्मा वही है जो निंदाके भयसे सत्य धर्मका त्याग नहीं करता है । प्राणात् होनेपर भी जो अपने धर्मसे च्युत नहीं होता वही धर्मात्मा है ।

अर्थ— हे श्रेणिक ! सोमशर्मा नामक एक ब्राह्मणकी लक्ष्मीमती नामकी पुत्रीने मुनियोकी किञ्चित् निंदा की थी । उस निंदाके फलसे उसको उसी भयमें भयकर कुपरोग होगया था । जिससे उसको महान् दुःख प्राप्त हुआ और परलोकमें-बह मर कर कुत्ती, गधी-दकरी आदि कुत्सित योनिमें प्रमण कर महान् दुःखको प्राप्त हुई । तथा

अभिवा च खला तत्र प्राप्यातिदु खंसततिम् । जनगमसुता पश्चाज्जाता च दुःखभोजका ॥ ६७३ ॥

मत्सेति मो खिय माच नरा शर्मविनाशका । कदापि नैव कर्तव्या सर्वेषा स्वात्मशुद्धये ॥ ६७४ ॥

कार्यात् स्वस्थ निर्दा मो स्मस्यैव पापघातका । उच्चगोत्रकरा नानाशर्मसंहतिदायका ॥ ६७५ ॥

परनिर्दासमो लोकै ह्यन्यत् पापहि प्राणिना । नास्येय तत्र कर्तव्य यदीच्छा शर्मसततः । ६७६ ॥

यत्कलक समापैव सीता शीलगुणान्मिता । तद्वि निर्दामभोगेण मा कुर्वतु परस्य वै । ६७७ ॥

ख्यता सज्जनानाच ज्ञान भेद पदश्रुते । खलेच्छा चेतदा कार्या परनिदा ह्यनर्थदा ॥ ६७८ ॥

पीछे यह अनेक दुःखोको भोगनेवाली चांडालकी पुत्री हुई । और किंचित् मुनिनिर्दाका इतना महान कष्ट सहन करना पडा । इसलिये सब गजो तथा स्त्रियो अपने आत्माको शुद्ध रखनेके लिय धर्म-धर्मापतन-साधर्मी भाई और मुनि आदिकी निर्दा कभी भी नही करनी चाहिये ॥ ६७० ॥ ६७१ ॥ ६७२ ॥ ६७३ ॥ ६७४ ॥

अर्थ:— जो अपनेसे पापहर्म अज्ञान या प्रमादसे हो जावे तो उसको दूर करनेके लिये अपनी आत्माकी निर्दा करनी चाहिये । जिससे मोक्ष सुखका प्रदान करनेवाला उच गोत्रका वध हो ॥ ६७५ ॥

अर्थ:— परनिर्दाके समान अन्य कोई पाप नही है । इसलिये अपने आत्मकल्याणके लिये या समात्र रूपसे भी किसीकी निर्दा नही करनी चाहिये ॥ ६७६ ॥

अर्थ—सतो शिरोमणी सीताको कलकका योग प्राप्त हुआ इसका मूल कारण पूर्वभवमें गुरु-देव-और साधर्मीकी निर्दा है ॥ ६७७ ॥

अर्थ—सज्जन और दुर्जन में मात्र यही एक भेद है कि सज्जन जन किसीकी निर्दा नही करते है । और दुर्जन करते है । जो सज्जन बनना हो तो निर्दा करना छोड देना चाहिए । ६७८ ॥

ये ये दुःखाश्च जायते प्राणिना दुःखदायका । ते ते ज्ञेया शरीरेषु परिनिदाया सो फलम् ॥ ६७६ ॥
दुर्जनाना स्मभावोय परिनिदन्तस्यरा । स्वात्मदोष न जानन्ति क्षानर्धारकाश्च ते ॥ ६८० ॥

प्रत्यक्ष येन मूढा वै निंदा कुर्वन्ति सर्वदा । ज्ञेया स्वभावसा तुल्या स्वमतस्य क्षयकरा ॥ ६८१ ॥
तेव सर्वे भविव्यन्ति कलौ मृप न संशय । स्वचित्ते मानयिष्यति वयं श्राद्धानिका खलु ॥ ६८२ ॥
अथलौक्य पापेन ते च श्राद्धानिका खलु । नकावनी च यास्यति सर्वेहि मगवेश्वर ॥ ६८३ ॥

अर्थ—जो जो दुःख शरीरमें प्राप्त होते हैं वे प्रायः परिनिदाके फलसे उत्पन्न होते हैं ॥ ६७९ ॥
अर्थ—दुर्जनोका स्वभाव ही निंदा करनेका होता है । परंतु वे अपने दोषोक्तो नहीं जानते हैं । वे केवल
अनर्थ धारण करनेवाले होते हैं । ६८० ॥

अर्थ—जो मनुष्य सर्वदा साधर्म्य भाइयोंकी निंदा ही करते रहते हैं, एक प्रकारसे वे अत्यक्ष ही चांडालके
समान हैं और अपने धर्मका नाश करनेवाले हैं । ६८१ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक कलियुगमें ऐसे निंदक मनुष्य बहुत उत्पन्न होंगे । जो जैन धर्म के धारकोंकी व जैन
धर्मकी निंदा करेंगे । और अपनेको अपने आपही श्रापक मानेंगे ॥ ६८२ ॥

अर्थ—हे मगवेश्वर ! श्रथोका लोप करनेके पापसे श्रावकरण अवश्यही नरक वा निगोदमें जायेंगे ॥ ६८३ ॥

१ श्रथोको असत्य ठहराना मानो श्रथोका लोप करना है । इसके समान संसारमें अन्य पाप नहीं है । आगमकी सत्यता व प्रामाणिकता सर्वज्ञ प्रसुकी सत्यतापर निर्भर है । सर्वज्ञ प्रसु वीतराग, त्रिकालमें उनकी प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध है । जो मनुष्य सर्वज्ञके वचनोंमें अपनी दुष्ट बुद्धिकी कल्पनासे असत्यता प्रकट कर प्रामाणिकता नष्ट करे तो वह आगमका या श्रथका लोपी

यद्धत् वै ब्रह्मदत्ताख्य चक्री धर्मस्य लोपनात् । गतो हि सप्तमे श्वेत्रे नानादुःखभयाकिते ॥ ६८४ ॥

न्याययोग्यं लोकमान्यं स्यात् यदुक्तं वचनं वारम् । सर्वज्ञज्ञानविहृद्धं यन्महता पुरुषेण वै ॥ ६८५ ॥

अर्थ—जैसे ब्रह्मदत्त नामके चकर्तरी ने जिनागम को असत्य ठहराकर जिनागमका लोप किया था तो वह पापके फलसे मरकर अनेक दुखोंसे परिपूर्ण ऐसे सातवें नरकमें प्राप्त हुआ ॥ ६८४ ॥

अर्थ—यह एक साधारण न्याय है कि संसारमें लोगोंको वेही वचन माननीय होते हैं जो किसी महापुरुषके द्वारा सर्वज्ञदेवकी आज्ञाके अतिरुद्ध कहे जाते । सर्वज्ञदेवकी आज्ञाके विरुद्ध वचन कभी मान्य नहीं होते ॥ ६८५ ॥

हे । उसके न तो आगमकी श्रद्धा है और न सर्वज्ञप्रभुकी । ऐसी अवस्थामें वह अपनी इन्द्रियजनित बुद्धिको ही कुरिखत तर्क और अनुमान जनित विचारसे स्थिर रखकर शब्दोंकी मिथ्या समालोचना कर पापका भागी बनता है । कितनेही दोंगी-जिनधर्मकी श्रद्धासे रहित जैनसुधारक मिथ्यात्वके उद्गमसे शान्त और गुरुओंकी मिथ्या समालोचना करते हैं, सत्य शास्त्रोंमें अर्पणवाद लगाकर सर्वज्ञ प्रभुके आगमको असत्य ठहराना चाहते हैं । उनको संस्कृत प्राकृतता ज्ञान नहीं है, आगमका श्रद्धान नहीं है । अपने आप श्रावक बनकर ब्रह्मदत्तके समान प्रत्यक्षमें पतित हो रहे हैं ।

१ धर्महस्य सुलोचना आदि ग्रंथ, आगम ग्रंथोंका लोप करनेके अभिप्रायसे बनाये जा रहे हैं । धर्महस्यके कर्ता तो मिथ्यादर्शनके प्रभावसे जैनधर्मसे बहिर्भूत हैं । उनके ज्ञानमें रजस्वला स्त्री जिनमंदिर जासक्ती है । डेड और भंगीके साथ खाना पीना आदि तथा विप्रवाविवाह (व्यभिचार) आदि धर्मविरुद्ध आचरणोंको धर्मरूप कहलवानेके लिये महावीर स्वामी तथा गौतम गणधरका समर्थ जोड़ा गया है । यह भी आगममें अर्पणवाद लगाकर आगमका लोप करना है ।

यदुक्त-तीतरागेण प्रोक्तं गणधरादिभिः । मर्यादायाश्च ग्रथेषु तदेव सधृताः खलु ॥ ६८६ ॥
 यत्याचारक्रिया सर्वाः श्रावकाणा क्रियास्तथा । पूजास्नानक्रियाश्चैव नानाशर्मप्रदायकाः । ६८७ ॥
 भद्रशङ्खमधनदी पूर्वशिघारको यमी । महापुराणकर्ता च जिनसेन ऋषीश्वरः ॥ ६८८ ॥
 सुराचार्यो गुणभद्रो वै तत्पट्टाब्जदिवाकर । सकलागपेत्ता च मावधारणकेसरी ॥ ६८९ ॥
 सीमंधरजिनन्द्रस्य दर्शकः सयताग्रणी । नाम्ना श्रीकुदकुंदो वै जिनधर्मप्रकाशक ॥ ६९० ॥
 वसुनदी तथा धीरः सकरुकीर्तिर्मभाक् । शुभचद्रो गुणैः पूर्णो मिथ्यामार्गविघातक ॥ ६९१ ॥
 इत्याद्यैर्वरयोगीन्द्रैः दिशावासोद्यैर्वरैः । पूज्यैश्च लेखसदोहैः फलादिगुणधारकैः ॥ ६९२ ॥
 जिनधर्मप्रकाशार्थं मानमाथाविवर्जितं । भो बुधाः जिनधर्मस्य वद्धनैककृतोद्यमैः ॥ ६९३ ॥
 तत्क्रियोत्थापका किन्न यास्यति ये च सप्तसु । श्रेष्ठेषु तु स्वर्गेषु नरा काण्डव्यपूरिता ॥ ६९४ ॥

अर्थः— जो सर्वज्ञ वीतराग अरहत भगवान्ते कहा हो और गणधरादि देवोंने प्रतिपादित किया हो तदनुकूल ही आचार्य परप्रासे उन सर्वज्ञदेवकी मर्यादाको कायम रखनेवाले ही ग्रथ भव्य जीवोको मान्य करना चाहिये ॥ ऐसे आचार्य भद्रबाहु जिनसेन कुंदकुंद सकलकीर्ति आदि अनेको हुए है । ये सर्व धर्मके प्रकाश करनेमें अत्यंत उद्यमी थे, इन्होंने मुनियोके आचरण निरूपण करनेवाले अनेक ग्रंथ बनाये हैं । तथा श्रावकों के आचरणोका निरूपण करनेवाले तथा कल्याण करनेवाले पूजा अभिषेक आदि की क्रियाएं बतलाई हैं । क्रियाओको जो कपटी मनुष्य उठा देना चाहते हैं उन क्रियाओंका लोप करना चाहते हैं वे अवश्य ही दुःखोंसे भरे हुए नरकोमें प्राप्त होंगे ॥ ६८७।६८८।६९०।६९१।६९२।६९३।६९४ ॥

- अथापरं शृणु भूय पठनीयं विभोः पुरः । स्तवन् तद्गुणप्राप्त्यै तद्गुणैर्मदितं वरम् ॥ ६९९ ॥
- प्रभोः स्तवनगठेन सर्वाङ्गा दुःखदायका । तच्छणात् प्रस्यं याति नागा खगेश्वरैक्षणान् ॥ ७०० ॥
- विभोः गुणानुवादाद्वा नानाशर्मप्रदायकम् । पठतु मर्षदा भव्या, स्तवन् त्वरोधकम् ॥ ७०१ ॥
- कर्तव्या गानविद्या च मनोमोदात्मये खलु । प्रभोः पुरो बुधैर्नित्य दुःखदायाधिवारिदा ॥ ७०२ ॥
- नृत्यं गान जिनस्यग्रे ये कुर्वन्ति नरोत्तमा । तेषां पुरो दिदिवि लेखा करिष्यति सदा मुदा ॥ ७०३ ॥
- गानविद्याप्रभावेण चित्तरोधश्च जायते । चित्तरोधात् शुभं ध्यानं ध्यानाद्धि रस पदम् ॥ ७०४ ॥
- अर्थ—हे राजन् अथ भगवानके समक्ष प्रशुके गुणानुवाद नामकी क्रियाको कहता हूँ । जो मनुष्य भगवानके समक्ष प्रशुके गुणोका स्तवनो द्वारा गुणगान करता है वह प्रशुके गुणोको प्राप्त होता है ।
- अर्थ—प्रशुके गुणोके स्तवन पठन पाठन आदि करनेसे समस्त पापोंका नाश होता है । तथा देव विद्याधर आदि सब दुष्ट क्षणभरमें नष्ट हो जाते हैं ।
- अर्थ—प्रशुके गुणानुवाद करनेसे अनेक सुख प्राप्त होते हैं इसलिये भव्य जीवोंको भगवानका स्तवन अवश्य ही करना चाहिये ।
- अर्थ—दुःखरूपी दावानल को बुझानेके लिये वादलोकके समान प्रशुके गुणोका गान संगीत और वाद्यघोष आदि सब नित्यही करना चाहिये जिससे मनको प्रसन्नता हो ।
- अर्थ—जो भव्य जीव भगवानके सामने नृत्य गान और संगीत आदि भाव भक्तिसे करते हैं उनका गान देवों से होता है ।
- अर्थ—गान विद्यासे भगवानके गुणोंमें चित्त सलग्न होता है । गुणों में चित्त सलग्न होनेसे शुभ ध्यान होता है और शुभ ध्यान से परम पद प्राप्त होता है ॥७०४॥

मस्वैव जिननाथाग्ने भो बुधा स्वात्मशुद्धये । स्तवन तद्गुणैर्युक्त प्रपठंतु त्रिशुद्धितः ॥ ७०५ ॥
गात्राह पाठकाना क्षयमपि स्तवनस्यैव तस्य सुभक्त्या । दु खाना दानदक्ष सकलसुखहरं श्रीजिनैशु प्रहेयम् ॥७०६॥
पापाना घातनार्थं नरखचरते श्रीजिनस्य प्रवीरा । याल्लेवत सदा वै शिवसुखसदनप्राप्तये तत् पठतु ॥ ७०७ ॥
जपाभिधा क्रिया वचिमा शिवशर्मकरा वराम् । अतस्थिताधवदानां नाशका त्वं शृणु मुदा ॥ ७०८ ॥

ॐ नमः अर्हद्भ्यो नमः ॐ सिद्धेभ्यो नमोस्तुवै । आचार्येभ्य पाठकेभ्यः साधुभ्य सर्वदा नमः ॥ ७०९ ॥

ओ ङ्गी श्रीं ह्रीं भावति सरस्वतिदेव्यै नमः । श्रीजैनधर्माय सदा नमोस्तु सः । सदा मे हृदि तिष्ठतु ।

इसलिये भव्य जीवोको अपनी स्वात्माकी विशुद्धि के लिये प्रभुके गुणोका गान अनेक प्रकार के स्तोत्रो द्वारा मन वचन कायकी शुद्धि पूर्वक करना चाहिये ।

अर्थ—जो पुरुष भक्तिपूर्वक श्री अरहत भगवान के स्तोत्रोका पाठ करते है उनके, दु ख देनेमें चतुर समस्त सुखोको नाश करनेवाले और श्रीजिनेन्द्र देव द्वारा सर्वथा त्याज्य ऐसे शरीरसंबंधी समस्त पाप, दूर हो जाते है । इस लिये भव्य जीवोको अपने समस्त पाप दूर करनेके लिये देव विद्याधरोके स्वामी भगवान जिनेन्द्र देवका मोक्ष सुख देनेवाला स्तोत्र सदा पढते रहना चाहिये ।

अर्थ—अब आगे जप क्रिया को कहता हू । जिससे भव्यजीवोको सुख प्राप्त होता है और समस्त पापोका नाश होता है । उसको हे राजन् ! श्रवण कर ।

अर्थ— ॐ नमः अर्हद्भ्यः । ॐ नमः सिद्धेभ्यः । ॐ नमः आचार्येभ्यः । ॐ नमः पाठकेभ्यः । ॐ नमः सर्वसाधुभ्यः । ये पंच परमेष्ठि के वाचक मंत्र है । ॐ ङ्गीं श्रीं ह्रीं भावति सरस्वति देव्यै नमः । श्रीजैनधर्माय सदा नमोस्तु सः । सदा मे हृदि तिष्ठतु । यह सरस्वती मंत्र है ।

ओ ङी श्रीशुभमादिबर्धमानातीर्थोभ्यो नमोऽस्तु निवृत्तस्वप्नप्रदानये ।
ॐ ङी श्री मसर्द्धिमडितगाना दुर्धनानालंकृता प्रभूणा मन्त्रिभौ यौराज्यपदस्थां प्रभुसेनाद्रिगौतानागणपरा मरुतं-

होनागता श्रीवीतरागप्रकाशका स्वात्मनेपमा चित्रदियास्य भद्रामारुक्ता मन्मानगण्डीरयमदृशा प्रबन्धोऽनपपयितुःश ' इत्यादि
अनेकगुणवारुभ्यो नमोऽस्तु नमोऽस्तु नमोऽस्तु ।

जितभर्माकेभ्यो हृत्सर्मरुंस्सजोऽथ मदा नमोऽस्तु ।
श्री जैनभर्मा जयतु । ॐ सत्यदर्शनाय नम । ॐ सम्यग्ज्ञानाय नम । ॐ सत्यहृत्कारिनाय नम । तय जने मे ङि तिस्रस्तु ।

ॐ ङी श्रीशुभमादिबर्धमानातीर्थोभ्यो नमोऽस्तु चित्रकल्पपद्मानये । श्रीशुभादि महातीर्थयंत चोमीन
तीर्थकरोको नमस्कार हा ।

अर्थ—जिनका शरीर मत्स्य ऋद्धियोंसे युगोभित है, जो चार जानके पारक है भगवान अग्रहृत देवके नसीप
जो यौराज्य अवस्थामें विराजमान है, जो समस्त पापोंको नाश करने पावे है, नीतराग भावस्थाको प्रकाशित करनेवाले
है, अपने आत्माके नेजमें सूर्यको भी जीतने वाले है, समारगमें मारभूत नीतरागता यदित है, कामदेवकी हाथीकलिये
जो केशरी सिंहके समान है, प्रचंड मोहनीय क्रमरूपी पर्यंतके लिये जो नरके समान है, इत्यादि और भी अनेक गुणों
से सुशोभित ऐसे शुभसेन में आदि लेकर गौतम पर्यंत गणधर देवोंके लिये मैं तीन चार नमस्कार करता हू ।

भगवान अरहत देवके कहे हुए धर्मके धारण करनेवाले और समरूपी कलंक को नाश करनेवाले श्री अग्रहृत
श्री जैन धर्मकी जय । ॐ सम्यग्दर्शनको नमस्कार हो, ओ सम्यग्ज्ञानको नमस्कार हो, ओ सम्यक् चारित्र को
नमस्कार हो । ये तीनों मेरे हृदयमें सदा विराजमान रहें ।

ओ न्ही आदिधर्मकाशकाय श्रीशुभनाथाय जिनेन्द्राय नमोस्तु । श्रीवीतरागाय नमः ।

समस्तकर्मरहिताय श्रीमते महावीरजिनेश्वराय सदा नम ।

ओ न्ही पंचपरमेष्ठिन्यो नम —

ओ न्ही सर्वसिद्धान्तेभ्यो नम —

ओ श्रीसीमन्मन्त्रसदृशनमासाय भव्याब्जगतसदृशाय मारवाणकेशरिख्याय नरामरपुण्यपादाब्जाय मिथ्यास्वतमोविध -
स्वप्नस्थाय श्रीकुदकुदयतीश्वराय दिगाम्बरधारकाय सदा नमोस्तु नमोस्तु ।

श्रीवीतरागाय नम — श्री वीतराग परम देवको नमस्कार हो ।

उस अयमर्षिणी कालके प्रारंभमें सभसे पहले धर्मका स्वरूप प्रकाशित करनेमाले श्रीशुभनाथ जिनेन्द्र देवको वाग नमस्कार हो ।

समस्त कर्मासे रहित अंतराग बहिराग लक्ष्मीसे मुशोभित ऐसे जिनेन्द्र श्री महावीर स्वामीको नमस्कार हो ।

ओ न्ही पंच परमर्षियोका नमस्कार हो ।

ओ न्ही सभसे सिद्धान्तोको भै नमस्कार करता हू ।

जन्हीन श्री सामरग रमाभीका पत्यक्ष दर्शन किया है, जो भव्यरूपी कमलोकें लिए सूर्यके समान है, कामदेवकी आश्रीतो वक्त करनेके लिए केशरी सिंहके समान हैं । देव विगाधर मनुष्य आदि सप्त जिनके चरणकमलोकी पूजा करता है, जो मिथ्यास्वामी अयकारको नाश करनेके लिए सूर्यके समान है और जो केवल दिशारूपी वस्त्रोको धारण करनेमाले अर्थात् दिगम्बर है ऐसे श्री मुनिराज कुदकुद स्वामीको भै वाग्धार नमस्कार करता हू ।

च्युच्छ्रासेन जपति ये मंत्रराज नरोत्तमाः । गजति ते चतुर्थेन षष्टोत्तराद्यनमनम् ॥ १ ॥
 अहो यथा मदाकाले दुःखेऽदुःखे इमे अरं । परमेष्ठिमराज जप्तु शुद्धभावंत ॥ २ ॥
 बहुना कथनेनालं सर्वोद्दीवाने क्षमम् । मंत्रराजममं मत्र न म्याद्रि मन्त्रायनौ ॥ ३ ॥
 एका व्यपि शिवायर्थे कालकला सुषोचमं । प्रभारे नैव नैकथा मंत्रराजादौ सत्तु ॥ ४ ॥
 अतो भव्या जपनं वै मन्त्रद्वं जिनोद्भव । मन्त्रमन्त्रयन्त्रयाना नानादु गतिनाशकरम् ॥ ५ ॥
 ये नग न जपत्येव मंत्रराज जगन्नुत्तम । पशुमपा मताभे हि विमुच्छ्रमतिवर्जिता ॥ ६ ॥
 कुलध्व मोक्षमाप्स्यर्थे जप मन्त्रस्य भो वृग । शक्यनुमास्त शुद्धया मन्तंति शिपरायक ॥ ७ ॥
 मत्र दुर्गतिनाशकं गगनरं जनेन्द्रवक्रोद्भयम् । दुःसातं कृतिनाशक मुनिवृत्त म्गणपवर्गपदम् ॥
 संसारातपघ्नाने पथम नानद्विमारादकम् । त्यस्तान्य रुपमत्तपा गनुदिन चम तप्य गत्तु ॥ ८ ॥

अर्थ—जो भव्यजीव गमोष्ठाग मंत्रको ३ श्वासमें जपता है तथा इमी प्रकार एकूमी आठ बार जपता है वह सर्वोच्छ्रित मोक्ष फलको प्राप्त होता है । गमो अर्द्धताणं गमो सिद्धाण—यह प्रथम श्वासोच्छ्वासमें, गमो आयरीयाणं गमो उज्ज्वयाण—यह द्वितीय श्वासोच्छ्वासमें, गमो लोए मन्त्रमाहुणं—यह तृतीय श्वासोच्छ्वासमें जपना चाहिए । हे भव्यजीवो इस पंचपरमैषो वाचक मंत्रराजका जप दुःख मुल सत्र समयमें एकाग्र मनमें शुद्ध भावमें करो । उससे समस्त प्रकारके पाप सहजमें विलीन होजाते हैं और सर्व प्रकारकी सिद्धि स्वयमेव प्राप्त होजाती है । इसके बिना अपने जीमनकी एक बडो भी व्यर्थ कभी मत सोओ । इस मन्त्रके समान सत्सारभरमें अन्य कोई मत्र नहीं है ।

अर्थ—जप क्रियाको बतलाकर अब ध्यान क्रियाका स्वरूप बतलाते हैं । ध्यानके समान गमस्त प्रकार सुखो को प्राप्त करनेवाला और दुःखोका नाश करनेवाला अन्य कोई धर्म नहीं है ॥ ८ ॥

ध्यानकी विधी—

ध्यानाख्या वचिभ हे भव्य क्रिशा सकलदु खहाम् । यत्सम नापरं धर्म गृहस्थाना जिनागमे ॥ ९ ॥
 पद्मासनेन सस्थित्वा त्यक्त्वा सर्वविकल्पकम् । एकांते शुद्धसमौच सन्निधौ वा प्रभो मुदा ॥ १० ॥

मानस्तमादिस्तृपाता समाह्वदशमडिताम् । सर्वा समवसारस्य रचना देवजा खलु ॥ ११ ॥

अर्थ—इसलिये हे भव्य जीवो भगवान् जिनेंद्र देवके कहे हुए तथा समस्त दुःखोको दूर करनेवाले ऐसे मन्त्रोको हजारो लाखोकी सख्यामें जप करो । जो मनुष्य समस्त संसारद्वारा पूज्य ऐसे मन्त्रराजका-नमस्कार मन्त्रका जप नहीं करते है वे बुद्धिहीन तथा पृष्ठ रहित पशुओके समान है । हे विद्वानो यह नमस्कार मन्त्र का जप मोक्ष देने वाला है इसलिये मोक्षकी प्राप्तिके लिये अपनी शक्तिके अनुसार शुद्ध भावसे इसका जप अवश्य करो । यह भगवान् जिनेंद्र देवका कहा हुआ नमस्कार मन्त्र समस्त दुर्गतियोको दूर करने वाला है, पापोका नाश करनेवाला है, रोग और दुःखोको दूर करने वाला है, मुनिराज मी इसको नमस्कार करते है, यह स्वर्गमोक्षके सुख देनेवाला है, ससाररूपी अवि को शांत करनेके लिये मेघके समान है, और अनेक ऋद्धियोको देनेवाला है । इसलिये हे विद्वानो अन्य सब मन्त्रोको छोडकर प्रतिदिन इस मन्त्रका जप करो ॥ ९ ॥

अर्थ—सर्वांग शुद्ध होकर-मन वचन कायकी सर्व प्रकारकी शल्य मिटाकर-स्वस्थ चित्त होकर-समस्त प्रकार की चिंताओको छोडकर-और सकल्प विकल्पोका सर्वथा त्यागकर निराकुल होकर निराबाध स्थानमें पवित्रताके साथ पवित्र भावसे पत्रासनपूर्वक ध्यान करनेके लिये स्थिर चित्तसे बैठना चाहिये । अथवा अरहंत प्रभुके समक्ष ध्यान करना चाहिये ॥ १० ॥

चित्तनीय त्रिधा शुद्धया चित्तकृत्प्रगदानये । तत्र शान्तानुसारेण पश्चर सिद्धयदास्ये ॥ १२ ॥

गोपकुटुम्बुगरिमस्ये तसहाइकनिर्मिते । सिद्धामने निर्गोस्ये सुगन्धममुत्तमे ॥ १३ ॥

तस्योपरि निरौपथ्यं सर्वथाश्रयित्वजिते । सर्वथाश्रिते च उपपादित्तिश्रान् ॥ १४ ॥

तुशंगुलम्-वस्थत्र तस्मादपि प्रभात । निर्बोन्दोगेन्द्राच्ये वैर्दुर्बुत्तमार्थुतम् ॥ १५ ॥

अनन्तमहिमोपेत यनीश्वरानमस्कृतम् । मेवद् गजैवायुक्त मत्तन्त्रप्रकाशस्वम् ॥ १६ ॥

सौम्यरूप दयास्वप नामाभगणवर्जितम् । विभय निर्णिकर च मानवायाविवर्चितम् ॥ १७ ॥

अर्थः— मयमें पहले मानस्तथये लेकर स्तूपपर्यन्त ममामरणकी देन रचित मय गोभाका चित्तन करे फिर

मिद्धपठ प्राप्त करने और मन पापोंको दूर करनेके लिये शान्तानुसार श्रीमण्डपका चित्तन करे । मध्यमें एक गंधकूटी
उपर मेरु पर्यन्तके समान उपमागदित सुवर्णमय मिहामन है । उपर चार अंगुल ऊपर अधर मन उपमाजामे रहित
तथा नाथाओसे रहित भगवान् गुणमदेन विराजमान है । देन विप्राधर इन्द्र नागेंद्र सब उनकी पूजा कर रहे हैं । चौसठ
चर उनपर टुल रहे हैं । आठ प्रातिहार्य गोभागमान हैं । चारों ओर चार मुस गोभागमान हैं । मंचकी गर्जनाके
समान जिनकी दिव्य ध्वनि फिर रही है । जो मातो तत्वोंको प्रकाशित कर रहे हैं । अन्त महिमा संयुक्त विराजमान है,
सम धुनिराज जिनको नमस्कार करते हैं, जो अठारह दोषोंसे रहित हैं, पूर्ण ज्ञानरूप हैं, सौम्य हैं, दयालय हैं, स्वभा-
भरण रहित हैं, निर्भय हैं, निर्मिाकार हैं, मानवायासे रहित है, मोह रहित हैं, तीनों लोकोंके स्वामी हैं, पूज्यपाद हैं
यातिया कर्मासे रहित हैं, सब जीवोंको पार कर देनेवाले, सब जीवोंको निर्भय करनेवाले, समस्त कर्मरूपी अणिको शांत
करनेके लिये मेवके समान, शुद्ध और मोक्षमार्गको प्राट करनेवाले भगवान् विराजमान हैं—ऐसा ध्यान प्रतिदिन

विमोहं सर्वलोकेशं पुञ्जपाद निरञ्जनं । तारकं सर्वजीवानां सर्वजीवाभयकरम् ॥ १९ ॥

ईदृशं ह्यारामनि भव्याः सर्वकर्माग्निमेघदम् । शिवमार्गंकरं शुद्धं चित्तंयत्तु दिनं प्रति ॥ २० ॥

अनेन ध्यानयोगेन सर्वाहो दुःखदायकम् । तत्क्षणात् प्रलयं याति ध्यायतिना वज्रतो नगाः ॥ २१ ॥

कुरुष्व सकलभव्या भावतश्चात्मशुद्धयै । परमसयुतानां ध्यानमानंदरूपम् ॥

शिवयुवतिविलासादायकं धीरध्वेयं । सकलकलुषवग्ढे मेघपुष्पोपमं वै ॥ २२ ॥

पृष्ठीं च क्रिया वक्ष्येह महदानंदायकाम् । यत्प्रसादात्तरंथेव सर्वे जीवा भवात् खलु ॥ २३ ॥

वीतरागमुल्लोकीतान् ग्रथितान् मुनिनायकैः । रुथातपृञ्जाव्यतिक्रातचित्तेर्मायाविवर्जितैः ॥ २४ ॥

करना चाहिये । इस प्रकार ध्यान करनेसे जिसप्रकार वज्रसे पर्वत चूर चूर हो जाते हैं उसी प्रकार दुःख देनेवाले सब पाप क्षणभरमें नष्ट हो जाते हैं । यह ध्यान मोक्ष देनेमाला है । समस्त पापरूपी त्रन्धिके लिये मेवके समान है, धीर वीर पुरुष ही इसका चित्तवन कर सकते हैं और आत्मरसास्वादियोंके लिये यह आनंद देनेवाला है । ऐसे ध्यानको भी भव्य हो शुद्ध भावसे प्रतिदिन करो ।

अर्थ—गृहस्थोंकी पछी क्रिया स्वाध्याय है । भ्वाध्याय सब क्रियाओं से अधिक आनंद प्रदाता है । जिस स्वाध्यायके प्रसादसे भव्य जीव संसार समुद्रसे पार होते हैं ।

स्वाध्यायके ग्रंथ कैसे होने चाहिये ?

जो ग्रंथ—श्रीवीतराग सर्वज्ञ अरहंत भगवानकी दिव्य धनि के ही प्रतिरूप हो और जिनकी ग्वना मुनी-धरोने की हो और वह राग द्वेषके वश या अपनी पूजा प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिये नहीं की हो अथवा जो ग्रंथ स्वार्थ या किसी मतलबके कारण स्वकल्पित बातोंसे न बनाये गये हों जिनमें मात्र एक श्री जिनेन्द्र भगवानकी वाणी की ही

लत्कलोभैर्दिशावासोर्ध्वमार्गप्रभावकै । ग्रंथान् भव्या. गुरोरास्यात् शृणुध्वमीदृशान् वरान् ॥ २५ ॥

त्रिषष्टिपुरुषाणां च पुराणं वा चरित्रकम् । चान्येषां मनुजानां वै श्रोतव्यं वासरं प्रति ॥ २६ ॥

श्रावकाचारग्रन्थं वै सर्वाचारप्ररूपकम् । गृहस्थैः कर्मनागार्थं नित्यं पापविनाशकं ॥ २७ ॥

शास्त्राणां श्रवणासर्वाः क्रिया स्वर्माक्षमाधिका । जानात्येव ह्यथ प्राण्यभिप्रेकाद्यास्तथा बुधा ॥ २८ ॥

पात्रापात्रस्य भेदं च हेयोपादेयकं तथा । सुखासुखस्य भेदं वै मार्गामार्गस्य लक्षणम् ॥ २९. ॥

चतुर्धादानभेदं च मुनिमार्गं च तत्क्रियाम् । सहेलनाविधिं सर्वं नाकमोक्षस्य लक्षणम् ॥ ३० ॥

रचना हो, मायाचार या लोभ से जिन ग्रंथों में दिव्यध्वनी से विपरीतता न हो, जो जैन धर्मके सत्य स्वरूपको प्रतिपादन करने वाले हो ऐसे ग्रंथोंका स्वाध्याय गुरुसुख से ही श्रवण करना चाहिये ।

जिन ग्रंथोंमें त्रिपटि शलाका पुरुषोंका पवित्र जीवन चरित्र हो । अथवा पुण्यपुरुषोंका आदर्श चरित्र हो । श्रावकाचार और यत्याचार के द्वारा जिनमें गृहस्थोंके समस्त आचरणोंकी आज्ञा प्रतिपादित की हो ।

शास्त्रों का स्वाध्याय करनेसे गृहस्थों की पवित्र क्रियाओं का ज्ञान होता है, जिससे विवाह विधि स्नानपान का आचरण और अपने समस्त कर्तव्यों को धार्मिक समझ कर भव्यजीन उनको आगमके अनुकूल ही रखने में अपनी पवित्रता मानते है पट् आवश्यक कर्मोंका परिज्ञान शास्त्र श्रवणसे ही होता है जिससे जिनेंद्र भगवानके पवित्र अभिप्रेक विधि पूजनविधि—जिनयज्ञ विधियोंका स्वरूप सत्य सत्य जाना जाता है । पात्र अपात्र—दान कुदान—पुण्य पाप—हित अहित—कर्तव्य अकर्तव्य सदाचार दुराचार—मार्ग कुमार्ग—नीति अनीति—सत्य असत्य आदि बातों का सम्यक् परिज्ञान शास्त्र स्वाध्याय से ही होता है । मुनियों का मार्ग सहेलना विधि क्रियाका ज्ञान भी स्वाध्याय से ही होता है । सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्र का स्वरूप स्वाध्यायसे जाना जाता है ।

सम्यद्गुणज्ञानत्रयस्वरूप शिवदायकम् । पुण्यापुण्यस्य भेदं हि देवादेवस्य लक्षणम् ॥ ३१ ॥

अथाग्रंथ तथा शीलस्वरूपं गात्रमंडनम् । परलोकस्वरूपच गुणस्थानादिवर्णनम् ॥ ३२ ॥

पट्टाजीवनिकायाना लक्षणं जीवरक्षणं । भक्ष्याभक्ष्यभेदं च ह्यात्मरूपं सदास्थिरम् ॥ ३३ ॥

विवेकमविवेकत्व ज्ञानज्ञानप्रलक्षणं । सततत्वस्य भेदं च कर्मप्रकृतिलक्षणम् ॥ ३४ ॥

बधाबंधस्वरूपं च चर्चाचर्चादि लक्षणम् । इत्याद्यन्यस्वरूपं च भव्याभव्यस्य लक्षणम् ॥ ३५ ॥

ब्रह्मचर्यका स्वरूप भी स्वाध्यायसे मालूम होता है और उसके विरुद्ध विधवा विवाह जैसा व्यभिचार तथा और भी प्रकारकी मलिनता स्वाध्यायसे जानी जाती है ।

गुणस्थान जीवस्वरूप जीवो की दया भक्षाभक्षविचार आदि समस्त बातें स्वाध्याय से जानी जाती है । विवेक और अविवेकका स्वरूप ज्ञान अज्ञानका स्वरूप बंध अवधका स्वरूप भी स्वाध्याय से जाना जाता है स्वाध्यायसे ही कुशिक्षा और आत्मज्ञान रहित शिक्षाको ज्ञान स्वरूप नहीं जानता और न उसको हितरूप समझता है । ये सब बातें शास्त्रोंके स्वाध्याय से सत्य २ जानी जाती हैं ।

इसलिये श्रीजिनेन्द्र देवके परम पवित्र आगमका ही स्वाध्याय पठन करना चाहिये जिससे पुण्यकी प्राप्ति हो और पाप क्रियाओं का परित्याग हो ।

ग्रंथों के स्वाध्याय करनेका एक गृही अभिप्राय है कि स्वाध्यायके पवित्र ज्ञान से पापक्रिया और आगम-विरुद्ध विचारों का परित्याग कर आत्माकी वास्तविक उन्नतिका मार्ग शोधन कर आत्मकल्याण करें । न कि ससारको बढाने वाली क्रियाओं का विचार कर अपनेको मोक्षमार्ग से गिरावें । वही ज्ञानी है उसीने शास्त्र स्वाध्यायका लाभ लिया है कि जिसने शास्त्रके स्वाध्याय से अपने मलिन विचारों को छोड दिया है ।

पश्यत भो बुधा छेतत् प्रभावमागमस्य वै । कामधरेगामत्सर्वं ग्रंथानां श्रवणात् भवेत् ॥ ३६ ॥

शृणुष्व प्रतपन्नं वै भो भव्या कल्मषाणम् । श्रीनिन्दन्मुखोदरानं ग्रथ वेगाम्बुद्रायाम् ॥ ३७ ॥

ग्रंथान् श्रीजिनवक्त्रजानवहृगान् संगारवि वमजान् । धर्मानारम्भरूपकान् मुनिनुतान वयाग मुग्ध्यादिभिः ।

मिथ्यामार्गविघातकान् नरवैरैः सेव्यान् शुभान् भो बुधाः । ममागतपगनये एतुदिन ग्रंथं शृणु म म्बु ३८ ॥

जिनमें केवल तमाशो भरे हैं, जो ब्रह्मचर्य का नाश करने वाले हैं, नीरमसे भरे हैं अशुद्ध ह. (३८) जिनमें जो बुद्धिको नाश करने वाले हैं, जो राग मोहज्ञो बढानेवाले हैं. जिनमें दयारहित जीवोंकी कथाएं सरी हो जिनमें उन्मत्तपुरुषके बचनोंके समानं संबन्धरहित कथन हो, जो समारका नढाने वाले हैं, क्रिया कर्मके उपदेशसे रहित हैं, क्रीध मानादिके बढाने वाले हैं, धर्मके स्वरूपसं रहित हैं, अर्थम की पुष्टि करने वाले हैं, दुर्गति के देनेवाले हैं, तत्त्वज्ञानी विद्वानोंके द्वारा त्याज्य हैं, जो सांक्षमार्गको रोकनेवाले हैं, लोभी पुरुषोंने अपनी कल्पनासे बनाये हो और कुमार्गको बढानेवाले हैं ऐसे ग्रंथ विद्वानोंको कभी नहीं सुनने चाहिये । जो ग्रंथ धर्मका नाश करनेवाले हैं, पापके कारण हैं, समस्त विद्वानोंके द्वारा निन्द्य हैं, सत्य रहित हैं, पापमय करनेवाले हैं, सब सुखोंको नाश करनेवाले हैं, सब दोषोंसे भरपूर है, जो निन्द्य है और आत्मज्ञानसे रहित, इन्द्रिय सुखोंमें लीन रहनेवाले धूर्त लोगोंके बनाये हुए है ऐसे ग्रंथ विद्वानोंको कभी नहीं पढना चाहिये ।

अर्थः—अरहंत भगवान् के मुख कमल से प्रतिपादित ग्रंथ ससारका नाश करनेवाले हैं, मिथ्यामार्गका नाश करनेवाले हैं, सुनियोंके द्वारा बंध हैं, इन्द्रादिकोंके द्वारा पूज्य हैं, समका कल्याण करनेवाले हैं और सर्वके द्वारा पूज्य है इसलिए मन्व्य जीवोंको संसारके समस्त दुःख दूर करनेके लिए ऐसे ग्रंथोंका स्वाध्याय प्रतिदिन करना चाहिए ॥ ३८ ॥

कौतूहलमृतं ग्रथ ब्रह्मचर्यविनाशकम् । वीररामभृताशुद्ध कुक्यावातमहितम् ॥ ३९ ॥
 आद्योगानविहीन वै रागमोहविवर्धनम् । निर्दयादिकथावृद्धकथकं बुद्धिनाशदम् ॥ ४० ॥
 कुदानकथक हेयोगाद्यमनुवर्जितम् । मत्सरकथक चैव ससारश्रमकारणम् ॥ ४१ ॥
 क्रियाकर्मविज्ञानं च मानतोयादिकारणम् । मद्धर्ममहोन च कुवर्मपथपोषकम् ॥ ४२ ॥
 दुर्गनदीक हय बुभ्रेत वदिवाम्बरं । स्वमनलपोक्तितमैश्च प्रणीत लोभधारकै ॥ ४३ ॥
 भो बुग चेटरा निच्य जिममार्गकपाटद । कुमार्गवद्वैक त्याज्य मा शृणुथ कद्राप्यहो ॥ ४४ ॥
 धर्मज्ञं पापबीज सकलबुभजेने मषहीन विनिघ । पापाना वधहेतु मकलसुखरं मर्वदोषै मयुक्तम् ॥ ४५ ॥
 ब्रूतैँ यच्च प्रोक्त नरणसुखतेश्चात्मविद्याविहीनै । निघ वा मा पठन्व तुधजननिकाराश्चेदंशं वै कद्रापि ॥ ४६ ॥
 प्रतिघथ गृहस्थाना पुकृतेश्च पट्मा क्रिया । जिनागमेहि कगिता शुद्धा पापप्रणाशिका ॥ ४७ ॥
 पट्मा दुःखनशाशार्थं पट्क्रिया भो बुभोचना । कुर्वन् पूर्वकालेहि शिवगर्मकरा वराम् ॥ ४८ ॥
 पापकार्यं पकुरां ते ये ता तेऽभा मना । सर्वदुःखप्रद हेय धर्मस्य सलु न क्रिया ॥ ४९ ॥

अर्थ—मलेक दिमस गृहस्थोंको ज्ञाने योग्य ने पट्क्रियायें जिनागममें कही है, ये पापको नाश करनेवाली और परमपवित्र है ॥ ४६ ॥

अर्थ—गृहस्थोंका आरंभ और पचखाना पापसे छह प्रकार के पाप निच्य प्रति लगते हैं । उनकी निचृत्तिके लिये समस्त प्रकारके धुरांको प्राप्त करनेवाली आनश्यक पट्क्रियाएँ अनश्य ही करनी चाहिये ॥ ४७ ॥

अर्थ—जो मनुष्य पाप कार्गके धर्मेमें रत है वे अपम है । यह पापकर्म सब तरहके दुःख देनेवाला है इसलिये त्याज्य है । परतु धर्मको क्रिया कोई भी त्याज्य नहीं है । ४९ ॥

पट्कार्थेण भवेत् पापं तथा धर्मोपि भो बुधा । समत्वता गृहस्थाना भवेता द्वौ यदा खलु ॥ ५० ॥

यदहो धर्मकार्योहि वर्द्धयेत् तदा भवेत् । नाकलोक्तस्य संप्रसि पार्ष्ण्यति शिवस्य वै ॥ ५१ ॥

यदहो वर्द्धता याति तदा प्राप्ति भवेत् खलु । अवोगतेरहो भव्या निकोतस्य खनुकमात् ॥ ५२ ॥

अतो द्वयो फल जात्या प्रातःकाले बुभोतमाः । प्रतिग्रहाहोनाशाय कुरु-वं पट्क्रिया वराम् ॥ ५३ ॥

पट्क्रिया ये प्रकुर्वन्ति मतास्ते गृहनायका । आगमे जिननायेन ते च धर्मप्रभावका ॥ ५४ ॥

अहो श्राद्धानिका यूय कुरुथ पट्क्रिया वरा । भवता यदि श्रद्धां स्यात् त्रयाना वै दृगास्ये ॥ ५५ ॥

अर्थ—कृत्यादिकार्यमें पाप ही होता है । धर्म कार्य में धर्म होता है । तथा गृहस्थोंमें दोनों ही सकते हैं इसलिये गृहस्थोंको पापोंको दूर करनेके लिये धर्मकार्य अवश्य ही करना चाहिये ॥ ५० ॥

अर्थ—जन्म धर्मक्रियाएँ चढती हैं तन् ही स्वर्ग सुख प्राप्त होते हैं और परपरासे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ५१ ॥

अर्थ—जन्म पापकर्म चढ जाते हैं तन् यह जीव अधोगतिको प्राप्त होता है । और अनुक्रमसे निगोद पर्यायको प्राप्त होता है ॥ ५२ ॥

अर्थ— पाप कर्मोंका फल दुःखकी प्राप्ति और धर्मक्रियाका फल सुखोंकी प्राप्ति है । इम लिये पाप क्रिया-ओका परित्याग कर नित्य हो पट् आवश्यक क्रियाओंको भावपूर्वक करना चाहिये ॥ ५३ ॥

अर्थ— जो भव्य जीव पट् आवश्यक क्रियाओंका पालन भावभक्तिसे नित्य प्रति करते हैं वे सद्गृहस्थ माने गये हैं । जिनेन्द्र भगवानने उनको भव्य माना है । और उनसे ही धमकी प्रभावना होगी ॥ ५४ ॥

अर्थ— है भव्य श्रावक हो ! इसलिये आप पट् आवश्यक क्रियाओका पालन नित्य ही अपनी शक्तिको न छुगाकर भावभक्तिसे करो जिससे जिनागममें श्रद्धा हो । तथा सम्प्रदर्शनकी प्राप्ति हो ॥ ५५ ॥

प्रत्यक्ष पश्यथ यूयं सर्वग्रथेषु निश्चयात् । महापुराणचरितश्रावकाचारमुख्येषु ॥ ५६ ॥

सर्वत्र वर्णिताः श्रीमज्जिनसेनादियोगिभि । दिशामार्गविधातकैः ॥ ५७ ॥

सर्वत्र वर्णिता शुद्धा गृहस्थाना क्रिया वरा । पालनार्थं प्रतिदिनं व्यागमे शिवदायका ॥ ५८ ॥

स्नानाद्या कथिता शुद्धा गृहस्थाना क्रिया वरा । पालनार्थं प्रतिदिनं व्यागमे शिवदायका ॥ ५९ ॥

भवद्भि केन ग्रथेन वक्तव्य खलु लोपिता । पट्क्रिया जिननाथेन इमा प्रोक्ताश्च नेहिना ॥ ६० ॥

अर्थः— हे भव्य जीवो ! यह बात समझो प्रत्यक्ष है और ग्रंथोंसे भी सबको निश्चय है । महापुराण और श्रामनाचार आदि मुख्य ग्रंथों में ये क्रियाएँ स्पष्ट बतलाई हैं ॥ ५६ ॥

अर्थ—ये क्रियाएँ आगममें सर्वत्र कही हैं । और मिथ्यामार्ग को नाश करनेवाले श्रीमज्जिनसेनाचार्य आदि दिगवराचार्यों ने कही हैं ॥ ५७ ॥

अर्थ—गृहस्थों केलिये आगममें प्रति दिवस करने केलिये आगम्यक पट क्रियाएं प्रतिपादन की हैं । उनसे इस लोकमें सुख और परलोकमें सद्गति प्राप्त होती है और क्रमसे मोक्ष भी होती है ॥ ५८ ॥

श्रीमज्जिनेन्द्र भगवानको पचामृत रसोंसे अभिषेक पूर्वक पूजा आदि उत्तम क्रियाएं गृहस्थों को नित्यही करनी चाहिये जिससे मोक्षके सुखकी प्राप्ति हो ॥ ५९ ॥

अर्थ—जो लोग खानादि क्रियाओंका निषेध करते हैं उनसे पूछना है कि आपने किन ग्रंथोंमें खानादि क्रियाओं का निषेध देखा है ? आगममें तो किसी भी ग्रंथमें निषेध नहीं है । बल्कि समस्त ग्रंथोंमें इसका विधान ही मिलता है । जब समस्त ग्रंथोंमें विधान है तो फिर लोप क्यों करते हो । भगवान जिनदेवने बतलाई हुई क्रियाओंका लोप करना ठीक नहीं है ॥ ६० ॥

स्यात् यदि दृढश्रद्धा वै भवतानागमस्य च । कुरुष्वं जिननाथस्य पट्क्रिया वासर प्रति ॥ ६१ ॥
 त्यजध्व हृदयोक्तिं च वसुसूयलवत् खलु । ग्रथाना लोपन मुढा भा कुरुध्व मतापहम् ॥ ६२ ॥
 मतिश्रुतावधिनेत्र गारकाणाच योगिनाम् । गृहस्थधर्मव्याख्यान कुर्वता च विभानिनाम् ॥ ६३ ॥
 तेषा नैव ह्यहो मुर्खा दोषो दृष्ट किमप्यहो । अभिषेकादिसर्वासु क्रियासु विदितेषु वै ॥ ६४ ॥
 भवता नैव भो मुढा मतिज्ञानादिसदुणा । चाल्पभात्रापि हृश्यते सर्वद्वेषरनाशकाः ॥ ६५ ॥
 वक्तव्य केन ज्ञानेन भवद्भि मतिवजितै । किं दृष्टश्च प्रदोषो वै अभिषेकादिषु खलु ॥ ६६ ॥

अर्थ—यदि आपके जैन आगममें दृढ श्रद्धान है तो जिनवर देव प्रतिपादित पट्क्रियाओंको नित्य प्रति मात्र भक्ति से करना चाहिये ॥ ६१ ॥

अर्थ—अपने कल्पित विधिको ही सत्य मानकर जिनागम का लोप करना वसु राजाके समान दुःख करने वाला है । इस लिये भव्य जीवो को ग्रथका लोप नहीं करना चाहिये ॥ ६२ ॥

अर्थ—मति श्रुत और अग्रधिज्ञानके धारक सुनीश्वरोने गृहस्थधर्मका व्याख्यान करते समय पट्क्रियाओं का वर्णन किया है । इन पट्क्रियाओंमें उन्हे कोई दोष दिखाई नहीं दिया । इसलिये जो भव्यजीव इन क्रियाओंको नहीं करते है—श्रीजिनद्र भगवान का अभिषेक नहीं करते वे मूर्ख है ।

अर्थ—हे भोले जीवो आप लोगोमें समस्त संदेहोंको दूर करनेवाले मतिज्ञान आदि सदुण शोडी मात्राओं भो नहीं है फिर आप किस आधार पर अभिषेक आदि क्रियाओंका निषेध करते है ।

अर्थ—आप लोग शास्त्रके ज्ञानसे रहित है फिर आप किस ज्ञानसे अभिषेकादि क्रियाओंका निषेध करते है । क्या किसी शास्त्रमें इन क्रिया सवंधी दूषण आपने देखा है ? जो निषेध करते है ।

दोषः किं स्यात् प्रभोः पादलेपने चदनादिभिः । दीपस्योद्योतने किंच जिनाकयक्षपूजने ॥ ६७ ॥

धूपोत्करस्य दहने निशायाः पूजने तथा । जिनात्तपुरुषाणा च वारसरुये मार्गवर्द्धकः ॥ ६८ ॥

पुष्पोत्करैः जिनेन्द्रस्य पादाब्जपूजने खलु । केलाभ्रगोस्तनी चान्यःफलोत्करैः प्रपूजने ॥ ६९ ॥

इत्याद्या या क्रिया सर्वा जिननाथेन वर्णिता । आगमे तत् भवद्भिश्च त्यक्ता भो मूढबुद्धितः ॥ ७० ॥

अतो यूय जिनेन्द्रस्य आज्ञाभ्राश्च कुमार्गाणा । न श्रद्धा नि फला जाता जिनाजालोपत खलु ॥ ७१ ॥

यत्राज्ञा न च तत्रापि धर्मलेशोपि नःस्ति वै । अतो यूय कुश्रद्धया पालकाश्च न सशय ॥ ७२ ॥

यदि स्यात् दृढश्रद्धा वै भवतां तत वचनस्य च । तदा खंगीकुरुष्व भो स्वप्नानादिकसस्त्रिकथा ॥ ७३ ॥

अर्थ—प्रभुके चरण कमलोपर चदन का लेप करना, दीपको चढाना, और जिनशासन देवोकी पूजा करना ये सब धार्मिक क्रियायें है जिनेन्द्र भगवानने कही है निर्दोष है ।

अर्थ—रात्रिमें धूपका चढाना, पूजन करना, और जिन मुद्राधारक पुरुषोक्ता मोक्षमार्ग बढानेवाला वात्सल्य करना यह सब क्रिया उत्तम है निर्दोष है और शास्त्रविहित है ।

अर्थ—इसी प्रकार पुष्पोसे भगवानके चरणकमलोकी पूजा करनी चाहिये । केला, आम द्राक्ष आदि उत्तम फलोसे पूजा करनी चाहिये । इत्यादि समस्त विधि जिनेन्दने बतलाई है उसका लोप करना भगवानकी आज्ञाका लोप करना है । जो मनुष्य भगवानकी आज्ञाका लोप करता है उसके सम्यग्दर्शन नहीं रहता है ॥ ६७, ६८, ६९ ॥

अर्थ—जहाँपर अज्ञान है वहाँ धर्मका लेश मात्र भी पालन नहीं है । इसलिये जो लोग इन क्रियाओको छोड देते है वे मिथ्या श्रद्धानके पालन करनेवाले समझे जाते है ॥ ७० ॥

अर्थ—जो आपको आगमकी श्रद्धा है तो अभिषेक आदि षट् क्रियाओको स्वीकार करो ॥ ७१ ॥

आम्नापयय मूढा कस्याज्ञाया स्मनादिका । यूय त्यक्ता क्रिया मुक्त्या ग्रयपक्षं प्रदश्यत ॥ ७४ ॥
 ग्रंथानुसारतः त्यक्ता वदध्वं च क्रिया लला । इमे यूय तथा किं च स्वप्नं सारत खलु ॥ ७५ ॥
 जिताननसमुत्पन्नग्रंथाज्ञा सुवने त्रये । देवेन्द्रा वा नरेन्द्राश्च नागेन्द्रा तत्ररथ्या ॥ ७॥६
 सर्वे ते मानयत्येव नि शका निरिन्त्यर्थिद्राम् । मतिश्रुतावधिल्लिष्टशुद्धद्वाराका खलु ॥ ७७ ॥
 कचिदपि जिनेन्द्रस्य चाज्ञा कर्तने सुरेश्वरा । न कुर्वन्पर कार्ये नानाभयप्रदायकम् ॥ ७८ ॥
 यूयं वदथ भो मर्त्या परंपर्यासमागता । यमद्विगभियंकाषा, स-भृत्यापिना खलु ॥ ७९ ॥
 सुरेन्द्राणामपि नैव मामर्थ्यं स्यात्कदाचन । जिताजालोपने मूढा यत्रिद्रि लोपिता कथं ॥ ८० ॥

अर्थः— यह तो बतलाइये कि स्वप्न, आदि क्रियायें किमकी आज्ञामें आपने छोड़ गयी हैं? ऐसा कोई ग्रंथ है कि जिसमें उनका निषेध हो, यदि है तो वह ग्रंथ दिखाइये ॥ ७४ ॥

अर्थः— जो आपने किसी ग्रंथके आधारमें मगस्त क्रियाओंका परित्याग किया है या अपने ही मनसे ? मनकी जात तो ठीक नहीं है । और आगम ग्रंथमें कहींपर निषेध नहीं है ॥ ७५ ॥

अर्थ—श्रीजिनेन्द्र भगवानके सुसकलमें प्रकाशित आगम ग्रंथोंकी आज्ञा सन तरहकी शकाओंसे रहित है और समस्त तत्त्वोंका बोध करनेवाली है इसलिए तीनों लोकों के देवेन्द्र नरेन्द्र प्रियाधर और विद्वान मभी इसे मानते हैं तथा मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधि ज्ञानको धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टी जीव भी इसे स्वीकार करते हैं न श्रद्धान करते हैं ।

अर्थ—श्रीजिनेन्द्रकी आज्ञाको सुरेश्वर भी उत्थापन नहीं करते हैं वे भी जिनेन्द्रकी आज्ञानुसार अपनी समस्त क्रिया करते हैं । परंतु आप लोग परंपरासे प्राप्त और जिनेन्द्र देव द्वारा प्रतियादित क्रियाओंका लोप क्यों करते हैं ? जो जिनेन्द्रकी आज्ञाको लोप करनेकी शक्ति देवोंमें नहीं है । मालूम पड़ता है कि आपका ज्ञान देवेन्द्रो से भी अधिक

यूयं तदधिकाः किं वै अत उत्यापित प्रभो । वाक्यं सर्वेन्द्रपूज्यं च सर्वत्रापि निरंकुशम् ॥ ८१ ॥
 वदध्वं पुनः भो मूर्खा ह्यसत्या स्युरिमा क्रिया । सर्वे त्रथा असत्या स्यु सर्वसिद्धेहनाशका ॥ ८२ ॥
 युष्माक यदि श्रद्धा स्यात् हृदा जिनागमस्य वै । तदा किं न कुरुध्व भो तत् वाक्यं शिवदायकम् ॥ ८३ ॥
 पक्षपातं त्यजन्व च ग्रथपक्षं जगन्नुत्तम । यूय श्रद्धानिका नित्य कुरुध्व धर्मसिद्धये ॥ ८४ ॥
 बहुना पचमे काले नो संति भो बुधोत्तमा । तीर्थकरा सुरै पूज्या केवलज्ञानमडिता ॥ ८५ ॥

है ! इसीलिये देवेंद्रोंसे पूज्य जिनागम के लोप करने में आपकी बुद्धि होरही है । इस प्रकार की निरंकुश बुद्धि विवेकको नष्ट कर मिथ्यात्वको प्रकाशित करेगी ।

अर्थ—क्या शास्त्रोंमें वतलई हुई क्रियाएँ असत्य है । जो असत्य है तो समस्त शास्त्र भी असत्य ठहरेंगे । जिन शास्त्रोंके पढ़नेसे सर्व सिद्धेह नाश होता है । और सर्वज्ञ प्रभुकी आज्ञा निराबाध प्राप्त होती है उनको असत्य किस प्रकार माना जाय ।

जो आपकी जिनागममें श्रद्धा है तो उन अभिषेकादि समस्त क्रियाओंको स्वीकार करना चाहिये जिससे शिवसुख हो ।

अर्थ—इसलिये पूजा और अभिषेक आदि क्रियाओं के करनेमें पक्षपातका परित्याग कर देना चाहिये । जगतमान्य श्रयोका पक्ष करना चाहिये । यदि आप आगमके अनुकूल चलना चाहते हैं तो धर्मकी सिद्धिके लिये क्रियाओंको पालन करो ।

अर्थ—इस पचम कालमें इस समय देवों से पूज्य केवलज्ञान मंडित समोसरण युक्त चौतीस अतिशय युक्त अष्टादश दोष रहित-परम वीतराग-एँसे तीर्थकर प्रभु तो साक्षात् विद्यमान नहीं है । वे तो चतुर्थकालमें ही मोक्षमें जा

सभनसगणशोभामण्डिता भव्यबोधका । मित्रामन्यतिशयैयुक्ता पुण्पदतप्रभाधिका ॥ ८६ ॥
 तेषि सर्वे शिवस्थाने गता शर्माणिभोजया । प्रयक्ष नैव दृश्यते जिनाश्च केनलेक्षणा ॥ ८७ ॥
 चिन्तनार्थं च तथा वै स्थापना पंचमे बुधा । धातुपापाणद्रुणेषु मुनिभिः स्थापिता शुभाः ॥ ८८ ॥
 शिलास्फोटसुहस्तेन घटिताः तत्समाश्च वै । पश्चाद्धि तन्मतिष्ठाच संभवेद्धि यथाविवि ॥ ८९ ॥
 स्यात्तदा पूजया योग्या तन्मूर्ति सकलापनौ । सर्वे भव्य प्रतिपत्त तद्धिवस्व तदास्ये ॥ ९० ॥
 उदकेक्षुष्टैर्दुर्गैर्दधिसवौषगादिभिः । अभिपेक प्रकुर्मति शुद्धैरंजनदैकैः ॥ ९१ ॥
 ततश्चैव सुवासनेन तत्तनोर्जलजान् कणान् । रीकृत्य प्रयत्नेन स्यात्परिधिं वा वरासने ॥ ९२ ॥

विराजे है । इसलिये तीर्थकर प्रभुकी प्रत्यक्ष पूजा इय समय नहीं होती है । किंतु उनके गुणोंकी प्राप्तिके लिये प्ररोक्ष पूजा इस समय की जाती है । भगवानका स्वरूप चिन्तन करनेके लिये तदाकार धातु पापाण आदि की सुंदर मूर्ति निर्माण कर और आगमकी विधिसे उसकी प्रतिष्ठा करा कर पूजा की जाती है ॥

अर्थः-- भगवानकी मूर्तिकी प्ररोक्ष पूजा प्रत्यक्ष पूजासे भिन्न होती है । इसलिये प्ररोक्षपूजा उस मूर्तिकी जल, इक्षुरस, घी, दूध, दही, सर्वौषधी आदि उत्तम और पवित्र द्रव्योंसे की जाती है । यह सनातन विधि श्रीजिनेन्द्रदेवने प्रतिपादन की है और इन्द्रादिक देव इसी विधिसे नदीश्वरादि द्वीपमें अकृत्रिम जिनविद्योका अभिषेक करते हैं । ९१ ॥

फिर भगवानकी उस दिव्य मूर्तिको एक उत्तम सिंहासनपर विराजमान कर मूर्तिके जलकणोंको बसके द्वारा पोंछ लेवे ॥ ९२ ॥

तदग्रेहि त्रिधारा च पातयति नराश्च ये । जन्ममृत्युजगानाश कुर्वति ते हि निश्चयात् ॥ ९३ ॥

काश्मीरगुरुचन्द्र च ह्यन्यद्बोक्त्वा शुभम् । संष्टय्य जितपादाब्जौ लेपनीयौ मनोहरौ ॥ ९४ ॥

भवातापि नाशार्थं केवलज्ञानधारिभिः । कथितं भिन्नपुजाया चन्दनस्य प्रलेपनम् ॥ ९५ ॥

जिनभादारविदाग्रे कर्तव्या भो बुधोत्तमा । पुंजाश्चाक्षतवारस्य चाक्षयपुरप्राप्तये ॥ ९६ ॥

कुन्दावज्जमालतीपुष्पत्रजश्च मारहाभये । जिनपादोपरि भव्या धर्तव्या कीटवज्जिता ॥ ९७ ॥

शालग्र्यन्न मोटकं भक्ष्य सर्वं च व्यजनोत्करं । क्षुवातकविनाशार्थं स्थापनीय प्रभो गुर ॥ ९८ ॥

अर्थ—जो भव्य जीम अरहत प्रभुके समक्ष भुंगार नालसे तीन धाराको छोडते है वे जन्म जग और मरण तीन पापोको नाश करते हैं । ९२ ॥

अर्थ—कैंगर—कर्पर—अगर—तगर आदि सुगंधी द्रव्योको उत्तम प्रकार से घिसकर श्री जिनदेवके पवित्र चरण कमलोका प्रलेपन करना चाहिये । जिससे ससार तापका नाश हो । यह जिनविवपूजाकी विधि ससार ताप विनाश करनेकेलिये कैवलज्ञान धारक श्री जिनदेवने बतलाई है ।

अर्थ—अरहंतप्रभुके समक्ष उत्तम अक्षतोके मनोहर पुंज बनाकर चढाना चाहिये । जिससे अक्षयपुर (मोक्ष स्थान) की प्राप्ति हो ।

अर्थ—मोगरा कमल—मालती आदि उत्तम और सुवासित शुद्ध निर्जीव फूलोको प्रभुके चरण कमलो पर चढाना चाहिये ।

अर्थ—अगदतप्रभुके समक्ष भात लाहू आदि व्यजन बडी भक्तिसे शुद्धता पूर्वक चढाना चाहिये जिससे क्षुधारोगकी शांति हो ।

आराति का प्रकर्तव्य जिनैन्द्रपदप्रकृत्यो । मोहभ्रमविधातार्थ दीपव्यूहैर्वृत्तोद्धवे ॥ ९९ ॥
 पावके घ्रुवृन्दस्य कर्तव्यो दहनो बुधे । जिनपादाब्जमय्ये कर्मन्धदविनायाक ॥ १०० ॥
 नारिगात्रकपिस्थाद्ये पूजनीयो जिनेश्वरः । मोक्षफलस्य प्राप्त्यर्थ शर्मसतसिदायकम् ॥ १०१ ॥
 भो भव्या विनपूजाया विधिरेव प्रकीर्तितः । जिनागमे यतीन्द्रौघे यूय सर्वत्र पश्यथ ॥ १०२ ॥
 प्रत्यक्ष केवली नासि अतस्तत्स्थापना मता । स्थापनाया मता सर्वा क्रिया वै ज्ञानादिका ॥ १०३ ॥
 पश्यथ सर्वग्रथेषु विनपूजाविधिं पृथक् । केवलज्ञानपूजाया सुरेन्द्रौघश्च निर्मितं ॥ १०४ ॥
 व्यवहारनयापेक्षो गृहस्थाना जिनेश्वरौ । विनपूजाविधिश्चैव कथित केवलक्षणे ॥ १०५ ॥

अर्थ—अरहतप्रभुके सामने शुद्ध सुगंधित द्योके सुंदर दीपक जलाकर आरती करनी चाहिये ।
 अर्थ—प्रभुके सामने उचम सुगंधित द्रूप अष्टकमौके नाश करनेकेलिये अग्निमें प्रक्षेपण करना चाहिये ।

अर्थ—प्रभुके चरणकमलोंकी पूजा नारंगी-आम-ऋषित्य आदि उचम फलों से विधि पूर्वक करनी चाहिये ।
 जिससे मोक्षमुखकी प्राप्ति हो ।

हे भव्य अरहत भगवान के जिनप्रतिमा की परोक्ष पूजाकी विधि मक्षेप मे ऊपर कही है वह जिनागमं सर्व ग्रथो में मुनीश्वरोंने बतलाई है ।

अर्थ:— इस पंचमकालमें माक्षत्र केमली भगवान विराजमान नहीं है किंतु केवली भगवान तीर्थंकर प्रभुकी प्रतिकृति (स्थापनावद्द्र जिनमूर्तिको ही साक्षात् जिनैन्द्र भगवान मानकर) में ही समस्त क्रियायें की जाती हैं । यह स्तपनादि विधि समस्त ग्रथोंमें कही है । परोक्ष पूजा की विधि यही परमागममें मानी है । देवेन्द्रोंने जिनमूर्तिकी पूजा विधि इसी प्रकार की है । यह विधि व्यवहार नयकी अपेक्षासे आचार्योंने बतलाई है और जिनेश्वर देवने प्रतिपादित

निश्चयनयतो भव्या चिद्रूपाणा मता खलु । इज्या च मारसिद्धात् प्रोक्ता सकल्बदशिशिभिः ॥ १०६ ॥
 अत साक्षात् जिनाः पूज्याः सुगधीशैश्च तारकाः । नो सति सत्समायुक्ता किं विदध्मो वदथ वै ॥ १०७ ॥
 अस्मिन् काले महाभीमे तद्वते कथिता क्रिया । मुनीशैश्च भिन्नेषु स्नानाद्या मो बुधोत्तमा ॥ १०८ ॥
 दिव्यध्वनिमयी वाणी वीतरागमुखोद्भवा । साध्यस्मिन् नास्ति भो भव्या सर्वद्वारापरसङ्का ॥ १०९ ॥

की है। निश्चयनय से एक चिद्रूपमें ही लवलीन होजाना यही पूजा विधि है। ऐसा ही अभिप्राय सारसिद्धांत नामके ग्रंथ में कहा है। इसलिये जिन भव्य जीवोंने जिनप्रतिमाकी पूजा की उनने साक्षात् जिनेन्द्र भगवान की पूजा की। देव-गणोंमें शक्ति होनेसे वे साक्षात् पूजा करते हैं और संसारसमुद्रसे पार होते हैं ऐसी ही अचिंत्य शक्ति अरहत भगवान में है। यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है। परंतु इस समय साक्षात् अरहत नहीं हैं। फिर इस लोग सिवाय उनकी परोक्ष पूजा के और क्या कर सकते हैं।

इस पंचमकालमें साक्षात् अरहत केवलीका अभाव होनेसे जिनविषयमें ही खानादि विधि कर पट् आवश्यक करनी चाहिये। ऐसा आचार्योंने कहा है।

अर्थ—साक्षात् तीर्थंकर केवली का अभाव होनेसे साक्षात् दिव्यध्वनिका भी अभाव है जिससे सर्व संदेह दूर होता था। परंतु पंचम कालमें जिनागम ग्रंथोंमें वह दिव्य ध्वनि आचार्योंकी परंपरासे ग्रथित की है। जिनागम ग्रंथोंमें केवली भगवानकी दिव्य ध्वनिके सिवाय एक अक्षर मात्र भी स्वकल्पित नहीं है। न रागद्वेष या प्रतिष्ठा कीति आदिके गौरवसे वीतराग योगियों ने उस दिव्य ध्वनिमें व्यक्तिकम किया है। इसलिये परमागमके शास्त्र सब दिव्यध्वनि रूप ही हैं। जो प्रामाणिकता-सत्यता-और निर्दोषता दिव्यध्वनी की है वही प्रामाणिकता-सत्यता-निर्दोषता-और अबाधता ग्रंथोंकी है।

पण्डितु जिनसेनाद्यैर्योगीन्द्रे सद्युता खलु । परपर्या समायाता साच सर्वत्र विभुता ॥ ११०
 तदा सर्वं गृहस्थाश्च क्रियाकर्मता परम् । शान्तादि मन्त्रप्रसङ्गं पठयति सकला क्रिया ॥ १११ ॥
 अहो श्राद्धानिका यूय कुरुष्व मरुत्या क्रिया । मायुभिर्यैर्वयोगीन्द्रे श्रेणु स्यापिता नतु ॥ ११२
 कालेस्मिन्शथलनित्तकरे मिःयात्त्वपूरिति । नैव दृश्यते योगीन्द्रा महाव्रतधरा वरा ॥ ११३ ॥
 मतिज्ञानयुता केचित् शुभोपविमडिता । अत्रधिज्ञानान्वितादि तुर्मोयान्विता खलु ॥ ११४ ॥
 मन्त्रस्मिन् नैव त धीग मुतय मुरपूजिता । ईदृशा ज्ञानेनैत्राख्या दिशानामोधरा वराः ॥ ११५ ॥

अर्थ—यही दिव्यधनी आचार्य परपरामे चली आगही है और उमीको भगमान जिनसेनाचार्य आदि महर्षि-
 योने ग्रंथोमें लिखी है ।

अर्थ—इसलिये मद्गृहस्थोंको चाहिये कि शास्त्रोक्त स्तनन आदि क्रियाओंको करें । क्योंकि वे मन्त्रोंमें
 शास्त्रोंमें प्रत्यक्ष हैं ।

अर्थ—हे भव्यजीवो आत्मविचार करो और योगीन्द्रोंके द्वाग वतलाई हुई शुभ क्रिया (भगवानका पचा-
 मुतादि) को प्रेमपूर्वक करो ।

अर्थ—इस पंचमकालमें मनुष्योंके मन स्वभावमेंही चपल होरहे हैं । मिथ्यात्वसे पूरित होरहें हैं । ऐसे समय में महा-
 व्रतके धारण करनेवाले बिरलेही मिलते हैं । जिनको मतिज्ञान श्रुतज्ञान अग्रधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान है ऐसे महामना
 मुनीश्वरोंका तो प्राय अभाव है । जिनसे संसारका कल्याण होता था । वे मुनीश्वर कुमार्गपर चलनेवालोंको सुमार्गपर
 लाते थे । जिनराजकी आज्ञाभंग करनेवालोंको सन्मार्गपर लाते थे । और मनमानी करनेवालोंको योग्य व्यवस्थाकर
 सन्मार्गपर लाते थे । संवसें बिना दडके कभी भी व्यवस्था नहीं होती है । राजदडसे जैसे अन्याय रूक जाता है इसी प्रकार

कालेस्मिन् किं करिव्यामः गुरूणा तद्वहे नरा । लोपं वदथ ग्रथेषु कथित यदि कापिच ॥ ११६ ॥
 ईदृश न श्रुत कापि गुरुर्लोपः च पंचमे । कुरुच मानयध्व च द्वयो श्रीजिनशास्त्रयो ॥ ११७ ॥
 त्रिकारसर्ववस्तुना वर्णना च कृता जिनै । भो भर्त्या न श्रुतं चैव गुरुर्लोप च तत्र वै ॥ ११८ ॥

पचायती दृडसे धर्मविरुद्ध चलनेवालोंकी अनीति मिट जाती है ।

अर्थ—यह हुंडक पंचमकाल है । इसमें जैन कहलाने गाले न जाने कैसे २ पापी भी उत्पन्न होगे जो स्वयं धर्मवर्हिभूत होंगे और समस्त प्रजाको ग्रंथोंका लोप कर धर्मगर्हिभूत मनयेंगे । कुमार्ग—अन्याय और अत्याचार बढ़ायेंगे । यद्यपि ग्रंथोंमें सदाचारका विधान होगा तो भी वे पापी उसको नहीं मानेंगे और लोगों में भिव्या प्रसिद्धि कर सन्मार्गका लोप करेंगे । ऐसे मनुष्यों से सन्मार्ग प्रताशरु ग्रंथोंकी रचना नहीं होगी किंतु व्यभिचार अन्याय फैलाने वाले ग्रंथोंकी रचना होगी । इसके सिवाय वे लोग गुरुओंका भी लोप करंगे—गुरुओंको भी नहीं मानेंगे ।

अर्थ—पंचम कालमें मुनिधर्मका लोप होगा ऐसा कहनेवाले मायावी हैं क्योंकि पंचम कालके अततक शुद्ध मुनि-आर्थिका श्रावक श्राविका रहेंगे ऐसा जिनगम स्पष्ट रूपसे बतलाता है । इस लिये शास्त्र और गुरु दोनोंका श्रद्धान करना चाहिये—दोनोंको मानना चाहिये ।

अर्थ—त्रिकालज्ञानी सर्वज्ञ भंगवानने समस्त पदार्थोंका वर्णन किया है उसमें यह भी बतलाया है कि पंचमकालके अंततक चतुर्विध सध निर्दोष रहेगा, परंतु ऐसा कहीं भी नहीं सुना न जिनगम में कहा है कि पंचमकालके प्रारम्भके बाद ही मुनीश्वरोंका अभाव होगा । परंतु मतलबी कितनेही पापी मनुष्य गुरुओंका लोप करते हैं । अर्थात् वे पापी निर्ग्रथ गुरुओंको भी नहीं मानते ।

श्रद्धास्माकमपि चैषा जानीष्व हृदि भो नरा । निश्चयस्य नयस्यैव लक्षण तच्च निश्चयात् ॥ ११९ ॥
 बर्हते नापरो देवो निर्घ्रयाणापरो गुरु । दयातो नापरो धर्मो हेतच्छ्रद्धानलक्षणम् ॥ १२० ॥
 भो मूढा भवतां नैव शुद्धसम्यक्त्वकारका । दुर्लभा सापि विज्ञेया कर्मवारा विमजका ॥ १२१ ॥
 निश्चयव्यवहारस्य नयस्य यत्न स्यात् खलु । श्रद्धा तस्यैव चोत्पत्ति सम्यक्त्वस्य न संशय ॥ १२२ ॥
 स्याद्यदि भवता श्रद्धा निश्चयस्यैव निश्चयात् । तर्हि नमथ पूर्णस्थान् किमर्थं वचनापहा ॥ १२३ ॥

अर्थ—जो सर्वज्ञ कथित आगम-और निर्ग्रथ गुरुका प्रलोपकर केवल मनोक्त कल्पना से शुद्ध सम्यग्दृष्टी वनते हैं उनकेलिये विचार किया जाता है कि देव शास्त्र गुरुके श्रद्धान विना केवल स्वानुभवसे सम्यग्दर्शन होता है या नहीं ? व्यवहार नयको अतिक्रम कर जो मनुष्य निश्चयनयका अवलंबन लेता है और व्यवहार नयको सर्वथा मानता ही नहीं है उसके निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं है किंतु तीव्र मिथ्यात्व है—क्यों कि अरहंतके सिवाय अन्य कोई देव नहीं । निर्ग्रथ दिगंबर गुरु सिवाय अन्य कोई गुरु नहीं, और अहिंसाधर्म सिवाय अन्य कोई धर्म नहीं है, ऐसे दृढ श्रद्धानको सम्यग्दर्शनका लक्षण परमागममें वतलाया है । जिसके इस प्रकार श्रद्धान नहीं है वह सम्यग्दृष्टी नहीं है मिथ्यादृष्टी है । क्यों कि यह परमागमका सुदृढ नियम है कि जिसके देव शास्त्र गुरुका दृढ श्रद्धान होता है उसीके निश्चय सम्यग्दर्शन होता है । व्यवहार सम्यग्दर्शनके विना निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता है । जो मनुष्य देव शास्त्र गुरुकी श्रद्धा करने नहीं आगमको सर्वांग माने नहीं आगमोक्त आचरण और क्रियाओको स्वीकार करे नहीं आगमप्रतिपादित धार्मिक विवाहादि क्रियाओंको धर्मक्रिया नहीं माने, और धर्ममें संशक श्रुति रक्त्वे वह अपनेको भले ही निश्चय सम्यग्दृष्टी कहे परंतु वह घोर पापी और अनतंसंसारी मिथ्यादृष्टी है । +

अर्थ:— जो हमारे एक आत्माका ही निश्चय श्रद्धान है और उसीका पूर्ण निश्चय है तो फिर मुनिदीक्षा

पूज्यथ किमर्थं च मूर्तिं पाषाणनिर्मिताम् । निश्चयपालका यूय व्यवहारपराम्मुखा ॥ १२४ ॥

लेकर वनमें रहो । व्यर्थ ही भगवान् अरहंत देवके कहे हुए वचनोका लोप क्यों करते हो । तथा फिर ग्रंथोको क्यों नमस्कार, पूजन और भक्ति करते हो ? जो ग्रंथोंकी उपासना है तो फिर एक निश्चय सम्यग्दर्शन कहाँ रहा ? और एक आत्मीय श्रद्धान् कहाँ रहा ? जब ग्रंथोंकी उपासना है तब ग्रंथोंमें प्रतिपादित मूर्तिपूजा-रूपन-अष्टद्वयसे पूजन आदि विधान भी मानना पड़ेगा । अन्यथा ग्रंथोंकी उपासना भी नहीं वनेगी । और जो एक आत्माका ही निश्चय श्रद्धान् सारभूत है । व्यवहार क्रियाओसे क्या प्रयोजन ? इस विचारसे व्यवहार नयका उत्थापन करते हो तो फिर पापाण निर्मित अरहत भगवानकी मूर्ति क्यों पूजन करते हो ? मूर्तिकी पूजन करनेसे आत्माकी पूजन नहीं होती है । निश्चय अनुभवको माननेवालोको मूर्ति पूजनेकी जरूरत क्या ? परंतु मूर्तिपूजा परमागमसे सर्वत्र बतलाई है । विना मूर्ति पूजाके आत्मस्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती है । इसलिये केवल आत्माके श्रद्धानको मानकर देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान् नहीं करना सो मिथ्यात्व है ।

१ कितने ही आत्माका अनुभव और निश्चयके गीत गाकर व्यवहार आचरणको पुद्गलका धर्म मानकर परित्याग कर देते हैं । वे न तो देवकी सेवा ही करते हैं, न गुरुकी उपासना करते हैं, न सदाचारको मानते हैं । उनके देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान् नहीं होता । प्राय व समस्त प्रकारके व्यवसायों फसे हुए सदाचारसे भी पराङ्मुख होते हैं । अपनेको जैन कह करके भी जैनमार्गानुसार कभी नहीं चलते हैं । निश्चय सम्यग्दर्शिके भी व्यवहार सम्यक्त्व होता है । देव, शास्त्र, गुरुकी श्रद्धाके विना कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं होता है । जब सम्यग्दर्शन नहीं है तब उनके निश्चय सम्यग्दर्शन कैसे होगा ? ऐसे जीवोंको परमागमसे मिथ्यात्वी बतलाया है ।

सिद्धाते जिननाथेन भाषितं चैव लक्षणम् । निश्चयव्यवहारस्य केवलज्ञानिना खलु ॥ १२५ ॥
 नयेन व्यवहारेण कार्यसिद्धिर्भवेदहो । मुनीनांच गृहस्थाना यूय सर्वत्र पश्यथ ॥ १२६ ॥
 व्यवहारनयेनैव मानुजा भो इमे मता । गुख शृणुथ यूय वक्ष्यमाण मया खलु ॥ १२७ ॥
 हेकर्णप्रदातापि श्लोकदाता पदम्य वा । अथस्य मन्त्रदाताच ज्ञानोपदेशकश्च वा ॥ १२८ ॥
 यज्ञोपवीतदाताचं इत्याद्या श्रीजिनागमे । इमे सर्वे मता शास्त्रे गुणो गुणदानत ॥ १२९ ॥

अर्थः—जिनेन्द्र देवनें सिद्धांत ग्रन्थोंमें सम्यग्दृष्टीका उपर्युक्त लक्षण कहा है। व्यवहारनयके विना निश्चयन भी कार्यकारी नहीं है। शास्त्रकारोंने यही बतलाया है कि व्यवहार नयसे ही कार्यसिद्धि होती है। गृहस्थधर्म और मुनि-धर्मका स्वरूप इसी नयसे प्रकट होता है। व्यवहारनयसे मनुष्य गुरु होते हैं और गुणस्थानोका आरोहण कर मोक्षको प्राप्त होते हैं।

अर्थ—जो एक अक्षर—एक श्लोक—एक पद और एक ग्रन्थका पढानेवाला है वह भी गुरु होता है। मन्त्र का प्रदान करनेवाला भी गुरु है। ज्ञान (देशना) का उपदेश देनेवाला गुरु माना है। यज्ञोपवीत विधि-विग्रह विधि प्रत्तिष्ठाविधि-आदि विधि और सस्कारोंको करानेवाला गुरु होता है। जिनयज्ञ-जिनपूजन-आदि विधियोंको कराने वाला गुरु है। जैन परमागममें गुरुसंज्ञा गुणोका प्रदान करनेसे अनेक प्रकारसे मानी है।

१ धर्मगुरु — विद्यागुरु-मातापितागुरु-राजगुरु-संस्कारकर्ता गुरु-आदि भेदसे गुरुओंके अनेक भेद माने हैं। धर्मगुरु सर्वथा निर्ग्रन्थ और परम दिग्गंबर ही होते हैं। संसार समुद्रसे तारक और आत्महितके करनेवाले धर्मगुरु हैं। उनकी व्यवहार आचरणोंके द्वारा क्रमसे आत्महित करनेवाले हैं।

येऽग्रा नैव मन्थंते गुरं ज्ञानस्य दायकम् । ते यार्थ्यंति न सदेहः सप्तमे श्वश्रुकूपके ॥ १३० ॥
यथा वै जितराजस्य यथा दिव्यध्वनेः बुधा । स्थापना दृश्यते लोकैर्गुरुणा च तथा मता ॥ १३१ ॥

ज्ञानात्परुषा ह्येते जिनधर्मप्रभावका । धर्मोपदेशनादौ च पश्यथ च तदोपमा ॥ १३२ ॥

अहो मूढा! च प्रत्यक्ष कुलोन्नतविराजिता । बुद्ध्यादिगुणसपन्ना मित्यास्वपथनाशका ॥ १३३ ॥

कलौ च जैनधर्मव्योद्धारणेऽतीव चातुरा । अस्माद्भिर्जैनमार्गीय प्रत्यक्ष दृश्यते खलु ॥ १३४ ॥

एषा वै नैव सार्वभौमस्माकं कालदोषतः । एतेषामपि सा न स्यात् प्रत्यक्ष पश्यथ खलु ॥ १३५ ॥

अर्थ-जो अधम मनुष्य गुरुको ज्ञान दायक नहीं मानते है वे नि सदेह नरकके पात्र है । गुरु विना ज्ञान नहीं होता है यह कहावत भी सर्वत्र प्रसिद्ध है ।

अर्थ-जैसे जिनराजकी स्थापना वृत्तिमें होती है । जैसे दिव्यध्वनिकी स्थापना श्रथोमें होती है । वैसे ही पूर्व कालके निर्ग्रीय मुनीश्वरोकी स्थापना भी वर्तमान कालके मुनियोंमें होती है । १३१ ॥

अर्थ-ये वर्तमानकालके मुनि भी जैन धर्मके प्रभावक होते है । और इनके द्वारा धर्मोपदेश प्रत्यक्ष सबको मिलता है । १३२ ॥

अर्थ-इन वर्तमानकालके गुरुओंसे ही जैन धर्मकी रक्षा कितने ही वार हुई है । बुद्धि तप शक्ति आदि गुणोंमें प्रवीण मिथ्या मार्गके खंडन करनेवाले और जैन धर्मका उद्धार करनेवाले ये गुरु होते है । इन लोगोंके कारण ही अब भी धर्मकी स्थिति प्रत्यक्ष दीख रही है ॥ १३३ १३४ ॥

कदाचित्त यह कहो कि काल दोषस हस लोगोंमें शक्ति कम होगई है । तो यह भी मानना चाहिए कि उनमें भी शक्ति कम होगई है तथापि उनमें शक्ति प्रत्यक्ष दिखाई देती है ॥

जिनाचपुरा खेने जिनधर्मोदेशका । अत मर्वे प्रमान्या खुं जिनाचं कौन मानयेत् ॥ १३६ ॥
 यथा पाषाणत्रिचाना योथो वै पृजनादिक । कार्यं तथैव भो मर्या प्रतेषा नमनादिकम् ॥ १३७ ॥
 मा कुरुन्व गुरुन्वा वै प्रतेषु विनय खलु । अयं सु धर्ममार्गस्य घातकाः नात्र सशयः ॥ १३८ ॥
 ह्येतत् सिद्धातवाय्य म्यात् यं कुत्री नार्गघातक । लोपयति जिनात् वै सच धर्मापरामुख । १३९ ॥
 शुभाकामिति भद्रार्थं ह्युपदेश प्रजल्पित । अस्माभि श्रथबोयेन अहकारसदात्तच ॥ १४० ॥
 नागोश्रथ सुस्वराः त्रिषु खलु सन्मानयति सदा । योगीन्द्रा खचरेस्वरा गुणप्रसजानेन सशोभिताः ॥ १४१ ॥
 वेदज्ञानविमंडिता सुरनुता विधादिसपद्युताः । कुर्वन्नेव प्रलोपनं नरवरा नैव भवतापह ॥ १४२ ॥
 वचनाडंवरै किंच अतो मां मज्जता खलु । यदुक्त विनयेथपु तत् लोप मा विधीयता ॥ १४३ ॥
 अर्थ—ये वर्तमानकालके धर्मगुरु जैन धर्मके उपदेशक है इसलिये सबको ही मान्य है । जिनने जिनेंद्र शरण ग्रहण की है उनको कौन नहीं मानेगा / समही मानेगे ।

जिस प्रकार अरहत भगवानकी मूर्तिकी पूजा करते हैं वैसे ही इनका भी सन्मान नमस्कार आदि करना चाहिये ।
 अर्थ—गुरुध्नता प्रकट करना ठीक नहीं है । इसलिये उनका भी विनय करना चाहिये । जो मनुष्य मार्गका घात करता है वह धर्म से परान्मुख है । यह बात हमने ग्रथोसे लिखी है । न किसी दूसरे अभिप्रायसे ।
 अर्थ—मसार में सबसे भयकर पाप ग्रथोका प्रलोपन करने का है । जो मनुष्य ग्रथों की आज्ञाका भंग करता है उस ग्रथमें (परमागममें) तलाये हुए मार्गको स्वीकार नहीं करता है—परमागमका अनुयायी अपनेको प्रकट करता हुआ भी उसको नहीं मानता या पूर्ण श्रद्धा नहीं रखता , अथवा कुछ भागको मानता है और कुछ भागमें अपने मनोक्त ज्ञान द्वारा सदेह करता है वह ग्रंथका प्रलोपन करता है । अथवा उत्तम सदाचारके ग्रथोको न मानकर

ये कुर्वन्ति प्रलोपन च ऋथमा अथस्य भो सद्वृथा । ते यास्यति निकीतिषु सुबचनालोपाच्च ससाद ॥ १४४ ॥
याता याति तथाच दुःसनिकर ससावनिषु भद्रा । यास्यत्येव कदापि भो बुषजना लोपं कुरुवच मा ॥ १४५ ॥

अथ ढूढक मतोपत्ति

अथापरं शृण्वन् भो स्वेतवासोमते लुल । लुंक्रामिव कुवीरासीत् सर्वधर्मविनाशकः ॥ १४६ ॥
रिपुरानीन्दुसयुक्तमसेऽश्वत्वेतवाससाम् । द्वापरेषु प्रमग्नाना यतोहि कालदोषत ॥ १४७ ॥

एक अध्यात्म श्रथोको ही आगम समझता है वह भी श्रथका प्रलोपन है ।

इमप्रकार जो श्रथोका प्रलोपन करेगा वह अवश्य नरऋकुडमें गिरेगा । और अनंत ससारको प्राप्त होगा ।
अथवा निगोद आदि कुर्योनियांमें अनंत दुःखको प्राप्त होगा । इसलिये श्रथोका प्रलोप नहीं करना चाहिये ।

इद्र, नागेंद्र, मुनि, अग्रथि ज्ञानी, मनःपर्यय ज्ञानी, विद्वान आदि किसीने भी आगमोका लोप नहीं किया है इसलिये तुम भी श्रथोका लोप कभी मत करो । जिन श्रथोंमें जो क्रियाएँ कहीं हैं उनका लोप कभी मत करो । जो पुरुष श्रथोंमें कहे कुछ वचनोंका लोप करता है वह अशुभ ही नरक निर्गोदमें पडता है इसलिये श्रथोका लोप कभी नहीं करना चाहिये ।

अर्थ --स्वेतांशुरोमसे लुका नामक मत धर्मका नाश करनेवाला प्रकट हुआ है अब आगे उसकी उत्पत्ति आदिका खुलासा बतलाते हैं वह श्रण करना चाहिये ।

अर्थ--संशय मिथ्यात्वको धारण करनेवाले (इदोविय संसद्दयो) ऐसा गोमटसारमें स्वेतांशुर मतको संशय मिथ्यात्वी जैनाभास माना है) स्वेतांशुर (भगवान भद्रशाहके समयमें) सं १३६ में उत्पन्न हुए । ये सब संदेह

मुनिहस्ते तथा पचसोमयुक्ते ह्यशु समे । गते लुका क्रियाहीनो नाम्नाहि सर्वलोपकृत् ॥ १४८ ॥
 तन्मते च घना ज ता भेदा स्वपथ्योपका । निर्विचारा क्रियाहीना धर्मलोपकाः खलाः ॥ १४९ ॥
 जिनैर्यथानिदका केचित् जिनाभिवशान्मुखा । निदका तीर्थयात्राणा म्लेच्छाचारप्रपालका ॥ १५० ॥
 जैनमदिरप्रतिष्ठावारका कुङ्कुलान्मिता । इय्याद्या जिनमार्गस्य बभूवुर्नीशका खलु ॥ १५१ ॥
 नाम्ना ह्रैव्याश्च विख्याता क्रियाकर्मविवर्जिता । सर्वत्र विस्तता, ते च ह्यधुना भो बुधोत्तमा ॥ १५२ ॥

में निमग्न रहनेवाले तीव्र मिथ्यात्वी हे । इस प्रकार मिथ्यत्वको धारण करनेवाले और अपनेको जैन माननेवाले जैनाभाम भी कालदोषसे पचमरालमें उत्पन्न होते हे ॥

हे राजन् लुक मत स. १५२७ में उत्पन्न हुआ । यह मत समस्त पवित्र आचरणो का लोप करनेवाला प्रसिद्ध हुआ ।

अर्थ—उस लुक मतमेंसे भी अनेक मत प्रकट हुए । जो उसी मार्गको पुष्टि करनेवाले थे । जिनमें विचार नहीं था । जिनके आचरण पवित्र नहीं थे । और जो पवित्र धर्मका लोप करनेवाले थे ।

अर्थ— ये लुक मतके अनुयायी जैनाभाम अरहंत भगवानकी श्रुतिसे परान्मुख रहेंगे—श्रीजिनेन्द्र भगवानकी मूर्तिकी निंदा करेंगे । तीर्थ यात्रा आदि धार्मिक आचरणो को रोकेंगे । प्रतिष्ठा जैनमंदिर आदि प्रवृत्तिको रोकेंगे । म्लेच्छाचार को फैलायेंगे । और नीच कुलके मनुष्योंको साधु बनाकर मवको श्रुत करेंगे ॥ १३६ ॥

अर्थ—लुक मतको दृष्टिया कहते हैं । और वे दृष्टिया के नाम से प्रसिद्ध हैं । इन लोगोंमें सदाचार की एक भी उच्च क्रिया नहीं है (इनको स्थानकवासी भी कहते हैं)

कस्यापि नैव दोषोस्ति कालद्वेषप्रभावतः । सर्वे मत्तारा ह्यस्मिन् भवंति नात्र संशयः ॥ १५३ ॥
युष्माक सर्वभ्रंशेषु भो लुकमतधारकाः । किं न स्यात् कथन मूढाः पूजायाः श्रीप्रभोः खलु ॥ १५४ ॥
अथसाक्षमह वच्मि शृणुत मतिवर्जिताः । यदि ग्रंथाः प्रसत्या स्यु युष्माक शर्मभासये ॥ १५५ ॥

पेंतालीसामिधे ग्रथ प्रतिमाया नहु विस्तारतः पूजनस्य वर्णना कृता वा किं न कृता । भो लुकमतधारका तस्मिन् प्रत्यक्ष पश्यतु - भवन्तः । प्रभोः पूजन कथमुत्थापित । यदि युष्माक ग्रंथोय सत्यः स्यात् तर्हि ता विनपूजा किं न कुर्यु । यदि भवतामेप पूजाविधि नैव रोचते तदा ग्रथस्य लोपन कुरुन्व । अतः कारणत् ग्रथमपि स्वमतघ्न न श्यामघ्नः स्युः नात्र संदेह ।

अर्थ—इसमें किसीका कुछ भी दोष नहीं है क्योंकि काल दोष से ये सब बातें स्वयमेव बन जाती हैं । हठक समग्रमें मतांतरोकी वृद्धि होगी यह निःसंदेह है ।

अर्थ—हे लुक मतवालो श्रीजिनेद्वकी पूजाका विधान तुमारे मतके ग्रथों में क्या नहीं है मो तो कहो ।
अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि तुमारे मतके मुख्य २ ग्रथों (जो सर्वमान्य है) में जिनेद्रपूजा खुलासा से लिखी है । यदि तुमारे मतके ग्रंथ सत्य है ग्रामाणीक आप मानते हो तो जिनेन्द्र पूजाका नियेध तुम से नहीं होसक्ता । क्योंकि ग्रथोंमें विधान स्पष्ट रूप से है । जो ग्रथ अमान्य है तो फिर तुमारा मत ही क्या ?

अर्थ—हे लुकमत धारको तुमारे पैतालीसा नामके मुख्य आगम ग्रथोंमें अतिशय विस्तार पूर्वक भी जिनेद्वकी पूजाका विधान बतलाया है या नहीं ? एकबार तुमने अपने आगम ग्रथोको खोलकर देखा है या नहीं ? ग्रथम तो अपने ग्रथोको देखकर नियेध करना चाहिये । उन ग्रथोंमें जब खुलासा वर्णन है तब तुमारा नियेध मनोक्त करपनासे पक्षपात पूर्ण ही समझा जायगा । कदाचित्त तुमको पूजन करना अच्छा नहीं मालुम होता तो तुम सबसे प्रथम अपने आगम ग्रथोको मत मानो । जो ऐसा करोगे तो आगमलोपी कहलाओगे । इसमें कुछभी संदेह नहीं

भो लुंकरतपालका पुन णुणुच्चं जीवाभिगमग्रथे पूजाया विधि णहुविस्तारतः वर्णितः । ब्रवीध्व, तत्सत्यं कि-
मसत्य स्यात् ? भो लुंका ! ज्ञाताभिधकथाया सतीनामध्ये शिरोमण्या द्रोपद्या जिनेन्द्रस्य इड्या कृता पुन उपासकदशाभिध-
ग्रथे यूयं पश्यत । जिनेन्द्रसिद्धयात्राकरणं जिनविंक्तस्य पूजाकरणं णहुविस्तारेण अतयो द्वयो कथनं कृतं । पुनः सूत्रकृतागमे श्रेणिक
भूपस्य अभयकुमाराभिधकुमारेण जिनविंक्तस्य बहुभक्त्या च वसुद्रव्यविधिना पूजा कृता । तदैव पूजाप्रभावात् सोऽपि सम्यग्ज्ञान-

अर्थः—हे ब्रूडियो ! जरा तो सुनो । जीवाभिगम नामक ग्रथ में भगवानकी मूर्तिकी पूजा का वर्णन खूब
विस्तार से किया है । अब बतलाइये कि उस ग्रथका लिखना मत्स्य है या असत्स्य ? यदि ग्रथका लिखना सत्य है तो
पूजा करना तुमारे मतमें सबको मान्य है फिर तुम लोग अपना वर (ग्रंथ) देखे विना ही किम सत्रुत (प्रमाण)
पर निषेध करते हो । यदि उस ग्रथ का लिखना असत्य है तो जीवाभिगम ग्रथको मानना छोड देना चाहिये । क्यों
मानते हो ?

ज्ञाताभिध नामक सूत्रमें सती शिरोमणी द्रोपदी आदि बहुतमी सतिओंके द्वारा श्री जिनेन्द्र भगवानकी
मूर्तिकी पूजा करना बतलाया है । सो सत्य है या असत्य ? उपामकाध्ययन नामक ग्रंथमें देखो—जिनेन्द्र भगवानकी
मूर्तिकी पूजा सिद्ध भगवानकी पूजा यात्रा करनेकी आज्ञा है और जिनविंक्तकी पूजा बहुत ही विस्तारसे स्पष्ट बतलाई
है । वह सत्य है तो स्वीकार करना चाहिये और असत्य है तो उस ग्रंथमें क्यों लिया है ? इससे तो वह ग्रंथ ही मान्य
नहीं समझे ?

सूत्र कृतांग नामक ग्रंथमें श्रेणिक महाराजके पुत्र राजकुंवर अभयकुमारने श्रीजिनेन्द्र भगवानकी मूर्ति की
अष्टद्रव्यसे पूजा की और उससे सम्पन्नानकी प्राप्ति हुई ऐसा लिखा है सो यह लिखना असत्य है ? तुम लोग सूत्र-

मासवान् पुनः सूत्रभावत्यभिधे अथे जिनबिम्बस्य च तन्मदिरस्य तत्पूजाविधेः बहुविस्तारतो वर्णना कृता । नो चेत्तर्हि भवदागमस्य लोपं कुरुष्व । इत्याद्या ये ये अथा भवता सति सर्वेषा तेषा मध्ये यूयं पश्यत युष्माकं केषु अथेषु जिनमंदिरस्य जिनबिम्बस्य जिनपूजाया जिनक्षेत्रभूमि इत्यादिकार्यस्य यदि निषेधनं न स्यात् तर्हि कुर्वीध्व । कुपक्ष त्यजत । एतदेव निकोत् कारणं तत् दुःखात्त्रिभया मा भवत स्वकल्पोक्त्या मा ब्रवीध्वं । इदि विवेक भजध्व ॥

कृतान्प ग्रथको मानते हो या नही ? जो मानते हो तो मूर्तिपूजा करना स्वीकार करना चाहिये । जो नहीं मानते तो ग्रथ अप्रमाण ठहरा ।

भगवती सूत्रमें—जिनबिंब और जिनमंदिर की पूजा करना लिखा है । वह भी अतिशय विस्तारके साथ बतलाया है सो क्या मान्य है या नहीं ? यदि मान्य नहीं है तो भगवती सूत्र अप्रमाण ठहरेगा ? या तो ग्रथको अमान्य करो या मूर्ति पूजा करना स्वीकार करो ।

तुमारे मतके आगमग्रंथोंमें सर्वत्र जिन बिंब पूजा करनेका विधान लिखा है । सो तुमको करना चाहिये । अपने ग्रथको देखकर निषेध करना चाहिये ।

आपके कौन कौनसे ग्रंथोंमें जिनबिंब और जिनमंदिर तीर्थयात्रा आदिका निषेध है ? या मनःकल्पना एवं पक्षपातसे ही निषेध कर रहे हो । विनाग्रमाण के निषेध करना अज्ञान है । इसलिये पक्षपातको छोड़ो और विवेकसे काम लो ।

मिथ्या हठग्रह पकडकर अज्ञान व्यक्त करना मूर्ख लोगोंका कार्य है ? इसलिए कुपक्षको छोड देना चाहिये । अन्यथा निगोदादि दुर्गतिका कारण यह मिथ्या प्रलीप होगा । मनकी कल्पनासे देव जिनमदिर आदिका अवर्णवाद करना अपने विवेकको सोकर अज्ञान मदमाते होना है । सो यह ठीक नहीं है ।

भो दुःखन्वपरात्तं जिनपूजादानम् गृहस्थान्तरो धर्मो निकाहये नास्ति । ये जिनविश्वस्य धारणः ॥
जिनदत्त-जिनागन्तव्यजिनन्मगच्छन्तः शुभमभ्येतेषु ते स्वयं-सु ।

ये दृष्ट्वा नान्ध्यापनादभ्यसन्धुर्धो जिनैन्द्रात् स्वयं च पूजन्तं स्वार्थं आम्नः तर्हि परवत् । ॥४॥

अरे ! दृढिया हो . गृहस्थोंका धर्म जिनपूजन, दानके सिवाय अन्य दूसरा निकालमें भो श्रेष्ठ नहीं है । मुख्य धर्म तो जिनपूजन और दान देना ही है । इसपर भी आप जिनधर्मकी पूजा करनेका निषेध कर जो नव्य धर्मका निन्दित्व करते हो वह जिनधर्मका निन्दित्व नहीं है किंतु भोजितेन्द्र देवका ही निन्दा है, इसलिए आप अवश्य जिनधर्म हो । और अपने आगमको नहीं माननेसे आगममत्र हो-जा आपके आगममें जिनधर्मपूजन—जिनमण्डिरपूजन सिद्धयात्रागमन आदि विधान सुले रूपमें लिखा है तब उतहो नहीं मानना यही आगममन्त्रता है । और जिनवाक्य तथा मंत्रराज (गणोक्ता) को भी नहीं माननेगले हो । अधिक क्या आप सब शास्त्रोंकी सत्यताका लोप करनेवाले मिथ्या कदाग्रही हो ।

अर्थः—अरे दृढिया हो ' नाम-स्थापना-द्रव्य-भावसे जिनैन्द्रदेवका आराधन पूजन स्मरण आदि चार प्रकार किया जाता है । प्रत्येक वस्तुमें यह चारो निक्षेप नियममें होते हैं । परंतु आप लोगोंने तीन निक्षेप [नाम-द्रव्य-भाव] तो स्वीकार किये और तीसमें स्थापना निक्षेपको छोड़ दिया सो क्यों ? स्थापना निक्षेप प्रत्यक्ष रूपसे प्रत्येककी मानना ही पडता है । प्रतिनिधि विना एक क्षण निर्वाह होना अशक्य है । सेठ मुनीमको अपना प्रतिनिधि (स्थापना) बनाता है । वकील वैरिष्ठर को भी सब कोई अपना प्रतिनिधि बनाता है । वार्डसरारको राजाने अपना प्रतिनिधि बनाही रखा है । फिर प्रतिनिधिरूप स्थापना का निषेध किस प्रकार किया जा सका है । स्थापनाके माने विना

पुरुरूपमपि नामद्वयभावेन जिनैन्द्रचिद्रूप सदा हृदि स्मरथ किं न मो मतिहीना स्यु । प्रभो स्थापना कथमुत्थापिता भवद्भिः
प्राप्तव्यं ननु अथ कस्य प्रथानुसारत ।

गो लुका पुन यणुथ कृत्रिमाकृत्रिमाप्रमेदेन द्वेषा श्रीजिनद्रस्य सर्वत्र क्षेत्रेषु सर्वत्र भूधरेषु स्थापना स्यात् कृत्रिम जैने-
न्द्रस्य भगवता पूजयति । अकृत्रिमजिनेश्वरविम्ब सुरेश्वरा अर्धव्ययति तरुदपाप्यर्थ । जिनधिवस्य पूजनात् सहस्रकवल्लिना साहस्यं
प्रथमप्रवृत्त आत् सांनिध्यं जिनान्भक्त्युजा कथिता ।

इदं ननु प्रकारं कुरुष्वपि । राजपक्षमालनाभ्रमिच्छुचु । भो सज्जना भवद्भि यत्कथित तत्स्मरथमपि तथापि अस्माक वाक्
'श्रुयता । त्वं निगमना, स्यु, यत' अस्माभि आरभदोयेण प्रतिभाया पूजन उच्यपितं । अरंभात् सकलजलप संयोज्ञानादि-
विना अन्य नीम जिनेषामे पस्तुस्त्वितिका कार्य सर्वथा नही हो मकेपा । इसलिये स्थापना की उत्थापना करना बहुत
भारी ज्ञान है । किं भी दे दृष्टिपा हो आपने गढ़ स्थापना उत्थापन की सो किस ग्रथ से ? और चार निक्षेपको न
मानकर तीन निक्षेप माने या फिर ग्रंथ से ? निम स्थापना निक्षेपके विना भगवान का स्मरण मंत्रराजका जप और
स्वस्त्य निक्षेपन ही नही हो संभवा । इत्यत्रिय गत्य तातको नही मानना अज्ञान है ।

अथ --- अथे नक्षिपदो एषोरे यागो मे कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिमा भेद वतराया है । पर्यत-नदीतीर
मिथुशेय और जिनालयमें कृत्रिम जिनेषोनि पूजा मनुष्य करते है । जिनपूजा करनेसे सहस्रसुवल्लव्रतके ममान
यज्ञान मल प्राप्त माना है इसलिये निमपूजन पक्ष्य श्रामयोम वतलाई है ।

अथे --- दृष्टिपा मलके ममान शार्त्तयि जनात्पुत्रा पूजा आ पूर्ण विधान सममाण होनेमे यह तो कहनेमें
अथवा असमर्थ होगयं कि हमारे (नक्षक) मलके पूजा विधान नही है । जो शास्त्रोंमें पूजा विधान लिखा है ऐसा कहते

सदुणा नश्यति । यत्रारम तत्र किमपि धर्मोत्तिवोत्सयेव । निरारभेण शिवस्थानभाषितनमा भवति । आरभेण अनंनया जीवाराशयो
 भ्रियंते । तत्पापात् यथाव्यो अयं प्राणी दुःखी भुजति वा निःशुद्धिः वचनागोचर मननकालपर्यन्तं दुःखं भुंजयेव । इत्येव
 कस्योक्तं श्रुत्वा नुरुपमेवघातने केनचित्प्रत्यय जैनागम मार्गवर्धनकं द्विगारु अमत्यपक्ष विभजक भव्याब्जमार्तडोपम श्रीवीतराप्रति-
 पालक सिद्धांतादि ग्रथवाचने मार्गवर्धन पूर्वाचार्य नाम प्रतिपालकः नमनतोत्थापनार्थमिच्छाह भो नुक्ता ---आरंभ-
 निराकरण यूय श्रुयुथ चित्तसमाधिना करोम्यह । जिनेन्द्रार्थममये मार्ग इन्द्रश्राजया, कुरे पुनःपुनःपुनःपुनः पंचाश्रयम-
 भवोत् । दिक्कुमार्य तस्य मातु गर्भशोभनानुर्वच । दीपवत्वात्तादि बनेकषया परिचर्यो च । पुन गर्भस्थाने आगते सति तदैव नमये

है तो ग्रंथ अप्रमाण ठहरते हैं । इमलिये मम प्रहारमे लाचार होकर दृढिया लोग बोले--यद्यपि हमारे शास्त्रोंमें जिनपूजन
 विधान लिखा है वे सब ग्रंथ भी मान्य हैं परंतु पूजा करनेमें बहुत मा आरंभ होता है । धार्मिक कामोंमें आरंभ करनेसे
 नडा भारी दोष होता है । आरंभमें अंतत जीपराशि मर जाती है । जिसमे प्राणी नरकादि दुर्गति का पात्र होता है । आरंभसे
 जप तप सयम ज्ञान आदि उत्तम मनुष्य नष्ट हो जाते हैं । इस लिये हम जिनचि व का पूजन आरंभ दोषके भयसे निषेध
 करते हैं । ऐसा श्रवणकर लुंकरुप्ररूपी गजोंको नाश करनेके लिये सिंह समान, जिनागम मार्गको दुर्द्विगत करनेके लिये
 एक ही दिव्य सूर्य समान, श्रीवीतराग आज्ञाके प्रतिपालक, सिद्धांतादि ग्रंथोंके वेत्ता, पूर्वाचार्य मार्गका अनुसरण करने
 वाले दिगंबराचार्य ने कहा कि हे दृढिया हो पूजा करनेमें आरंभका दोष बतलाते हो सो सुनो । यह दोष तुमारे ग्रंथोंमें
 श्री जिनेन्द्र देवके पंचकल्याण के अवसर लिखा है सो सत्य है या असत्य । जो सत्य है तो फिर आरंभका दोष देना
 सर्वथा अनुचित है । तथाहि--जिनेन्द्र भगवान के गर्भकल्याण समय-इन्द्रकी आज्ञासे कुवेरने बडे समूह और उत्साहसे
 पुष्प वृष्टि आदि पंचाश्रय वृष्टि की । दिक्कुमारी देवियोंने भगवानकी माता की गर्भशोधना की । अगणित दीप जलाये ।

चतुर्निकायदेवनिकराः आगत्य तस्मिन्तौ हरिविष्टरे संस्थाप्य क्षीरोदकेन सहाप्य गर्भगतं प्रभुं नत्वा त्रि पदक्षिणा दत्त्वा वल्गाभरणमा-
 लौभिः तौ प्रपूज्य तस्योरो जयनदादिशब्दोक्तान् घोषयित्वा पश्चात्स्वस्थानं ययुः तथाहि गर्भजातवालकजितं स्वावधिनेत्रेण ज्ञात्वा सर्वे
 सुरेश्वरा महताडम्बरेण सह तदुर आगत्य जितं नीत्वा त्वर्णाचले गत्वा सिंहबिष्ट्रे स्थापयित्वा सहस्रत्रलशै दुग्धसमुद्रदागर्तै वा
 वसंत्यै प्रभोरभिषेकं कृत्वा पश्चात्तसुरे जिनं स्थापयित्वा महदानेन स्वस्थानं जायुः पुन तप कल्प्याणेऽपि ते सुरेन्द्रा आगत्य तप क-
 ल्याणं कृत्वा वव्रजुः । तद्देव केवलज्ञानोत्पत्तिप्रथेऽपि समवसरणरचनामुकुर्वन्नेव । तद्देव निर्वाणकल्याणसमये त निर्जिन्द्रा आ-
 ननेक प्रकारकी परिचर्या की । और गर्भ समय देवेन्द्रोने श्रीजिनेन्द्रदेव के मातापिताओंको सुवर्ण सिंहासनपर नैठाल
 क्षीरोदधि के कलशो से अभिषेक कराया । फिर नमस्कार की और प्रदक्षिणा दी नत्वाभरण माला पहनाये और पूजा
 की । पश्चात् नृत्य किया जब नंद आदि शब्दोंकी घोषणा की । फिर अपने स्थान गये ।

जन्म कल्याणम्:—श्रीजिनेन्द्रभगवानका जन्म अवधिज्ञानसे जानकर देवेन्द्रोने बड़े ही ठाठबाटके साथ और
 अपार समारंभके साथ बत्काल बालकको-पेरावत हाथी पर विराजमानकर मेरु पर्वतपर एक हजार आठ क्षीर समुद्र
 के दुग्धसे भरे हुए कलशोसे अभिषेक किया । पूजा की, गीत नृत्य-वादित्र आदिके द्वारा महान महोत्सव किया और
 भगवानको नगल्ले काकर माता पिताको सोपकर आनन्द माना ।

तप कल्याणम्:—देवगणोने भगवानका अभिषेक करा कर शिविकामें प्रभुको बैठालकर वनमें दीक्षा कल्याण
 महान उत्सव और अपूर्व समारंभसे किया । ज्ञानकल्याणम्—समाप्तसरणकी रचना कर जगतमें महान समारंभका ठाठ
 सबको आश्चर्यकारी बतलाया । और भगवानकी पूजा आठ द्बयसे की ।

निर्वाण कल्याणम्:—देवोने भगवानके दिव्य शरीरको दहन किया जिसमें कास्मीर अगर तगर चंदन
 कपूर आदि सुगंधी पदार्थोंके द्वारा अपूर्व ठाठबाट से उत्सव मनाया ।

गद्य. प्रभो अगीरदहनक्रिया काष्ठमीगुणरूपैर्गंगामागादिभि इत्यौर्ध्वं ऋत्वा स्वभ्यो क उरुः । भो नृकाः इदम दृचेत्सम्यक् क्रियमस्य स्यात् ? पचस्वपि ऋत्वाणेषु मउदारयोत्सि ।

इति शुभापि पुनः लुंरुप्रतारका दद्यात् इत्याहः सा नृपोत्तमा नृगद्राणामाग्ने पापोत्पत्तिनिन्दित्वेव । यागसोत्सति पुन्यकर्त्तव्येषु भवेत् नात्र सशय । इति ऋत्वायैक श्रुत्वा जिनागमायज्ञायक आद भो नृका अभ्योत्तर ययं श्रुणुय । अन्ते अः मया मेनवा मह भागवदादिनायेंदनाग्नेमानग्नेयान् तरकाणो किं ध्यात् । प्रत्यक्षे ण्यो दर्शनात् तदा देवायं प्राप्सयासीत् । नो नृका आरभकलं प्रत्यक्षे षडयथ यस्मासि नायत् कथितं ॥

हे इडिया हो नह आरभ (महदारभ) भगवानकी पूजा और पचकल्याण निमित्त किया जो तुमारे गयोमें लिराना है वह सत्य है या मिथ्या ? सो कहो । जो सत्य है तो पूजा करनेमें आरभका दोष नतलाना व्यर्थ है । क्यो कि जिनंद्र पचकल्याणांम देवोने पूजा की हं ।

अर्थ:— उपपुक्त पचकल्याणांम देवोके द्वारा महान समारभ भगवानकी पूजाका श्रयण कर इडियाने कहा कि भगवानके पचकल्याणांम देवोने आरभ किया है । नह भिक्रियाजन्य होनेसे हिंमारूप नहीं है । मनुष्योंके आरभमें ही पापोत्पत्ति होती है । देवोके आरभमें पापोत्पत्ति नहीं हं । इमलिये मनुष्योको पूजा करनेका निषेध हम लोग करते हैं । यह सुनकर जिनागमके ज्ञाता आचार्य महाराजने कहा कि हं इडियाहो ! भरत महाराजने श्री आदिनाथ भगवानकी यात्रा और पूजा ससैन्य-सकडुन-सपरिवार महा विश्रुतिके साथ की और उस पूजाके फलसे अयधिवानकी प्राप्ति हुई । आपके शास्त्रोमें ऐसा लिखा है सो सत्य है या असत्य ? जो सत्य है तो फिर मनुष्यके आरभसे पूजाका निषेध नहीं होता है बल्कि उत्तम गुणोंकी प्राप्ति होती है । जैसे कि भरत महाराजको अबधिवानकी प्राप्ति हुई । इसलिये आरंभ

पुनरारम्भफल शृणुथ—श्रीवर्द्धमानवदनार्थं श्रेणिकाभिधो भूपेन्द्रः सकलसेनया सह किमगामत् ? वा एक एवागामत् तत्कथयत भो मतिवर्जिता । प्रभो दर्शनात् नमस्कारकरणात्तदुणोत्करकथनादेव तेन श्रेणिकभूपालेन पूर्वोपाजित सकलाहः तदैव नाशयित्वा भाविकांले महापद्माभिधतीर्थकारस्य गोत्र ववधे । ह्येतत् आरम्भफल पश्यथ । पुनरपि ह्यनेकवार बह्वारंभेण सह श्रेणिको भूपालो महावीरप्रभो दर्शनार्थं पूजनार्थं गत ॥

के दोपसे पूजाका निषेध करना केवल कपोलकल्पित बात है । शास्त्रपद्धतिसे निषेध नहीं हुआ । सो यह केवल अज्ञानसे कदाग्रह ही है ॥

अर्थः— भगवानकी पूजामें आरम्भका दोप नहीं होता है—फिर भी ऐसा बतलाते हैं—देखो श्रेणिक महाराजने सैन्य-सपरिवार महान आरम्भ और पूर्ण वैभवेके साथ भगवानकी पूजा की और उससे समस्त पापकर्मोंका नाश कर तीर्थकर गोत्रका बंध किया ।

अर्थात्—महापद्म नामके भविष्य तीर्थकरका गोत्रबंध किया । यह सप्त आरंभसहित पूजा करनेका ही महान फल है । फिर भी श्रेणिक महाराजने राजगृहीसे सैन्य विपुलाचल पर्वतपर नीर ग्रथुके दर्शन वार वार किये । सो यह लिखना सत्य है कि मिथ्या ? महाराज श्रेणिकने महान आरंभसे भगवानकी पूजा की और तीर्थकर गोत्र बाधा तो अन्य मनुष्य भावभक्ति से महान उत्सवके साथ पूजा करें तो क्यों नहीं अनन्त पुण्यको संपादन करेंगे अवश्य ही करेंगे । इसलिए हे दुंडिया हो भगवानकी पूजा करनेमें आरम्भका दोप प्राप्त होता है ऐसा कहना व्यर्थ और स्वकपोल कल्पित है ।

भो लुंकाः प्रभो- पूजने सिद्धक्षेत्रयात्राकरणे जिनमन्दिरनिर्माणे जैनमंदिरस्य नीर्णोद्धारणे जिनस्य स्वप्ने इत्याद्यन्य-
शुभे कार्ये हि महदारंभस्योत्पत्तिं स्यात् तथापि तदारभ कृतोपि संख्यातगुणपुण्योत्पत्तिरुद्भवति । गृहस्थानां पुण्यारंभे महत्पुण्योत्पत्ति
कथिता जिनागमे जिनेश्वरैः सर्वत्रैव युष्माकं ग्रन्थेषु यूयं वक्ष्यथ । गृहमेधिना पुण्यारंभे यतोत्पत्तिं मुनीश्वराणां निरारंभेण यतोत्पत्तिः ।
नात्र संवेह । किंच श्रूयताम् ॥

पूजाकार्ये बहो मूढा जिनखाने जिनगृहे । निर्माणे महत्पुण्यं कीर्तितं च जिनेश्वरैः ॥
किंच श्रूयताम्—

सन्निभे भवता सर्वे लोकाश्च या स्त्रियोऽपि च । आयात्येव प्रतिघ्न्य पादत्राणेन सयुता ॥ २ ॥
यस्मान्मार्गो मृतानंता जीवा भो मृढमानसा । तस्थाप भवता रज्ज् किं न वदथ मेत्विच (१) ॥ ३ ॥

अर्थ—हे दृढिया हो, श्रीजिनेन्द्र भगवानकी पूजा सिद्धक्षेत्रकी यात्रा—जिनमंदिरका जीर्णोद्धार करना
जिनरक्षण करना आदि कार्यमें महान पुण्यकी उत्पत्ति होती है । यद्यपि इन कार्यमें महान् आरंभ है तो आरंभ की
अपेक्षा महान पुण्य असंख्यात गुण उत्पन्न होता है । गृहस्थोको पुण्यकी उत्पत्ति आरंभ के बिना नहीं होती है इसीलिये
गृहस्थोका धर्म आरंभ सहित ही होता है । और मुनीश्वरोका धर्म निरारंभ है । ऐसा जिनागममें जिनदेवने वतलाया है ।
अर्थः—हे दृढिया हो तुमारे (साधुलोगोंके) दर्शन और पूजन करनेके लिये बहुतसे मनुष्य और स्त्रियां
नित्य जूता पहन कर आती हैं सो उनके मार्गमें जूताके आरंभ से अनंत जीन मर जाते हैं उसका पाप भी तुमको
लगेगा । और दर्शनार्थ आये हुए पुरुष स्त्रियोको आरंभ जनित दोष लगेगा । सो तुम ऐसा आरंभ क्यों करते
हो । और लोगोको बयो उपदेश देते हो^२ क्या तुमको पापका कुछ भी भय नहीं है ? या आरंभ करनेमें पाप नहीं है ।

प्रातः मध्याह्नकालेवा चातुर्मासि दिवात्यये । मदां आश्रात्यहो लोकाः तस्याप भवतां भवेत् ॥ ४ ॥
 बहो मूर्खाश्च प्राप्तिः स्यात् भवता दर्शने खलु । पुण्यस्य जिनविभवस्य तत्रास्त्येव विजातिनां ॥ ५ ॥
 त्रयीध्वं पूजनासे पुण्य किं पापसम्भव । पुण्यं स्याद्यदि कुर्याद्वि कुर्वीध्वं जिनपूजनम् ॥ ६ ॥
 पापं स्याद्यदि युष्माकं ग्रथाना मो महोद्धताः । कुरुध्व लेपनं यूयं कथयिष्याम किं पुनः ॥ ७ ॥
 पुनर्वचिम् शृणुध्वं मो युष्माकच मते खलु । आरंभाज्जायते पाप एतस्य कथनं ननु ॥ ८ ॥
 भवद्भिश्च गृहस्थाना पूजाया श्रीजिनस्यैव । त्यागं च कारिता किंवा अन्यांरंमपि खलाः ॥ ९ ॥

अर्थः—प्रातःकाल-मध्याह्नकाल-चातुर्मासि-रात्रि-और अंधेरेमें बहुतसे मनुष्य तुमारे (साधुलोगिक) दर्शनको जूता पहनकर आते हैं और उनको पुण्यकी उत्पत्ति होती है ऐसा तुम लोग नतलाते हो तो जिनपूजनके पवित्र आरंभसे पुण्यकी उत्पत्ति क्यों नहीं होगी ? तुमारे दर्शनमें पापारंभ करनेपर भी पुण्यलाभ और भगवानकी पूजन में पवित्र आरंभ से पुण्य लाभ न हो यह कैसी बात ? अपने मतलबके लिये तो पापारंभमें पुण्य लाभ ब्रतादिया ! ।

अर्थः—हे दृढिया हो भगवानकी पूजा करनेसे पुण्य होता है या पाप ? जो पुण्य उत्पन्न होता है तो तुम भी पूजन करना स्वीकार करो । यदि भगवानकी पूजा करनेमें पाप होता है तो तुमारे ग्रंथोंमें पूजन करनेकी आज्ञा लिखी है वह मिथ्या ठहरेगी । जिससे तुमारे ग्रंथ ही झूठे हैं ऐसा मानना पड़ेगा ।

अर्थ—हे दृढिया हो ! तुमारे मतसे गृहस्थोंको आरंभ करने में पाप लगता है ऐसा मानते हो और इसी लिये (आरंभ के भयसे) भगवानकी पूजा करनेका निषेध करते हो तो वह बतलाओ कि आरंभके पाप के भयसे भगवानकी पूजाका आरंभ का त्याग करना चाहिये या गृहस्थोंकी अनेक पाप प्रवृत्तिके द्वारा होनेवाला अशुभ आरंभ उसका भी त्याग करना चाहिये ? फिर भी तुमारे मतके प्रतिपालक गृहस्थ प्रतिदिवस कामसेवन करते हैं । वरके महान

गृहस्था प्रतिषेद्धि कामसेवा गृहोद्भव । कुर्बन्नेवापर कार्यं धान्यस्य विक्रय तथा ॥ १० ॥
वैवाह प्रतिभर्षे वा एनेककण्टक्रियाप । अगालितजन्त्रे स्नान्य वसाणा घोवन सदा ॥ ११ ॥

भो मुर्वा मर्वकार्येषु आरभो जायते ललु । भनता सेवकानाच तदारभस्य किं कृतम् ॥ १२ ॥
कारयन्व च तत्तयाप भो दृष्ट्या तूर्णमेवहि । वय न जानयिष्याम निरारभा इमे तदा ॥ १३ ॥

यद्यारभस्य त्याग म्यात त्यज व मर्वमेवहि । आरभ सर्वकार्येषु कयविक्रयकेषुच ॥ १४ ॥ -
कार्य करते हैं । धान्य सरीसृपों और वेचते हैं, निवाह करते हैं, अनंक कण्ट क्रिया और मलिनाचाग का आरभ

करते हैं । विना छाने (अगालित) पानीमें अपने कण्डे धोते हैं । अपना मकान बनवाते हैं । और तुमारे (साधु-
लोगोंके रहनेकेलिये) रहनेके पोसारा उपाय (धर्मशाला या मन्दिर) बनवाते हैं । आदि अनंक प्रकार का महान
आरभ करते हैं । हे दृष्टिया हो गृहस्थोंको प्रत्येक कार्यमें आरभ तो होगा ही । विना आरभके गृहस्थ अपना जीवन
एक क्षण मात्र भी स्थिर नहीं रखसके तो तुमारे मेयकोंको उपर्युक्त पापजन्य क्रियाओंके महान आरभ का पाप लगना
है या नहीं । जो पाप लगता है तो सबसे प्रथम अपने सेयकोंसे गृहस्थसवधी आरभ का त्याग करना चाहिये । जो
तुम गृहस्थोंके समस्त प्रकार का आरभ का त्याग करा सको तो अवश्य ही यह माना जासक्ता है कि आरभसे पाप
होता है । परतु वह आरभ तो गृहस्थो से छुड़ाया जा नहीं सक्ता । और न गृहस्थ अपने गृहस्थसवंधी आरभको
त्यागहो कर सक्ता है । तो फिर भगवानकी पूजामें होनेवाला स्वल्पारंभ जो महान पुण्यका प्रदान करनेवाला है उसका
त्याग करना या आरभभयसे भगवानकी पूजा का निवेध करना कितने अन्याय और पक्षपातकी अज्ञान भरी हुई बात
है ? जो आरंभ ही छोड़ना है तो सर्व प्रकार का आरभ छोड़ देना चाहिये-यह नहीं कि गृहस्थ अपने गृहसंवंधी
समस्त प्रकार का पापारंभ तो करें और पुण्योत्पादक भगवानकी पूजा का आरभ का परित्याग करें ।

पूजने जिनविषय दशने मंदिरम्यवै । करणे च गृहस्थाना महत्पुण्यफल भवेत् ॥ १५ ॥
 सिद्धक्षेत्रस्य यात्राया जिनविषयस्य पूजने । जिनमंदिरसत्कार्ये प्रतिष्ठाया च ये बुधाः ॥ १६ ॥
 पापारभस्य उरगतिं दुग्ते तेऽधमा मता । तदघाते निकोतेषु यास्यति नात्र संशय ॥ १७ ॥
 ते दृष्ट्वा पुन इत्याहु त्रयो दोषा बुधोत्तमा । जिनविषे षतो नैव म्यादस्माकं रुचि खलु ॥ १८ ॥
 आधमचेतनस्य च द्वितीयस्य च कृत्रिमम् । तृतीयमेकन्दिश्यव एभिर्दोषैश्च वर्जिता ॥ १९ ॥
 श्रोमज्जिनेन्द्रविषेहि भो लुक्कमतधारका । अचेतनत्वाभिध नोपे भवद्भि गदितं खलु ॥ २० ॥
 तदोपस्य निराकरण ग्रंथमोधेन मो ग्लान्ता । कगेम्यहं समापेन युय शृणुथ निश्चयात् ॥ २१ ॥

अर्थ—हे दृढिया हो ! जिनेन्द्र भगवानकी पूजन करनेमें—जिनमंदिर बनवानेमें गृहस्थोको महान पुण्य लाभ होता है । इसी प्रकार सिद्धक्षेत्रकी यात्रा करनेमें जिनेन्द्र भगवानकी प्रतिष्ठा करनेमें, स्थोल्पव निकलवानेमें महान पुण्य है । जो उस पुण्यकर्ममें पापका आरम बतलाते हैं वे नीच हैं । वे अवश्य ही निगोद आदि दुर्गतिमें जायगे इसमें सदेह नहीं है ।

अर्थ—यह सुनकर दृढियोने कहा कि भगवानकी पूजन करनेमें हमे तीन दोष मालूम देते हैं । इसलिये हम निषेध करते हैं । प्रथम तो प्रतिमा अचेतन है । दूसरे जिन प्रतिमा कृत्रिम है । तीसरे जिन प्रतिमा एकेन्द्रिय है । तिस उन तीन दोषों के कारण ही निषेध है ।

अर्थ—हे दृढिया हो तुमने भगवानकी पूजा करनेमें जो अचेतनत्व नामका दूषण बतलाया श्रीजिनेन्द्र भगवानकी प्रतिमा अचेतन है अचेतनकी पूजा क्यों करना उससे क्या लाभ होता है ?

कृत्रिमस्य निराकरण भो लुंका शृणुथ खलु । करोमि शास्त्रबोधेन ब्रह्मकारवशात्त च ॥ ३८ ॥
 जिनेन्द्रपतिमायाश्च भवद्द्र मूढमानसै । दत्तो हि कृत्रिमो दोष सर्वपापस्य कारक ॥ ३९ ॥
 स्तवम वर्दन गानविद्या सामायिक तथा । पठथ भो किमर्थं च पूकाररवत सदा ॥ ४० ॥
 यथा तेषा हि पठनात् उत्पत्ति जायते सदा । शुद्धभावस्य भो लुंका तथा हि तस्य दर्शनात् ॥ ४१ ॥
 कृत्रिमा स्तवनाद्याश्च प्रत्यक्षं नैव सशय । इमे यथा हि मान्या स्यु तथा तेषि बुधैर्मता ॥ ४२ ॥
 कृत्रिमस्य ब्रह्मो मूर्खा जिनविवेकस्य स्वनात् जीवोयं लभते सौख्य शिवपुरमकृत्रिमम् ॥ ४३ ॥
 इत्थ ज्ञान्वा बुग ये हि जिनविवेकस्य दर्शनम् । कुर्वन्ति तेहि तत्तुल्य लभते शाश्वत पदम् ॥ ४४ ॥

मूर्तिकी निंदा करते हैं वे निगोद आदि दुर्गतिके पात्र हैं ।
 अर्थ:— हे दृढिया हो भगवानकी प्रतिमा कृत्रिम है इसलिये नही पूजना चाहिये । ऐसा कृत्रिमपनेका

दोष देते हो तो यह दोष देना ठीक नहीं है । क्योंकि जिस प्रकार स्तवन वदन पाठ सामायिक-गानविद्या और
 शास्त्र पाठ आदि जितने कार्य हैं वे भी सग किसी न किसी मनुष्यके बनाये हुए होनेसे कृत्रिम ही है । फिर कृत्रिम
 स्तोत्रादि पाठोंको पढ़ते ही उमसे तुमको लाभ होता है या नहीं ? कृत्रिम पाठादिकोके पढ़नेसे लाभ मानकर भी
 कृत्रिम जिन प्रतिमासे लाभ नहीं मानना कदाग्रह है । स्तोत्रादिक प्रत्यक्ष ही कृत्रिम है । साधारण मनुष्य गीत भजन
 पढ उनाते हुए देखे जाते हैं । जब कृत्रिम स्तोत्रोंके पढ़नेमें लाभ है तो कृत्रिम जिन प्रतिमा भी भव्य जीवोंको
 नकृत्रिम मोक्षसुख प्रदान करे तो क्या आश्चर्य ? इसलिये जो भव्य जिन प्रतिमाके दर्शन करते हैं वे अवश्य ही शाश्वत
 सुख प्राप्त करते हैं ।

हे दृढिया हो जो तुम कृत्रिम पाठोंका पढ़नेका त्याग करो तो जिनविवेकके दर्शन पूजन और उपासनाका

भो लुका कृत्रिम पाठ किमर्थे पठथ खलु । त्यजन्व तदपि मूर्खा दोषस्तैव स्याच्च किम् ॥ ४५ ॥
गच्छन्व दुर्गतिं या च जिनप्रियस्य निन्दनात् । अस्माकं मानयन्व च वाग्य यूय हितार्थदम् ॥ ४६ ॥

इति कृत्रिम दोष निराकरण ।

एकेंद्रियाभिषो दोषो भवद्भिः स्थापितः प्रभो । प्रिये तस्य निराकरणं शृणुन्व भो प्रोम्यह ॥ ४७ ॥
भो दृढ्या काएलेखन्या वनस्पतिसमुद्भवे । पत्रे च मसिनाऽशुद्धे रदितान् वैवभो खला ॥ ४८ ॥
जिनाज्ञा विसुलाशुद्धा सुमोघस्त्ववर्जिता । नमथ तान् कथं शथान् खलु एतेन्द्रियोपमान् ॥ ४९ ॥
बदथ सकलाश्रमे यथा एकेंद्रिया स्फुटं । किं स्यु पचेन्द्रिया मूढा यूयं मे तूर्णतो ननु ॥ ५० ॥

त्याग करो । अन्यथा मिथ्या दूषण लगाकर अज्ञानी क्यों बनते हो और दुर्गतिके पात्र बनते हो । इसलिए कदाग्रह का परित्याग करो और सद्बुद्धि धारण कर जिनपूजन करो जिससे लाभ हो ।

अर्थ—हे दृढिया हो जिनेंद्र भगवानकी प्रतिमा एकेंद्रिय है क्योंकि पत्थर एकेंद्रिय होता है और उस पत्थरकी प्रतिमा बनाई जाती है सो प्रतिमा भी एकेंद्रिय कहलाई । एकेंद्रियकी पूजा करना अयोग्य है । इस प्रकार जो एकेंद्रियदूषण जिनप्रतिमा पूजन करनेमें दिया जाता है वह मिथ्या है । ठीक नहीं है । क्योंकि जिस प्रकार प्रतिमा पत्थर आदिकी होनेसे एकेंद्रिय है उसी प्रकार शास्त्र भी एकेंद्रिय है । शास्त्रके लिखनेकी कलम वनस्पति में बनती है इसलिये एकेंद्रिय है । कागज या ताडपत्र भी एकेंद्रिय है । वनस्पतिकों दूधर कागज वनाये जाते हैं हे इसलिये एकेंद्रिय है । और ताडपत्र तो प्रत्यक्ष ही एकेंद्रिय है । उसपर मर्ब लेस अशुद्ध स्याही से लिखे हुए है । फिर उन ग्रंथोंको क्यों माना जाता है—पूजा की जाती है—नमस्कार किया जाता है । हे दृढिया हो ! तुम तो पचेन्द्रिय हो और एकेन्द्रिय शास्त्रको क्यों पूजते हो । शास्त्रसे तो तुमारे में इन्द्रिया अधिक है ।

निश्चयाद्यदि युष्माकं नास्त्येव भो कुर्मांगना । एकैन्द्रियाणा मान्यत्वं पत्रे च रदितान् खलु ॥ ५१ ॥
 सर्वानपि त्यजध्वं च ग्रंथान् यूय सनातनान् । वय हि जानयिष्याम इमे सत्या न संशय ॥ ५२ ॥
 एकैन्द्रिय च प्रत्यक्ष शास्त्र भो मुढमानसा । यूय नमथ भावेन जिनात्रिव कथ नहि ॥ ५३ ॥
 त्रवीध्व भवता ग्रथे जिनविनिषेधनम् ॥ कस्मिन् कृतं खलो मूर्खा तच्च भा भो खला स्फुट ॥ ५४ ॥
 ग्रथेषु वाहि सर्वेषु जिनविब्रस्य पूजनान् । सप्राप्ता बहवो मृता शर्भसततिमजसा ॥ ५५ ॥
 पश्यथ नात्र संदेहो भो लुकमतधारका । स्याद्यदि कथन यत्र कुर्वीध्वं जिनपूजनम् ॥ ५६ ॥
 युष्माकं सर्वग्रथाना भवन्ति खलु लोपनम् । कुरुध्व यद्यसत्या स्यु कुरुध्वं न विलंबनम् ॥ ५७ ॥

यदि तुम शास्त्रोको एकैन्द्रिय नहीं मानते हो तो श्रीजिनप्रतिमाको एकैन्द्रिय किस प्रकार मानते हो । क्योंकि शास्त्रोमें एकैन्द्रियपना ताडपत्र पर कलमसे लिखे होनेसे प्रत्यक्ष दीस रहा है । जो एकैन्द्रिय दोपसे समस्त शास्त्रोकी मान्यता को छोड देते हो तो हम समझेंगे कि आप बराबर एकैन्द्रिय को जानते हो और आपका कहना सत्य है । जो एकैन्द्रिय शास्त्रोको छोड नहीं सक्ते तो समझना चाहिये कि तुम एकैन्द्रियकी पूजा करते हो ।

अर्थ—शास्त्र एकैन्द्रिय प्रत्यक्ष है । जो तुम एकैन्द्रिय शास्त्र को पूजते हो तो जिनप्रतिमाकी क्या नहीं पूजा करते ? तुमारे कौन कौन से शास्त्रों प्रतिमाकी पूजा का निषेध किया है । तुमारे बहुत से ग्रथोंमें जिन प्रतिमा पूजना लिखा है । जिनपूजन करनेसे बहुतसे लोगोंने अपना आत्मकल्याण किया है । फिर भी तुम निषेध करते हो । यह क्यों ? यदि ग्रथोंमें जिन पूजन करना लिखा हो और तुम उस को मान्य करते हो तो फिर जिनपूजन भी मान्य करो अन्यथा ग्रंथका लोप करो ।

इति श्रुत्वाहु ते लुंका अथेच लिखित ननु । अतोऽस्माक च मान्यत्व यथाना नात्र संशय ॥ ५८ ॥

जिनबिम्बमपि मूर्त्वा नहि घटति सुदरं । यद्दर्शनात् क्षय याति पापमृदा कुटु खदा ॥ ५९ ॥

इत्याहु पुन अर्थेच पठति बोधभारक । जायते पठनाच्च सुबोधश्च तत शिव ॥ ६० ॥

जिनबिम्बस्य भो लुंका यो त्रती शुद्धधीर्वशी । करोत्येव प्रपूजा स लभते परमं पदम् ॥ ६१ ॥

भो लुंका जिनबिम्बस्य पूजनात् वंदनात् खलु । आतौरौद्रकृद्धानस्य नाशो यात्येव तस्यैव ॥ ६२ ॥

रक्षाक्षा क्रोधपूर्णाया यथा काकोदरोत्करा । चातिरतदूरं याति वैन्तेयस्य दर्शनात् ॥ ६३ ॥

तद्वदेव जिनेन्द्रस्य दर्शनात्पापपञ्जा । नराणाच प्रयात्येव ह्यनुकमाद्भवेत् शिव ॥ ६४ ॥

अर्थः—यह सुनकर लुका (दूडिया) ने कहा कि हमे ग्रथ मान्य है जो ग्रथोंमें लिखा है सो भी मान्य है । हे दूडिया जिन प्रतिमा यद्यपि सुदरता नहीं देती है तो भी जिनेन्द्र भगवानकी मूर्तिमें वह अर्चित्य शक्ति है कि जिससे भव्योंके भयकर पाप दर्शनमात्रसे तत्काल ही पलायमान हो जाते है ।

अर्थः—दूडियाने यह सुनकर कहा कि देखो ग्रथोंके पढनेसे तत्काल ही बोध होता है और उससे मोक्ष होती है तो उसी प्रकार हे दूडिया हो जिनेन्द्र भगवानकी पूजासे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति और ज्ञानकी विशुद्धि होती है । जिससे मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

अर्थः—हे दूडिया जिनेन्द्र भगवानकी परमशान्त दिव्य मूर्तिको देखने से अति रौद्र ध्यान नष्ट होजाते है । और परम शान्तता प्राप्त होती है । जिनके नेत्र लाल है क्रोधसे शरीर कंपित हो रहा है ऐसी अवस्था शीघ्रही नष्ट हो जाती है । जैसे गरुडको देखकर सर्प भाग जाते है । इसी प्रकार पाप भी तत्काल विलीन हो जाते हैं । और क्रमसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

भवद्भिः जितविष्वस्य कृताच यदि भो खला । निंदा किमर्थं त चैव मानय्य जिनेश्वरम् ॥ ६५ ॥
 जपथ तं हि भो तुक्ता प्रतिष्वन जाप्यन्तिम् । तमेव निदयथोच्चैः अस्योत्तर वदथ मे ॥ ६६ ॥
 एव वदथ मा मूढा मॅऽना वंध्यापि स्यात् खलु । गदोन्मत्ता दुर्बल्येव सुन्दियो नो क्रचिदपि ॥ ६७ ॥
 अधोलोकच सर्वेन कृत्रिमाकृत्रिमा अपि । जितविंवा सुरैः पूज्या सति वै शिप्रदायका ॥ ६८ ॥
 ऊर्ध्वलोकैः च सर्वेव विमानेषु पृथक् पृथक् । जितविंवा विभातिम्म निर्लिंयापि वंदिता ॥ ६९ ॥
 पृच्छामि भवता ऋस्य ग्रयानुसारत कृता । उरथापना हि विष्वस्य यूयं वदथ तच्च मे ॥ ७० ॥
 कुपक्ष च त्यजध्व भो मे वाच शिवकारण । कुर्वीध्व शिववाद्या चेत् मा स्युथ जैनघातका ॥ ७१ ॥

अर्थ-हे दृढियाहो आप जिनेश्वर देवकी यति की तो निंदा करते हो फिर भी जिनेश्वर देवको ही पूजते हो
 मान्य करते हो स्तवन पढ़ते हो ! यह आश्चर्य । यह बात तो अपनी माताको याज नतलानके समान है । इम प्रकार
 की क्रियाएँ मूर्ख तथा उन्मत्त पुरुष ही करते हैं ।

अर्थ-अधोलोक में कृत्रिम और अकृत्रिम जिन प्रतिमा देवोंसे पूजित मोक्षको प्रदान करने वाली साध्वती
 विराजमान है । इसी प्रकार ऊर्ध्व लोकमें भी अकृत्रिम जिन प्रतिमायें मदा विराजमान हैं । और उनको विमानवासी देवगण
 पूजते हैं । फिर आपने जिनप्रतिमाको पूजन नहीं करना ऐसा कौनसे ग्रथसे निषेध किया है । जब कोई भी ग्रथ जिन
 प्रतिमाकी पूजन करनेके निषेधका नहीं मिलता है तब फिर पक्षपात क्यों करना चाहिये । यदि मोक्षकी इच्छा है तो
 कुपक्ष छोड़कर भगवानकी पूजन करो । जिनन्द्र देवके घातक मत बनो ।

भी हृदया पुन एव च वय हि साधवो भुवि । त्रय वै मुढलोकानामग्रे यूय खला स्फुट ॥ ७२ ॥
 साधूनामेकलक्ष्मार्प भवता नैव दृश्यते । साधुजनस्य चिन्ह वै शृणुध्व कथयाम्यह ॥ ७३ ॥
 व ह्याभ्यतरद्वेष्टेन वर्जित शीलभृषिण । सकलश्रुतवेत्ता च जिनमार्गप्रकाशक ॥ ७४ ॥
 परनिद्रातिगो वीरो देहे निर्ममता वशी । ऋतुनिकायजीवाना रक्षको मन्धुवर्जित ॥ ७५ ॥
 शुद्धाचारत सद्दी मायामानविखडक । मुनिश्रावकधर्मस्य देशक सयमी दमी ॥ ७६ ॥
 आत्मजो, लोभनिर्मुक्त सर्वजनप्रिय शुचि । सस्कृतमाकृतवेत्ता मनोक्तियथवर्जितः ॥ ७७ ॥
 शुद्धदृष्टज्ञानव्रतस्य धारको निर्मदो गूणी । कृती पूज्यो बुधैर्विध्व मित्यात्वपथमजक ॥ ७८ ॥
 अनेकातनैर्युक्त ध्यानी मौनी सुवीर्यवान् । पचाक्षवारमातगनाशने हरिसदृश ॥ ७९ ॥

इस प्रकार सर्व दोष निराकरण किया । अत्र दृढकोके दोषः—

अर्थ—हे दृढिया हो एक चात तुमसे पूछते हैं । वह यह कि तुम अपनको मूढ लोगोंमें साधुके नामसे प्रसिद्ध करते हो । तुमारा ऐसा करना ठीक नहीं है । क्योंकि—

अर्थ—हे इन्द्रिया हो तुममें साधुपनेका एक भी लक्षण नहीं है । न कोई ऐसा चिन्ह तुम्हारेमें दीसता है कि जिससे यह माना जाय कि तुम साधु हो । माधुका लक्षण—जिसके वाद्य और आभ्यतर परिग्रहका परित्याग हो । शीलसंपन्न सकल ज्ञानोक्ते पारगत जिनमार्गके प्रकाशक, परनिद्रासे रहित, धीर, वीर, देहभोग और शरीरसे निर्ममत्व, मन और इन्द्रियोंके विजय करनेवाले, शात, पट् कायके जीवोकी दया पालनेवाले, क्रोधरहित, क्रोध आचरणको पालनेवाले, मान माया लोभ और कामादि विकार रहित, धर्मके उपदेशक, परम संयमी, आत्माको जाननेवाले, परम पवित्र,

जिनाज्ञापालक सौम्यो भयमप्रविवर्जित । अष्टाविंशतिमूलादिगुणाना पालने क्षम ॥ ८० ॥
 इत्याद्यन्यमनोज्ञैश्च गुणैर्युक्तो भवेत्सखलु । य कश्चिदकथ्यते सहि साधु साधुजनैश्च भो ॥ ८१ ॥
 गुणाना चैन पनेपा मध्ये खेकोपि नास्ति वै । भवता मूढचित्ताना यूय पश्यथ निश्चयात् ॥ ८२ ॥
 हंसा हंसा हि भो मूर्खा वक्रा वक्राश्च सुदरा । यूयं च वक्रतुल्यापि नो सति ध्यानभावसा ॥ ८३ ॥
 क्रियालेशोऽपि नारयेव भवता च खलत्सनाम् । यत्र नास्ति क्रियाशुद्धिर्धर्मोऽपि तत्र नास्ति वै ॥ ८४ ॥

समस्त तत्त्वके वेत्ता, शुद्ध ज्ञानदर्शन और चारित्रिकी धारण करनेवाले, निर्मद, गुणी, फगम ध्यानी, तपस्वी, समस्त प्रकारके सयोगे रहित, फगम मौन्य, जिनाज्ञा प्रतिपालक और अष्टावीस मूल गुणके धारक, गुणी पुरुषको माधु कहते हैं ।

ह दूढियाहो तुमारेमें उप्युक्त गुणोंसे एक भी गुण नहीं है । अतएव तुम किसी प्रकार भी साधू कहलाने योग्य नहीं हो । जा गुण मन्डित होता है वही माधू ह । जिसमें गुण नहीं है वह साधू भी नहीं है ।

हे दूढियाहो हम हम ही होते हैं । वगुला वगुला ही है । यद्यपि वगुला भी देखनेमें सुदर है तथापि वगुला हस नहीं हो सके । और तुममें तो वगुलोंके समान भी ध्यान नहीं है ।

अर्थ:-- हे दूढियाहो तुमारेमें चारित्रिका लवलेश मात्र भी पालन नहीं है न तुमारेमें पवित्र क्रियायें हैं । जहापर क्रियाशुद्धि नहीं है जहापर धर्म कर्म रह सक्ता है ?

भावार्थ— क्रियाकी शुद्धि पालन करनेपर ही धर्मका पालन करना समझा जाता है । जो क्रियाओका पालन नहीं करता है वह धर्मकर्म विहीन है ।

प्रत्यक्ष भवता मुढा म्लेच्छाचारो हि दृश्यते । अतः स्युः तसमा यूय अष्टाचारस्य पालनात् ॥ ८५ ॥

जिन्दास्वादेन युष्माभिर् मर्वाचार सुशोभन । त्यम्नवात सर्वधर्मोपि मुनिगृहस्थगोचर ॥ ८६ ॥

प्रासुक प्रासुकं कुरुना सर्ववस्तुकद्वयक । भवद्विश्च क्रियाहीनैः सर्वे द्यगीकृत ननु ॥ ८७ ॥

भदयाभक्षयविवेकोपि युष्माक नास्ति किञ्चन । दृश्यते श्वाचो यद्भ्रू तद्भ्रू यूयं न सशय ॥ ८८ ॥

जातिहीना क्रियाहीना जितविविधस्य निदकाः । यूयं च सर्वहीना म्युर्यथा म्लेच्छा तथा खलु ॥ ८९ ॥

लावाखाद्यस्य भेदो न म्लेच्छाना च खलात्मना । यथा न्याहिकवचनो लुका युष्माकनमि सो नहि ॥ ९० ॥

सस्वधर्म रता सर्वे स्वस्वदेयस्य पूजका । यूय हि जितधर्मस्य नागका स्यु न सशय ॥ ९१ ॥

अर्थः— इ दूढियाहो तुम लोग प्रत्यक्षमें ही गन्दे हो म्लेक्षाचार सपन्न हो । तुमारे आचरण एकदम गंदे और मलीन है इमलिये म्लेक्षोंके समान ही अष्टाचारी हो ।

अर्थः—हे दूढिया हो तुमने जिन्दाके स्वादमें सपस्त उत्तम आचरणको छोड दिया । और जो शुद्धाशुद्ध मिला सबको प्राशुरुक है प्राशुरुक है ऐसा कह कर सेसत किया । क्रियाहीन होने के कारण तुम लोगों ने मलिन मनुके मेमन करने में भी विचार नहीं किया इम लिये तुम प्रत्यक्ष ही म्लेक्षके समान हो ।

अर्थः—हे दूढिया हा ! तुमारे में भक्षामश्रु सामेका जरा भी विवेक नहीं है । जैसे चाडाल के आचरण जैसे ही तुमारे है । तुमारी न जाति है न क्रिया है । जितप्रतिमाकी निंदा करनेसे तुम और भी पापी हो रहे हो । मच पूछो तो तुम सामाखाद्यका विचार नहीं रहनेसे तुमको क्या कहें सो समझमें नहीं आता है ।

अर्थः—हे दूढिया हो जो जो मनुष्य जित धर्मका पालन करता है वह अपने देवकी पूजन अवश्य करता है । परतु तुम तो अपने आप ही अपने ही धर्मका नाश करते हो ।

पुन पृच्छामि युष्माकं किमर्थं मुखमथन । अकुरुतेति सश्रुत्वा आहुश्च सावरीयुता ॥ ९२ ॥
 सज्जना जीवरक्षार्थं वामसा वक्रं प्रवचन । कृतं च सर्वजीवस्य पालकाश्च वयं खलु ॥ ९५ ॥
 तनो हि नक्तद्रागं स्यु भो लुका तान् कथं खला । वयथ मुचेलेन जीवाना रक्षणात्र नो ॥ ९४ ॥
 वयथ नवद्रागान् लुका त्यजथ भो गला । वक्रुष्य वंघन नुनं यूयं मत्या यदि खलु ॥ ९५ ॥
 वासोयोगात्ममीरस्य कीलारस्य च निश्चयात् । जीवोक्ताश्च आस्य वै उत्पद्येते सलाशया ॥ ९६ ॥
 तत्रैव तेव म्रियते मदा कालेन सगाय । नो यूय पश्यथ लुका अथेषु सकृत्तेषु च ॥ ९७ ॥
 अतो यूय च प्रत्यक्ष निशाचरसमा खला । जीवाना भक्षणान् स्यु हि ते हि जीवस्य भक्षका ॥ ९८ ॥

अर्थ—हे इडिया हो तुम मुखपर पाटी क्यों चावते हो । उत्तर—जीवोकी रक्षाके लिए मुखपर पाटी बांधी जाती है । हम लोग ममत्त प्रकारके जीवोकी रथाके करनेवाले हैं । मुखसे जीव नहीं मरे इसलिये मुखपर पाटी बांधते हैं । हे इडिया नो तुम्हारे शरीरमें नव दारोके द्वारा निरतर जीव हिंसा होती है तो तुम अपने नव दारोको बधो नही बांधत हो । मञ्चे जीमशरू तन ही तो हो सके हो जव कि तुम अपने शरीरके नव दारोको बांधकर सन प्रकारकी वायुओका सरोध करो । अन्यथा एक मुखपर पाटी बाधकर विशेष म्लेक्षाचार क्यों फैलाते हो और जैनधर्मको वृणापूर्ण बनाकर निदाके पात्र होते हो ।

अर्थ—हे इडिया हो मुखपर पाटी बांधनेले पाटीमें श्रुकके संयोगसे और वायुके वेगसे अगणित जीव निरतर मुखमें उत्पन्न होते हैं तथा पाटीमें उत्पन्न होते हैं । वे बहापर ही मरते हैं । यह बात प्रत्यक्ष दीखती है । मुखपर पाटी रात्रि दिनस निरतर बंधी रहनेसे रात्रिमें भी जीवभक्षणका पाप उत्पन्न होता है । दूसरे जीवोका भक्षण करनेमें तुमको निशाचर क्यों नही कहा जाय ?

रस्यथ नैव रात्रौ च प्राशुक चोदक खलु । यदि स्थान्मलमूत्रादेरुत्पत्ति मा खला स्फुट ॥ १९ ॥
 वदथ कुरुथ कि च तत्र तत्पशुद्वये तदा । कि न कुलथ भो लुका यदि श्यपचसोपमा ॥ १०० ॥
 कथ जपथ नोकारं सानाथिकं पठथ च । अशुद्धे सर्वं व्यर्थं स्यात् शुचि सर्वत्र समता । १०१ ॥
 ईदृश्य निवधकर्म च नो कुर्वति खला स्फुट । मातगापि क्रियाहीना व्रतकर्मविवर्जिता ॥ १०२ ॥
 जनगमोपमा यूय किं स्यु भो जिननिदका । नो सति तत्समाप्येव तद्वीनान्नात्र श्रथय ॥ १०३ ॥
 भो श्लेच्छा ईदृश किं स्यात् साधुजनस्य लक्षणम् । वय हि साधवो लोक इत्यमत्य वदथ मा ॥ १०४ ॥
 अतो भो कुक्रिया त्यक्त्वा क्रिया शुद्धा सुखास्पदा । पालयत प्रथलेन जितवक्रसमुद्भवाम् ॥ १०५ ॥

अर्थः— है दृढिया हो रात्रिमें जिस समय तुमको मल मूत्र होता है तब क्या करते हो ? क्योंकि तुम लोग रात्रिमें प्राशुक (गर्म) पानी भी अपने पास नहीं रखते हो । और बिना पानीके मलमूत्रकी शुद्धि किस प्रकार करते हो ?

रात्रिमें मलमूत्रकी शुद्धि करते हो या नहीं ? जो करते हो तो पानी बिना किससे ? (क्या मूत्रसे मलविष्टाकी शुद्धि करते हो ?) यदि मलमूत्रकी शुद्धि नहीं करते हो तो अशुद्ध मल मूत्र सहित शरीरसे सामायिक किस प्रकार करते हो ? जय किस प्रकार करते हो ? अशुद्ध शरीरसे जय तप सामायिक आदि क्रियायें की जाय तो सब व्यर्थ है । अरे ! चाडाल भी तो अपने मूत्रसे अपनी शरीरकी शुद्धि (मल त्यागकी शुद्धि) नहीं करता है तो फिर तुम किस प्रकार करते हो ? यह तो प्रत्यक्षमें चांडालकर्मसे भी निवध कर्म है । ऐसे कर्मको करनेवालेको साधू किस प्रकार मानना ? भला यही साधुके लक्षण है ? सत्य सत्य कहना । इसलिये कुत्सित आचरणोको छोडकर सत्य और पवित्र आचरणोका पालन करना सीखो ।

यायाथ कुण्ठति मूढा यूयमाचारखनिनात् । मा भजयाद्विप्रेकं च
 जिनविभवं जिनागारं जिनमिद्वान्तपुस्तकम् । जिनवत्तस्य दयाभाव
 जिनगथा जिनोत्सवं ॥ १०६ ॥
 जिनधर्मं प्रभोर्वाच वमोडिमसोमदृशम् । इत्याद्यात् येन लोकाश्च
 निदयत्येव त मना ॥ १०७ ॥
 म्लेच्छाश्च जिनधर्मस्य नाशकाश्च जिनागमे । इति जनागं न
 कृतेष्वना निदा विम्य भो मला ॥ १०९ ॥
 इत्युपदेशस्माभिर्यद्वचो भवता मनु । अहंकारमदावेप
 तद्वि भद्रार्थमेव च ॥ ११० ॥

जिनविभवं नरा येति दृष्ट्वा कुण्ठति भोजनम् । तं भना
 यागमे रथा यशुत्व्याश्च तद्वहे ॥ १११ ॥

अर्थः—हे दृष्टिया हो सायाचार कपायगे दुर्गतिके पान
 म्यां नन रहे हो ? विपेरुता परिव्याग कर जन्सा-

न्धके समान धर्ममार्गका लोपकर अपने जीवनकां पतित
 क्यों मनाते हो ?

अर्थः—हे दृष्टिया हो जिनविभवं (जिनप्रतिमा) जिनसदिर-
 जिनवाणी-जिनधर्म-जिनगथा-जिनमहोत्सव-
 जिनग्रन्थ-जिनप्रतिष्ठा इत्यादि श्री जिनधर्मके अंग
 उपागोकी जो निदा करने हे वे नीच है । जिनागममें
 तलाया है कि जिनधर्मके नाशक म्लेच्छ होगे । परंतु तुम
 लोग ता म्लेच्छजन्मा नहीं होकर भी म्लेच्छसं नीचे
 कार्य करते हो इसलिये जो तुमको अपनी भलाई करनेही
 इच्छा है तो निदा करना छोट देना चाहिये । और
 त्रिवेक पूर्वक धर्माचरणका पालन करना चाहिये । यह उपदेश
 आपके हितके लिये लिखा है । अभिमान या किसी
 स्वार्थ से नहीं दिया है । यदि आपको निगोद पर्यायमें नहीं जाना
 है, तो जिनधर्मकी निदा करना छोड़कर भगवानकी
 पूजा करो ।

अर्थ—हे मव्यजीवो ! जो मनुष्य श्रीजिनदेवके दर्शन
 किया कर भोजन करते हे वे आगमानुसार मनुष्य
 है । तथा जो बिना दर्शन भोजन करते हे वे पशुके
 समान है ।

दर्शन जिनविषय समर्हस्यैव नाशदम् । दर्शनाज्जायते मोक्षो तद्वत्ते सर्वं नि फलम् ॥ ११३ ॥
 सर्वात्कविनाशो वै जायते जिनदर्शनात् । सर्वे शोका प्रयायेव नाशताच तदीक्षणात् ॥ ११४ ॥
 जिनक्षणासम धर्म लोके नास्येव चापर । अतः पूर्वं कुरुध्व वै जिनविनस्य दर्शनम् ॥ ११५ ॥
 लोकेऽस्मिन् जिनदर्शनोपफल नेमावर सञ्जना । जीवा ये तरिता तरंतिच तथा वाहि तरियति भो ॥
 ते सर्वे जिनदर्शनेन सुखदं सर्वात्सिंहागिणा । जालैत्यं मनुजोत्तमा प्रतिदिन त हि कुरुच मुदा ॥ ११६ ॥

अर्थ—श्रीजिनराजके पवित्र दर्शन करने से गमस्त पापोंका नाश होजाता है । और क्रमसे मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है । भगवानके दर्शनके बिना ममस्न व्रतपालन जप तप व्यर्थ है ।

अर्थ—श्रीजिनेन्द्र भगवानके दर्शन करने से मर्न प्रकारके रोग नष्ट होजाते हैं । समस्त प्रकारके शोक नष्ट होजाते हैं । मनु के दर्शन सित्राय अन्य कोई धर्म ही नहीं है । इसलिये नित्य प्रति भगवान का दर्शन कर अपने जन्म-को पवित्र और पुण्यरूप बनाओ ।

अर्थ—संसारमें श्रीजिनेन्द्र भगवानके पवित्र दर्शनके सित्राय अन्य कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं है, दुर्लभ नहीं है सुखद नहीं है, हितकर नहीं है । इसलिये जिनद्व भगवानके दर्शन में भव्य जीव ममार समुद्र में पार होते हैं, होगये हैं और होगे । भगवानके दर्शन सित्राय समाग में पार होनेका दृसग मार्ग ही नहीं है ।

समस्त प्रकार की पीडाका नाश करनेवाला यह प्रभुका दर्शन समस्त जीवों को सुखकारी है ऐसा जानकर हे भव्यजीवो ! नित्य प्रति भगवानका दर्शन-पूजन ध्यान और अभिषेकादि विधान करो ।

प्रमोक्षेव बुधोत्तमाः जिनपतेः सदर्शनात् मानवा । मोक्ष शर्मनिकेतन मुनिवैरेवैद्य सदास्थ वरम् ॥
 भय्योऽय शुभ-ध्यानधर्मनिरत पाण्डित्यज्ञानात् । कुर्वीन्व प्रतिवासरं सुखं तदर्शन भो मत ॥ ११७ ॥
 ये कुर्वन्त्यस्य सुगविगणैः पूज्यस्य विग्रह्य वै । याता याति निकोत्तिषु खलु मदा याम्यति भो सज्जना ॥
 निंदा तु सप्रदायिका मुनिवैरेहया न कुमानजैः । कुर्वी-वं च ह्यन मदा मुक्क्य भक्ति च मद्दीक्षण ॥ ११८ ॥
 इत्य वै परपक्षस्य भय्या किञ्चित् प्रिया मया । निराकरण कृत चैव जिनागमानुमारतः ॥ ११९ ॥
 यत्प्रोक्ता वीरनाथेन श्रेणिकं प्रति भो बुधाः । भाविकालभवा वार्ता त्रैय कथथाशुभा ॥ १२० ॥
 ईदृशा घर्षमार्गस्य नाशकाश्च सलाशया । जानलेशोद्धिता क्रूरा भविष्यति न सशयः ॥ १२१ ॥
 भव्यभावयुता स्वल्पसंख्याद्या मण्येश्वर । वमलयाद्या नराः तस्मिन् भविष्यत्येव नेतव्यः ॥ १२२ ॥

अर्थ—जो भव्य जीव भगवानके दर्शन करते है उनको मोक्षके सुख शीघ्रही प्राप्त होते है । न ममन् पापोसे मुक्त होकर मुनियोसे वंदनीय होता है । इसलिये भगवानका दर्शन नित्य प्रतिदिन करना चाहिये ।

अर्थ—देवोसे पूजित ऐसी जिनराजकी प्रतिमाकी निंदा करनेसे जीव निगोदमें जाते है, जायंगे ओर जा रहे है । इसलिये निंदाको छोडकर भगवान की भक्ति करो जिससे सर्व सुसकी प्राप्ति हो ।

अर्थ—इस प्रकार इडिया मतका निराकरण जिनागमके अनुसार किया ।

अर्थ—वीर भगवान्ने श्रेणिक महाराज से कहा है कि पंचम कालमें धर्मको नष्ट करनेवाले बहुतेसे मनुष्य उत्पन्न होंगे । परंतु भव्य भावोको धारण करनेवाले कम होंगे । यह कालका माहात्म्य है ।

अथ व्रतप्रकरणम् ।

पुनराह ऽथु मूप तेगा भावियुखास्रे । दर्शयामि शुभं मार्गं शिवो यस्माद्विजायते ॥ १२३ ॥
 अष्टान्द्रिकाविधिं चैव सगतिं जितनामजाम् । शिवदा मेवमालाख्या सद्गत पल्यसञ्जकम् ॥ १२४ ॥
 शातद् पार्थनाथार्कमादित्याख्यं च सद्गतम् । सर्वपापेभिसिंहाभ सर्वातकविनाशकम् ॥ १२५ ॥
 ज्येष्ठजिनव्रतनामान दशरक्षणसंज्ञरुम् । षोडशकारणस्य च जिनगोत्रप्रदायकम् ॥ १२६ ॥
 मेरुपत्तिं क्रियाव्रतं सर्वतोभद्रसंज्ञरुम् । विमानपक्तिसन्नाम शतकुभ द्विकावलीं ॥ १२७ ॥
 सिंहादिविक्रमं वृत्तं त्रय समारनाशकम् । नक्षत्रनालावृत्तं च रत्नावलीं युगातदाम् ॥ १२८ ॥
 वृत्तं कनकावलीं चैव मोक्षपदम्य दायकम् । उल्लोनीलीनसद्गत जिर्नेक प्रतिगोत्रम् ॥ १२९ ॥
 पक्कल्याणवृत्तं च कूर्मदावाग्निारिद्र । शिवकुमारवृत्तं च पुष्पाजलित्रतोत्तमम् ॥ १३० ॥
 रत्नत्रयाभिधं वृत्तं सर्वकर्मरिनाशकम् । यस्यैव पालनाद्राजा मल्लिनाथोभवज्जिन ॥ १३१ ॥

अर्थः— हे राजेन्द्र भव्य जीवोके हितके लिये शुभ मार्ग व्रतलाते ६ । जिससे शिवमुसकी प्राप्ति हो । अत्र उन व्रतोके कुछ नाम व्रतलाते हैं जिनके पालन करनेमें भव्य जीवोको स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

अष्टान्द्रिकव्रत १ जिनगुणसपत्तिव्रत २ मेवमालाव्रत ३ पल्यविधानव्रत ४ रविधारव्रत ५ ज्येष्ठजिनव्रत ६ दशलाक्षिणीव्रत ७ षोडशकारणव्रत ८ मेघपत्ति ९ त्रिपचागत क्रियाव्रत १० सर्वतोभद्रव्रत ११ विमानपत्तिव्रत १२ शातकुभव्रत १३ द्विकावलीव्रत १४ सिंहविक्रमकीडनव्रत १५ रत्नत्रयव्रत १६ कनकावली १७ नक्षत्रमाला व्रत १८ रत्नावली १९ बृहत्कनकावली २० उल्लोनीलीनव्रत २१ जिनप्रोपधव्रत । पंचकल्याणव्रत २२ पुष्पाजलि-

इत्याद्या गहन मति चित्तगोमे जिनैर्धर । प्रोक्ताश्च चेलनाकात नेतश्च शिष्यत्रयका. ॥ १३२ ॥
 शास्त्रोक्तविधिना भूप ये करिष्यति मानवा । द्वित्रिभवे हि याम्यति निर्विष्ययाद्विवर्जिते ॥ १३३ ॥
 एषां म-येत्ति गजेन्द्र कर्मोद्विद्वहानाम । तत्रोहि सर्वैरुपमि दादने पापकोपमः ॥ १३४ ॥
 तत्कथ चास्य सर्वे हि निधिमाह चित्तश्च य । समाधिना शृणु तत्र च सर्वमन्यद्वितासरे ॥ १३५ ॥
 कर्माणिष्टौ महादुःखदायकानि गत्यानिच । अष्टाडिाचद्वयंन्यात्वा ज्ञेया प्रकृतय लु ॥ १३६ ॥
 सर्वे पिंडीकृता येत सर्वशर्मप्रदायका । तत्रुपचेंदुसंन्याता संजाता नाधेधर ॥ १३७ ॥
 एषा कर्मप्रकृतीनायैककोपविप्रोपया । शतैकप षट्संन्यासना कार्या शिवासये ॥ १३८ ॥
 प्ते सर्वे मथान्याता प्रोपयाः कर्मनाशका. । एकातरेण कर्तव्या मनोमलविभञ्जका ॥ १३९ ॥

व्रत २३ इत्यादि गहृतसे उत्तमोत्तर व्रत श्री जिनदेवने भव्य जीवोके कल्याणके लिये व्रतलोये हैं । इन व्रतोंमें कितने ही ऐसे उत्कृष्ट व्रत हैं कि जिनका मेयन करनेसे दोगे तोन भयमें ही मोक्षका सुख प्राप्त होता है ।

अर्थः— उपर्युक्त व्रतोंमें एक कर्मदहन नामका सर्वोत्तम व्रत है । जो भव्य जीवोको सर्व प्रकारकी संपत्तिका प्रदान करनेवाला और मोक्षके सुखको देनेवाला है । कर्मदहन व्रत कर्मोंका ममूल नाश करनेवाला होनेमें शीघ्र ही सिद्धपदको प्रदान करता है ।

कर्मोंकी समस्त उत्तर प्रकृति १४८ है । उनमें आठ कर्मोंकी मूलप्रकृति मिला देनेसे कुल १५६ एकमौ छप्पन भेद हो जाते हैं । उस जितने भेद कर्मोंके होते हैं उतने ही भेद इस कर्मदहन व्रतके होते हैं ।

भावार्थः— १५६ प्रोपयोपवास इस व्रतमें किये जाते हैं । एक एक कर्मप्रकृतिके नाश करनेके लिये एक एक प्रोपयोपवास करना चाहिये ।

प्रोषधानां विधिं वक्ष्ये त्वं शृणु शर्मदायक । विधिना क्रियमाणोय शिवशर्मप्रदायकः ॥ १४० ॥
 पूर्वसिंभश्च दिने सेव व्रती चोत्थाय शुद्धधी । तत्पत्त साभार्थिकं कुरुना मंत्र जप्तवा जागन्तुत्तम ॥ १४१ ॥
 पश्चाच्छुद्धोदकैर्नैव स्नान्वा यत्नेन सिद्धये । वीतवस्त्रानि शुक्लानि सभार्थं जित्तमदिरे ॥ १४२ ॥
 गत्वा दन्वा जिनैन्द्रस्य त्रिपमाहि प्रदक्षिणा । नत्वा चाष्टागविधिना तत्पादाब्जौ मुहुर्मुहुः ॥ १४३ ॥
 ततो जिनैन्द्रत्रिं च स्थापयित्वा वरासने । छत्रचाभसच्छोभा कर्तव्या तत्पुरो मुदा ॥ १४४ ॥
 शुद्धोदकेक्षुसदाज्यद्वयदधिरसोत्करैः । स्वगनीय च त पश्चात्सर्वोपधिरसैर्वैः ॥ १४५ ॥

१५६ प्रोषधोपवास इस व्रतसे किये जाते है । और इसीलिये इस व्रतका सार्थक नाम कर्मदहन व्रत है । ये प्रोषधोपवाम एकातर (धारणा-धारणा) से करना चाहिये ।

अर्थ—कर्मदहनव्रतकी विधि-व्रतके धारणाके दिवससे ही मनकी सब प्रकारकी शल्यको निकालकर शुरूके समीप व्रतको ग्रहण करे । धारणाके दिवस एकाशन करे । परिणामोको शांत रखकर यथासाध्य विषय कपायोका त्याग करे । ब्रह्मचर्य धारण करे । शुद्ध आहार निरंतराय ग्रहण करे ।

उपवासके दिवस प्रातःकाल उठकर सामार्थिक करे । पश्चात् शीघ्र क्रियासे निवृत्त होकर शुद्ध प्राशुक जलसे स्नान करे । धुले हुए सफेद वस्त्रोको धारण करे । और अपने घरमे उत्तमोत्तम भगवानके पूजनकी सामग्री तथा अभिषेककी सामग्री (इक्षुरस-दूध-दही-घृत-सर्वोपधि-शर्करा-फल-फल-केशर-कपूर—दीपक आदि) ले जावे । मंदिरसे जाकर भगवानके चैत्यालयकी पूजा भक्तिसे कर पश्चात् श्री जिनराजके विवोकी तीन प्रदक्षिणा जय जयकार पढता हुवा देवे । पश्चात् स्तोत्र पढकर प्रभुका गुणानुवाद कर नमस्कार करे । विधिपूर्वक वेदीकी स्थापना करे । शासन देवोंको यथास्थान विराजमान करे । पश्चात् गधकुटीपर भगवानको विराजमान कर चमर छत्र आदिसे दिव्य शोभा

जलस्थानान् कणान् सर्वान् दूरीकृत्य प्रयत्नत । स्निग्धेन शुभ्रवस्त्रेण प्रभोगत्रिस्य वा तत ॥ १४६ ॥

चन्माल्यचरणान् न नागार्थं श्रीपत पुर । दातव्याश्च त्रयो धारा स्वर्णभृगारनाम्बुकात ॥ १४७ ॥

समागतपद्मार्थं काठमीरागुण्डै रसै । लेपनीयं जिनेन्द्रस्य पादयोर्लेपनपूजयौ ॥ १४८ ॥

जिनपादारविदाग्रे कर्णीया मनोदग्ग । पुत्राश्चाशनमन्त्रैरेखडभ्यानन्दत्रये ॥ १४९ ॥

पद्मसदाग्मकुन्दबहुज्याश्च मुद्ग । पुषोररुग्ग जिनेन्द्रस्य पादोपरि मुमोदत्ता ॥ १५० ॥

सवगारिविनाशाय धर्तव्या जीवमजिता । यस्पृश्यश्च कुम्भस्य निद्रिच्छा पतिता न कौ ॥ १५१ ॥

व्यजनैर्मौदिकै सुजै रसैर्नानाविधैरैः । गाल्कन्नेजिनपादाब्ज ह्यैस्नीय मुत्तामये ॥ १५२ ॥

दीर्घैर्घृणै फलोघैश्च पूजनार्थो जिनेम्ब । महायोग तसम्भन अनभ्यपदपातये ॥ १५३ ॥

करे । पश्चात् इशुग्म-धृत-दूध-दही-मर्वापथी रसमे मंत्रपूर्वक अभिषेक कर । पश्चात् पूर्ण कुलग (कुम्भकुलजो से) अभिषेक करे । ग्रलेपन कर पुष्पवृष्टि करे । भगवानकी आरती करे । फिर गंधोदक मे जातिधारा मर्मर्षण करे ।

अभिषेक हो जानेके पश्चात् उत्तम त्रयमे प्रशुंरु गरीगको पांठ लेवे । फिर मंत्रपूर्वक आठ द्रव्योंमे पूजन करे । पूजनमें भी आठहानादि विधिहो भूल न जावे ।

जलपूजा भृगारकी नालीमे तीन धारा चढानेसे ही होती है । चदनपूजा अनामिका अंगुलीके द्वाग सुगन्धित केशर प्रशुके चरण कमलके अगुणोपर चढानेमे होती है । अक्षतपूजा पुज चढानेसे होती है । पुष्पपूजा— सुगन्धित पुष्प प्रशुके चरण कमलोपर चढानेमे होती है । नैवेद्य पूजा सुदर नैवेद्य मात पूड़ी पक्वान थालमे चढाकर उतारनेसे होती है । दीपपूजा— दीपकको जलाकर आरती रूप करनेमे होती है । धूपपूजा रूपका अग्निमे खेनेसे होती है । केला वदाम आदि फलोकी भेट प्रशुके समथ चढानेसे फलपूजा होती है । जल फलादि अष्ट द्रव्य स्मस्तित

कृत्वैर्बिं जिनसप्तपूजा पश्चात्पुष्पाजलिमुदा । द्वाहव्या शान्तिपाठच करणीय प्रभो ॥ १५४ ॥
 शक्तयनुसारत पश्चात् जिनेन्द्राग्ने सुमोदतः । कायोत्सर्गं च अतिहि कर्तव्य मोक्षपाप्तये ॥ १५५ ॥
 पश्चात्स्तोत्र जिनेन्द्रस्य पठनीय तत खलु । कर्तव्य मंत्राजान्य जाप्य न्याच सिद्धये ॥ १५६ ॥
 कर्तव्य शास्त्रस्वाध्याय मनोरोधाय केवल । म्वाध्यायसम धर्म हि न पर गुहमेधिनाम् ॥ १५७ ॥
 इत्यादिशुभकर्मणि कर्तव्यानि जिनास्पदे । नदन्नातोद्यमयुक्ते भग्नराशिपभृते ॥ १५८ ॥
 गृहे गत्वा च पश्चाद्धि मध्याह्ने समये वरे । कर्तव्य भोजन शुद्ध त्रिशुद्ध्या दोषवर्जितम् ॥ १५९ ॥

सरसो आदि मगलीक द्रव्योंके साथ अर्घको उतारना चाहिए । फिर पुष्पाजलि चढाकर शान्ति धारा चढाना चाहिए । यह पूजाविधिका क्रम है ।

अर्थ—फिर शक्तिके अनुसार कायोत्सर्ग करना चाहिये क्यों कि कायोत्सर्ग ही आन्भा के ध्यान का और मोक्ष का साधन है ।

अर्थ—फिर श्रीजिनेन्द्र भगवानके गुणो का स्तोत्रपाठ करे और मंत्राजकी जाप देवे ।

अर्थ—पीछे पूजा करने के बाद शास्त्रो का स्वाध्याय आत्मकल्याण के लिये करना चाहिये । स्वाध्यायसे मनका निरोध होता है इस लिये स्वाध्याय के समान अन्य कोई उत्तम धर्म नहीं है ।

अर्थ—इत्यादिक शुभ क्रियाओ को जिनमदिरजी में करे तथा वाजे गाजेके साथ करे ।

अर्थ—फिर घर पर जाकर पात्रको भोजन कराकर मध्याह्न समयमें शुद्ध भोजन एकवार ही (ठाम आहार पानी) मन वचन काय की शुद्धि से करना चाहिये ।

शुद्धस्पृश्य जलं चूर्णं घृतं ग्राह्यं ब्रतासये । नैव गृह्णति ये मूर्खास्तरसास्ते बुधैर्मता ॥ १६० ॥
 कृत्वैव शोभनं न्यादमतरायविवर्जितम् । एकवारच तत्रैव स्थाने मोक्षपदासये ॥ १६१ ॥
 प्रत्याख्यानस्य विधिना वेदाहारस्य तत्र हि । प्रत्याख्यानं च कर्तव्यं कर्मसंतानहानये ॥ १६२ ॥
 निरारंभं प्रकर्तव्यं प्रोषधं मदवर्जितम् । एव च क्रियमाणेहि प्रोषधं कर्मनाशकं ॥ १६३ ॥
 अनेन विधिना कार्या प्रोषधा कर्मघातना । एवं सर्वेषु कर्तव्यं पुजनादिविधिं खलु ॥ १६४ ॥
 सर्वे च प्रोषधा मूप शैलेकपचषट्प्रसा । अस्य स्तु कर्मनाशार्थं कर्तव्यां शुद्धितत्त्विका ॥ १६५ ॥
 प्रोषधैकं प्रति जाप्यं तत्कर्मैव नामतः खलु । कारणीयं तद्विनाशार्थं नाष्टोत्तरशतप्रभम् ॥ १६६ ॥

भोजनशुद्धि-भोजन उच्छुक्लीन का ही हो । स्नानादि पवित्र विधिसे समस्त द्रव्योंकी शुद्धतासे ही उत्पन्न हुआ हो । चौकाकी विधि और पाद्य पदार्थोंकी मर्यादा आगम विधिसे की हो । शुद्धके हाथका जल घृत और आटा आदि नहीं हो । क्योंकि शुद्ध सस्कार और क्रिया विहीन होनेसे उसके हाथका जलादिक ग्रहण करने योग्य नहीं है फिर भी कोई ग्रहण करे तो व्रतभंग समझना चाहिये । या वह स्वयं शुद्धके समान ही है । भोजन अंतराय रहित करना चाहिये । भोजन होनेके पश्चात् चारप्रकारके आहारका परित्याग करे । इस प्रकार भोजन का प्रत्याख्यान कर्मोंका नाश करने वाला है ।

अर्थ-प्रोषधके दिवस आरंभ नहीं करना चाहिये । आठ प्रकारके अभिमानोका त्याग करना चाहिये । इस प्रकारकी विधि जो भव्यजीव प्रत्येक प्रोषधोपवास में करता है उसके कर्मोंका नाश होता है । प्रत्येक प्रोषधोपवास के दिवस (जिस कर्म प्रकृतिका प्रोषधोपवास हो उस प्रकृतिके नाशके लिये) प्रकृति के अनुसार जाप देवे ॐ न्ही मतिज्ञानावरण कर्म नाशाय नमः ॐ न्ही श्रुत ज्ञानावरण कर्मनाशाय नमः इत्यादि प्रकारसे जाप देवे । एक पात्रको

दत्त्वा लोकाय पात्राय न्यादे च भर्मिणे शुभम् । पूर्वं पश्चाद्वि क्तव्य मर्वम्बेव विधि लुप्तु ॥ १६७ ॥
 विक्रथा च गुह्यसं वामात्याग स्वमहनम् । तल्पे च शयन शोक वृथाटन मटाष्टकम् ॥ १६८ ॥
 वैशुन्यं परनिदा च परनामेक्षण तथा । रागेद्विका हास्य वा रति चैवारति तथा ॥ १६९ ॥
 कुभाव चैव दुःखानि भोगाभिलाषमेव च । पत्र शाकमशुद्ध च दधिदुग्धं च वा वृत्तम् ॥ १७० ॥
 व्रतिभिर्मोचनीयाश्च वने चास्मिन् वनास्रये । इत्याद्या दोषनिक्त्रा ससारु खदायका ॥ १७१ ॥
 केशरिमयतो यद्भूत् गजबुन्दा महोन्नता । पलाययेव तद्द्वि कर्मभा व्रतसिंहत ॥ १७२ ॥
 कर्मदहनव्रतो भो मत सकलव्रतैषु पुण्योय । जिनसिद्धाते हत स्यात् सार्थनामत ॥ १७३ ॥

आहार देकर फिर आप आहार करें । विक्रथा और आरमका परिस्थान करें । स्त्रीसेवनका परिस्थान करें, शरीर सस्कार का परिस्थान करें, खाटपर शयनका परिस्थान करें, शोक-अभिमान और व्यर्थका पर्यटनका परिस्थान करें । दूसरोंकी निदा करना, हसना, दूसरोंकी स्त्रीके मनोहर अगोको देसना, दुर्भाव, मात्सर्य, द्वेष आदि दुःपरिणामोका त्याग करना । अशुद्ध दूध, दही, घृत आदि पदार्थ का त्याग करना । इत्यादि उत्तम आचरणोंके साथ इस व्रतका पालन करें ।

अर्थ:— व्रती पुरुषोको व्रतकी शुद्धिके लिये उपर्युक्त दोषोका परिस्थान करना चाहिये ।

अर्थ:— जिन प्रकार सिंहको देखते गज पलायमान हो जाते हैं वैसे ही इस व्रतसे कर्म रूपी गज पलायमान हो जाते हैं । यह व्रत समस्त व्रतोंमें मुन्य है । जिन सिद्धातमें इसको मुख्य व्रत बतलाया है । उसी लिये इसका नाम भी सार्थक है ।

पूर्वषष्ठस्य मध्याह्ने कर्तव्य भोजन सदा । द्वितीये वासरे चैवानशनं करणीयकम् ॥ १७४ ॥
 तृतीयस्य दिनस्यैव मध्याह्नसमये वरे । पारण करणीय च कर्मसतानहानये ॥ १७५ ॥
 सर्वोत्कृष्टविधिश्चायं पर्वकर्मारिधातक । कश्चितश्चागमे शुद्धे भूप नैयात्र सशय ॥ १७६ ॥
 सर्वोत्कृष्टफलं वटये भाविज चेलनाप्रिय । करिव्यति व्रत शुद्ध प्रापयिष्यति स शिवं ॥ १७७ ॥
 कर्मदहनव्रतस्य फलं शृणु समाधिना । श्रवणाच्च यस्मर्वाहा प्रलय याति देहिनाम् ॥ १७८ ॥
 अनेन विधिना कृत्वा य कश्चिद्विह जन्मनि । समाधिना पुन स्मस्य मरण शल्यवर्जितम् ॥ १७९ ॥
 प्राप्यति का गतिं सैव तत्सर्वं कथयाम्यह । द्वाग्शाना गणाना तु दृढश्रद्धाय केवलम् ॥ १८० ॥
 विदेहे शाश्वते क्षेत्रे तुर्यकालेन भुषिते । हासवृद्धिविनिर्मुक्त इतिभीत्यादिवर्जिते ॥ १८१ ॥
 वैदेहा मुनयो यत्र भवत्सनेकशोनिश । रत्नत्रयतपोध्यानै स सार्थनामभूत् ह्यत ॥ १८२ ॥
 जिनेन्द्रा जितमार्तडा चक्राका पुरुषोत्तमा । पट्टलडपालने दक्षा कामरूपधरा वरा ॥ १८३ ॥
 विष्णवो बलदेवाद्या तत्तद्विष शर्ममंडिता । इत्याद्या यत्र भातिस्म सदा सर्वत्र विभ्रुता ॥ १८४ ॥

व्रतके धारणा पारणके दिवस एकवार भोजन करे । वहभी म यान्ह समयमें ही करे । यह व्रत की सर्वोत्कृष्ट विधि व्रतलाई मध्यम और जघन्यविधिसे भी यह व्रत किया जाता है । इस व्रतका सर्वोत्कृष्ट फल मोक्षकी प्राप्ति है । जो मनुष्य इस व्रतको पालनकर समाधिमरण पूर्वक देहका विसर्जन करे तो उत्तम सुखको प्राप्त होता है । इस व्रतका ऐसाही माहात्म्य है ।

जो भव्य जीव इस व्रतको भावसे करते है वे विदेह क्षेत्रमें उत्पन्न होते हैं । विदेह क्षेत्रमें सदैव चौथा कालही रहता है । कालका परिवर्तन नही होता है । विदेहमें इति भीति इत्यादि किसी प्रकार का उपद्रव नहीं है । जहांपर

प्रवर्तते सदा यत्र धर्मो जैनेति नामतः । त्रयो वर्णाश्च विद्यते मिथ्यामांसाप्रासुला ॥ १८५ ॥

सदा याल्पेव मोक्षेहि तस्माद्भव्या नरेधरा । रत्नत्रयतपोयोगात् शर्मवृद्धाकितेऽक्षये ॥ १८६ ॥

पाखडा तत्र नो संति कुदेवा दोषमंडिता । तन्मदिरा हि नो संति तेषाच सेमकास्तथा ॥ १८७ ॥

नो सति द्रव्यतस्तत्र मिथ्यादृशरका नृप । भावत केचन सति नरा तद्धारकाः खलु ॥ १८८ ॥

यत्र नराश्च शोभंते रचितेज समा शुभाः । शीलरत्नधरा वृद्धा कलाकलापमडिताः ॥ १८९ ॥

सदैव दिगम्बर जैन मुनियो का निरंतर दर्शन होता है । जहां तीर्थंकर प्रभु सदैव अवतार लेते हैं व साधते बने रहते हैं । चक्रवर्ती नारायण प्रतिनारायण आदि पुण्य परुष भी सदैव होते रहते हैं ।

विदेह में जैनधर्म पिपाय अन्य धर्म मर्वथा नहीं है—जैन मत पिपाय अन्य कोई भी मत किमी कालमें कभी भी मर्ग पर उदय नहीं होता है न अन्यमतके धारक मनुष्य ही वहापर उत्पन्न होते हैं । वहा पर समको व्यवहार रत्नत्रयकी प्राप्ति स्वभावरूप में होती है । इसीलिये सर्वत्र जिनायतन—जिन चेत्य जिन चेत्यालय—और, जिनरूप धारक गुरु सर्वत्र सर्वदा मिलत है ।

वहा पर मिथ्यामतके मदिर-चैत्य और पाखंडी गुरु भी नहीं हैं, न कुशास्रोंका मद्भान वहा पर है । कोई भी मनुष्य कुदेव-कुगुरु-कुशास्र-और कुवर्मको नहीं जानता है । न पट अनायतन वहां पर है । उमी प्रकार मिथ्यामार्ग रूप-गगादिनदी प्रगाह में स्नान कर लोग धर्म नहीं मानते हैं । तथा अग्निमें जलन मती वहा पर नहीं होती है । वहा पर कुतीर्थ नहीं है । वहां पर द्रव्य मिथ्यात्व का सर्वथा अभाव है । इसीलिये वहां पर त्रासृष्टण नहीं होते हैं । हा भाव मिथ्यात्वके धारक कितने ही जीव उत्पन्न होते हैं ।

चंद्रकोटिमामासुक्का चापचशतोक्तता पुत्रपौत्रादिसंपत्ता धनचंद्रभरा वराः ॥ १९० ॥
 आमृत्यु शर्मभद्राश्च दुखशोकविवर्जिता । दानपूजादिकार्येषु सदा तत्परमानसाः ॥ १९१ ॥
 ईदृशा यत्र राजते नार्योपि मगधंश्वर । शीलव्रतधरा शुभ्रा जिनिल्ल्यात्मानसा ॥ १९२ ॥
 देशे देशे पुरे ग्रामे भूदे द्रोणे च कर्वेदे । पत्तने विपित्ने खेदे नद्या कूले मनोहरे ॥ १९३ ॥
 इत्याद्यन्यशुभे स्थाने सति सर्वत्र सुदरा । जिनालया ह्यनेकाश्च यत्र नेत्रमनोहरा ॥ १९४ ॥
 स्मशानादिगुहाया च दिशवानमोविर्मंिता । मुनीन्द्रा यत्र कुर्वति स्वात्मध्यान शिवात्मये ॥ १९५ ॥
 यत्र ये शानका नार्थं मास्मृहेषु भावतः । जिनविवस्य नित्य हि सर्वपापपणात्तये ॥ १९६ ॥
 पचासुतसै शुद्धैरभिषेकं तत परम् । कुर्वति पूजन द्रव्यैर्वसुभैर्दैनोदरै ॥ १९७ ॥

बहा पर शीलमान धर्मके प्रतिपालरु मन्व्यभावोसे सपन्न सुखमें निमग्न पुत्र पौत्रादिसहित परम सुखी मनुष्य होते ह । एक कोटि पूर्वसी आयु और पाच सौ धनुषका शरीर होता है ।

अथः— बहापर स्त्रिया भी शीलमण्डित-भगवानकी घृजामें लखलीन होती हैं । जहांपर देश २ ग्राम २ पर्वत २ नदीतीर-खेरा, द्रोण, शहर, जगल आदि सभी प्रदेशोंमें सुदर जिनालय होते हैं ।

अर्थः— जिस क्षेत्रमें दिगांग्र जैन ऋषि गुहा, कंदर, स्मशान भूमि और सर्वत्र अपने अपने ध्यानमें लखलीन दृष्टिगत होते हैं ।

अर्थ-विदेहक्षेत्रमें सर्व स्त्री पुरुष (थावक श्राविका) अपने अपने घरमें (गृह चैत्यालयमें) स्थित जिन-पुत्रोंमें भावभक्ति से श्रीजिनेंद्र भगवानके मनोहर विचका शुद्ध पचामृत रस्से अभियेक करते हैं । फिर अष्ट

नृत्यं गानं जितान्नेत्रं च रात्रौ जागरणं तथा । वाद्यघोषं प्रकुर्वति तत्रत्या मगधेश्वर ॥ १९८ ॥
 मन्थाहसमये नित्यं द्वारस्थानेषु च पुनः । तिष्ठति पात्रदानार्थं मन्त्रतपालने रता ॥ १९९ ॥
 सुनीन्द्रापि तदागत्य तेषां सद्मनि भोजनं । कृत्वा मुविधिना पश्चात्तपोवने प्रयाति च ॥ २०० ॥
 तत्समावाप्तमकुर्वति तेषां गेहे सुगधिपाः । पचाश्चर्यं सुदानस्य द्रभावात् किन्न जायते ॥ २०१ ॥
 आहारदानतो जीवा भोगसुप्तौ ब्रजत्यहो । द्वित्रिचद्राश्यति मुजस्येव वरं सुखम् ॥ २०२ ॥
 यस्माद्यात्येव भो मूप तिर्यचोपि सुखास्पदे । दानानुमोदनाद् भद्रा मनुष्याणां च का कथा ॥ २०३ ॥
 अपरं दानसदृशं नो पुण्यं गृह्येधिना । अतः पात्राय दातव्यो गृहस्थैर्जपनं खलु ॥ २०४ ॥
 पात्रदानं न कुर्वति ये गृहस्था मताश्च त । विमुच्छृणुना तुल्या स्वोदरभाणे रता ॥ २०५ ॥

द्रव्यसे पूजन करते हैं नृत्य गान वाद्यघोष आदि उत्तमोत्तम भक्तिभावनाओंके द्वारा रात्रिमें जागरण कर धर्म लाभ उत्पन्न करते हैं ।

अर्थ—सब दानोंमें आहार मुख्य और सर्वोत्कृष्ट है ; मोक्षमार्गकी स्थिरता इस दान में ही होती है । आहारदानका फल भी उत्तम है । इस दानके फलमें जीव भोगभूमिसे उत्पन्न होते हैं । जहाँपर एक दो तीन पत्न्यके उत्तम सुखको प्राप्त करते हैं । यदि तिर्यक भी पात्र दानकी अनुमोदना करे तो भोगभूमिके उत्तम सुखको प्राप्त होता है फिर मनुष्यकी क्या बात है ? वह तो प्राप्त होगा ही । गृहस्थको पात्रदानका पुण्य महान होता है । इस लिये पात्रमें आहार दान अवश्यही देना चाहिये ।

श्रावक श्राविका भी जबन्य पात्र हैं उनको भी आहार देना चाहिये । जो शक्तिशाली होकर पात्रमें आहार दान नहीं देते हैं वे मनुष्य जन्मको व्यर्थ खो देते हैं । जिन मनुष्योंका धन पात्रदानमें भगवानकी पूजामें और

पात्रार्थं न च पूजार्थं दानार्थं नापि लख । स्वापतेयो गृहस्थानां तेषां तन्निःफलं मतम् ॥ २०६ ॥
 प्रातर्जिनेन्द्रदेवस्य पचश्चिश्चोत्तमै रसै । हृत्वाभिषेकं पश्चाद्धि करणीयं च पूजनं ॥ २०७ ॥
 प्रातर्जिनेन्द्रपूजा च पात्रार्थं भोजनं तथा । न करोति तद्वात्येऽयं गृहस्थः सन् स्वयं पुनः ॥ २०८ ॥
 सुजयेव मुनिश्चैत्रे सदा दुःखं न सञ्चय । अतो द्वौ सर्वदा कार्यो इत्यादानौ सुखासये ॥ २०९ ॥
 यत्र वर्षे गृहस्थास्तं नित्यं कुर्वति पट्टक्रिया । नित्याहस्यं शास्त्रं पुण्यवृत्तस्य प्राप्तये ॥ २१० ॥
 मूलधर्मो गृहस्थानां पूजादानौ जिनागमे । कथितौ वीतरोगेण सर्वसपत्तिकारकौ ॥ २११ ॥
 ईदृशं शोभनं क्षेत्रं नानर्द्धिमडितं च त । स व्रती व्रतपुण्येन लभ्येव नरेश्वर ॥ २१२ ॥
 तीर्थनाथकुञ्जे तत्र चक्रनाथकुले तथा । विष्णोर्नानर्द्धिसयुक्ते सुरवृद्धनिषेविते ॥ २१३ ॥

जिनायतनो की रक्षा करनेमें व्यय नहीं होता है उस धनका प्राप्त करना निःफल है ।

अर्थ—प्रातः काल पचासृत रससे श्रीजिनेन्द्र भगवानकी प्रतिमा का अभिषेक और अष्ट द्रव्यसे पूजन करना चाहिये । मध्याह्न समयमें पात्र को आहार दान करना चाहिये जो इस प्रकार पूजा और दान नहीं करता है वह अधोगतिको जानेवाला है । पूजा और दान ये दोनों कर्म गृहस्थोंके मुख्य कर्म हैं ।

अर्थ—जिस विदेह क्षेत्रमें गृहस्थ नित्यही आवश्यक पट्टक्रियाओंका पालन करते हैं । जिससे पापोंकी शांति होती है । और पुण्य की वृद्धि होती है । गृहस्थों के दो धर्म मुख्य हैं । क्योंकि इनमें ही अभ्यतर पट्ट कर्मोंका समावेश हो जाता है । दान-पूजा ही ये दो मुख्य हैं । अरहत भगवान ने इन दोनोंको ही धर्मका मूल बतलाया है । इस प्रकार समस्त क्रियाओंको पालनेवाले गृहस्थ विदेह क्षेत्रमें उत्पन्न होते हैं । जहांपर अनेक ऋद्धियां स्वयमेव प्रकट होती हैं ।

तेषां सद्वृषशोभाद्ये खीरले च गुणोज्वले । सम्यक्त्वैज्यात्रातोपेते स्वर्गोद्भवच्युतोपमे ॥ २१४ ॥
 ईदृशे मूष तद्गर्भे अस्मान्मुखाच्च सो व्रती स्थास्यत्येव शुभे वक्षे सुखहर्ते शुभोदयात् ॥ २१५ ॥
 सा वामा त च गर्भस्थ धरिव्यत्यपि पुण्यभा । नो भक्तिष्यति तत् दुःस गर्भस्थैव प्रभावत् ॥ २१६ ॥
 दानाभिषेकपूजा च जीवानामभय तथा । इत्यादि शुभकर्म च तदान्हो वै करिव्यति ॥ २१७ ॥
 सुखेन रथमासाते सुतरलं मनोहरम् । जनिष्यत्येव सा नारी शुभयोगे शुभे दिनं ॥ २१८ ॥
 तदैव जन्मकाले च तस्य तात प्रमोदत । करिष्यत्येव आतोद्य जन्मोत्सव च मगलैः ॥ २१९ ॥
 नि.स्वेभ्य. रत्नस्वर्णं च वस्त्रामुपणमेव च । दास्यति चाभय दान कारागारस्थदेहिनाम् ॥ २२० ॥
 जिनन्द्राणा निशातेषु पंचामुलसैर्वरै । अभियेक जिनाना च कारयिष्यति वार्चना ॥ २२१ ॥
 पश्चात्पुत्रमुखाब्ज च दृष्ट्वा स मोदमाप्स्यति । सोऽपि वल्लं प्रति वालो वद्विष्यत्येव सुदर ॥ २२२ ॥

अर्थ—विदेह क्षेत्रमें व्रती प्ररूप तीर्थकर कुलमें चक्रवर्ती कुलमें उत्पन्न होते हैं । नागयण होते हैं । देवोंके द्वारा पूजित कुलमें उत्पन्न होते हैं । वे पुण्यगुरुरूप उत्तम स्त्रियोंके गर्भसे शुभ सुहृत्तम उत्पन्न होते हैं । वहांपर उनको विलकुल पीडा नहीं होती है । गर्भमें भी वे सुखरों रहते हैं ।

अर्थः— गर्भमें प्राप्त होनेके समय माता जीवोंको अमथदान करायेंगी । नवमास सुखसे व्यतीत होनेपर वह माता सुतरत्नको उत्पन्न करेगी । पुत्रके जन्मकालमें पिता याचक, दीन और दुःखी मनुष्योंको धन, वस्त्र, भूषण प्रदान कर जगतको सुखी बनायेंगे) कारागृहसे बदिजनोंको छोडकर जीवोंको मतोप दंगे । और पुत्रजन्मकी सुशीमें श्री जिनन्द्र भगवानके मंदिरमें पंचामृतसे अभिषेक व आठ द्रव्यसे पूजन नित्य महात्सवके साथ करायेंगे । पश्चात् वालक (पुण्यात्मा—क्योंकि उस जीवने कर्मदहन व्रत किया है ।) के पुण्य सुखका दर्शन कर पिता हर्षित होगा । वालक क्रमसे

कौमारकालमुल्लंघय पयपानै सुभोजनै । क्रमेण यौवन रूप लक्ष्यते च सुशोभनम् ॥ २२३ ॥
 दीप्त्या तर्जितमार्तंड काव्या निर्जितदीविति । गभीरण गहरोन निर्जित मरितापति ॥ २२४ ॥
 भिकृथेन निर्जित श्रीट मारण निर्जितो हरि । रूपेण शत्रुगमिश्र पुण्यनाम्ना विभृषित ॥ २२५ ॥
 इत्यादिगुणवार च नेत्रयत्नेव शुभोत्थात् । यौवने नदनोद्दीप्ते विद्वद्भ्रतफल इदम् ॥ २२६ ॥
 तस्मिता यौवनाद्य च दृष्ट्वा मनु गुणोज्ज्वल । गुणेन व्याल्लतुल्य वा मुदमाप्स्यति भृगिगट ॥ २२७ ॥
 तदासजविमहायै याचयिष्या नृपागजा । महत्कुलोद्भवा शुद्धा रूपाचर्जितमप्सया ॥ २२८ ॥
 ईदृशा मुत्याकारा युस्वनाश प्रदापन । सुतो यौवनाट्याय नञ्ज्ञानदत्तगय वै ॥ २२९ ॥

नेत्यत वायवोपौषान् दानोक्तसुसंगानान् । कुर्वन् वं गालापस्यै मञ्जानानददायमान् ॥ २३० ॥

गोक्ष्यति सोपि पश्चाद्दि शर्भणा सतति सदा । मिकार्यै पुरस्तरय न्नप्तेन भो नृप ॥ २३१ ॥

तरिष्या स्वस्य पट्टे हि तं पुं विधिपूर्वक । म्यापयिष्यति स्वप्रचापालनार्थं सुरोपम ॥ २३२ ॥

कुमार अवस्थाको प्राप्त होगा । यमस्त प्रकारके मुत्सोंको प्राप्त होकर अपने तेजसे सूर्यको, ऋतिसे चंद्रको, गभीरतासे समुद्रको, लक्ष्मीसे सुंदरको, शक्तिसे सिंहको, रूपसे कामदेवको जीतनेवाला अनेक उत्तम गुणोंसे भूषित वह पुण्यात्मा बालक होगा । यह मन कर्मदहन नतका ही माहात्म्य है ।

अर्थ—उमका पिता बालकको यौवन अवस्थामें देसकर अपनी जानिही उत्तम गुणवाली अपने ममान कद्रिकी धारक राजाओंकी कन्याओंकी याचना कर विधीपूर्वक विवाह (गण्डान) स्वीकार करेगा । पश्चात् कुलाभ्याय और धर्मशास्त्रकी विधीमें विवाह करेगा । वह बालक सधर्मिणीको प्राप्त कर पूर्व व्रतका पुण्यफल भोगेगा । पिता पुत्रको एहका ममस्त भार समर्पण कर मगवती दीक्षा धारण कर केवलज्ञानको प्राप्त कर माथमें अब्यय सुरको प्राप्त करेगा

पुरो नाहवनेऽगत्वा तत सोपि शिवासेये । गृहीत्वा सयमं शुद्धं पुरोः पार्श्वं मुनेर्भतम् ॥ २३३ ॥
 हत्वा सकलकर्माग्नीन् ध्यानाशुगेन स मुनिः । संप्राप्य केवलज्ञान तदैवेत्या सुरैः कृता ॥ २३४ ॥
 पश्चात् संबोध्य भव्यौघान् यास्यति चाव्यये पदे । सुखासुखविनिःक्राते तृपात्किं दुर्लभं नृणा ॥ २३५ ॥
 सोमि तातपदे स्थित्वा न्यायमार्गेण धर्मधीः । पालयन् स्वप्रजा सर्वीं स्थास्यत्येव निरुक्षः ॥ २३६ ॥
 शुद्धद्वेषारको वाग्मी दाता भोक्ताच सत्रतः । त्रिवर्गपालकः सैव पूर्वव्रतफलोदयात् ॥ २३७ ॥
 करिष्यति जिनैद्रस्य रानेज्या शुद्धभावात् । पत्नाय विधिना दान दास्यति वासर प्रति ॥ २३८ ॥

वह राजकुमार राजा होकर प्रजाका न्यायमार्गसे पालन करेगा । वह शुद्ध सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला
 विवर्गको परस्पर अविरोधपूर्वक पालन करता हुआ व्रतके पुण्य फलसे सर्वोत्तम सुखोक्तो शान्ति और निराकुलताके
 साथ निर्विघ्न भोगेगा ।

अर्थ—वह पुण्यात्मा भव्यजीव विदेहमें—भगवानकी पूजा-भक्ति-स्त्वन-गुणस्मरण आदिके द्वारा धर्मके

१ इस प्रकरणमें विवाह विधि विदेहक्षेत्रमें भी आगमकी मर्यादा से बतलाई है । यह नहीं है कि कन्या स्वयं वरण करे
 या बालक अपने आप ही अपनी इच्छानुसार जिम तिस (जाति कुजाति योग्य-अयोग्य नीच उच आदि सबको) को
 स्वीकार कर विवाह कर लेवे । ऐसा करना मर्यादाके बाहर है ।

विवाह धर्मका अंग है उसकी पूर्ति गुरुजन ही योग्य रीतिसे मपादन करते है । इसमें बालक बालिकाओंको
 स्वतन्त्रता नहीं है ।

नित्यपापविनाशाय निर्णाय चिदान्न । भिदात्तान जिनाप्यर्थं त्रयण मुनिवृत्त ॥ २३९ ॥

वर्मकामं नृप सोपि पूमं कृत्वावगतये । उन्म्यन् इयं गुहोद्वेज पश्चात् त्रयति ॥ २४० ॥

स्थितेषु जिनभे न वास्वक्य धर्मसिद्धये । क्रूरिव्ययेव नृपदो नु न्यादाद्विभि सदा ॥ २४१ ॥

चिनयर्मस्त्रिभेषु वै यो नानेन प्रकृते । वास्वै नं स मन शस्त्रे जिनधर्मपराम्मुत्र ॥ २४२ ॥

माहात्म्यको बड़ायोग । अपने ऊर्तव्यको राजा होकर भी परम भक्तिपानना में करेगा । नित्य मुपायमें दान देगा जिनवाणीका पठन पाठन करेगा और गुरुके सुयेम याज्ञोका शरण लेगा । आस्त गुरुके मृतमें ही श्रवण करना चाहिये । वह राजा मनसे प्रथम दिनमसयधी अपने धार्मिक कृत्योंका कर लेगा । पीछे में गव्यताय और काये करेगा । यही धर्म की महिमा है ।

१ धर्मके अग अनेक होते है । उनमेंसे गृहस्थोंके लिए वात्सल्य अग विजोप उपयोगी और परमाश्रयक है । वात्सल्य अंगका अर्थ—अपने साधर्मी भाइयोंको भक्ति भावनासे भोजन कराना पचायतको निमंत्रण कर धीति भोजन देना साधर्मी भाइयों को भेला प्रतिष्ठा आदि अवसरके निमित्त स भक्ति पूर्वक भोजनादिकके द्वारा सत्कार करना । समय समयपर साधर्मी भाइयोंको भोजना कराना । विवाह नाम सत्कार—उपनयन सत्कार (जनेऊ) और व्रत अनुष्ठानके समय साधर्मी भाइयोंको (पचायत) भोजन कराना वात्सल्य अंग है । परस्पर प्रेमभावना और धर्ममें अनुगा इस आसे ही होता है । सर्व श्रावकाचारोंमें भी इसीको वात्सल्य अंग माना है । जो मनुष्य पचायत भोजनको या भेला प्रतिष्ठामें आहार दानका नियेन करते हैं—फिजूल खर्च बतलाते हैं वे धर्मके माहात्म्य को जानते ही नहीं हैं । वे स्वय दरिद्र है । कभी भी उनको वात्सल्य अंग पालन करनेका सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ है इसलिये ऐसे सुधारक ही जषन्य पात्रदानकी महिमा को नहीं जानते हैं । परंतु आचार्योंने भेला प्रतिष्ठादिमें आहारदान देने से तीर्थकर गौत्रका पुण्य बतलाया है ।

मो बुगः सर्वदा श्रीमज्जिग्घर्मस्थितेषु वै । कुर्वीध्व सर्वजीवेषु वात्सल्य जेमनादिभि ॥ २४३ ॥

वात्सल्येण वा यथ्येण तीर्थकरस्य कायमान् गोत्र शिवप्रद नूनं सर्वधिपनमस्कृतम् ॥ २४४ ॥

मभामध्ये वरं सिंहपाठे स्थिरा च म नृप । स्वम्याज्जापालकान भूयान् दास्यत्येव सदा खलु ॥ २४५ ॥

धर्मोपदेश भो भूपाः शृणु-व कथयाम्यह । यम्येन श्रणत्सर्वं यात्येव नाशता खलु ॥ २४६ ॥

धर्म-अर्थ-और काम इन तीनों पुरुषार्थोंमें से सबसे प्रथम धर्म पुरुषार्थ को निराकुल भावोंसे निर्विघ्न करना चाहिये । पीछेसे काम और अर्थ पुरुषार्थ को माध्य करना चाहिये । तो ही नीतिपूर्वक कर्तव्य पूर्ण होते हैं । जो मनुष्य अर्थ और काम पुरुषार्थ की सिद्धिके लिये धर्म पुरुषार्थ को छोड़ देते हैं वे नीतीका परित्याग कर देते हैं ।

वह राजा साधुधर्म भाइयोंको भोजन पानके द्वारा वात्सल्य अगती वृद्धि कर जिनधर्मके प्रतिपालक साधुधर्म भाइयों का भोजन पान आदिके द्वारा सत्कार करेगा । जो भाई अपनी शक्तिको छिपाकर साधुधर्म भाइयोंका आडर सत्कार नहीं करता है वह जिन धर्मके तत्वों की जानकारी से वञ्चित है ।

जिनधर्मका एक मुख्य अंग यह भी है कि साधुधर्म भाइयों का भोजन पान आदि सब प्रकार से आडर सत्कार कर । जो डम प्रकार का मिश्रुद्र वात्सल्य अणका पालन करता है वह निश्चय से तीर्थकर गोत्रका वध करता है-उसके पुण्य की महिमा अनन्त है ।

अर्थ-—वह राजा समझे दिव्य सिंहासनपर विराजमान होकर अपनी आज्ञाके प्रतिपालक राजाओंको धर्मोपदेश करेगा । हे राजन् ! गृहस्थों का कर्तव्य और धर्मचरण का स्वरूप मैं जिनागम से कहता हूँ सो उसको सा-
वधान मन से सुनिये । भगवान् के मन्त्रज्ञानी मन्त्र चारण को प्रत्यक्ष जाननेवाले अरहत प्रभुने बतलाया है कि गृह-

गुहस्थाना च विद्वान्ते केवलेक्षणैः । प्रथमं शुद्धसम्यग्बलो मतो हि नात्र सशयः । २४७ ॥
 सर्वदोषविनिष्कातो देवो जितैव निश्चयात् । सर्वद्वंद्वविहीनो यः गुरु सैव जिनागमे ॥ २४८ ॥
 जिनाननसमुद्भूता वाणी मसारतापहा । सा स्यात् गणेश्लेखौघैः सदा वंधा च तारका ॥ २४९ ॥
 एतेषा यत्र श्रद्धान भवेत्तत्रैव भूमिषा । सम्यक्त्वस्यैत्र शुद्धस्य प्राप्तिसौस्त्वत्र सशयः ॥ २५० ॥
 आत्मनो गुणव्यूहस्य निश्चयो यत्र सभवे । तत्रैवोत्पत्तिः भूपाला जायत तस्य निश्चयात् ॥ २५१ ॥

स्थोको सबसे प्रथम सम्यग्दर्शन की विशुद्धि करने चाहिये । निर्मल सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि करनी चाहिये । निर्मल सम्यग्दर्शनके पालन करनेमें गृहस्थोंका धर्माचरण सांगोपाग पालन होता है । ममस्त प्रकार के दोष रहित परमवीतराग सर्वज्ञ अग्रहन प्रभुको देव मानना । ममस्त प्रकार परिग्रहमें रहित परम दिगंबर और राग द्वेषसे विनिर्मुक्त गुरुओंको गुरु मानना, तथा श्री सर्वज्ञ अरहत भगवानके मुखकमलमें प्रकाशित जिनवाणीको तत्प्रका उपदेश करनेवाली समार ममुद्रसे तारनेवाली मानना । इस प्रकार देव गुरु और जिनवाणीका अविचल श्रद्धान करना । किमी प्रकार भय आशा और लोभके वशसे भी अन्यथा नहीं मानना, सो सम्यग्दर्शन है ।

जिन गृहस्थोंको ऐसा सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है उनको धर्मकी प्राप्ति हो जाती है । सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके बिना धर्मस्नकी प्राप्ति नहीं होती है ।

अर्थ-हे राजन् ! अथवा आत्मोंके ममस्त गुणोंका जिन भव्य जीवको दृढ निश्चय हो जाता है वहांपर ही सम्यग्दर्शन प्रकट होता है ।

हृदि यस्यैव सर्वेषु भूतेषु स्वात्मतुल्यता । तस्य सजायते भूग शुद्ध स कर्मनाशद । २५२ ॥

सम्यक्त्वस्य हि चोत्पत्तिर्दशधा कथिता जिते । सिद्धाते दोषनिमित्ते सर्वेणपविर्वर्जिते ॥ २५३ ॥

इत्याद्याः कथिता भेदा ये ते हि कर्मभजकाः । व्यवहारनयस्यैव लक्षणा नो जिनागमे ॥ २५४ ॥

अर्थ—हे राजन् जिन भव्य जीवके निर्ऋपट भावो से-स्वार्थ-इच्छा और किसी भी प्रयोजनके विना स्वाभाविक आत्म परिणामोकी विशुद्धिस समस्त जीवोंमें अपनी आत्माके समान जीमात्माओका श्रद्धान होता है उसके शुद्ध सम्यग्दर्शन प्रकट होता है । जो समस्त जीवोंमें समता भावको आत्मिक परिणाम द्वारा प्रकट करता है । जो परलोककी सत्ताको स्वीकार कर जीवोका अस्तित्व परिणामन आदिका श्रद्धान कर अपने स्वरूपके समान ममस्त छोटे बड़े निर्वल और शक्तिशाली पापी और पुण्यात्मा जीवोको मानता है उसके सम्यग्दर्शन प्रकट होता है ।

अर्थ:— सम्यग्दर्शनके आज्ञा मार्गमशुद्धमादि दण भेद ममस्त प्रकारके दोष रहित जिनागममें वतलाये है । सम्यग्दर्शनके मुख्य दो भेद हैं । निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन । आज्ञादिक दश भेद भी सम्यग्दर्शनके वतलाये हैं ।

अर्थ:— उपर्युक्त भेद प्रभेद मम निश्चय सम्यग्दर्शनके है और वे निश्चय नयके अवलम्बनसे वतलाये हैं । अम व्यवहार नयसे सम्यग्दर्शनके लक्षण वतलाते हैं ।

यद्यपि जीवोको निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्ति हो जाना ही मोक्षमार्गमें कार्यकारी है । जिन जीवोके निश्चय मम्यग्दर्शन है उनके व्यवहार मम्यग्दर्शन है ही । परंतु व्यवहार सम्यग्दर्शनकी प्रतीति विना गार्हमें गार्हसत्य-उपगहन-स्थितिकरण आदि अगोका पालन नहीं हो सक्ता । इसलिये जिसके देव, शास्त्र, गुरुका दृढ श्रद्धान है और जिसके बाह्य आचरण जिनागमकी मर्यादाके अनुकूल है जिसके विचार जिनागमसे विरुद्ध नहीं है और जो जिनागमके अनुकूल

ज्ञेया होने च भेदा भो निश्चयस्यैव चागमात् । वच्यह लक्षणात् तस्य व्यवहारव्यस्य वै ॥ २५५ ॥
 अष्टौ भदा भया सप्तमा नानार्थनाशका । गत्यानि व्यसगान्येव दोषाष्टौ भासजा भदा ॥ २५६ ॥
 सर्वदोषप्रदा हेया दोषहीनाष्ट नामत । मूलमुना गृह्णाना यतो मूलगुणा मता ॥ २५७ ॥

तर्कको रखकर पदार्थों का स्वरूप जानता है उसी भव्य जीवके निश्चय और व्यवहार सम्बन्धन होता है । ऐसे भव्य जीव जिनागमविरुद्ध एक अक्षर भी सुननेको गजी नहीं होते है । और न जिनागमके विरुद्ध अपने ज्ञानवैभवका उपयोग करते हैं ।

भव्यको जिनागममें न शका है न जिनागम ही परीक्षा अपने मनोनीत भावोंसे कुत्सित तर्कके द्वारा वह करता है किंतु पदार्थोंका निर्णय आगमको सत्य और प्राभाणिक समझकर शुद्ध बुद्धिसे करता है ।

अर्थ—आठ भद (ज्ञानभद—पूर्व्यपनेका भद—हुँला भद—जातिका भद—बलका भद—ऐश्वर्यका भद—तपका और शरीरकी सुदरताका भद) का त्याग करना । सात भयोका परित्याग करना ।

तीन प्रकारकी शल्य—(माया मिथ्या निदान) का परित्याग करना । सात व्यसनो का परित्याग करना (जूआ खेलना मासका भक्षण—मदिरापान—वैश्यागमन करना—शिकार खेलना—चोरी करना—और परस्त्रीसेवन करना ये मात व्यसन है । इनका सेवन करनेमें सम्बन्धन नष्ट होता है ।) और आठ मांसके दोषोका त्याग करना ।

उक्त समस्त दोषोको छोड देनेसे सम्बन्धन निर्मल प्रकार से पालन होता है । सम्यग्दर्शन की विद्युद्धि के लिये पचीस दोषोका परित्याग करना चाहिये ।

संवागाद्या गुणा छष्टौ अतीवाराश्च पच वै । त्रयो मृदाः सदा हेया कपात्रा वेदना मत्ता ॥ २५८ ॥
 पचदश प्रमादाश्चानर्थदृडाश्च पच वै । द्वादजाश्चाधितय भवसततिदायका । २५९ ॥
 रागद्वेषादिमोहाश्च तथा निंदा परम्य च । मिथ्यात्वरक्तसेवा च तद्धनन्यैव भक्षण ॥ २६० ॥
 भयेन स्नेहयोगेन विमार्गस्थाय सन्नति । आशया वा तथा तेषा सगम दोषवर्द्धक ॥ २६१ ॥
 इमे दोषा सदा त्याज्याः सम्पद्गृह्यारिभि खलु । व्यवहारनयस्यैव पालकं तद्धि पास्ये ॥ २६२ ॥
 आगमे जिननेयेन स मतो व्यग्रहात । पतेषा मधुणाना च पालको यो न सशय ॥ २६३ ॥

मध-मांस-मधु और पाच उद्वार फलोका परित्याग करना सो श्रावणके आठ मूल गुण है । इन मूलगुणोका परिपालन नहीं करने से सम्यक्त में घात होता है । सवेग—अनुरूप प्रशम आदि गुणोका पालन करने से भी सम्यग्दर्शन की व्यक्तता होती है । तीन मृदता—पट अनायतन—कपाय-वेदना-प्रमाद—अनर्थदृढ—अविरति रागद्वेष मोह का परित्याग यथाशक्ति से करना चाहिये । दूसरो की निंदा करना छोड देना चाहिये । मिथ्यात्व मार्ग तथा मिथ्यात्वके सेवन करनेवालो की प्रशसा आदि का त्याग करना भी उचित है । इस प्रकार दोषोका परिस्थाग कर देनेसे अतिशय विशुद्ध सम्यग्दर्शन का पालन होता है ।

भय—स्नेह—और आशसे कुमार्गका सेवन नहीं करना चाहिये । तथा कुमार्ग सेवन करनेवालो की रुभी भी प्रशसा नहीं करना चाहिये । मिथ्यात्वके सेवन करने से आत्माका हित होगा ऐसा नहीं मानना चाहिये । मिथ्यामार्ग गामी पुरुषो को प्रणाम—विनय—नही करना चाहिये ।

व्यवहार सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले भव्य प्राणी उपर्युक्त विधिसे अपने कर्तव्योंकी पूर्ति करते है ।
 जिनेन्द्रभगवानके परमागम में इसको व्यवहार सम्यग्दर्शन माना है ।

अस्यापि भो नृग भेदा कथिताश्च जिनेश्वरै शृणुथ होकचित्तेन तान् भेदान् कथयाम्यह ॥ २६४ ॥
 उक्तदोषान् न्यजेत् योवै स लभेत् व्यवहारत । सम्यक्तोऽकृष्टसपत्तिं तुर्यजन्मनि वै शिवम् ॥ २६५ ॥
 अस्थैव पालको मर्त्यं चामोति निश्चयाच्च सः । भवे च दशमे चापि द्वादशे वा त्रयोदशे ॥ २६६ ॥
 ससैव व्यवसनान्येव मदाद्यौ वा गुणा वरा । एतेषा त्वजनेनैव मध्यम सोत्र कथ्यते । २६७ ॥
 अष्टौ मूलगुणान् शुद्धान् पालयति तदाप्तये । मुचति व्यवसनान्येव ससैव यो नरोत्तम । २६८ ॥
 लभते सैव भो भवथाः कर्मसतानाशङ्कम् । जघन्याह्य च सम्यक्त्वं ह्यनुकृमात् शिगास्पद । २६९ ॥

अर्थ—हे राजन् व्यवहार सम्यग्दर्शनके भेदोका और भी विशेष खुलासा कहता हूँ सो सुनो ।

जो भव्य उपर्युक्त दोषोका परित्याग करता है उसके व्यवहार नथसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है । परन्तु उस व्यवहार सम्यग्दर्शनसे चौथे ही भद्रमं मोक्ष सुखको प्राप्त होता है । अथवा जैसे जैसे व्यवहार सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि होती जाती है और जैसे जैसे उपर्युक्त दोषोका परित्याग बढ़ता जाता है वैसे ही भवावलिका अंत होता जाता है । अधिक से अधिक दश वारह भयमें वह जीव मोक्षपदको प्राप्त कर लेता है ।

अर्थ—सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य भेदसे मानी है । उत्कृष्ट विशुद्धिका स्वरूप ऊपर बतला दिया है ।

मध्यम सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि—जो भव्य जीव पञ्चीस दोष रहित आठ मूलगुण सहित सप्त व्यसनोका त्याग कर सम्यग्दर्शनका पालन करता है उसके मध्यम सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि होती है ।

जघन्य सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि—जो भव्य जीव आठ मूल गुणोंके साथ सप्त व्यसनोका परित्याग कर सम्यग्दर्शनका पालन करता है उसके जघन्य विशुद्धि होती है । इस प्रकार जो भव्य जीव सम्यग्दर्शनका पालन करता है

सम्यक्त्वेन विना सर्वे दानेज्यात्रतसक्तिया । नि फला जिननाथेन कथिता ह्यागमे बुधा ॥ २७० ॥

सम्यक्त्वेन सम वालो श्वेदपि भो बुधोत्तमा । वर मंतं बुधै किंच वधयेह तस्य कारणं ॥ २७१ ॥

शुद्धहरारका तेहि अत्रागत्यैव तत्रत । तीर्थकरा भवत्येव कल्याणै पंचभिर्युता ॥ २७२ ॥

निल्पिपाधिपसंमेव्या ह्यनतसारमद्धिता । त्रिज्ञानान्वितसद्गता अनौपमविराजिता ॥ २७३ ॥

तद्वते नो वर नाकवासोपि सपदायुतः । अनेकमहिमोपेतः सदा शर्भेण संमृतः ॥ २७४ ॥

तेऽसा तद्धीना तस्मात् श्यावायादिकुयोनिषु । च्युत्वा अमत्यहो नाकात् कालानतप्रम खलु ॥ २७५ ॥

उसको मोक्षपद शीघ्रही प्राप्त होता है । परंतु उत्कृष्ट सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिसे तद्भवमें ही मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है ।

अर्थ—सम्यग्दर्शन विना ज्ञान पूजा आदि समस्त क्रियाएँ व्यर्थ हैं । योग्य फलको प्रदान नहीं कर सकती । ऐसा जिनागममें परम भङ्गात्क अरहंत देवने कहा है ।

सम्यग्दर्शनके सहित नरकमें रहना भी अच्छा है परंतु सम्यग्दर्शनके विना स्वर्गमें वास भी अतिशय दुःखदायी है । इसका कारण यह है सो सुनिधे ।

अर्थ—नरकसे निकलकर सम्श्रद्धी जीव पच कल्याणकी महिमा को धारण करनेवाले तीर्थकर परमदेव होते हैं । इसलिये भवावलिका नाश विना सम्यग्दर्शनके नहीं होता है ।

अर्थ— तीर्थकर परमदेव देवगणोंसे पूजित अनत गुणोंसे विभूषित और जन्मसे तीन ज्ञानकर मंडित सुदर शरीरवाले होते हैं । यह सम्यग्दर्शनका ही भाहात्म्य है ।

अर्थ—सम्यग्दर्शनके विना विविध ऋद्धियोंसे सुसंपन्न, अनेक महिमा सहित और सर्व प्रकारके सुखोंके मोक्ता होनेपर भी ऐसे स्वर्गमें वास करना अच्छा नहीं है । क्योंकि आयुके पूर्ण होनेपर यह जीव मिथ्यात्व कर्मके उदयसे देव

निमेषमात्रकालेपि यस्यैव चित्तशुद्धिता । जायते तस्य प्राप्तिश्च तत्रैव समयेत् बुधा ॥ २७६ ॥

मतिहीनाश्च ये मर्त्या शुद्धश्रद्धाप्रपालका । तेष्याशु ग्राप्य सबोध गताश्च परं पद ॥ २७७ ॥

तिर्थचयोनियु चैव कुदेवेषु कुर्ममिषु । कुमल्येषु तथा नैवोत्पद्यते तस्य धारक ॥ २७८ ॥

अधो भवति नो कुब्जः क्लीबो दारिद्रमलितः । विपुत्रः शोफसंयुक्तो भोगोभोगवर्जितः ॥ २७९ ॥

परसेवाकारः क्रूरो निर्दयः शीलवर्जित । दानेज्याव्रतमहीन परवचनचातुरः ॥ २८० ॥

जानीथ भूमिषा भो वै सम्यक्त्वस्यैव शर्मदा । महिमा च इना वया गृहस्थैर्वा मुनीश्वर ॥ २८१ ॥

पर्यायका परित्याग त् आत्रर कायमें उत्पन्न होता है । इसलिये सम्यग्दर्शनके विना जोनको देवपर्यायके वाद अनत ससार ही है ।

अर्थः— जिन भव्य जीवोंको अपनी पर्यायमें एक निमेष मात्र परिणामोंकी विशुद्धि हो जावे तो उसी समय सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है ।

अर्थः— सम्यग्दृष्टी जीव यद्यपि कुछ भी पढा लिया न होवे तो देव, शास्त्र और गुरुकी दृढ श्रद्धासे शीघ्र ही बोधको प्राप्त होकर परमपदको प्राप्त होता है ।

भावार्थः— पढ लिखे मनुष्योंको ही सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती हो ऐसा नहीं है । किंतु जिन भव्य जीवोंके आचरण शुद्ध है चित्तवृत्ति विशुद्ध है उनके परिणाम विशुद्ध है उनको ही सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है ।

अर्थः— सम्यग्दृष्टी जीव तिर्यच योनिमें कुदेव-कुभूमिमें कुत्सित मनुष्य पर्यायमें उत्पन्न नहीं होते हैं । तथा सम्यग्दृष्टी जीव अथे-कुब्जे-नपुंसक-दक्षिणी पुत्रविहीन-शोकसहित-भोगोपभोग रहित-दूसरोकी सेना करनेवाले-क्रूर निर्दय-शीलरहित दान पूजा व्रतविहीन-दूसरे जीवोंको ठगनेमें चतुर और निध नहीं होते हैं । यह सब कुछ महिमा

(२२३)

कुर्वीध्व धारण चित्त आढौ सद्हनसिद्धये । सम्यक्त्पस्यैव शुद्धस्य विधिदावाश्लोयद ॥ २८२ ॥

नित्याह्यैव नाशार्थं पट्क्रिया वासर प्राप्ते । कुरुव शिवशर्माय अभिषेकादिनामत ॥ २८३ ॥

पट्क्रिया चैव कुर्वति ये गृहस्था मता न ते । पशुतुल्या बुधै भूषाश्चामे पापकार्यत ॥ २८४ ॥

अतो भो वृषिपा पूर्व कृत्वा वै नर्ममान । अन्यत् पश्चाद्दि कुर्वीच्छ गृहकार्य सुखाप्तये ॥ २८५ ॥

सम्यग्दर्शन की है । जगत में जितने सुखके माधन हैं वे सब सम्यग्दृष्टी जीवको स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं ।

अर्थ—हे भव्यजीवो सम्यग्दर्शन को सर्वमे प्रथम अपने चित्तमें धारण करिये । क्यो कि उसमे ही उत्तम व्रतोही भिद्वि प्राप्त होगी । शुद्ध सम्यग्दर्शन कर्मरूपी दानार्थि को नाश करने के लिये मेघके समान है ।

अर्थ-दैनिक होनेवाले ममस्त पापोकी निवृत्तिके लिये पट् क्रियाओं को नित प्रतिदिन करना चाहिये । अभिषेक पुजन आदि क्रियाओसे मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है ।

अर्थ—हे राजन् ! जो गृहस्थ अपने पट् आश्रय कर्मोंको (देव—पूजा गुरुकी उपासना स्नाध्याय मयम तप दान) नित्य नहीं करते हैं वे अपने कर्तव्य से रहित है । मनुष्य नहीं है जिसे अपने कर्तव्यों की सिद्धि की है कर्तव्यों की सिद्धिके बिना मनुष्य पशुके समान है । पट् आश्रयक कर्मोंसे पापोंका नाश होता है । और जिनके केवल पापकी ही प्रवृत्ति है वे पशु ही हैं ।

अर्थ—इसलिये हे नृपतिगण ! मयसे प्रथम अपने धर्म साधनों को नियम पूर्वक साधन करना चाहिये । पीछे आजीविकादिसमधी आरम करना चाहिये । जा अपनी पट् आश्रयक क्रियाओको पालन कर अन्य कार्य करता है वही त्रिवर्गका माधन संपादन करता है ।

स्वाध्यायस्य भो मृगाः क्षेत्रेषु सप्तसु सदा । व्यय कुरुत शर्मान्वेयं माऽन्यत्कार्यं कदाप्यहो ॥ २८६ ॥
 गृहस्था धर्मकार्येषु व्ययं कुर्वन्ति नो हि ये । स्वम्य द्रव्यस्य ते नूनं दैवतो वंचिता खला ॥ २८७ ॥
 धर्ममर्थव कामं च त्रिवर्गं य पुमान् खलु । साध्यत्येव स याति क्रमात् शिक्पुरे वरे ॥ २८८ ॥
 भविराश्रय धर्मकार्यं कर्तव्या गृहमेधिभिः । सर्वे कार्याः मदाकाले धर्मसंततिदायकम् ॥ २८९ ॥

हे राजगण हो ! अपना धन सात क्षेत्रोंमें लगाओ । क्यों कि पापकार्यसे उत्पन्न हुआ धन यदि सप्तक्षेत्रोंमें लगाया जाय तो वह धन पुण्योदयका कारण है । अन्य कार्यमें व्यय करनेसे केवल पार्षका ही कारण होता है । मात क्षेत्रोंके नाम—जिनधर्म—जिनागम—जिनमव जिनचैत्य—जिनचैत्यालय—जिनक्षेत्र—और जिन आगतन)

अर्थ—जो गृहस्थ धर्मकार्य में अपना धन नहीं खर्च करते हैं वे भविष्यके लिये ठगाये जाते हैं । उनको शुभ कर्मकी प्राप्ति नहीं होती है । और न उनको महान पुण्य संपादन करनेका अवसर ही प्राप्त होता है ।

अर्थ—जो मनुष्य धर्म—अर्थ—और काम पुरुषार्थको परस्पर अविरोध भावसे संपादन करता है वही क्रमसे मोक्षपुरका गम करता है । केवल अर्थ पुरुषार्थ या काम पुरुषार्थके सिद्ध कर लेनेसे मनुष्योंके कर्तव्य पूर्ण नहीं होते हैं न त्रिवर्ग ही सिद्ध होता है । त्रिवर्गमें धर्मपुरुषार्थ मुख्य है । क्योंकि काम और अर्थ पुरुषार्थ ये दोनों ही धर्म पुरुषार्थ के फल हैं । बीजकं विना फलकी प्राप्ति नहीं होती है । इसलिये बीजकी रक्षा कर फल प्राप्तिका उद्योग करना चाहिये । क्योंकि,

अर्थ— गृहस्थोको अपने समस्त कार्य धर्मकी रक्षा करते हुये ही करने चाहिये । धर्मकी रक्षा कर नहीं करने चाहिये । जो मनुष्य धार्मिक क्रियाओंको धूलकर अन्य कार्य करता है वह सुखको प्राप्त नहीं होता है । सुखकी प्राप्ति धर्मक्रियाओंके करनेसे ही होती है ।

दानेन दृश्यते पुण्य दयाभावेन मत्स्य । आत्मध्यानेन मोक्षस्य स्वरूपो नात्र सशय ॥ २९० ॥

मृतये विधिना भृषा मध्यान्हे समये चरे । दत्त्वा न्याद रसाढ्य च करणीय ततश्च तं ॥ २९१ ॥

रोगग्रस्ताय संदेया भेषजा नित्यमेव हि । तस्यातंकविनाशार्थं दद्यान्नतविशुद्धये ॥ २९२ ॥

भयकपितजीवाय दातव्यमभयाभिर्भ्रं । दान सशकलशुद्धयर्थं सदैव भो नरेधरा ॥ २९३ ॥

पाठकाय सुप्रथम्य कर्तव्य बहुमोदतः । दान सतज्ञानप्राप्त्यर्थं अज्ञानध्वातसद्रविं ॥ २९४ ॥

अर्थः— दान देनेसे ही पुण्यकी महिमा प्रकट होती है । दयाका कार्य करनेसे ही श्रेष्ठ तपका फल प्राप्त होता है । आत्मध्यानसे ही मोक्षका स्वरूप प्रकट होता है ।

अर्थः— मुनिगण, आर्थिका आदि पात्रोंको मध्यान्ह समय आहारदान देना चाहिये । अपनी शक्ति और भक्तिके अनुसार विधिपूर्वक प्राशुक आहार देना चाहिये । सरस, मनोहर और शुद्ध आहार दान देवे ।

अर्थ—चतुःसवमें जो रोगसे पीडित हो उसको उत्तम प्राशुक शुद्ध औषधि का दान करे । और साधारण जीवोंको भी औषधीका दान देवे । जिसमे रोग का नाश हो और दया व्रतकी विशुद्धि हो ।

अर्थ—भययुक्त जीवोंको अभय दान देना चाहिये । जीवोंको मरते हुए व्रचाना चाहिये । प्राणोंकी रक्षा कर अभय दान देना चाहिये । अन्य शास्त्रोंमें अभयदानका अर्थ यह बतलाया है कि—पात्र-मुनि आर्थिकादि उत्तम पात्र को वसत्किादिक देना अभयदान है । अभयदान से सम्यग्दर्शन की विशुद्धि होती है ।

अर्थ—मुनि-आचार्य-उपाध्याय आदि पात्रको जैनागमके शास्त्रोंका दान करना चाहिये । चतुःसवको जैन ग्रंथोंका दान देना चाहिये । जिससे ज्ञानकी वृद्धि होती है और अज्ञान का नाश होता है । जैनागमके ग्रंथोंका ही दान ज्ञानदान कहलाता है । अन्य मतके ग्रंथोंका दान मिथ्यात्व है ।

आर्थिकार्थ सुवस्त्राणि सदेयानि मुनीजिनं । शौचरुमर्थिममहो सदेयौ विच्छिद्यकुण्डिकौ ॥ २९५ ॥

श्रावकाय प्रदेयाश्च वस्त्राभरणमनया । श्राविकायै महीपाला देशान्ते च मनोन्मग ॥ २९६ ॥

दयाभावेन सर्वस्मै अतमानादि वस्तुच । दातव्यं सर्वकात्रेहि दयाभावपसिद्धये ॥ २९७ ॥

इत्याद्या या क्रिया प्रोक्ताः जिननाथेन तागमे । व्यग्ररज्राश्च ता सर्वा ज्ञेया सम्यक्वधारिभि ॥२९८॥

अर्थ—इसी प्रकार आर्थिकार्थके लिये साडी आदि वस्त्रोका दान देना चाहिये । मुनिगणोंके लिये शौचकी शुद्धिके अर्थ एवं जीमशकके लिये पीछी कूमडल देना चाहिये ।

अर्थ—हे राजगण श्रावकोंका भोजन पान और वस्त्राभरण देना चाहिये । उनको आजीविका का साधन लगा देना चाहिये । और श्राविकाओंके लिये भी स्त्राभरण अन्नपानादिक दाना चाहिये ।

अर्थ—दयाभावसे अपात्र कुपात्र और सर्वपाधारण दुःखी रोगी-अनाथ-पगु-दरिद्री पापी-नीच-पशु आदि समस्त जीवोंको यथायोग्य अन्नपानादिक वस्तुओंका दान मदें देना चाहिये । जिससे दयाभावकी प्रसिद्धि हो ।

अर्थ—श्रीजिनेन्द्र भगवानने परमागममें दान पूजा विवाह-उपनय-संस्कार-आदि जितनी क्रियाएँ उतलाई हैं और वे क्रियायें व्यवहार रूप दीस रही हैं परंतु उनको केवल व्यवहार नहीं समझना चाहिये । वे सब धार्मिक क्रियायें हैं । धर्मकी अपभूत है । आनश्य ह कर्तव्य है । व्यवहारमें जितने साधन कर्तव्य हैं वे भी सब धर्मकार्य हैं । उनको व्यवहार धर्मकी संज्ञा शास्त्रों में बतलाई है । परंतु सम्यग्दृष्टी जीवोंको नित्यही करना चाहिये । ये व्यवहार क्रिया हैं ऐसा समझकर भव्य सम्यग्दृष्टी जीवोंको इनसे उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । जो सम्यग्दृष्टी गृहस्थ जीव इनको व्यवहार क्रिया समझकर उपेक्षा करता है वह मिथ्यात्वी है ।

न्यायमार्गेण सर्वाश्च प्रजा सर्वार्थदायिका । पालनीया सदाकाले भवद्भिर्न्यायेवेदिभि ॥ २९९ ॥
 इति स्वस्वामिना प्रोक्त धर्मार्थफलशुभ । सभातम्याश्च ते भृथा मृदुभावाऽन्विता व्यथु ॥ ३०० ॥
 शुत्वा संसारतो भीत्वा मन्वेति स्वहृदि तदा । जिनधर्मसम नैवापर वै सुवनत्रये ॥ १ ॥
 केचिच्च शुद्धसम्यक्त्वं व्यग्रहारनयान्वितं । दयाव्रतच केचिद्दि केचिदणुव्रतान् वरान् ॥ २ ॥
 दान दत्त्वा सुपायाय करिष्यामि सुभोजन । कृत्वाभिषेकसलुजा जिनविनस्य निश्चयात् ॥ ३ ॥
 जिनपादौ धुगबोधै काश्मीरगुण्मयुतै । प्रातः सलेपयित्वा वै पश्चाल्लेपो मयाम्बु भो ॥ ४ ॥
 अरविदोऽक्रान् इत्या जिनपादाब्जयो परि । त्रिषि पश्चात् करिष्यामि मदैव मारहानत्रे ॥ ५ ॥

अर्थ—हे नृपती गणहो न्यायमार्ग से नीति पूर्वक प्रजाका पालन करना चाहिये । न्याय और मदाचार का उल्लंघन कर प्रजाका पालन करना योग्य नहीं है ।

अर्थ—वह धर्मात्मा राजा अपने अधीन राजाओको इस प्रकार धर्म-क्रिया नीति और पुण्य पापका फल निरूपण करेगा जिसको सुन कर मयामें विराजे हुए राजा अपने परिणाममें अतिशय मृदुता धारण करेंगे । परिणामोकी मरलता से उनके पापमय मलिन विचार उनके हृदयसे पर्वथा दूर होंगे । कितने ही राजा तो संसारसे भयभीत होंगे । कितने पापकर्मी से भयभीत होंगे । समस्त समाके समामद निश्चय करेंगे कि जैनधर्मके समान सुसंस्कारी तीन लोक में अन्य कोई भी पदार्थ नहीं है । इस लिये व्यग्रहार राक्ष्यदर्शनके साथ शुद्ध सम्यग्दर्शनको बहुत से राजा धारण करेंगे । कितने ही राजा अहिंसा व्रत ग्रहण करेंगे । कितने ही राजा पाच अणुव्रत ग्रहण करेंगे ।

अर्थ—कितने ही भव्यजीव यह प्रतिज्ञा करेंगे कि इस नित्य प्रति पात्रोको दान देकर ही भोजन करेंगे । कितने ही भव्य भगवानका प्रति दिवस अभिषेक कर भोजन ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेंगे, पूजा करनेकी प्रतिज्ञा लेंगे ।

पादाग्रं जिनर्धिवस्य सद्याड्यवर्तिजे. शुभै । इंद्यैः दीपसदोहै सख्यामि. सहस्रश सदा ॥ ६ ॥
 मोदक व्यजन चैव शाल्यन्नमलिसंयुत । इत्यादिनिवसथुत्वा जिनेन्द्रपदसन्निधे ॥ ७ ॥
 जेमन शोभनं पश्चात् स्वर्णभाजनसस्थितं । पश्चादेव करिष्यामि वासरं वासरं प्रति ॥ ८ ॥
 समाभ्यर्च्य करिष्यामि लेपं पश्चात् सुखाप्तये । धूप दत्वा सुगन्धाब्ज शिवसुखप्रदायक ॥ ९ ॥
 त्रिपुटा चद्रवाला च क्षीरकाया मनोहरा । पटोलिका सुशोभाब्जा नाम्ना वै मातुलिका ॥ १० ॥
 कपित्थ कटकीफलः कामाणो नेनन्ददः । दाडिमश्चैव हिंसालोलागलीनिवृक्तथा ॥ ११ ॥
 रभाद्या ये फला संति मनोवक्रहरा वरा । प्रभो पादाब्जक्षोण्यग्रे ध्रुवैतान् मेस्तु स पुन ॥ १२ ॥
 अष्टम्या वा चतुर्दश्या पालयिष्यामि सद्गतं । ब्रह्मचर्याभिध शुद्धं शिवशर्मप्रदायकम् ॥ १३ ॥

कितने भव्यात्सा पुरुष भगवानके पवित्र चरणकमलों पर सुगंधित पदार्थोंका लेप करने और अवशेष सुगंधी द्रव्यका मस्तकमें तिलक लगाने, उत्तम सुगंधित और शुद्ध पुष्पोंको भगवानके पवित्र चरणों पर कामदेवको नाश करनेकेलिये चढाने, भगवानकी पूजाके समय सुगंधित धीरु मनोहर दीप जलाकर मोहनी कर्मका नाश होनेकेलिये आरती करने, भगवानके पवित्र चरणोंके अग्रभाग में उत्तम नैवेद्य चढाने, सर्णके थालोंमें उत्तम नैवेद्य रखकर शुधावेदनीय को नाश करने के लिये चढाने, भगवानके चरणकमलके समक्ष सुगंधित धूपको अग्निमें प्रक्षेपण करने, इलायची-दाडिम-खिन्नी-जामुन-विजोरा पटोलिका-कपित्थ-फणस-नीबू-केला-श्रीफल आदि सुंदर फल चढाकर अपनेको धन्य मानने, अर्घ चढाकर कृतकृत्य मानने आदि की प्रतिज्ञाए लेंगे ।

अर्थ-अष्टमी और चतुर्दशके दिवस श्रेष्ठ व्रतको (प्रोपधोपवास) पालन करूंगा । और उस दिवस परमशुद्ध

इत्यादीन् माघाधीश तस्मीपे व्रतोत्क्रान् । भूमिपाला. सुभावाब्धा गृह्ण्यथेव निश्चयात् । १४ ॥

भूयो हि यत्र धर्मस्य पालको नात्र सशय । तदाज्ञावर्तिन सर्वे भूषा किं न भवंत्वहो ॥ १५ ॥

राज धर्मस्य मार्गे हि चलत्येवावनौ नृप । तदृते धर्मलेशोपि जायते नो कदाचन ॥ १६ ॥

तत्र क्षेत्रे प्रजा सर्वा पालयत्येव त्रिप्रभा. । जिनधर्म जिनेन्द्रेक्त दयाजलधिंसंभृतम् ॥ १७ ॥

शीलव्रतको धारण करूंगा । जिससे शिवसुखकी प्राप्ति हो । हे राजन् श्रेणिक ! इस प्रकार अनेक राजागण उस भव्यो-
त्तम महाराजके समीप व्रतोंको ग्रहण करेंगे ।

अर्थ:— जो बड़े २ मांडलीक राजा जैनधर्मके पालन करनेवाले हो तो उनकी आज्ञामें चलनेवाले अन्य
राजागण क्यों नहीं जैनधर्मका पालन करेंगे ? अवश्य ही करेंगे । राजा यदि धर्मका प्रतिपालक है तो ममस्त प्रजा
धर्मका पालन करनेवाली हो जायगी । प्रजा राजाका अनुकरण करती है । इतना ही नहीं बल्कि ममस्त देश ही जैन
धर्मका पालन करनेवाला हो जाता है ।

अर्थ:— राजा जिस धर्मको पालन करता है वहाका देश उसी धर्मका प्रतिपालक हो जाता है । क्योंकि
राजाओंके चलानेसे ममस्त प्रजा उसीकी स्वीकार कर लेती है । राजाके विना धर्मका प्रतिपालन यथार्थ रूपसे सर्वत्र
नहीं हो सक्ता । धर्म पगु है, उसको चलानेवाले चाहिये । तब ही वह सर्वत्र प्रचारमें आता है, बढ़ता है । आश्रय
विना धर्म नहीं बढ़ता है ।

अथा— वहाँकी प्रजा (क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) श्री जिनेन्द्र भगवानके द्वारा प्रकाशित जिनधर्मका ही पालन
करती है ।

व्रतपाकात् समापन्वान् भोगोपभोगसखुखान् । भोक्षश्रेयैव सदा सोपि तत्र पंचेन्द्रियोद्भवान् ॥ १८ ॥
 अस्मार्त्तिकं दुर्लभं लोके राजसैरथं नराधिभ । सुलभा र्मिणा सर्वा इन्द्रमूल्यादिसपदा ॥ १९ ॥
 संनाथ्य पुत्रपौत्रादीन् मम महीप शुभोदयात् । स्थास्यति भावितीर्थेण म्वराज्ये भूय देते ॥ २० ॥
 स्वपुरे पत्तने द्रोणे महीध्रे वाहने तथा । द्वीपव्याप्तटे चैव याद पतेश्च सत्ते ॥ २१ ॥
 आगमे विपिने चापि ग्रामे खेते मटवंके । वृक्षादिवाटिकाया न कर्षते कटरे तथा ॥ २२ ॥
 इत्यादिशोभने स्थाने कारयिष्यति स नरेट् । उदवासितानि सौम्यानि रत्नहाटकजानि च ॥ २३ ॥
 तन्मध्ये स्थापयिष्यति विमानि श्रीजिनेशिनान् । प्रतिष्ठापाठपर्यादात् चतुर्विधार्ण सह ॥ २४ ॥

अर्थ—उस राजाने ब्रतके शुभ फलसे अनेक भोगोपभोग सपदा को प्राप्त किया और मनोहर सुख भोगने लगा ।

अर्थ—हे राजन् इस कर्म दहनव्रतके फलसे राज्यके सुख प्राप्त होते हैं और इन्द्रकी विधृति प्राप्त होती है ।

अर्थ—इस प्रकार वह महाराजा ब्रतके पुण्यसे पुत्रपौत्रादि की की शुभ शोभाको प्राप्त होगा । हे भावि तीर्थेश श्रेणिक ! वह महाराजा ब्रतके पुण्यसे राज्यसपदाको चिरकाल पर्यन्त निर्विघ्न पालन करेगा ।

अर्थ—वह राजा अपने नगरमें श्रीजिनेन्द्र भगवान् के रत्नोके दिव्य सदिरोकानि निर्माण करेगा । इयी प्रकार अन्य शहरोंमें ग्राम-पर्वत-नदीतट-उगीचा-वन-द्रोण-कदरा पर्वतकी शिखर आदि स्थानोंमें भी मनोहर जिनालय निर्माण करावेगा । जो बड़े ही भव्य और सुंदर होंगे । जिनमें मनोहर जिन प्रतिमायें प्रतिष्ठा करार विराजमान करेगा । प्रतिष्ठाके समय चतुर्विध सपका आमन्त्रण करेगा और सबको भोजन पान आदि सामग्रीके द्वारा मतोप

किमिच्छकाभिषदानं सदा दास्यति स नृप । निर्द्विषाय शार्थं द्रिडाभिषेकसमैग ॥ २५ ॥
 शर्मभ्रमो गत काल नैव जास्यति स कदा । धर्मकार्यं पुर कृवा मोक्षय येन स्वमपदासु ॥ २६ ॥
 एव स भुवभानोहि शर्मणा संतति नृप । काललया प्रयोगेण वैराय्य भाषयिष्यति ॥ २७ ॥
 धिरूपपायसमार च राजयशर्म रजोभसु । हेय पापप्रदं धीरे नून जानादिपारैः ॥ २८ ॥
 इन्द्रियोद्भूतशर्मेषु शर्मोत्पत्तिश्च किंचन । नाद्येन महवो नद्या मुगन्धाः भशत्रो यन ॥ २९ ॥
 स्वोकाययनोद्भूता मइ तहमदायका । अतृभिवजनका भूढरुपादेया इमे सुखा ॥ ३० ॥

करेगा । ममको उनकी इच्छानुसार दान देगा । ममके मनोरथ पूर्ण करेगा । ममकी भावनाको मफल करेगा । जिसमे दरिद्रता का समूल नाश हो जायगा ।

अर्थ—यह राजा मम प्रकारके सुखोहा सेमन करता हुआ अपने समयको नहीं जानेगा और धर्म कार्यको फिर भी मममे प्रथम कर अपनी पुण्योद्भूतमे प्राप्त सवत्तिका भोगेगा ।

अर्थ—इस प्रकार यह राजा धर्मके फलमे ममस्व प्राप्तके सुखोहा भोगेगा । काललब्धिमे वैराग्यको प्राप्त होगा। ममारका अमाराका न जानेगा । राज्य गुप्तको वह श्रुतीके ममान मानेगा । ममारकी असागताको वह धिक्कारने लगेगा । इन्द्रियोहा सुख पापप्रद है । उस कुठ भी गुप्त न मार नहीं है । इन्द्रियोकी आभीनतासे बहुतसे मनुय नष्ट नागये । स्वोहा शरीर कामका धर है—यह महान रोग और आपत्तिका धर है । इसमे जरा भी तमि नही है, न इन्द्रियोके सुपमे कोई त्त हृषा इमलिये छोडने योग्य है । ज्ञानी पुरुष कपायोके आभीन नहीं होते है । इस प्रकार वह विचार करेगा ।

इन्द्रादीनां च सौन्दर्येषु यत्रास्मिन् नो किमप्यदो । शर्म वै तपि तस्मादि वस्तथैव यती मय ॥ ३१ ॥
 अस्माद्दृशां च आत्मन् वै क्रियन्मात्रं च मन्मथ । येन लुब्धैश्च विष्टान् अत्र तेऽस्मिन् न्यायान् ॥ ३२ ॥
 त्वयापि नटु मुञ्जानि भयुक्ता शर्मैवति । त्वयापि वै च नृसिंहं राजश्यापि नो भोज ॥ ३३ ॥
 विन्तरेण विचारेण मन्मथ-भक्त शिवाश्रये । यत्प्रतिपत्तयान् शर्मान् तत्त्वन्व नानुनाशय ॥ ३४ ॥
 तथा वेदत्वमा वर्ग्यं मे हृदये पत्नया यग । विना प्रीतीनगण्य मन्मथेन श्रुभेन च ॥ ३५ ॥
 अर्थेन गद्यधारण चारोप्य मुनमूर्त्तिम् । कश्चिथाप्यार्थं गौरं तत्र शिवाप्रत्यक्षम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—इन्द्रादिको जो जो मुझ यक्ष्मी पर्यायमें प्राप्त होता है वह भी उनमें नष्ट होजाता है । इसलिये ममार्थमें कहीं पर मुझ नहीं है ।

अर्थ—हे आत्मन् ! हम लोगोंकी आत्माको ममार्थमें क्या मुझ है ? जिसके लोभमें वरगं रहनेकी अपिलाया करू ? वरगं रहनेमें क्या मुझ है ?

अर्थ—हे आत्मन् ! ममार्थमें उत्तमसे उत्तम मुझ तने भोगे तपस्वी तेरी जग भी वृत्ति नहीं हुई । अनन्त काल सुख भोगते हुए तुझे अल्प मात्रभी तृप्ति नहीं हुई ।

अर्थ—अधिक क्या कहू ? ओर है आत्मन् अधिक क्या मन्मथाया जाय ! यदि मोक्षसुखके प्राप्त करनेकी तेरी इच्छा है तो ममार ओर इन्द्रियोंके तुच्छ सुयोगका परित्याग कर ॥ ओर इस समय दुःखप्रदायक तुच्छ ममारीक सुखोंको छोड । आज तक भोग इतना ममय इन तुच्छ भोगोंके सुखोंकी लालचमें व्यर्थ ही गया । ओर अपना यह अमूल्य जीवन सधमके विना व्यर्थ ही चला गया । इसलिये आज ही में अपने ज्येष्ठ पुत्रके शिरपर यह राज्यभार ममर्षण कर मोक्षका अनुपम सुख प्रदान करनेवाला यह मुनिसयम ग्रहण करूगा । इस प्रकार मन्मथे विचार कर और

इति च्यात्वा हृदि पुत्रमाह्वय हरिविष्टर । स्थापयित्वा प्रज्ञानाच पालनायै स्वकीयके ॥ ३७ ॥
 अन्यान् पुत्रान् तथा बंधून् सतोष्य सत्तोष्यै सह । पृथक् पृथक् नराधीन स नृपो नृपसेवित ॥ ३८ ॥
 नि स्वैभ्य रत्नभर्मादीन् दत्त्वा आनंदचेतसा । कृत्वा जिनेन्द्रमण्डजां चाभिषेकपुरस्सरा ॥ ३९ ॥
 सर्वेषु स्त्रकुट्टेयु सकार्यं ह्यात्मभाववित् । क्षमा च ललु सर्वेषु वस्तुषु निर्ममत्वता ॥ ४० ॥
 स्वय भुवा नि शल्यो वै स्वस्मिन् चाज्ञाय सिद्धये । स्वामनः शातभावाढ्यः शिविका च मनोहरा ॥ ४१ ॥
 समाह्वय तृणोभेव स्वात्तनुगणै सह । पुरवाह्यमने चैव यास्त्येव सुशोभने ॥ ४२ ॥
 सीमथरादितीर्थाना सर्वथे वा गणेशिना । अवतीर्य म्वय यानात् शातमावात्तमानसः ॥ ४३ ॥

अपने ज्येष्ठ पुत्रको बुलाकर स्वर्णसिंहासनपर विराजमान कर अपनी प्रजाको पालन करनेके लिये पट्टाभिषेक करेगा । और छोटे पुत्रको यथाशक्ति मंपत्तिका भाग कर प्रदान करेगा । अन्य वधु जनको उनकी योग्यता प्रमाण आदर सत्कार करेगा । अन्य परिवार कुटुन तथा भृत्यमर्गको यथायोग्य सतोषित करेगा । अपने आधीन राजाओंको पुत्रके स्वाधीन कर राज्यभार पुत्रको समर्पण करदेगा ।

अर्थ— गरीब और अनाथ जनको धन रत्न आदि द्रव्य देकर सतोषित कर अपने भावोको सफल करनेके लिये आनंद भावसे श्रीजिनेन्द्र भगवानकी अभिषेकपूर्वक पूजा करेगा । अपने कुंडवी जनो से क्षमा कराकर और स्वय सचसे क्षमाकर समस्त वस्तुओ से निर्ममत्व भावको धारण कर समस्त प्रकारसे निःशल्य होगा । अपने मनकी शुद्धिको धारण कर राजा भगवती जिनदीक्षाको धारण करनेके लिये विषय और कर्पायोंको जीतनेके लिये अपने भावोंको शांत करेगा, सर्वोत्तम शिविका (पालखी) में बैठकर अनेक राजाओंके माथ बाह्य उद्यान में जायगा ।

नत्वा तत्पादपद्माब्ज (१) नारक निर्जैर्नुतम् । स्वकरो कुड्मलीकृत्य याचिष्यत्येव सप्रसम् ॥ ४४ ॥

निर्दार दयावीग शरणागतमसल । वीराधिप मुने स्नामिन् अथभूतपतारक ॥ ४५ ॥

आत्मगुणविचारज मा देहि शरणागत । दीक्षा जैनेश्वरी पूज्या इन्द्रनागेन्द्रमुषिपि । ४६ ॥

तदा गुरुभेदेन त्यमत्वा मृपणसङ्गतीम् । ब्रह्मादीन् शोभनाम् चैव महामोहादायिकान् ॥ ४७ ॥

शिरस्थान सकलान् केशान् गुल्मान् वा मोहभूते । लुच यस्या तदात्राले पंचमुष्टे मनासधी ॥ ४८ ॥

बाह्यस्थान् निखिलान् द्दज्ञान अंत स्थानपि दुस्त्यजान् । मूढश्च तत्समीपेहि त्यस्त्वा मुक्त्वा मुनेः समः ॥ ४९ ॥

गृहीत्वा मोक्षप्राप्त्यर्थं अष्टाविंशतिसम्यक्कान् । मूलभूतान् मुने सर्वांश्च मूलगुणान् दयासये ॥ ५० ॥

चतुरशीतिरक्षान् वै उत्तमदिवगन् गुणान् । सर्वशुद्धिप्रदान वद्यान् मुने देवाधिपै मदा ॥

अष्टादशमहत्त्वाणि शोलेभदानि भूते । धृत्वा वै ब्रमचर्येभ्य शुद्धमनि यते खलु ॥ ५२ ॥

अर्थ—राजा मीमधर स्वामीके निरुद्ध या गणधर स्वामीके समीप शात भावोसे पालखीसे उतरकर जायगा ।

अर्थ—देवगणोसे पूजित संभार समुद्रसे तारक ऐसे गुरुके पवित्र चरण कमलोको नमस्कार कर और हाथो को कमलाकार बनाकर (हाथ जोडकर) भगवती जिनदीक्षाकी याचना करेगा ।

अर्थ—हे दिगम्बर महाव्रतधारक ! हे दयावीश ! हे शरणागत वत्सल ! हे मुने ! हे भव्यजीवोके तारक । आत्मगुणोके विचारक ! मुझ दीन शरणागतको भगवती जिनदीक्षा प्रदान कीजिये ॥

अर्थ—उस समय राजा आचार्य गुरुकी आज्ञासे मोहको वदानेवाले ऐसे बहुमूल्य ब्रह्माभूषण अपने शरीरसे उतार कर फेंक देंगे । जैसे कोई मोहराजाको ही समूल उखाडकर फेंक देता है वैसे ही अपने मस्तक, दाढी, मूछके केश पच मुष्टीके द्वारा उखाड कर फेंक देंगे । और अत्यंत दुस्त्याव्य अतरंग एव बाह्य परिग्रहको छोडकर अपने गुल्ले

इत्थ शुद्ध्या गृहीत्वा वै सयम स मुनिर्वारम् । करिष्यति वने भीमे दुर्धर तपसग्रह ॥ ५३ ॥
 तदाधीना नरेन्द्राश्च दृष्ट्वा म्वस्यामितो मुदा । सहस भो नराधीश भव्यभावा सहस्रशः ॥ ५४ ॥
 ता दीक्षा तेषि साकं च स्वपहिलाभिरादरात् । गृह्णियति परित्यज्य सयदा स्वर्गसन्निभा ॥ ५५ ॥
 आर्थिका आर्थिकासधे करिष्यत्यनघ तप । मुनयस्तेपि साक च तनैव मुनिना वरा ॥ ५६ ॥
 अतीचारविनिर्मुक्तान् मूलोत्तरगुणान् मुनि । मोक्षार्थं धीरभावान्त्व पालयिष्यति स खलु ॥ ५७ ॥
 महासाहसधैर्येण स यति कर्मपर्वतान् । तपोवज्रेण भो भूय खड्गिय्यति दुर्जयान् ॥ ५८ ॥
 इमशाने मृधरे भीमे विजने दुर्गमे वने । कन्दरे निर्भयो धीरो महीरुहस्य कोटरे ॥ ५९ ॥

अष्टाविंशति मूल गुणोको धारण करेंगे । नवीन दीक्षित मुनिराज चौरासी लाख उत्तर गुण और अठारह हजार शीलव्रतको धारण करेंगे ।

इस प्रकार शुद्ध संयमको धारण कर वह राजा भयानक अरण्यमें घोर तपको धारण करेंगा ।

अर्थ—उस समय अपने स्वामी राजाका इस प्रकार का महान अद्भुत साहस देखकर हजारो आधीनस्थ राजगण भव्यभावो से भगवती लिन दीक्षा की याचना करेंगे ।

अर्थ—वे राजगण भी अपनी २ गनियो के साथ भगवती लिन दीक्षाको ग्रहण करेंगे । आर्थिकायें आर्थिकाओंके सवमें रहेंगी और मुनिगण मुनिसवमें रहेंगे ।

अर्थ—सर्व प्रकारके अतीचारो से रहित मूलगुणोका वह मुनिराज पालन करेगा । धीर-गंभीर भावोसे और परम साहसके साथ वह मुनिराज तपके द्वारा कर्मरूपी पर्वतोको खंडकर समूल नाश करेगा । वन निर्जन स्थान इमशान-कंदरा-नदीतट आदि उपद्रव रहित एकांत स्थानमें वह घोर तपश्चरण करेगा ।

श्रवत्याश्च तटे शालमूले वा रविसन्धिषे । ध्यानं न्युत्सर्गसङ्घं च करिष्यार्येव सिद्धये ॥ ६० ॥

भासमात्रं द्विभासांतं रसमासातमेवच । मध्मोच्छुसुभेदेन हायनांतं च्युतोपम ॥ ६१ ॥

पचर्तुपक्षघनाते वा मासे वा रसाभिधे । सर्वदोषविनिष्कान्त निवसहिभजिष्यति ॥ ६२ ॥

उदन्त्याश्च समुद्रात्ता वाधा दुर्धरा नृप । सोद्ध्यते स यतीन्द्रो हि कर्मनाशाय केवलम् ॥ ६३ ॥

ध्यानं वाध्ययनं नित्यं मनोरोषाय सयमी । पालयिष्यति भो भूप कर्मसताननाशकम् ॥ ६४ ॥

आचार्यान् दशसंख्याढ्यान् जिनधर्मपकाशकान् । तद्दूर्वादिषु ऋद्धद्याढ्यान् महासासमन्वितान् ॥ ६५ ॥

जिनाज्ञापालकान् बुद्धान् नानातप करान् वरान् । निर्लिपाधिपसदोर्हैर्वद्यान् सुजीवताम्कान् । ६६ ॥

वदयन् मगधाधीशं गृह्णित्येव स मुनिः । एकाविहारजा इति घोरवीरैः प्रपूजिता ॥ ६७ ॥

ततः सोऽपि मुनीन्द्रो वै सिंहवर्त्मिभ्योऽवली । गिरिकदरदुर्गेषु संवसन् ध्यानसिद्धये ॥ ६८ ॥

और एकांतमें ध्यान धारण करेगा । एक दिनम, दो दिवस, पंद्रह दिवस, महीना, दो महीना, चार महीना, छह महीना, बारह महीना (वर्ष) आदि समयकी मर्यादासे वह मुनि घोर तपश्चरण कर अपनी आत्मासे समस्त दोषोका निराकरण करेगा ।

अर्थः— वह मुनि तृपा परीपहको सहन करेगा । अन्य परीपहको भी सहन करता हुआ वह मुनि आत्म-बलको प्रकट करेगा । कर्मका नाश करनेवाला ऐसा ध्यान-शास्त्रोका अन्ययन मन और इंद्रियोका निरोध करेगा ।

अर्थः— आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैश्य आदि दशभेद धारक आचार्य परमेष्ठी, जिनसूत्रके उपदेशक, उपाध्याय परमेष्ठी अनेक ऋद्धियोसे विश्वपित साधु परमेष्ठीको और जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको पालनेवाले अनेक प्रकारके तपसे विश्वपित-भयजिवीको तारक ऐसे सामान्य मुनीश्वरोकी वदना करनेके लिये, एव तीर्थ यात्रा आदि करनेके लिये

करियस्येव भो भूप द्वादाशभिधससप । अतीचारविनिष्कात कर्मदावाग्निवासुचम् ॥ ६९ ॥
 एवं च दुर्धरं कृत्वा त्रिशुद्ध्या एतर्धं तपः । षष्ठं च गुणस्थानमुल्लेख्य ध्यानयोगत ॥ ७० ॥
 सात्प्रवाद्द्विरागौ प्रमितान् खलु दुर्जयान् । प्रमादान् तत्र संसुक्त्वा चारुय सप्तमे पुन ॥ ७१ ॥
 रत्रे च दशमे पश्चात् क्षपकश्रेणिसहित । द्वादशमे गुणस्थानं हन्वावरणपच वै ॥ ७२ ॥
 त्रयोदशम सप्पथ्य गुणस्थानं च्युतोपम । कैवल्य रच्यति बोध पचमं मागधिप ॥ ७३ ॥
 तस्यभावाधुरा सर्वे ह्यागम्य नाथसयुता । गंधकुट्वादिस्तशोभा करिष्यति मनोहरा ॥ ७४ ॥

वह मुनीश्वर एका विहारी होकर निर्मल चारित्रको निर्भयताके साथ पालन करेगा । पतौकी गुफामें रह कर ध्यान करेगा ।

अर्थ—वह मुनीश्वर गिरिकदराओंमें बारह प्रकार का तप निरतीचार धारण करगा । इस प्रकार दुर्द्धर तपका धारण कर वह मुनीश्वर उचम ध्यानके प्रभावसे षष्ठम गुणस्थानतों उल्लेखन कर मातवें गुणस्थानमें पदापण करेगा ।

अर्थ—ये मुनिराज पंद्रह प्रकारके प्रमादोका त्यागकर सातवें अग्रमत्त गुणस्थानमें जा विराजमान होंगे । मातवें गुणस्थानसे फिर वे क्षपक श्रेणी माडकर क्रमसे आठवें नौवें दशवें बारहवें गुणस्थानमें जा विराजमान होंगे । अतमें मोहनीय क्रमका नाश कर तथा बारहवें गुणस्थानमें जानावण दर्शनानरण अंतराय क्रमोंका ममूल नाशकर तेरहवें गुणस्थानमें जा विराजमान होंगे ।

अर्थ—हे मगधेश्वर वह मुनीश्वर तेरहवा गुणस्थान को प्राप्त करेगा ।

अर्थ—कैवल्यज्ञानके प्रभानमें समस्त देव गण अपने २ परिवार व स्वामियों के मणित वहां पर आयोगे ।

स्वर्गोद्भवै शुभैर्द्रव्यै पुत्रयिवा ७ त जिन । नमः गार्दारविंद तत् स्थायति तस्य सन्निधे ॥ ७५ ॥
 स्थित्वा भिहासने सोपि धर्माभूतनःसोत्करो । तत्सर्धति चैव भयौवान् मिथ्याभ्रत-सं इनन् ॥ ७६ ॥
 शिवदं मुनिमार्गं च गृहिणा नाकटाशकं । प्रख्यापयन् जटान् सर्वान् बोधयन् बोधनोद्यतः ॥ ७७ ॥
 एवं संवोच्य भन्यौवान् दिव्येन अनिता स च । आ योगनिरोधं च कृत्वा मोक्षसंये नृप ॥ ७८ ॥
 हत्वा लघातिकर्मासीन् गुणस्थाने त्रियोज्ज्वल । अत्ये शुभलासिता तत्र यास्यति चाव्यये पदे ॥ ७९ ॥
 अव्ययस्य पदस्यैव किं स्वरूपं किञ्चिदयमम् । इति प्रश्नस्थ व्याख्यानं शृणुथ भव्यसत्तमा ॥ ८० ॥

और मनोहर गधमुटीकी रचना को करेंगे ।

अर्थ—हे माधेश्वर ! देवाण स्वर्गसे उत्पन्न हुई परम पवित्र दिव्य अष्टविध सामग्रीसे प्रभुकी पूजा करेंगे और प्रभुके पवित्र चरणकमलको नमस्कार कर प्रभुके समीप ही बैठेंगे ।

अर्थ—वे प्रभु स्वर्णके दिव्य देवोपनीत सिंहासन पर विराजमान होकर धर्माभूतसे भव्यजीवों को वृत्त करेंगे । और उनका चिरकाल सवधी मिथ्यान्धकार का नाश करेंगे ।

अर्थ—वे प्रभु मोक्षको प्रदान करनेवाले मुनिमार्ग तथा स्वर्गका प्रदान करनेवाला श्रावक धर्म का निरूपण करेंगे ।

अर्थ—इस प्रकार भव्य जीवोंको दिव्यध्वनिके द्वारा सवीधन कर वे प्रभु अतमें योगनिरोधकी क्रिया करेंगे ।
 अर्थ—अयोग नामक चौदहवें गुणस्थानमें अघातिया कर्माका नाश अन्तिम शुक्ल ध्यानके द्वारा कर मोक्ष स्थानको प्राप्त होंगे जो साश्रुता [अव्यय] स्थान है जिममें किसी भी कारणसे पुनः दुख उत्पन्न होनेकी संभावना नहीं होती है । अव्ययस्थान किसको कहते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर यह है सो सुनिये ।

* न वा सिद्धवजान् महासुखवप्रदान् ससारविच्छेदकान् । मन्थयत्वादिगुणाल्यान् सुनिवृत्तान् लोकप्रसूद्धिं स्थितान् ॥ ८१ ॥

कायाकर्मविवर्जितान् सुगुप्तान् समारण्यगतान् । किञ्चित् बुद्धिलेन भयमचसा तेषां च कुर्वे स्तवं ॥ ८२ ॥

पृथ्व्याद्या नारकाणां च द्वितीया भवनेशिना । मर्त्यानां तृतीया मोक्षा चतुर्थी ज्योतिषा च सा ॥ ८३ ॥

पचमी नाकदेवानां श्रैवेयकी च पृथ्वी । नाम्ना सर्वार्थसिद्धिश्च सप्तमी भूमिका वरा ॥ ८४ ॥

अथोपरि पुनर्गत्वा योजन द्वादशगमं । तिष्ठते षष्टमी पृथ्वी मिद्ववारविमन्तिता ॥ ८५ ॥

इमेच भो बुधा ह्यस्मिन् लोकाकाजोष्टनापत । संत्येव सुदराकारा स्थिग नानार्थमभूता ॥ ८६ ॥

दक्षिणोत्तरदिग्भागे रज्जुमसपमा मता । पूर्वच पश्चिमे व्यासर्ध्वंकरज्जुप्रभो बुधे ॥ ८७ ॥

दोर्वर्णसदृशच्छाया दिव्या मोक्षाधिग शिला । तन्मध्ये क्रातिसदीप्ता स्याद्वीनक्रमवर्जिता ॥ ८८ ॥

उत्तानगोलक्राष्टेन गमाना सिद्धपूरिता । नक्षत्रप्रमाकारा छत्राकारा विभाव्यहो ॥ ८९ ॥

अर्थ—महान् सुखोक्तो प्रदान करनेवाले मंमारका नाश करनेवाले सम्यक्त्वादि आठ गुणोंमें भूषित, सुनिधोसे पूज्य लोकके अग्रभागमें निर्गलमान, शरीर रहित, कर्मरहित समारमे पारगत ऐसे सिद्ध गगवानके गुणोंका किञ्चित् स्वरूप बतलाते हैं । पहिली पृथ्वि नरकभूमि, दूसरी भवनवाभियोकी, तीसरी मनुष्य लोककी, चौथी ज्योतिष्मन्की, पांचवीं स्वर्गकी, छठी श्रैवेयकी, मातवी सर्वार्थसिद्धिवाली है और आठवीं भूमि सिद्धशिला है ।

अर्थ - लोकाकाशमें आठवीं पृथ्वी में एक मिद्ध शिला नामका क्षेत्र है । वह शिलोके आकार का होने से शिवा कहलाता है । यह स्थान दक्षिण और उत्तर दिशामें मात रज्जु प्रमाण विस्तार वाला है । पूर्व और पश्चिम में एक रज्जु प्रमाण है । स्वर्ण की दिव्यरूप मोक्षशिला है जो अपनी दीप्तिसे अतिशय चमत्कारिक है । मोक्षशिला

स्थूला सा जिननाथेन सप्रोक्ता सर्ववेदिना । योजनैर्युभि ह्येता दुर्लभा चान्यलिङ्गिना ॥ ९० ॥
 मन्थेष्टयोजनै स्थूला कृशाते कामहान्ति, । इति सिद्धशिलायाश्च वर्णना कीर्तिता जिनैः ॥ ९१ ॥
 तस्या मन्थेच तिष्ठति नित्याष्टगुणमुपिता । निकुरुवाश्च सिद्धानां तनुवातातमस्तका ॥ ९२ ॥
 केचिदुर्ध्वासनाकाराः केचित् पद्मासना वरा । केचिच्च विविधाकारा ह्यमूर्त्ता नाशवर्जिता ॥ ९३ ॥
 निभात्येव हि केषांचित् पचेपुपचवापत । शरीराणा इय संस्था उत्कृष्टेनहि समता ॥ ९४ ॥
 लघुमन्थाच केषांचित् राट्वाते ऋथिता जिते । अपन्थै इस्तश्चैय केपलात्रकधारिभि ॥ ९५ ॥
 बहव सते संभेदा मन्थसंख्याभिरागमे । केवाचिदोपनिमुक्ते सर्वदोषविवर्जिता ॥ ९६ ॥
 किञ्चिद्दनाश्च ने मिद्धा नाक् शरीराट्वाणहा । अनतसुखसंलीना द्वेषाणादिवर्जिता ॥ ९७ ॥

अर्ध चद्रमा के समान है । ममस्त मिद्ध उममें एक समान निवास करते हैं । मनुष्यके श्वेत्के समान जिसका विस्तार है । छात्राकार है । इस प्रकार महान विशाल शिला है । आठ योजनकी ऊँची है । जिन लिंगको धारण करनेवालों को ही वह प्राप्त होती है । अन्य लिंगको धारण करनेवालोंको मन्था प्राप्त नहीं होती है । इस प्रकार यह शिला श्री जिनन्द्र देवने बतलाई है ।

अर्थ—उम सिद्धशिलापर आठ गुणोंसे विशुद्धित, सिद्ध गणोंके समूह तनुवात बलय के अतमें विराजमान है । नहाँ पर कितने ही सिद्ध प्रभु ऊँचांसन विराजमान है कितने पद्मासन विराजमान हैं कितने ही अन्य आसनो से भी विराजमान हैं । सिद्ध भगवान शरीर रहित अमूर्त्तिक है । द्रव्य कर्म नोकम भाव कर्मसे सर्वथा रहित है । इसलिये मिर्दोंका न ना कोई रूप ही है और न कोई आकार है । अतएव सिद्धोंको नित्य निरजन निराकार कहते हैं । सिद्ध अजर हैं अपर हैं । मिर्दोंकी उत्कृष्ट अवगाहना मना पांच सी धनुषकी है और जवन्य अवगाहना ३॥ हाथकी है ।

निरजना निराकारा सदाकालेषु संस्थिता । विश्वमांगल्यकर्तारं सर्वोत्कृष्टा निरात्मा ॥ ९८ ॥

लोकोत्तमाः शरण्याश्च शुद्धा सिद्धा निरामया । अन्तकालमात्मासा तिष्ठत्यगातिगा सदा ॥ ९९ ॥

निष्कलंका निराधारा धामरूपाश्च चिन्मया । निर्भया गतनिद्राश्च निराबाधाश्च्युतोपमा ॥ १०० ॥

नाथहीनाश्च निर्माणा पचवर्णविराजिताः । हावभावविनिर्मुक्ता ललनाभाववर्जिता ॥ १ ।

कामहीनाश्च निर्गन्धा निर्विकल्पा निरागमा । निर्विहारश्च निर्दया निष्पाया भदवर्जिता ॥ २ ॥

वितृष्णा निर्विकाराश्च नि स्वना सकलार्थदा । निर्विचिन्त्या सदाधारा कृत्तार्थी कृत्यवर्जिता ॥ ३ ॥

लेदयावेदविहीनाणा शातभावेन मडिता । सर्वेषाम्भीक्ष्णणाच ईश्वराः सर्वदर्शका ॥ ४ ॥

मध्यम अवगाहनाके अनेक भेद है । सिद्ध भगवान् चरम शरीरसे किंचित् न्यून अन्त सुखमें निभग्न हैं ।

समस्त मगलोकां प्रदान करनेवाले, सर्वोत्कृष्ट-लोकोत्तम-शरणाभूत-परमशुद्ध-तेजस्वरूप-चिन्मय सिद्ध भगवान् है । सिद्ध भगवान्-निर्भय-निष्कलंक-निगन्धा-निरामय-निर्मद-निराधार-स्त्रीरहित-हावभावविलासादिरहित-कामविकार वेष्टा रहित-चितारहित-विकल्प रहित-गंध रहित-कुचैष्टा रहित-कुभाव रहित-रोग रहित-उपद्रव रहित-विहार रहित-छल कपट भाव रहित-क्रोधादि विकाररहित-मान मायादिरहित-पाप रहित-तृष्णा रहित-मोह-द्वेष-और राग रहित-परम शात विराजमान है ।

सिद्धोके वेद नहीं है । शरीर नहीं है । लेश्या नहीं है । कर्म नहीं है । जन्म जरा आधि व्याधि नहीं है । शुधादि पीडा नहीं है । वे सिद्ध भगवान् ईश्वरों के ईश्वर है तीन जगत के स्वामी हैं । समस्त पदार्थोंके वेत्ता हैं-समस्त जीवोंको सत्सारा समुद्रसे पार करनेवाले हैं । समस्त पदार्थको जानने वाले अन्त सुखमें संलीन हैं ।

अर्थ-उस सिद्ध शिला पर समस्त कर्म समूहको समूल नाश करनेवाले ऐसे सिद्ध परमात्मा अपनी आत्मासे

कर्मपङ्क्तिसहीना तारका भयदेहिना । जन्मात्यजगतक्वञ्जिता निर्मला सदा ॥ ५ ॥

तस्मिन् शिरया हतकर्मन्यूहा भुजति शर्म शुभमात्मभृतं । अतातिगा स्वात्मनि संस्थितास्ते निर्वाधरूपा मनसाविचिंत्या ॥ ६ ॥

चक्रचाटिराजेन्द्रवपाधिषाना । करपेन्द्र ऊर्ध्वेन्द्रसमृद्धवाना ॥ भोगादिमूयसभवाथिकाना । तथान्यलोकत्रयसभवाना ॥ ७ ॥

जतये यत् क्रिभने मुरैक । त्रिकालजे हि विषयोत्थमौत्थ्यं ॥ नन्मास्तुगादक्षसमुद्भवाच्च । क्षणे हि एकैव विकारहीने ॥ ८ ॥

भुजति मौन्य ह्नकर्मजाला । मारमर्यक्षमस्तुलविहीन (१) ॥ अन्धेन द्रव्येण विवर्जिते हि । ज्ञासेन रुद्धेन तथा विमुक्तम् ॥ ९ ॥

हस्ता कर्मगिग्नू पूर्वं महाध्यानमुग्रनिहना । येऽन्तसुगमंयुक्त त्रैलोक्यशिवरं गयु ॥ १० ॥

ने मया पस्तुता सर्वे विषया कायवर्जिता । मे समाधि सुवोधि च यच्छंखु नो पा इह ॥ ११ ॥

उत्पन्न ह्य सुगका भोगते है । ये मिद्व परमात्मा मन प्रकारकी नाथाओमे रहित और अत रहित मदैव अपनी आत्सामें ही निपन्न रहते है । उनका मनमे चित्तमन रुग्ना चाङ्घ्रिये ।

अर्थ—ममारमं इन्द्रिय और विषयोके सेान रुग्नेमे जो सुस जीवोको प्राप्त होता है वह तुच्छ है । विना-शीकू है । चक्रार्ता-विश्राधर देवेन्द्र अहमिन्द्र भोगभूमोके जीप तथा अन्य उत्तम जीव जो सुख तीन जगत् में भोग कर रहे है वह इन्द्रियोंका सुग तीनों तालोंका एहत्रिन हिंया जाय तो भी वह सुस सिद्धो के एक क्षण मात्र सुगके समान नहीं हो सक्ता है । मिद्व परमात्मा आत्मीय-अतीन्द्रिय—न्यूनाधिकरहित विकार रहित-अविनाशीक-अचिंत्य-तिल्य अनन सुसको भोगते है ।

अर्थ— जो मिद्व परमात्मा अपनी मपार पराग्रमं समस्त प्रकाशके कर्मरूपी शत्रुओंको ध्यानरूपी अग्निसे भस्म कर अनन सुग महित तीन लोककी शिपगपर विगजे है ।

अर्थ— शरीर रहिन चैतन्य स्वरूप परम विशुद्ध ऐसे मिद्व परमात्मा जिनकी भंने सस्तुति की है मुझे समाधि और गन्तव्यकी प्राप्ति प्रदान करें ।

सिद्धवारा इमे नित्य धीमतीरुनीधरे । वंधा समापि संभूयात् सिद्धवृदाय वदना ॥ १२ ॥
 ईदृजे मांघावीश मोक्षस्थाने मत्तोहरे । गत्वा निरामयं शर्म शाश्वत चाक्षवर्जित ॥ १३ ॥
 कर्मकायविनिर्मुक्तमांभज नाशवर्जित । निर्लेप वृद्धिहीन च सर्वेषां हि सम वरं ॥ १४ ॥
 स व्रती व्रतपुण्येन ह्यंतातीत मदा खलु । मोक्षरथेयं विचारज्ञ गतागमनवर्जित ॥ १५ ॥
 अनेन विधिना ये हि करिष्यति कलौ नरा । यास्यति शाश्वते स्थाने विदेहात्, नात्र सशय ॥ १६ ॥
 कर्मदहनसद्भूत सोऽय कर्मविनाशक । सार्थनामयुत सम्यक् वधो भव्योत्करै मदा ॥ १७ ॥

अर्थः— वे सिद्ध परमात्मा धीर वीर मुनीधरोसे सदैव पुजित है वदनीक है, उनहो में भी भाव भक्तिसे वदना करता हू ।

अर्थः— हे राजन् । इस प्रकार सर्वोत्कृष्ट महा मनोहर-मोक्षस्थानमें जाकर निरामय-साश्वत अतीन्द्रिय-कर्म और शरीरकी पराधीनतासे रहित, आत्मीय, अविनाशीक, निर्मल अंतत सुखको ये सिद्ध परमात्मा प्राप्त होते हैं ।

अर्थः— 'हे राजन्' वह कर्मदहन व्रतको धारण करनेवाला भव्य जीव व्रतके पुण्यके प्रमानसे सासारिक समस्त सुखोंको भोगकर क्रमसे आदि, मध्य और अंत रहित-जन्यमरणादि विकार रहित मोक्षके सुखको भोगता है ।

अर्थ— इस प्रकार विधिपूर्वक इस कर्म दहन व्रतको पंचम काल में जो भव्य जीव पालन करेंगे वे अवश्यही अविनाशीक मोक्षसुखको प्राप्त होंगे । इसमें कुछभी संदेह नहीं है ।

अर्थ— यह कर्मदहन व्रत सार्थक नामवाला है । जो कोई भव्यजीव इस व्रतको विधिपूर्वक धारण करता है उसके समस्त कर्मोंका दहन (भस्मीभाव) हो जाता है इसी लिये यह व्रत सर्वोत्कृष्ट है । भव्यजीवोंसे सदैव पूज्य है ।

सर्वोत्कृष्टविश्विधायं कथितश्च नरेश्वर । बुद्धस्व त्व हृदि शुद्धे मया त्वल्पशत खलु ॥ १८ ॥
 आत्मस्य पापमग्ना हि नरा यास्यन्ति निश्चयात् । अस्वैव कारणात् भूप । शिवास्वदेव शश्वते ॥ १९ ॥
 भस्य शृणु पुन त्वंच अपरमपि ये नराः । करिष्यन्ति विश्विधाय तस्मिन् भवाच्च ते ॥ २० ॥
 पूजनस्य विधिः सैव भोजनस्यापि स विधि । कर्तव्यश्च व्रते चास्मिन् व्रतिभि शिवप्राप्तये । २१ ॥
 शक्त्यनुसारतो मासे करणीयाः सुभावतः । प्रोपथा पच वा पंक्तिपथा एव सर्वैव वै ॥ २२ ॥
 वा मासं प्रति चत्वार प्रोपथा शुद्धित त्रिधा । कर्तव्या कर्मनाशार्थं सजाप्या सक्रिमान्विता ॥ २३ ॥

अर्थ—हे मगधाधीश कर्मदहनव्रतकी जो विधी वतलाई है वह सर्वोत्कृष्ट विधि है । जघन्य और मध्यम विधि भी इस व्रतकी है ।

अर्थ—व्रतके प्रभाव से आजन्म पापी जीव भी समस्त कर्मोंका नाश कर मोक्ष सुखको प्राप्त होंगे ऐसा हे राजन तू निश्चय समझ ।

अर्थ—हे राजन् इस कर्मदहन व्रतकी अन्य विधि भी बहुत हैं । जिनको पालन करनेसे भव्य जीव सत्सार समुद्रसे अवश्य ही तिर जायेंगे ।

अन्य विधियोंमें भगवानके अभिषेक और पूजनकी विधि जो प्रथम वतलाई है वह बेसी ही करनी चाहिए । भोजनकी शुद्धि और प्रोपबकी विधि भी जो प्रथम वतलाई है वह भी बेसी ही करनी चाहिए । परतु प्रोपबोपवास प्रथम एकांतर रूपसे वतलाये ये बे अपनी शक्तिके अनुसार एकांतर रूपसे न कर पृथक् २ रूप भी कर सके है । परतु मन वचन कायकी शुद्धिसे करना चाहिए । एक मासमें पांच या दस प्रोपबोपवास करने चाहिए । अथवा

प्रोषणस्य प्रभावेण देहेस्मिन् कर्मसंभृते । भवत्यघाश्च तुर्णेन शिथिली हि दुराशया ॥ २४ ॥
 खगेश्वरेक्षणेनैव यथा क्रूराश्च पन्नगा । शिथिलता प्रयात्येव तथैव व्रततो ह्यघा ॥ २५ ॥
 ये ये मया नरावीश आख्याताः शिवदायका । व्रताना निकराः सर्वे ते ते स्यु नात्र सशत्रु ॥ २६ ॥
 पवमात्येयशुभे काले मर्त्या या स्त्रियोपि च । मयोक्तविधिना भूप भव्यराशिसमुद्भवाः ॥ २७ ॥
 करिष्यति शिवस्थाने जरात्ययविवर्जिते । ह्यनुक्रमेण यास्यति द्वापरो नात्र चाक्षये ॥ २८ ॥
 श्रुत्वेत्य मगधाधीश स ध्वनिं च प्रभोर्मुदा । तं प्रत्याह तदा स्वामिन् वीर वीरेश पावन ॥ २९ ॥

एक मासमें चार प्रोषधोपवास करना चाहिए । प्रोषधोपवासके दिवस जाय्य अवश्य देना चाहिये और पूर्वोक्त बतलाई हुई समस्त क्रियायें करना चाहिए ।

इस कर्मदहन व्रतके प्रभावसे कर्मोंका चूर्ण अवश्य ही होगा ।

अर्थ—जैसे गरुडके दर्शनमात्र से सर्प भाग जाते हैं वैसे व्रतके प्रभावसे समस्त पाप नष्ट होजाते हैं ।

अर्थ—हे राजन् जो जो व्रत इस ग्रथमें भव्य जीवोंके उपकारार्थ बतलाये है वे सब मोक्षके प्रदान करने-वाले हैं ।

अर्थ—हे राजन् इस पंचम कालमें जो स्त्री या पुरुष भव्य जीव इस कर्म दहन व्रतको पालन करेंगे वे नियम से जरा जन्म मरण रहित मोक्ष सुखको प्राप्त होंगे ।

अर्थ—इस प्रकार कर्मदहन व्रतका महान माहारम्य श्रीवीर प्रभुकी दिव्यध्वनि द्वारा श्रवण कर हर्षको प्राप्त हुआ । फिर भी राजा श्रेणिक ने वीर प्रभुसे प्रश्न किया ।

भयङ्कि कथिता मर्या निम्ना ऽि पचमोद्भवा । ऋषिभित्ति कथं त्रुचं तद्वृते नास्मि नत्कल ॥ ३० ॥

गृहे यदि दरिद्र स्यात् पूर्वपापोद्भवात् नृ । सायेन द्विगुण कार्यं न न प्रोपात्मदुत ॥ ३१ ॥

द्रव्यहीना नरा तस्मिन् करिष्यन्ति नना ऽगान् । द्रव्यादात्त्रा करिष्यति उद्यापना व्रतस्य वै ॥ ३२ ॥

मुतापुत्रविवाहेषु द्रव्योत्तरस्य व नरा । ऋषिप्यति व्यय भुप मुनकादिक्त्रिमापु मे ॥ ३३ ॥

पचमाभिरसालस्य मानवा पापमडिता । धर्ममार्गमहिर्भूता धर्मकार्यपान्मुला ॥ ३४ ॥

अर्थ—ह प्रमो पचम कालके मनुष्य दरिद्री ंगे । और दरिद्री मनुष्य उम नततो किय प्रकार संपादन कर सकेंगे । क्योंकि धनके बिना धर्म किस प्रकार हो सकता है ।

अर्थ—हे राजन् यदि दरिद्रता के कारण व्रतका उद्यापन करने की शक्ति न हो तो शरीरमे द्विगुणा व्रत करे तो भी वही फल प्राप्त होगा ।

अर्थ—द्रव्यहीन दरिद्री मनुष्य इस व्रतका उडे त्रिगुद्र भावसे और भक्तिये करेंगे । परंतु श्रीमत (धनिक) लोग इस व्रतकी उद्यापना करेंगे । अर्थात् धनके लोभसे वे व्रत के पालन करनेम अपनी अममर्थता प्रकट करते रहेंगे । गह उनका लोभ परिणाम धर्मभावना की कमजोरी प्रकट करेगा ।

अर्थ—वे धनिक अपनी पुत्रपुत्री आदि के विवाह में कभी २ अपनी मान बढ़ाईके लिये शक्तिसे अधिक धनका व्यय करेंगे । या मृतकादि पुरुषोंकी क्रिया में शक्ति के उपगत धनव्यय करेंगे । परंतु धर्मकार्यमें उनको रुचि नहीं होगी ।

अर्थ—हे राजन् पचमकालका माहात्म्य ही अद्भुत है उसमें प्रायः धर्म मार्ग से पिपरीत ही कार्य होंगे । क्योंकि पचमकालके मनुष्य प्रायः पापोंसे लिप्त होंगे । धर्म मार्गमे त्रिहित नहीर्यत—धर्मकार्य से परामुस होंगे । पचमकालके

हर्यच्छासेन त मुढा पापकार्येषु नित्यश । द्रव्यौघस्य व्यय भृष करिष्यति न संशय ॥ ३५ ॥

कृपणा द्रव्यभोक्तारो निऋणणाः तद्वर्जिता । कलौ एव भविष्यति मिथ्याभारगता खला ॥ ३६ ॥

एकम प व्रत शुद्ध य करिष्यति स शिवे । यास्यति नात्र सदेह कायात् द्विगुणं च ना ॥ ३७ ॥

गजस्नानसमा ज्ञेया विधिहीना व्रता इमे । स्वर्गसौख्यकरा चैव (नैव) शिवशर्मकरा षडु ॥ २८ ॥

मनुष्य हर्ष और उच्छासके साथ पापकार्य नित्य ही करेंगे । ऐसे कार्योंमें ही अपना धनका उपयोग कर अपने को कृतकृत्य मानेंगे । कृष्ण धनके स्वामी बनेंगे और उदार मनुष्योंके पाम धनका अभाव होगा । इस प्रकार कलिकाल पचमकालमें सर्वत्र अधर्मकी प्रवृत्ति बढ़ेगी ।

अर्थ—इस पचमकालमें भावभक्ति स हर्ष और उच्छास के साथ जो मनुष्य एक भी व्रत शुद्धता पूर्वक करता है वह मोक्षके सुखको अवश्य ही प्राप्त होता है । इसमें सदेह नहीं है । उद्यापनशक्ति विहीन पुरुषोंको इना व्रत कर अपने भावों की विशुद्धि करनी चाहिये ।

अर्थ—जो मनुष्य व्रतोंको विधि विना ही अपने मनसं करते है उनका श्रम करना हाथीके स्नान समान निष्फल है । अत एव जो कोई भी व्रत किया जाय विधिपूर्वक ही करना चाहिये । बिना विधिके व्रत स्वर्ग मोक्षका साधक नहीं है । जिनके पास दुःख नहीं है उनको शरीरसे ही व्रत करनेमें श्रम अधिक करना चाहिये ।

भावार्थ—व्रतकी विधी उद्यापन आदि करनेकी परमागममें सर्वत्र बतलाई है सो धनवान और पुण्य पुरुषोंको तो व्रतकी उद्यापन आदि समस्त विधि करनीही चाहिये । यदि धनमान और पुण्यमान ही ऐसी विधि न करें तो उनने अपनी शक्तिको छपाकर भावना कम की । परिणामोंकी विशुद्धि पूर्ण रूप से नहीं की

अतः कायाच्च भो मर्त्याः कुर्वी-च द्विगुणं व्रत । इम नैव गृहे द्रव्यो यद्यस्ति शिवशर्मणं ॥ ३९ ॥

भो बुभुज जिनकार्येषु इत्यापात्रादिषु सदा । कृपणत्व भज-च मा ह्यनेकदु खदायकम् ॥ ४० ॥

कुर्मोः स'दा श्र्य कृपणत्व बुधोत्तमा । भज-च धर्मकार्येषु मा कदापि सुखासये ॥ ४१ ॥

नागराणा व्रतेद-च काराण्य सुशर्मद । अस्माद्धि सकला भव्या. शिवे यास्यति निश्चयात् ॥ ४२ ॥

कर्मदहनव्रतस्य विधिश्च कथितो मया । करिष्ये त सुभावेन इद यास्यति सोल्यये ॥ ४३ ॥

इस लिये उनको धर्मका फल स्वर्ग माक्ष किस प्रकार प्राप्त हो सक्ता है । इसी प्रकार निर्धन यदि व्रतको दूना द्विगुणित न करें तो आपसकी आज्ञानुसार मर्त्य क्रिया न करनेमें परिणामोंकी विशुद्धि किस प्रकार रह सक्ती है । इस लिये प्रत्येक प्राणीको अपनी २ शक्तिको नही छुपारू व्रत विशुद्ध परिणामोंसे करना चाहिये ।

अर्थ—हे विचारशील बुद्धिमान भव्यजीवो जिनधर्म संबंधी-पुण्यकार्यमें-पूजा और पात्रदानमें कभी भी कृपणता मत करो । क्योंकि पूजा और दानमें कृपणता करना महान दुखोंको प्रदान करनेवाला है । हां यदि कृपणता ही करनी है तो कुर्मार्गमें व्यर्थ धनको व्यय मत करो । कुर्मार्गमें कृपणता धारण करो। परंतु सुखकी इच्छा करनेवालोको धर्मकार्यमें कृपणता महान हानि पहुंचाने वाली है ।

अर्थ—शहरके विचारशील मनुष्योंको तो यह व्रत अवश्यही करना चाहिये । इस व्रतके माहात्म्यसे भव्यजीव नियमसे मोक्षके पात्र होंगे ।

अर्थ—कर्मदहन व्रतकी विधि जो वहांपर बतलाई है तदनुसार जो कोई भव्य जीव अपने विशुद्ध मार्गसे करेगा वे अवश्य ही मोक्ष सुखको प्राप्त होंगे ।

पूर्ण याते हि व्रतस्थ प्रतिष्ठा श्रीजिनेश्विना । करणीया सुमोदेन व्रतस्य फलसिद्धये ॥ ४४ ॥
 वसुर्विधाय सधाय यथायोग्यानि मोदत । सदेयानि शिवाप्यर्थं दानानि व्रतिभि खल्ले ॥ ४५ ॥
 पुरेणु नागरेणु वै स्थापनीया मनोहरा । छत्राश्च नामा घटा ध्वजाश्च जिनसङ्घसु ॥ ४६ ॥
 उच्छुद्रोय निधिर्मय । शिवशर्मपदायत । व्रतस्योद्यापनस्यास्य म्यात्त्वलु आगमे मतः ॥ ४७ ॥
 यथा शम्भ्या करणीयो व्रतस्योद्यापनो नृप । पताहृद्यपि नाभ्येव शक्तिर्द्विर्योगत ॥ ४८ ॥
 अतो हि कायतो भव्या कुरुव द्विगुणमिद । तत्सम हि फलासिश्च भवतामपि संभवेत् ॥ ४९ ॥
 अनेन केवलैवैव तरिष्यति तरोक्ताग । भजिष्यति शिवशर्म सर्वाभ्येव नाशनात् ॥ ५० ॥

अर्थ—पूर्ण व्रत होने पर व्रतकी फलकी भित्ति के लिये भव्य जीवों को व्रतका उद्यापन अवश्य ही करना चाहिये । व्रतके उद्यापन की विधि—व्रती पुरुषोक्तो शुभ भाग्ये श्रीजिनेन्द्र भगवानके उत्तमोत्तम जिनधिध निर्माण कराकर प्रतिष्ठा करानी चाहिये । चार प्रकार के संघको अपनी शक्तिके अनुसार दान भी देना चाहिये । मंथको भोजन पानके द्वारा सतोषित करना चाहिये । नगरमें अथवा ग्राममें उत्तम जिनालय तनभार उभयमें छत्र-चमर घटा आदि उपकरण अपनी शक्तिके अनुसार प्रदान करना चाहिये । यह उच्छुद्र विधि है । मन्थम भी की जाती है । इस प्रकार विधिपूर्वक व्रत करनेसे अभ्युदयकी सिद्धि होती है ।

अर्थ—हे राजन् यथाशक्ति व्रतका उद्यापन करना ही चाहिए । व्रतकी सिद्धि उद्यापन किये बिना नहीं होती है । जो इस प्रकार उद्यापन करनेकी शक्ति नहीं हो तो व्रतको द्विगुणित करना चाहिये । इस प्रकार द्विगुणित व्रत करनेवालोंको भी वही फल प्राप्त होता है ।

हे राजन् ! एक इसी व्रतके माहात्म्यसे भव्यजीव समारससुद्र से तरकर मोक्षसुखको अवश्यही प्राप्त होगा ।

चंद्रपक्षप्रसस्तस्य विस्तारो लघुयोजनैः । तत्रा ज्यो नाराधीय सिद्धवारयुतस्य वै ॥ १८ ॥

खेकमालाग्रमात्रापि सिद्धादेनेस्ति न सा धरा । एवं च गता वातयोगीन्द्राथ शिवास्पदे ॥ १९ ॥

अस्मिन् काले प्रयारयेव तन्मोद्धि कालदीपत । द्विदशमतीर्थशा द्विदशकूटतो नृप ॥ २० ॥

सिद्धस्थानं च भव्यता तारका निर्भलाशयाः । दिव्यदंढधरा पूज्याः सुरैर्द्रं वा मुनीश्वरैः ॥ २१ ॥

इस तीर्थराजपर से अमंख्य तीर्थकर मोक्षधामको प्राप्त होगये और होये । अतत मुनीश्वर भी इस पवित्र मोक्षको प्राप्त होगए और होये ।

इस सम्मेलनशिवरका १२ योजन प्रमाणता विस्तार है और इसको परमागममं मित्र भूमि मानी है । मित्राचल भी इसीको कहते हैं ।

हे राजन् इस पर्वतपर ऐसा कोई गाल (केश) उगम क्षेत्र नहीं है कि जहासे कोई न कोई मुनीश्वर निर्वाणको प्राप्त न हुआ हो । गाल गालपर सिद्ध हुए हैं । इस पर्वत राजके केकर ककर परसे सिद्ध हुए हैं । समस्त पर्वत ही सिद्धभूमि है ।

हे राजन् इस वर्तमान युगमें कालके दोपसे तो वीम तीर्थकर और असख्य मुनीश्वर मोक्षको गए । चौबीस नहीं ।

अर्थ—तीर्थराजसे दिव्यदेहके धारक देवोसे पूजित मुनीश्वरों में बदनीय जगतको तारन करनेवाले परम दिगंबर परम पवित्र ऐसे श्री तीर्थकर प्रभु मोक्षधामको पधारते हैं ।

नामानि किंच कूटाना अस्मिन् काले किश्रव्याः । मुक्तिं गता मुनीन्द्राश्च तस्माद्दे सिद्धमथात् ॥ २२ ॥

एकस्यैव सुकूटस्य दर्शनात् किं फलं भवेत् । कदा मुक्तिश्च तत्सर्वं कथयस्व दयापते ॥ २३ ॥

तदनुसारतो भव्या भव्याना शिवसिद्धये । व्याख्यान तस्य कुर्वह सर्वससागतापह ॥ २४ ॥

नरा श्रीजिननायकान् गणधरात् देवेन्द्रवृदान्तितात् । मौनीन्द्रान् संकलात् तथाच सुखदा जैनेन्द्रवक्रोद्भवाम् ।

वार्णां पापप्रणाशका मुनिमुता सद्बुद्धिदा पावर्णा । सम्भेदाभिषर्षतस्य शिवदं स्तोत्र करोमि शुभम् ॥ २५ ॥

कूटस्य सख्या सकलाह्वान्यैः नामानि तेषा फलम्दुमुत च । सख्या मुनीना बुधसत्तमास्ते, शृण्वतु येकाग्रहृदाच वल्मि ॥ २६ ॥

यन्मस्तके संति सुराधिगर्च्याः पापादिनाशे वरवज्जबुध्या । कूटा मनोज्ञा वरसिद्धयुक्ता शून्यद्विसंख्या कथिता जिनैन्द्रे ॥

अर्थ—इस प्रकार श्रेणिक महाराजने भी वीर प्रभुसे तीर्थराज श्री सम्भेद शिखरजीका अद्भुत रहस्य सुनकर प्रश्न किया कि हे प्रभो! हे दयानिधे! कृपाकर यह मतलाइये कि इस उचमान युगमें उन कूटोसे कितनी सख्यामें मुनीश्वर मोक्षको प्राप्त हुए हैं? एक एक कूटके दर्शनसे क्या फल प्राप्त होता है? यह सर्व वृत्तात में आपके मुखकमल से श्रवण करना चाहताहूँ । श्रेणिक महाराजके प्रश्नमें श्री जीर प्रभुने जो सिद्धराज श्री सम्भेद शिखरका स्वरूप बतलाया है तदनुसार ही भव्यजीविके कल्याणके लिये और समारके दुःखोको दूर करनेके लिये मैं उर्णन करता हूँ ।

अर्थ—श्रीजिनैन्द्र भगवान अरहत परमात्मा तथा समस्त गणधर देवोंको नमस्कार कर पापको नाश करनेवाली—सुबुद्धिको प्रदान करनेवाली भगवती जिनवाणी माताको नमस्कार कर श्री सम्भेद शिखर (सिद्धाचल) का परम सुखदायी स्तोत्र कहता हूँ ।

अर्थ—हे राजन् सगधाधीश! समस्त प्रकारके पापोंका सहार करनेवाले ऐसे कूटो की सख्या उनके नाम,

अर्कप्रभा पूर्वदिशिहि कूटाः । वसुप्रभा पश्चिमसहिशिच । एवं च ज्ञेयाः शिवदाः सुरार्व्याः तत्वार्ययुक्तैः बुधसत्तमश्च । २७ ।
 वेदेन्द्रिलक्षाश्च ननुतराश्च । ह्यशीतिकोद्यः प्रमितारुदेकैः । मुनीश्वरा श्रीध्वजितस्य काले । मुक्तिगताः सिद्धवराच कूटात् । २८ ।
 कुर्याच्च शस्यैव सुभावशुद्ध्या । यो भव्यमर्त्यं शृणुथ फल तत् । सदर्शनं सैव लभेत्फलं च । पक्षाधिकोटिप्रमप्रोषधानाम् । २९ ॥
 एतान् मुनीन्द्रान् वरभावतो वै । काले त्रिके तत्पदसिद्धयेऽहं । नमामि संसारपयोधिनस्ते । उद्धर्तुमीशाः सुरनाथवंचाः ॥ ३० ॥
 नेत्राब्धिपचैव शतानि यस्मात् जाया सहस्राणि मुनीद्रवथा । द्विसप्ततिलक्षप्रमाश्च कोटिकोट्यो न च सर्वमुनीश्वराश्च ॥ ३१ ॥
 धवलादिदत्तात् शुभनामकूटात् गताहनाशात् वरसिद्धता च । संसारदावानलमेघपुण्याः स्वदेहयातजितपुण्यदंताः । ३२ ।
 उनके दर्शन करनेका फल, और उन कूटो से मोक्षपद को प्राप्त हुए मुनीश्वरोकी संख्या आदि अद्भुत वृत्तांत कहता हूँ । सो एकाग्र मनसे सावधान होकर श्रवण कर ।

अर्थ—हे राजन् (इस वर्तमान युगमें सिद्धाचल श्रीसम्भेद शिखर पर देवोंसे पूजित पापोको नाश करने वाले अतिशय मनोह्र और तीर्थकर प्रभुके निर्वाण स्थानसूत ऐसे वीध कूट श्रीजिनेन्द्र देवने बतलाये हैं । जिनमें से वारह कूट तो पूर्व दिशामें विराजमान हैं और आठ कूट पश्चिम दिशामें सुशोभित हैं । इस प्रकार शुभ कूट वीस हैं ।

अर्थ—हे मगधाधिप श्रीसंभेदशिखर पर्वत पर सिद्ध वर नामक कूट से श्री अजितनाथ भगवान चौरासी अर्ब की श्रुद्धिसे और विशुद्ध एरिणामो से करता है उसको वचीस कोटि उपवास का फल प्राप्त होता है । जो इस कूटसे मुझे दिगंबर मुनीश्वर कर्मीको नाशकर निर्वाण पदको प्राप्त हुए हैं उनको मैं भावभक्तिसे नमस्कार करता हूँ । वे प्रभु नय संसार से पार करें ।

अर्थ—धवलदत्तकूटसे नौ कोटाकोटि बहत्तर लाख दो हजार पांचसौ ग्यालीस मुनि भीमगवान पुण्यदंतके समयमें

यस्येक्षणान्कृत्वानृणां च प्राप्तिं कराडितलक्षप्रमप्रोषधानां । भवेच्च नो संशय चात्र भव्या धनुक्त्वात् मोक्षपदस्य प्राप्तिं । ३३ ।
 आनंदकृत्वाच्च गता सुनीन्द्रा पचप्रसा ह्यष्टशतानि चैव ॥ भिन्नेक्षमहद्वैवससतिर्हि । लक्षास्तथा सप्ततिकोटयो वै ॥ ३४ ॥
 गुणाश्च कोट्युत्थ पुनश्च कोटि । एते च यस्मात् सकलाहनाशात् ॥ यद्ददनात् भव्यनरो लभेत् वै । द्व्यष्टप्रमलक्षसुप्रोषधं च ॥ ३५ ॥
 एकाशीतिसप्तशतानि त्रैत्राद्रिप्रमलक्षा यस्मात् । चतुर्शीतिकोटित्ततो वै अर्बुदैको ह्यविकल्कृतात् ॥ ३६ ॥

पुरेक्ष्ये सयमपालनाद्धि सुनीश्वरा केवलज्ञानयुक्ता । गता सुरेन्द्रादिगणे प्रपृथ्या कर्मादिमातंगविघातसिंहात् ॥ ३७ ॥
 एकैव कोटिप्रमप्रोषधाना फलं च प्राप्नोति करोति यस्य । सद्ददना य शुभभावशुद्ध्या स वै वाविलवेन तथा शिवं च ॥ ३८ ॥
 पापोको नाश कर मोक्षपदको प्राप्त हुए हैं । जो भव्य जीव इस कृत्का दर्शन भावमक्तिसे करे वह व्यालीस लाख उपवासका फल प्राप्त करता है । इसमें संदेह नहीं है ।

अर्थः— आनंदकृत्से अभिनन्दन तीर्थकर तथा निहत्तर कोडाकोडि सत्तरकोडि सत्तरलाय चौपन हजार आठसौ पाच मुनि समस्त पापोको नाश कर मोक्ष पद प्राप्त हुए । इस कृत्के दर्शनका फल सोलह लाख उपवासका है । सनत्कुमार चक्रवर्तीने चतुर्विध सध महित यात्रा की । यह सब सम्यसे भारी निकाला गया था । लाखोंकी संख्यामें यात्री थे । मनकी चर्या सर्वमें होती थी ।

अर्थः— अविचल कृत् से सुमतिनाथ भगवान और एक अरु चौरासी करोड वामठ लाख सातसौ इक्यासी मुनि संयमको धारण कर मोक्षपदको प्राप्त हुए हे । जो भव्य इम कृत्का दर्शन भावमक्तिसे त्रिशुद्धिपूर्वक करता हे वह एक करोड उपवासका फल प्राप्त करता हे । इम कृत्की चतुर्विध सध सहित यात्रा श्री आनंदसेन महागजने की थी जिममें मुनिगण आदि सर्व ही सब भारी संख्यामें था । सुमति भगवानके समयमें एक हजार मुनि मोक्ष गये । बाकी उनके शामन समयमें मोक्षको प्राप्त हुये ।

सप्ताहिका विंशतित्रा च सप्त । शतप्रभा मोहनकूटतो वै ॥ यस्मात्सुन पक्षमुच्युत्तुका । घीरा. सहस्रासुरनाथवधा । ३९ ॥
 लक्षाब्धयशीति पुनर्धर्मतीर्था । शतैकप्रभये खलु एकहीन ॥ कोट्यो गता मोक्षपुरे मनोज्ञे । अननशर्मार्णवमग्नेदेहा । ४० ॥
 यद्द्वन्द्वनाद् भव्यपुमान् लभेद्वै । कोट्येकस.प्रोणयज फल च ॥ अहं नमामि शिरसा त्रिशुद्धया । त तीर्थराजं शिवदायक च ॥ ४१ ॥
 प्रभासकूटात् करमिवसख्या सप्तशतानिच सहस्रमप्त । द्विमपञ्चतिलक्षप्रभा यतोन्द्रा कोट्यशीति चतुरस्रत्रा च ॥
 रंश्रेववधुप्रमकोटिकोट्य गताश्च मोक्षे सुरराजपुञ्ज्या । यद्दर्शनात्प्राप्तिर्भवेच्च भव्या द्विद्व्येवकोटिप्रमप्रोषधाना ॥
 घटाच्च अते ललितैवकूटात् द्विपवर्षेच शतानि यस्मात् । पुनरेव मित्राष्ट सहस्रयुक्ता अशीतिलक्षा हि यतीश्वराश्च ॥

अर्थ—मोहनकूटसे पञ्चप्रभ तीर्थकर और निन्यानवे करोड चौरासी लाख व्यालीस हजार सातसो सात मुनि मोक्षको प्राप्त हुए । पञ्चप्रभ भगवानके समयमें एक हजार युनि मोक्षको गए । बाकी मुनिगण उनके शासन समय में मोक्षको गए । इस कूटके दर्शन भाव भक्तिसे त्रिशुद्धिपूर्वक करता है वह एक करोड उपवासका फल प्राप्त करता है । इसकी यात्रा चतुर्विध सवसहित सुप्रभ राजाने की ।

अर्थ—प्रभासकूटसे मुपार्ज्वनाथ भगवान और नवासी कोडाकोडि चौरासी करोड वहत्तर लाख सात हजार सात सौ व्यालीय मुनिगण मोक्षको पधारे । इसके दर्शनका फल वत्तीस करोड उपवास का है । इसकी यात्रा उद्योत नामके राजाने एक बडे भारी चतु सवके साथ की थी जिममें मुनिगणकी हजारोसे भी अधिक सख्या थी । इस कूटकी रज लगानेसे छुट रोग दूर होता है । विशेष एक बात यह भी है कि वीस कूटोकी यात्राके समान इसका फल है ।

अर्थ—ललितघट कूटसे श्रीचन्द्रप्रभ जिनेंद्र और चौरासी कोडाकोडि वहत्तर करोड अस्सी लाख चौरासी

द्विसप्ततिकोटिकोटिकोटीकोगिता शिवं च । यद्ददनात् षोडशलक्षकानां स प्रोपधना च फलं लभेत् वै ॥
 अशीति वा वेदशतानि यस्मात् पुन सहस्रेन्दुनगैवलक्षा । मुनीश्वराः सुप्रभनामकृटात् एकोनमध्ये शतकोटयश्च ॥
 यद्ददनात् भव्यजनः सुभक्त्या फलच कोटिप्रमोपधाना । आप्तोति नो संशय भो बुधोवा मोक्षाप्तये तच सदा प्रवदे ॥
 शतैक पंचैव यतीश्वराश्च यस्मात्सहस्रा करसिंधुसन्ध्याः । करशिलक्षा पुन पक्षवेद अष्टादशैव सलु कोटिकोटी ॥
 विधुद्धरात्मोक्षपुरे मुनीन्द्रा गताश्च कृटात् सकलाधनाशात् । यद्ददनात् षोडशलक्षकानां चतुर्कानांच फल भवेद्धि ॥
 द्विवेदयुक्ताश्च शतानि पच द्विप्रलक्षाश्च सहस्रकाश्च । ऋतुनदकोटिप्रभवैर्मुनीन्द्रा । यस्माच्च कृटात् वरसंकुलाच्च ॥

हजार पांचसौ वाचन मुनिगण मोक्ष पथारे । इस कूटके दर्शन व संघराहित यात्रा ललितदत्त राजाने की सोलह उपवासका फल इसके दर्शनसे होता है ।

अर्थ—सुप्रभकूट से पुष्पदंत भगवान तथा निन्यानवे करोड निन्यानवे लाख छासट हजार चारसौ अस्सी मुनिगण मोक्षको पथारे । जिसकी भाव विशुद्धिसे वंदना करनेका फल एक करोड उपवासका होता है । इसकी वदना उस समय सोमप्रभ राजाने चतुर्विध संघ सहित की थी ।

अर्थ—विधुद्धर नामक कूटसे श्री शीतलनाथ भगवान तथा अष्टाग्रह कोडाकोडि व्यालीस करोड वत्तीस लाख व्यालीस हजार पांचसौ मुनिगण मोक्षको पथारे । इस कूटके दर्शन का फल सोलह लाख उपवासका है । अविचल नामके राजाने संघ सहित यात्रा की ।

अर्थ—सकुलकूटसे श्री श्रेयांसनाथ भगवान तथा छानवे कोडाकोडि छानवे करोड छानवे लाख वानवे हजार पांचसौ व्यालीस मुनिगण मोक्ष पथारे ।

नवादि अंते ऋतुकोटिकोऽथ सद्भवका मोक्षपुरे गताश्च । प्राप्तिभवेद्यस्य सुवदनाच्च फलच कोट्येकसुप्रोषधाना ॥
 द्विवदयुक्ताश्च शतानि सप्त सहस्राणि षट्षष्टिसूक्तरक्षाः । अत्रारिकोट्योहि गताश्च यस्मात् सुनीश्वरा मोक्षपुरे सुलोके ॥५२॥
 वीरादिभते शुभसंकुलाच्च यो भव्यजीव कुरुतेच यस्मै । सद्दर्शनं सैव त्भेत् फलच कोट्येकसख्यायुनप्रोषधाना ॥५३॥
 स्वयम्कूटात् शिवपत्तनेच शतानि सप्तैव त्रीश्वराश्च । सुरेन्द्रवधा पुन सप्तसिर्हि रक्षा. सहस्राश्च तथैव ज्ञेया ॥ ५४ ॥
 गता पुनः सप्तकोट्यश्च यो वदयत्येव सुभावतो वै । प्राप्तोति सैव खलु प्रोषधाना कोट्येक भव्योत्तम सफलच ॥५५॥
 पचोत्तरा रंद्रममा सुनीन्द्रा शतानि पंचैव तथा नवैव । लक्षा सहस्राणि नवैव ज्ञेया एकोनविंशत्यूनकोट्यश्च ॥ ५६ ॥
 कोट्युक्तकोट्यश्च गताश्च यस्मात् एकोनविंशतिसख्यकाख्या । मोक्षे पुरे शर्मनिकेतने च सुदत्त आदिवर अंत कूटात् ॥५७॥
 यस्यैव कूटस्य सुवंदनाच्च कोटिप्रमप्रोषणज फलं च । भव्यो त्भेत् संशय नोत्र भव्या बंदे च ते शर्मभद्रं सदा हि ॥५८॥

इस कूटके दर्शनका फल एक कोटी उपवासका है । इसकी यात्रा आनदसेन राजानं चतुर्विध संघ सहित की ।

अर्थ—सुवीर नामके कूट से विमलनाथ भगवान तथा सत्तर कोडि साठ लाख छह हजार सातसौ व्यालीस मुनिगण मोक्ष पथारं । इस कूटका दर्शन करनेसे एक करोड उपवासका फल प्राप्त होता है । इसकी यात्रा चतुर्विध संघ सहित सुप्रभनामके राजाने की थी ।

अर्थ—स्वयंशु नामक कूटसे अनतनाथ तीर्थंकर तथा सत्तर करोड सत्तर लाख सत्तर हजार सात सौ मुनि गण मोक्ष पथारे । इसके दर्शन का फल एक करोड उपवासका है । इस कूटका दर्शन चारसेन राजाने किया ।

अर्थः—सुदत्त नामक कूटसे श्रीधर्मनाथ भगवान तथा 'उर्नईस [उगनीस] कोडाकोडि उगनीस करोड नवलाख नवहजार पांचसौ पिचानवे मुनिगण मोक्ष पथारे । इस कूटका दर्शन करनेका फल एक करोड उपवासका

प्रभासकूटात् सुरनाश्वद्या सद्ध्यानवर्षेण विघूतपापा । शतमध्य एकोन शतानि रंश सहस्राणि नंदैवतैवलगा ॥५९॥
 नवैव कोटयुक्त पुनश्च कोटिरेते शिवे धर्मधरा गताश्च । श्रीशातिनाथस्य सुकालमध्ये संसारसिधोः मथका मुनीन्द्रा ६०
 कुर्याच्च यथैव सुभावशुद्ध्या यो दर्शन सैव लभेत् फलं च । एकस्य कोटिप्रमप्रोषस्य ऋषाद्धि मोक्षं सकलाहनाशनात् ॥६१॥
 द्विवेदयुक्ताश्च शतानि सम यस्मान्मुनीन्द्रा शिवप्राप्तिरेव । सहस्रोपमा षट् पुन नंदकाश्च करात्रिलक्षा हतकर्मबुंदा ॥६२॥
 ऋतुस्तरांध्रप्रमाश्च कोट्यो र्सात्वन्वदोपमकोटिकोत्थ । गता मन-पापविभंजकाश्च श्रीज्ञान आदिधरकूटतो वै ॥६३॥
 अस्यैव कूटस्य च दर्शनाच्च कोट्योपमप्रोषधज फलं च । लभेच्च भव्यो बुधसत्तमाश्च नमामि तं चैव सदा त्रिकाले ॥६४॥

नवतिनवसहस्रा वाच लक्षास्तैश्च । नवतिनवसुकोट्यो नाटिकाद्यंतकूटात् ॥

सकलविधिविनाशास्तपुरे मोक्षसंज्ञे । कमलगुणनिधाना सगता लेखपूज्या ॥ ६५ ॥

हे । इस कूटकी यात्रा विभीवसेन राजाने चतुर्विध सघ सहित की ।

अर्थः— प्रभास कूटसे श्री शांतिनाथ भगवान तथा एक कोडाकोडि नव करोड नव लाख नव हजार नौसी निन्यानवे मुनिगण मोक्ष पधारें । इस कूटके दर्शनका फल एक करोड उपवासका है । इसकी यात्रा सुदर्शन राजाने चतुर्विध सघ सहित की थी ।

अर्थ-श्रीज्ञानधर कूटसे कुथुनाथ भगवान तथा ड्य्यानवे करोड बत्तीस लाख ड्य्यानवे हजार सातसौ व्यालीस मुनिगण सिद्ध पदकी प्राप्त हुए । इस कूटके दर्शनका फल एक करोड उपवासका फल है । इसकी चतुर्विध सघ सहित यात्रा सोमधर राजाने की थी ।

अर्थः— नाटक नाम कूटसे श्री भगवान अरहनाथ स्वामी तथा व्यानवे लाख व्यानवे हजार मुनिगण

प्राप्तिर्भवेत्तस्य चतु हि भव्या । षट् रंध्रं कोटि प्रसप्तोपधाना ॥

यस्येक्षणान्मुक्तिपदस्य सिद्धि । बभुक्रमात्रात्र हि संशयश्च ॥ ६६ ॥

षट्पदकोट्योवसंबलाच्च कूटान्मुनीन्द्रा शिवसस्युरे च । गताश्च स्वकर्मविधातनाच्च श्रीमल्लिनाथस्य सुकालमध्ये ॥ ६७ ॥

षट्पदकोटिप्रसप्तोपधाना फलस्य प्राप्ति खलु सभवेच्च । तद्दर्शनादनुक्रमत शिवस्य शिवाप्तये त च सदा प्रवदे ॥ ६८ ॥

नवैवयुक्ता वरनिर्जराच्च एकोनशतयुक्तशतानि कूटात् । लक्षा नवैव सुवाग्पञ्चया त्रिन्यूनशतकोटिपत्नीधराश्च ॥

एकोनशतकोटि तथैव कोटि गता शिवे षापविधातनाच्च । यद्दर्शनात्कोटिसुप्तोपधाना फलं भवेत् भो बुधसत्तमस्य ॥ ७० ॥

अत्राग्निवयुक्ताश्च शतानिरग्रगणमित्र आदिद्विनामकूटात् । मुनीधरा सप्तसहस्रयुक्ता पञ्चाग्निवयुक्ता सकलविद्वरा ॥ ७१ ॥

एकार्बुद सयमपालनाच्च कोट्युक्तकोट्यो नवसत्स्युक्ता । गताश्च मोक्षे शुभभावशुद्धा सच्छर्मयुक्ते खलु निर्व्ययेच ॥ ७२ ॥

सिद्धपदको प्राप्त ह्ये । इस कूटके दर्शनका फल छयानवे ऋगेड उपवासका है । इसकी चतुर्विध सघ सहित यात्रो सुप्रम राजाने की ।

अर्थ—सवलनाम कूट से श्री मल्लिनाथ भगवान तथा छयानवे करोड मुनिगण सिद्ध पदको प्राप्त हुए । इस कूटके दर्शनसे छयानवे करोड उपवासका फल प्राप्त होता है । इस कूटकी वंदना-चतुर्विध सघसहित सत्यसेन राजाने की थी । इस सघमें मुनिगणोंकी सख्या बहुत थी ।

अर्थ—निर्जर नामके कूटसे मुनिसुव्रत भगवान तथा निन्यानवे कोडाकोडि सत्तानवे करोड नउ लाख नो सौ निन्यानवे मुनिगण सिद्ध पदको प्राप्त हुए । इस कूटके दर्शनका फल एक करोड उपवास का फल है । इस कूटकी वंदना चतुर्विध सघ सहित और अतिशय विधित्तिके साथ श्रीरामचद्र नामके बलभद्रने की ।

अर्थ:— श्री मित्रधर नाम कूटसे श्री नमिनाथ भगवान तथा एक अरब नन करोड पेंतालीस लाख सात

शिबे यास्यति ते भूप स विधिः कथय प्रभो । येनैव विधिना वीर करोमि तस्य दर्शनम् ॥ ८८ ॥

भव्यजीवाहि तस्यैव चाहर्षान्धे कदाचन । तेषा मध्येपि भेदोस्ति तच्छृणु कथयाम्यहं ॥ ८९ ॥

नरकायुर्बषजीवाना तिर्यगायुर्गुप्तात्मना । त्रिकाले नास्ति तेषाहि तदाप्तिर्नात्र सशयः ॥ ९० ॥

ते तस्य नैव प्राप्तिश्च मा कुरु त्व मलीमर्ष । शुद्धदृष्टे नराश्रीश भाविकाले जिनस्य ते ॥ ९१ ॥

नरकायु तव बंधोमृतु मुने । मारणपापत । अतस्त्वं नास्ति योग्यो हि तस्य भो भावितीर्थराट् । ९२ ॥

त्रयत्रिंशत्समुद्रायु पूर्वबधे बवधच । सप्तमस्यैव ध्वजस्य त्वया तत्र सुपापिना ॥ ९३ ॥

राज्ञीसयोगतो तेहि प्रलयं स गतो नृप । वेदाष्टसहस्रपानो सोमध्वज्रायु तेस्ति वै ॥ ९४ ॥

किस विधिसे करना चाहिये ? आप दर्शन करनेकी जो विधी बतलायेंगे उसी विधीसे हे बीदेश मेरी भावना दर्शन करनेकी है ।

अर्थ—हे श्रेणिक! श्रीतीर्थराज श्री संसेद शिखरकी यात्रा भव्यजीवोको ही होती है । अभव्योको सर्वथा नहीं होती है । भव्यजीवोंमें से भी जिन जीवोंके नरक तथा तिर्यच आयुका वध नहीं हुआ है उनको ही यात्रा होगी । हे श्रेणिक महाराज ! तुझको उस पवित्र तीर्थराजके दर्शन होने दुर्लभ है क्यों कि तू इसके योग्य नहीं है । तूने सुनी-श्वरको मारनेके भावोसे नरककी आयुका वध किया है । यद्यपि तू भावि तीर्थेश है तो भी नरकायुका वध होनेसे तुझको दर्शन होना दुर्लभ है । इसलिये मनमें इसका खेदभाव न कर ।

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज मुनिके मारणके समय तरे ऐसे अशुभभाव उत्पन्न हुए कि जिससे तैरी नरककी गति और उसमें तेतीस सागर की आयु का वध हुआ । परतु चलना रानीके संयोग से फिर भी मुनिके दर्शन कर पुण्य संपादन करनेके भाव तरे हुए । और तूने जो पाप किया था उसकी निंदा गर्हा आदि होजाने से तूने अपनी

एकैवकोटशुभप्रोषधान्। फलं लभेद्यः कुरुते सुभावात् । यम्येक्षण भव्यनरोत्तमो वै वंदे सदा शर्मपदं शिवाय ॥ ७३ ॥
 सुवर्णभद्रात् वरकूटतो वै लक्षा ह्यशीति चतुरुत्तराश्च । मोक्षं गता सर्वसुनीश्वराश्च सर्वाहनाशास्त्रुनाथं ध्याः ॥७४॥
 यस्यैव कूटस्य सुदर्शनेन भव्यो लभस्येव फलं वरं च । मिवाष्टलक्षप्रमप्रोषधानामीडे सदा त शिवदायक च ॥ ७५ ॥

एकस्य कूटस्य सुदर्शनेन भव्योत्करा मुक्तिपदे गताश्च । सप्राप्य शर्म परमं ततोवै जरादिदु कर्मविवर्जिताश्च ॥ ७६ ॥
 य सर्वकूटस्य सुभावाद्भुद्रया करोति तस्यैव सुदर्शनं च । वस्तु फलं तस्य क्षमो न कोपि विना जिनेन्द्रैर्हैतकर्मव्यूहै ॥७७॥
 चपापुरबहिर्भागंदराभिधमधुरात् । वासुपूज्यजिनाबीश शिवस्थाने गतो नृप ॥ ७८ ॥

हजार नव सौ चालीस मुनिगण मोक्षपदको प्राप्त हुये । इस कूटके दर्शन कराके उपवासका फल एक करोड उपवासका है । इस कूटका दर्शन चतुर्विध सध सहित सेवदत्त राजाने किया था ।

अर्थः— श्री सुवर्णभद्र कूटसे श्री पार्थनाथ भगवान तथा चौरासी लाख मुनिगण मोक्षपदको प्राप्त हुये । इस कूटके दर्शन करनेका फल चौरासी लाख उपवासका है । इस कूटकी चतुर्विध सध सहित यात्रा सुप्रभावसेन राजाने की ।

अर्थ—एकही कूटके दर्शन करनेके फलसे अनेक भव्यजीव मोक्षपदको प्राप्त हो चुके है । कितनेही भव्यजीवों ने जन्म जरा आदि क्लेशोंका नाशकर परमसुख प्राप्त किया है, तो जो कोई भव्य अपने भावोंकी विशुद्धिसे मन वचन काय शुद्धतापूर्वक समस्त कूटोंका दर्शन करे उसकी महिमाका वर्णन क्या कहा जाता है । उसकी महिमा श्री अरहत भगवान ही कहनेमें समर्थ हैं ।

हे राजन हे त्रेणिक चंपापुर नगरके बहिर्भागमें एक मंदराद्रि नामके पर्वतसे श्री वासुपूज्य भगवान मोक्ष-

स्थितिवधस्य हानिर्हि गतिवधस्य नो भवेत् । अतो भो मगधाधीश त्व तद् भोक्ष्यसि तत्र हि ॥ ९५ ॥

नरकाल्यानुयुक्ताना तदासिर्नास्ति निश्चयात् । मा दु खं कुरु तस्यैव त्व भावित्तीर्थनायक ॥ ९६ ॥

सर्वविधाधिपो भूप दशाननसमाब्धय । भुञ्चै स्वैर्चैर्विधाः त्रिखडावनिपालक ॥ ९७ ॥

ईदृशोपि गतो यन वने सिद्धाचलस्य वै । दर्शनं नोऽभजत् तृणभाजगम स्वमाशुदं ॥ ९८ ॥

अनेकाश्च महीणला नो प्रापु तस्य दर्शन । मध्यभागात् समाजसु स्याद्य मगधाधिप ॥ ९९ ॥

सगरो मघना चक्री सनरुमारसजक । आनदाब्धयभूषेन्द्रो प्रभाश्रेणिकनाममाक् ॥ १०० ॥

नरककी स्थिति वधको क्रम कर दिया-अर्थात् तेतीस सागरसे घटाकर ८४००० हजार की स्वल्यायु होगई । परतु नरक आयुका वंध नही छुटा । आयुवध नही छुटता है परन्तु स्थितिवंध कम होजाता है । इसलिए हे श्रेणिक तुझको श्री तीर्थराजका दर्शन होना दुर्लभ है । परन्तु हे भावि तीर्थराट् इसका तू अव विचार मत कर । इसका एक उदाहरण मैं बतलाता हूं उसको श्रवण कर जिससे सन्तोष होगा ।

अर्थ-सर्व विद्याका स्वामी भुचर और विद्याधर राजाओसे पूजित महासत्ताधारी तीन खडका स्वामी ऐसा रावण कार्य प्रसंग से संसेदशिखरके वन समीप जानेपर भी उसको तीर्थराजका दर्शन नहीं हुआ । क्योंकि रावणने इसके प्रथम नरकायुका वंध किया था । इसलिये इस उदाहरणसे हे श्रेणिक महाराज ! नरक गतिका वंध करनेवाले जीवोको श्री तीर्थराजका दर्शन नहीं होता है । ऐसे अनेक राजगणोको इसी कारणसे इस तीर्थराजके दर्शन नहीं हुए । तीर्थराजके जानेके पहले पहले ही उनको जबरन पीछे वापिस आना पडा । इसलिये हे मगधाधीश तू भी इसका प्रयत्न मत कर ।

अर्थः-- हे श्रेणिक महाराज निम्न लिखित राजाओंने श्री संसेद शिखरकी चतुर्विध संघ सहित और निधि

द्योतकाभिधराजेन्द्रो ललितदत्तसंज्ञक । कुन्दप्रभसमाख्यातो नाम्नाहि शुभश्रेणिक । १०१ ॥
 वरदत्तो भूपतिश्च सोमप्रभो नृपोत्तम । पुनरविचलभूपाल आनदश्रेणिको नृप ॥ १०२ ॥
 सुप्रभो नृपतिश्चैव चारुश्रेणिकसंज्ञक । भावदत्तकभूपाल सुदरो नरनायक ॥ १०३ ॥
 रामचन्द्राभिषो भूपस्तथा अमरश्रेणिक । सुवसतो महीपाल पुण्यवान् तेजोवान् गुणी ॥ १०४ ॥
 इमे विख्याता जाता भग्या संवाधिपा नृपा । यात्राया करणात्तस्य त्वया ज्ञेया न सशय ॥ १०५ ॥
 सिद्धवरादिकूटानां प्रतिष्ठाकारका इमे । अन्येषा नोहि सख्याच ज्ञेया भो चेलनापते ॥ १०६ ॥

पूर्वक यात्रा की । अर्थात्-वहाँपर अपने २ तीर्थकरके समयमें उनने सव । सुनि, आर्थिका, श्रावक, श्राविका) सहित कूटोकी स्थापना की-कूटोकी प्रतिष्ठायें कराई-इस कूटसे अमुक तीर्थकर मोक्षको पधारें है-और इस कूटका आजसे यह नाम है ऐसी प्रसिद्धि सर्वत्र की । उन राजाओंके शुभ नामः--

सगर १ मधवा २ सनत्कुमार ३ आनदकुमार ४ प्रभासेन ५ द्योतक ६ ललितदत्त ७ कुन्दप्रभ ८ शुभसेन ९ वादत्त १० सोमप्रभ ११ अविचल १२ आनंदसेन १३ सुप्रभ १४ चारुसेन १५ भावदत्त १६ सुदरसेन १७ रामचन्द्र १८ अमरसेन १९ सुवसंत २० ।

उपरोक्त राजगण संवाधिप [सवपति] के पदसे प्रसिद्ध हुए । समस्त प्रजाने इन राजगणोंको श्री संभेद शिखरकी चतुर्विध सव सहित और प्रतिष्ठा करनेके लिये ही सवपति पद प्रदान किया ।

हे मगधाधिप उपरोक्त सवपति राजाओने विधिपूर्वक (सव सहित और प्रतिष्ठादि कराकर) यात्रा की इसलिये वे सब मुक्तिको प्राप्त हुए । इनके सिवाय असख्य राजा श्री संभेद शिखरकी यात्राको गये और उत्तम

इमे सर्वे नराधीशा मुक्तिरीयुः नरेश्वर । केवल दर्शनेनैव संसुक्त्वा राज्यसपदा ॥ १०७ ॥
सुख प्राप्त किया । इसलिये श्री संसेद शिखरकी महिमा अपरपार है । उसके दर्शन करनेसे भव्य जीवोको सब प्रकारका सुख प्राप्त होता है ।

श्रीसंसेदशिखरयात्राया विधिः ।

(श्रीसंसेद शिखरयात्राया विधिं प्रवक्ष्ये चित्तसमाधिना यूय शृणुथ ।)

अथादौ चतुर्दिशासु भव्यान् प्रति यात्रासूचकानि पत्राणि प्रेषणीयानि । पश्चात् रानगरस्थ जिनालयमध्ये भव्यजने सह पंचकल्याणकाभिधमंडलस्य विधिं ऋणीय । पुन जिनाग्रे इति जाप्य कर्तव्य -- ओ अंतंताननप्रमसिद्धकरेभ्यो नमोस्तु-श्रीसंसेद शिखरयात्रामहं करिष्ये । जातोयुष्यैश्चाष्टोत्तरशतमम । पश्चात् सिद्धमंत्रभि सिद्धेज्या कृत्वा । पश्चात् जिनेश्वरस्य चित्र रथस्थर-

श्री संसेदशिखर यात्रा करनेकी विधि ।

अर्थ---हे श्रेणिक महाराज अब श्रीसंसेदशिखर की यात्रा किस प्रकार करनी चाहिए उसकी विधि बतलाते हैं । भव्य जीवोको सावधान पूर्वक श्रवण करनी चाहिए ।

श्रीसंसेदशिखरकी यात्रा करनेवाले भव्यात्तमको सबसे प्रथम-चतुर्विध संवसहित यात्रा करनेके अपने भावोको सूचित करनेवाली कुज्जम पत्रिका प्रत्येक ग्राममें आदरके साथ भेजनी चाहिए । फिर अपने नगरमें समस्त भव्यजनोके साथ जिनालयमें अतिशय ठाठ वाट और भावभक्तिये जाकर पंचकल्याणक विधानका मडल बनाकर पूजा करनी चाहिए । भव्य जीवोको भोजन पान आदिके द्वारा आदरसत्कार करना चाहिए । पूजा पूर्ण

विष्टरमध्ये स्थापयित्वा तदुपरि छत्रचंद्रोपकचामरादिसच्छोभा करणीया । चतुर्विधवादित्राणा अत्रे शब्दोत्करा कर्तव्या । यदि द्रव्यशक्तिर्विशेषा स्यात्तर्हि-मुनि-आर्थिकौवैश्व श्रावकश्राविकौषै साकं गमनं कर्तव्यं ।

“ नमोस्तु सर्वसिद्धेभ्यः ” इति मार्गे जाप्य जपनीयं चतु पंचकोशप्रमाणमेव गमन करणीय । सर्वजीवशमप्राप्त्यर्थं । स्व सवाधिपो मूला-शुक्लावराणि सवार्थं शुक्लामेव माला करे गृहीत्वा विना वाहनमेव मुनीशिना साद्रे गमनं कर्तव्यं भोजनमप्येकवारं हि करणीय । द्रव्यार्च्यं पालनीय । सर्वेषा चतुर्विध संवस्थ भव्यमर्त्याना बैयावृत्यं करणीयं । केपापि न्यादपानादिपु दुःख न देयं

होजानेके वाद “ ओ अनतानंतप्रमसिद्धकरेभ्यो नमोस्तु श्रीसम्पेदशिलर यात्रामहं करिष्यते ” इस मंत्रके द्वारा एक सौ आठ-(१०८) जुई के फूलो से जाप देनी चाहिये । फिर सिद्धमंत्रोके द्वारा सिद्ध भगवानकी पूजा भावभक्ति और उनके गुणोंके चितवन द्वारा करनी चाहिये । फिर श्रीजितेन्द्र भगवानकी प्रतिमाको रथमें विराजमान करनी चाहिये । रथका श्रृंगार करना चाहिये । रथको सुदर सिंहासन-छत्र-चमर-चदोवा-घंटा झालर-ध्वजा-क्षुद्रघटिका अष्ट मंगल द्रव्य आदि मंगलद्रव्योसे सुशोभित करना चाहिये । चार प्रकार वादित्तोके साथ महान उत्सव पूर्वक भगवानके रथको आगे रखकर गमन करना चाहिये । जो द्रव्यकी शक्ति हो तो-मुनि-आर्थिका श्रावक श्राविकाके समूह कर चतुर्विध सघके साथ गमन करना चाहिये । समके योग्य वाहन आदिकी व्यवस्था कर सुख पूर्वक गमन करना चाहिये । जिससे समस्त भव्यगणोको सतोप हो और विशुद्ध भाव रहें ।

मार्गे में “ नमोस्तु सर्वसिद्धेभ्यः ” इस मंत्रकी जाप्य देनी चाहिये । जाप्य स्फटिक मणि की सफेद हो । सघपतिको स्वयं यह कार्य करना चाहिये । सघपतिको सफेद वस्त्र ही धारण करना चाहिये । समस्त जीवोके सुखकेलिये प्रति दिवस चार पांच कोशही गमन करना चाहिये । सघपतिको वाहनके विना पैदल मुनिगणोके साथ २ गमन

मप्येकवारं सहस्राचार्यैश्च । बाहनं विना गमन कार्यं । गवाश्व वा ऋमेलरुमपाखिल्लसुदक नो पानीयं । तेषा खानपानेषु महशान्
रक्षणीय वाल्लवृद्धाना दुरखं नो दातव्य निशलय सन् पथि सदा गमनं कर्तव्य-स्तानपूजादानकार्यादीन् कुर्वन् सन् ।

भो मगधाधिप य म्लौभवा पुमान् एव तस्य संमेदाचलस्य यात्रा करिष्यति स पचमे वा दशमे भवे शिवाभिधे पुरे यास्यति ।
यदि एतादृश्यपि शक्तिर्नास्तिचेत् तदपि शक्त्यनुभारत तस्य पर्वतस्य यात्रा कर्तव्या । अवश्यमेव यूय मोक्षे यास्यथ ।
भो भव्या शक्त्या लोभन मा कुरुन्व । अस्य दशनमात्रेण सर्वपापालय प्रलय याल्येव नात्र सदेहः ॥

पूर्व प्रकारण में जो जाण्य वतलाई है वह तो नित्य देनीही चाहिये । सिद्ध भगवानकी पूजा जो प्रथम वत-
लाई वह भी उसी प्रकार करनी चाहिये । भोजन भी एकवार करना चाहिये और ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिये । बाहन
विना ही पैदल यात्रा करना चाहिये ।

गाय बल्द-या गाडी-बोडा आदि जो बाहन अपने साथ में हो तो उनको पानी छानकर पिलाना चाहिये
खानपानमें किसी प्रकार का दुःख न हो ऐसी सुदर व्यास्था रखनी चाहिये । अपने सवामं वालक स्त्री-बुद्ध पुरुष हों
उनकी सेवा सुश्रुषा उत्तम प्रकार से करनी चाहिये । किसीको किसी प्रकारका कष्ट न हो । मार्गमें दान पूजा आदि
करता हुआ निःशलय गमन करे । किसी प्रकारकी सकल्प भावना न करे । और जो भव्य अपने साथ यात्रा करनेके
लिये आये हो उनकी यथेष्ट सहायता करे । इस प्रकार यात्रा करने से पांचवें या दसवें भवसे मोक्ष सुखकी प्राप्ति
होती है ।

अर्थ-हे मगधेश्वर यदि पूर्वोक्त प्रकारकी शक्ति न हो तो शक्तिके अचुमार यात्रा करनी चाहिये । पंतु दान
पूजा आदि कार्यमें शक्तिको नहीं छिपाना चाहिये । जो भव्यजीव निःशलय भावी से शक्तिको नहीं छिपाकर तीर्थराज
संमेद शिखरकी यात्रा करेगा वह निधमसे मोक्ष को प्राप्त होगा ।

ये नरा मगधाशीश ह्यनेन विधिना कलौ । यात्रा सम्पदेशैलस्य करिव्यति शिवास्पद ॥ १ ॥
 यास्यति क्रमतः कर्मसतते नाशनात खलु । प्राप्य मशालं शर्म देवमानुष्ययोनियु ॥ २ ॥
 सवाहनेन भो भूप करिष्यति नराश्रय ये । यात्रा तस्य भविष्यति कदा मोक्ष च तच्छृणु ॥ ३ ॥
 रश्रवेदभवं सुक्त्वा शिवस्थान च ते ननु । तदश्रे नैव स्थास्यति ससारे दु खसंभृते ॥ ४ ॥
 करिष्यति शिवं गेहि वाहनेन विना नृप । यात्रा सम्पदेशैलस्य यास्यति ते कदा शृणु ॥ ५ ॥
 हिमाशुनेत्रपर्यंतभवले शर्मनारिधिम् । सुक्त्वा नरेन्द्रदेवादियोनियु तल्पभावात् ॥ ६ ॥
 पश्चात् प्राप्स्यति वै मोक्षपंतशर्मदायकं । सर्वपापविनिर्मुक्तमव्यजनदुर्लभम् ॥ ७ ॥

तनो. वे यदि सार्धं नास्येव मार्गचालने । तदाहि वाहनेनैव कर्तव्यं तस्य दर्शनम् ॥ ८ ॥

तीर्थराजके दर्शन मात्र से ही समस्त पाप नाशहो प्राप्त हो जाते है । इममें सदेह नहीं है ।

अर्थ:— हे मगधेश्वर जो कोई भव्य जीव इस विधिसे श्री सम्पदेशिखरकी यात्रा करेगा वह देव मनुष्य गतिके उत्तमोत्तम सुखोको भोग कर क्रमसे निर्माण पदको अवश्य ही प्राप्त करेगा ।

। अर्थ:— हे मगधेश्वर जो भव्य जीव वाहनपर सवारी कर तीर्थकी यात्रा करे उमको मोक्ष ४९ भवमें प्राप्त होगी । इससे अधिक वह संसारमें नहीं रहेगा ।

अर्थ:— राजन् जो भव्य जीव सनारीके विना ही पैदल भावोसे यात्रा करे उनको चारह भयमें मोक्ष नियम से होगी । देव मनुष्य आदिके उत्तम सुखोको भोग अनत सुखोकी खानि ऐसी मोक्षमें वे भव्य जीव चारहवे भव पर्यंत जायंगे—मोक्षको नियमसे प्राप्त करेंगे । अभव्य जीवोको यह यात्रा होना दुर्लभ है ।

अर्थ:— हे मगधेश्वर जो शरीरमें शक्ति नहीं हो तो सनारी (वाहन) से ही सम्पदेशिखरकी यात्रा करनी

विधिना केन वीर्ये चामोगी वा सुखी दुःखी । भवेद्य महावीर सुबुद्धिमान् कुबुद्धिमान् ॥ ४५ ॥
 विद्वल्वं चैव मूर्खत्वं धैर्यं केन कर्मणा । लभते चैव भीरुत्वमय देही जिनेश्वर ॥ ४६ ॥
 देहिन सकलार्थेन विद्या भवति नि फला । विधिना केन अन्येन भवत्यर्थस्य हानिता ॥ ४७ ॥
 कर्मणा केन प्राप्नोति द्रव्यौघ वा स्थिरत्वता । कर्मणा केन जीवति पुत्रपौत्रोत्तराश्च नो ॥ ४८ ॥
 भवति बहव पुत्रा विधिना केन कर्मणा । भवत्य दृष्टिरी च बहुवित्तपतिस्तथा ॥ ४९ ॥
 आतकी वा निरातकी भवति केन कर्मणा । जायते अशकश्चैव अय जीवो दयापते ॥ ५० ॥
 न्यायो नो जीर्यते वीर अय नु केन कर्मणा । कुष्टित्व चैव दासत्व खत्रत्व मानहीनता ॥ ५१ ॥
 हीनागो भवति केन विधिना दुष्टकस्तथा । पंपुमकः कुरूपो हि रूपमपत्तिमाक् तया । ५२ ॥
 शरीरैश्च्युक्तो वा भवति केन कर्मणा । तद्धीनो भो जिनमिह अय देही न्युतोपम ॥ ५३ ॥

हे वीर ! सर्वज्ञ । हे दयापते यह जीव निर्गन्ध में कौन पायके कौनेसे जाता है ? नरकमें कौन पायके फलसे प्राप्त होता है ? तिर्यच कौन ? कार्य से होता है । गन्धुय गति को कौन कौन से कारणों में प्राप्त करता है । स्त्रीपर्याय कौन ? से कारणोंसे प्राप्त होती है । नपुमक कौन ? से कारणोंसे प्राप्त होता है । इस जीवकी सत्प्राप्त्यु किम कारण से होती है और दीर्घायु किम कारण से होती है । ममस्त पदार्थीका भोगनेवाला किम कारण में यह जीव होता है । और अभोगी कन होता है । सुखी और दुखी किन किन कारणों में होता है । बुद्धिमान कुबुद्धिमान् मिथ्या मूर्ख धैर्यशाली अधैर्यवान् भीरु निर्भय आदि किन किन कारणोंसे होता है ।

केन दुःसर्गा स्वामिन ध्यां पचेन्द्रिय प्रसात् । गोपेन्द्रियो नून सर्वतत्पकायक ॥ ५२ ॥

स्थितो भवति इत्येव समासोऽथ इन्द्रियेण । हेतुवृत्तं यथा मांषं भोज्यं ॥ ५३ ॥

विधिना केन प्रवीर अष्टाना सर्वथा धर्मो । प्रथी चत्स्ये रीगं प्रथितप्रसं नागना ॥ ५३ ॥

केन केन योगेन रोगो भवति पथ्यै । निज्या दृष्टाना गोः प्रत्यात्मापि ॥ ५७ ॥

विधिना केन यथाश भवति निर्वासः पशो । गीर्यमभयुक्तश्च विधीय तपित्पुना ॥ ५८ ॥

त्वं भो नाथ दद्यापने त्विरसिपो त्वं सर्वेर्था स्या । त्वं सर्वज्ञ जगन्नाथः त्विजगत् ॥ ५९ ॥

मे नदेन्द्रियनाशनं त्वनभि गो नाथ । नकात्स एत इतर त्विजगत् प्रभाक्ले मन्ने ॥ ६० ॥

इत्थं प्रश्नार्थं श्रुत्वा कृत्वा अर्णिकृतं । उच्यते प्रति योगे एतत् त्वं इत्यनं ऋण ॥ ६१ ॥

धनी-दरिद्री-पुत्रपान्-अपत्र-दुःखी-सुखी-सोमी-निरागी-अवक्त-नेपमान-भाग्यशाली-भाग्यहीन-गोत्रनादि
मामयी से परिपूर्ण-और अन्य पृथी त्विन त्विन कारणां से होता है ।

कोठी-सजा-मानहीन हीनांग-चित्तल-दृष्टा-पुत्र-वृत्त-विर-कृष्णी-स्वयान आदि त्विन त्विन कारणोंसे
यह जीव होता है । विधवा और शीलवान त्विन त्विन कारणोंम जीव होता है ।

संसार का नाश करनेवाला और दीर्घ समयों त्विन त्विन कारणोंसे होता है ।

इत्यादि बहुत से प्रश्नोंको श्रेणिक महाराजने रीर प्रश्नोंसे किये और कहा कि हे सर्वाज्ञ हे त्विलोक्तान
आपके विना मेरा संदेह दूर नहीं नागा इत्यश्रिये समस्त जीवकिये उपकारार्थं समाधान कीजिये । यह श्रण कर जीव
प्रश्नुते कहा कि हे श्रेणिक ! अपने प्रश्नोंका उत्तर मायधान हाकर श्रण कर ।

शुभाशुभानि कर्माणि एकैत्र भागाधिप । वध्यते तस्मल चैव एकैत्र मुज्यते खलु ॥ ६२ ॥
 त्रयो वै कारणा दुष्टा मदाण्टौ इन्द्रियास्तथा । विकथा वेदसंख्याद्या ससैव व्यसनान्यहो ॥ ६३ ॥
 चत्वारो हि कथायाश्च मिथ्याल पचथाशुभा । षट्त्रिंशदेभि सख्याभिरय जीवो नराधिप ॥ ६४ ॥
 निकोतेनंतदु खान्धिसभृते हि कुकर्मभि । प्रजायतेऽत्र सदेहो नास्ति पापान् किं भवेत् ॥ ६५ ॥
 षड्भून् हतिच शो मर्त्यां मास भक्षति वाधम । अलीकच वदत्येव मधु मर्घ पिवत्यहो ॥ ६६ ॥
 अवलामपमर्त्यस्य वचत्येव द्रुसुदरा । दुष्ट्वा प्रयोगमत्राधेऽयोषायोऽऋस्तथा ॥ ६७ ॥
 जिनघर्मच सिद्धांतं सद्गुणं गुणमंडित । सष चतुर्विध चैव जिनघर्मोपदेशकम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर जीवोंके शुभाशुभ परिणामही वधके कारण है । जीप अपने शुभाशुभ भावोंसे कर्मोंका वध करता है और फिर उनका भला बुरा फल भोगता है ।

मन वचन काय आठ मद पच इन्द्रिय चार विकथा सात व्यसन चार कपाय पांच मिथ्यात्व इस प्रकार छत्तीस कारणोंसे निगोदका वध होता है ।

मिथ्यात्व की तीव्रताके साथ यदि मन वचन कायकी प्रवृत्ति अशुभ हो और कपायोंके उद्देगमे विषयोंमें प्रवृत्ति हो तो जीव निगोदका वध करता है ।

अथवा मिथ्यात्व की तीव्रता से सात व्यसनो का संभन करना परिणामोंमें तीव्र कपायका रखना सो भी निगोद के आश्रवका कारण है ।

अर्थ—हे राजन् नरक गतिके आश्रवोंको सुनो । पशुओंका वध करना मास भक्षण करना झूठ बोलना मधुका सेवन करना मदिरापान करना दूसरोंकी सुदर स्त्रियोंको मंत्रादि अथवा किसी भी प्रयोगके द्वारा

हरयेव परस्वंच कौटिल्यादिकुर्कर्मभिः । आशक्तोऽयेव ग्रथस्य बद्धेने भवति सदा ॥ ६९ ॥

यज्ञादौ नैव पापोस्ति जीवाना मारणस्थवै । एव नुवति रात्रौच भोजनस्थैव भक्षणे ॥ ७० ॥

इथाद्रीनि कुकर्मणि करोति सैव निश्चयात् । एकादिसप्तश्रेषु व्रजयेव नरेश्वर ॥ ७१ ॥

घोर घोरं च दुःखौघ तत्र सुचेलनाप्रिय । सुक.नेव सेव एकाकी घोषोपोदयात्सल्लु ॥ ७२ ॥

क्रियथमा जिनाधीश तत्र दुःखोत्करा प्रभो । शृणु तेषाच भो सत्था सक्षेपाव वस्त्राह नृप ॥ ७३ ॥

वेदाष्टौच शतानि पंच भवति अकसह्यार्णिवै । अष्टतुप्रमल्लक्षकाश्च नृपते पचैव क्रोड्यस्तथा ॥ ७४ ॥

त्वं जानीहि नृगप्रभेषु सकलश्रेषु दुःखोत्करा । नानाशर्मैव गयका भयप्रदा एतावता निश्चयात् । ७५ ॥

ठगना जिनधर्म जिनसिद्धात जिनगुरु चतुर्विध सध और जिनधर्मोपदेशोकी निंदा रुना अवर्णवाद् लगाना उनके विषयमें मलिन चिंतन करना आदि सब नररुके कारण है ।

दूसरोका धन हरण करना, कुटिल परिणाम रचना परिग्रहका तीव्रतर समुच्च परिणाम रखना यज्ञमें जीवोका दहन करना अथवा ऐसा मिथ्या प्रचार कर जनताका पापके मार्गमें लगाना जीवोके वधमें पाप नहीं बतलाना, जीवहिंसामें धर्म मानना रात्रिमें भोजन करना इत्यादिक कुकर्मसे जीव नररु योनियोमें जाता है । जिनधर्म जिनायतन-जिनगुरु-जिनसवमें मिथ्या अवर्णवाद् लगानेसे और मिथ्यात्वकी तीव्रतासे जीव नरकमें जाता है ।

अर्थः— हे गजन् जीप पापके कारण नरकमें घोर घोर दुःखोको अकेलाही भोगता है ।

वहाँ कितने प्रकारके दुःख है ? इस प्रकारका प्रश्न सुनकर वीरप्रभुने कहा कि हे श्रेणिक ! नरकमें इस जीवोको पांच करोड अडसठ लाख पाचसौ चौरासी प्रकारका दुःख प्राप्त होता है । यह एक सामान्य प्रकारसे दुःखोका पारावारही नहीं है ।

तस्य यात्रासमं नास्ति ह्यपर पुण्यकारण । अतो भव्या शिवाप्यर्थं कुर्वीध्वं ता मुदा सदा ॥ १५ ॥

एकवारमपि तत्र वदयिष्यति ये नरा । अनुक्रमाच्च यास्यति शिवेव्यये घराधिप ॥ १६ ॥

मा कुरुध्व तपोबंध मो भव्या ध्यानसहति । सम प्रत्येकवारच आमृत्यु तस्य दर्शनम् ॥ १७ ॥

भजध्वं तेन पुण्येन केवलेन शिवास्थदे । यास्यथ नात्र सेदहो द्वितीयेहि भवेऽव्यये ॥ १८ ॥

तस्य विगतितमस्यैव कूटाना दर्शनात् नृप । कोटिश प्रोपधानाच फलोत्पत्तिश्च जायते ॥ १९ ॥

तस्मलात् कर्मवृंदाश्च नाश याल्येव तत्क्षणे । अग्रे अव्ययगोत्रस्य वंधोत्पत्तिः प्रजायते ॥ २० ॥

विना वाहनतो पत्र तस्य दर्शनत शिवे । द्वितीयेहि भवे मूप इतरा यास्यति नृमात् ॥ २१ ॥

अर्थ—श्री संभेद शिखर की यात्राके समान अन्य दूसरा कोई भी पुण्यका कारण नहीं है । इसलिये मोक्षकी प्राप्ति के लिये भव्यजीवी को यात्रा करनी चाहिये । जो कोई एकवार भी उस पर्वतराजकी वदना भावभक्तिसे करता है वह अवश्य ही अनुक्रम से मोक्षसुखको प्राप्त होता है ।

अर्थ—हे भव्यजीव जो तप और ध्यान करने की तुल्य शक्ति नहीं तो मत कर परतु अपनी धर्मिय में वार वार समेदशिखरकी यात्रा कर । जिससे अवश्य सुखको प्राप्त होगा । और जो चतुर्विध संघ सहित विधीपूर्वक यात्रा करेगा तो दूसरे ही भवमें मोक्षसुखको प्राप्त होगा ।

अर्थ—हे मगधेश्वर ! जो कोई भव्यजीव वीस कूटके दर्शन करता है उसको करोडो उपवासका फल प्राप्त होता है जिससे कर्मसमूहका नाश होता है । और मोक्ष पदके योग्य उत्तम गोत्रका वंध होता है ।

हे राजन् जो भव्यजीव वाहनके विना श्रीसंभेद शिखरकी यात्रा व दर्शन करे तो वह दूसरे भवमें ही मोक्षपदको प्राप्त होता है । और वाहन सहित यात्रा करनेवालोको अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त होती है ।

अस्य दर्शनमात्रेण कुष्टाद्या नाशता गता । रोगिणा सकलार्तका ऋद्ध्यासि ऋद्धिकाशिणा ॥ २२ ॥
 पुत्रकाक्षावता चैव जातादि चेलनाप्रिय । पुत्रोत्पत्तिर्विधनोत्सति रावयोत्सति शिवम्यच ॥ २३ ॥
 अस्मादिक्रमपि नो सति दुर्लभा दुर्धटा सुखा । शिवशर्मस्य संप्राप्तिर्जायते एषरेण किम ॥ २४ ॥
 भो भव्या शिवप्राप्त्यर्थं कुरुः तस्य दर्शनं । चतुर्विधेन सधेन तथा शक्यनुसारत ॥ २५ ॥
 अस्मिन् काले नगणाच भतो भो मगधाधिप । श्रीमच्छिखरसंमेदाश्चाभ्योपाय शिवस्य वै ॥ २६ ॥
 पदस्थामेवच कर्तव्या संमेदमुभृत खलु । सकलकर्मनाशार्थं तूर्णमेद शिवात्तये ॥ २७ ॥

अर्थ:—हे राजन् जो भव्यजीव इसके दर्शन भाव भक्तिसे करते हैं उनके कुष्टरोग आदि भयानक रोग नाशको प्राप्त हो जाते हैं । समस्त व्याधि नष्ट हो जाती है । धनार्थीको धनकी प्राप्ति होती है । पुत्रार्थीको पुत्रकी प्राप्ति होती है । और राज्यकी प्राप्ति करनेवाले को राज्य मिलता है । जीवोको संमेद शिखरके दर्शन समस्त प्रकार के सुखोको प्रदान करते हैं ।

अर्थ:—इस पर्वतराजकी वदना और दर्शनके पुण्य से ससार में कोई भी वस्तु दुर्घट नहीं है । सब प्रकारके दुर्लभ सुख स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं । जन्म इसकी वंदनाका फल मोक्षके सुखोकी प्राप्ति है तब अन्य साधारण सुखोकी प्राप्ति में आश्चर्य ही क्या ? इसलिये हे भव्य मोक्ष सुख की प्राप्तिके लिये तीर्थराज श्री संमेदाचलके दर्शन चतुर्विध सब निकालकर अतिशय भावभक्तिसे कर । ऐसी शक्ति न हो तो स्वशक्तिके अनुसार ही दर्शन (वदन) कर ।

अर्थ:—हे मगधेश्वर पचम कालमें मोक्षकी प्राप्तिका साल उपाय है तो एक मात्र श्रीसंमेद शिखरकी यात्रा वैदल (विना सवारी) ही करना चाहिये जिससे समस्त कर्मोंका नाश होकर मोक्ष सुखकी प्राप्ति हो ।

यत्रत्या सकला जीवा सिंहसर्पादिका नरा । भव्या स्यु इतरेषाच उत्पत्तिव तत्र वै ॥ २८ ॥

केचिदासन्नभ्यास्ते केचित् दूरतरा खलु । शिवयोग्याश्च सर्वे स्यु नायोग्या मागधेश्वर ॥ २९ ॥

सदातिशयसयुक्त खगामादिवदित । फलभुष्योत्करै सोद्रि सदा मात्येव सुदर ॥ ३० ॥

वराहहरिसर्पादिजीवात् यत्र भयो न च । तद्यानाकारिणा भूय तत्रत्या मृदुमानसा ॥ ३१ ॥

यस्माद् ध्यानादितो मोक्षे अनंभानतगो जिना । गताश्च तस्य किं मूप महिमाच करेभ्यहम् ॥ ३२ ॥

कलौ तद्दर्शनेनैव तश्चिन्त्यति घना जनाः । भव्यराशिमसुरतन्ना नोऽभ्या तस्य दर्शकाः ॥ ३३ ॥

देवायुर्वज्जीवाना मनुष्यायुर्मुक्तात्मनाम् । तश्चासि सभवेऽनुन इतरेषाच नो भवेत् ॥ ३४ ॥

अर्थ—हे राजन् जिस समुद्रशिखर पर सस्रस्त जीन मात्र भव्य है । सिंह-सर्प आदि शुद्र जीव भी भव्य ही है वहापर अभव्य उत्पन्न नहीं होत है । इमका यह भाव है कि वृक्षारिक एकेन्द्रिय जीव भी वहां पर भव्य ही है ।

अर्थ—हे राजन् समुद्राचलपर क्रिन्दनेही तो आमन्न भव्यजीव है । कितने ही दूर भव्य है । परंतु वे मन मोक्ष जानेके योग्य ही है । जिनको कभी मांश होनेवाली नहीं है ऐसे जीव वहापर उत्पन्न ही नहीं होते है ।

अर्थ—हे राजन् यह तीर्थराज अतिशय चमत्कार सहित है । देव विद्याधरादिसे सदैव पृजित है । फल आदि लताओसे रमणीय है । यहांपर सर्प सिंह सूअर आदि, झुर्राणी यात्रीगणोको बाधा नहीं देते है । यह एक विचित्र अतिशय है वयो कि ये झुर्राणी होकर भी सदैव भद्रपरिणामी ही वहांपर रहते है ।

अर्थ—जिस सिद्धाचल तीर्थरूप श्रीमसेदशिससे ध्यानको धारणकर अनत तीर्थकर मोक्षधामको पधार है उसकी महिमाका क्या वर्णन किया जाय ? कालिकालमें उस तीर्थराजके दर्शन मात्रसेही बहुतेसे प्राणी ससारसमुद्रसे पार होगे । भव्यजीवोको ही उसका दर्शन होता है अभव्यको नहीं । भव्योंमें से जिन जीवोको देवायु अथवा मनुष्या-

कुरुष्व त्वं हृदि स्वस्य स्मरण भावशुद्धित । तस्य संमेशैलस्य तद्धि तदर्शनोपमम् ॥ ३५ ॥
 प्रातः सन्मूर्च्छसायान्हे भो भव्या त हृदि सदा । चिंतयथाष्टकपरि घातार्थं घातनक्षरम् ॥ ३६ ॥
 इत्यादिमहिमां स्वामी त प्रति भव्यबोधक । सम्भेदादेश्च आचल्यत् स सर्वेणा सुखाप्तये ॥ ३७ ॥
 विभो ध्वनिमिति श्रुत्वा पुनर्द्वीपरदानये । इमा प्रश्नावलिं चके स्वातःस्था भव्यबोधदाम् ॥ ३८ ॥
 वीराधिप महावीर अस्य नु केन कर्मणा । निक्रोते वधनप्राप्तिर्जायते परमेश्वर ॥ ३९ ॥
 भो जिनैन्द् दयाधीश कर्मणा केन गच्छति । जीवोसौ नरेकं घोरदुःखसहसिसभृते ॥ ४० ॥
 नाके व्रजति भो नात्र केन वै शुभकर्मणा । तिर्यवाख्य च दुर्योनिं लभते केन कर्मणा ॥ ४१ ॥
 मर्ययोनिं च द्विभेदा केन प्राप्नोति कर्मणा । स्त्रिया ना भो जिनाधीश नु वामा केन कर्मणा ॥ ४२ ॥
 नलीवत्तामिघदु कर्म भो स्वामिन् अस्य नुश्च वै । भवति कर्मणा केन अलवायुर्नामकं च वै ॥ ४३ ॥
 दीर्घायुर्भो जिनादित्य भवेदस्यैव केन वै । कर्मणा सार्वतीर्थेश क्रयं भोगी ह्ययं भवेत् ॥ ४४ ॥

युका वन है

उनको ही तीर्थराजका दर्शन होगा । अन्यको सर्वथा नहीं होगा ।
 अर्थ—हे भगवन्धर तू अपने हृदय में भावशुद्धि से उस तीर्थराज श्री संभेद शिखर का स्मरण कर । वह

स्मरण तुझको साक्षात् दर्शनके समानही फलका प्रदान करने वाला है । जो भव्यजीव प्रातःकाल-मध्याह्नकाल और सायंकाल को उस तीर्थराज का स्मरण करता है वह कर्मोंका नाश करता है । इस प्रकार अचित्य महिमा धारक श्रीसम्भेदशिखरका किंचित वर्णन भव्य जीवोके उपकारार्थ श्री देवाधिदेव श्री वीर प्रभुने कहा ।

अर्थ—इस प्रकार महावीर प्रभुकी दिव्य धनितो श्रवण कर श्रेणिक महाराज अतिशय प्रसन्न हुआ और इस प्रकार प्रश्नावलि भगवानसे की ।

श्रीजिनाभिपिंबिवाना पचासुतरसोरुहै । स्नानकर्ता तथैवेण्याकर्ताच मृदुभावयुक् ॥ ७६ ॥
 दयाभावेन संयुक्तो द्वादशव्रतपालकः चतुर्धादानकर्ताच गुरुसेवापरायण ॥ ७७ ॥
 मद्रकमायसपन्न परदोषपरान्मुख । स्ववागारक्तबुद्धिश्च पररामाविरक्तधी ॥ ७८ ॥
 इत्यादिशुभभावाब्धो य पुमान् सैव निश्चयात् । नाकलोकं लभयेव सदा शर्मविभूषित ॥ ७९ ॥
 कार्यार्थं सेवते मिन कृत्वा कार्यं पुनश्च त । त्यजत्येव नराधीश जिनधर्मपाडमुत् ॥ ८० ॥
 विश्रुतो दुर्जनश्चैव परनिन्दनचातुर । दुर्मते पोपक क्रूर रात्रौ भक्षी च निर्दयी ॥ ८१ ॥
 ईदृश पुरुषो मुन्वा जायते दुष्टभावयुक् । तिर्यक्योनिपु नून सदाशर्माक्रोपु च ॥ ८२ ॥
 म्वल्पक्रोधी च निर्लोभी मर्दवाजैवभावयुक् । स्वल्पनिद्रश्च निर्दंभी म्वात्मनिद्रापरायण ॥ ८३ ॥

अर्थः—हे राजन् जो भव्यजीव श्रीजिनेन्द्र भगवानके प्रतिविंबोका पचासुतरससे भक्तिपूर्वक स्नान करता है उसी प्रकार पूजा अष्टद्रव्यसे करता है मृदुभावोको धारण करता है दयाभावका पालन, चारह प्रकारके व्रतोंका परिधारण—चार प्रकारके दानोंका प्रदान करना—गुरुसेवा करना—स्वदार सतोष व्रतका पालन करना परस्त्रीका त्याग करना इत्यादिक अनेक शुभ कारणोंसे स्वर्गके सुखोंकी प्राप्ति होती है ।

अर्थः—हे राजन् तिर्यच योनिका वध मायाचारके परिणामोंसे होता है । जो मनुष्य मतलबके लिये तो भिन्नकी उपासना करे और मतलब सिद्ध हो जानेपर त्याग कर देवे । जो सदैव मायाचारके भावोंसे विश्वासघात करता हो, जिनधर्मसे पराङ्मुख हो, सब प्रकारसे दुर्जन हो, निंदाखोर हो, दुष्टबुद्धि हो, क्रूर हो, रात्रिभक्षी हो, निर्दयी हो इत्यादि दुष्ट आचरणवाला नियमसे तिर्यच गतिमें जाता है ।

अर्थः—हे राजन् स्वल्पक्रोधी, निर्लोभी, सरल परिणामी, शुभ भावोंको धारण करनेवाला, स्वल्प निद्राको

मर्त्यो हि चेदृशो भूप मृत्वा मर्त्यैव शुद्धधी । भवति नात्र सदेह परजन्मनि निश्चयात् ॥ ८४ ॥
 सदा सतोषसंयुक्ता स्वपते भक्तितत्परा । सुशीला क्रोधसहीना विमाना दम्बजिता ॥ ८५ ॥
 साहसधारका नम्रा शुचिस्वगुणसयुता । जिनभक्तिरा नियं दानेज्याव्रततस्या ॥ ८६ ॥
 निःकपटा निरालस्या धार्ज्जवासुखपानका । स्थिरचिता च सत्यैव भाषिणी परपोषणी ॥ ८७ ॥
 स्वरूपाहारकरा स्वल्पनिद्रा सयमपालका । कामदेवस्य क्रीडासु स्वल्पचित्तस्य धारका ॥ ८८ ॥
 इत्यादिगुणसंपन्ना भवेन्नायत्र भूयते । ईदृशाया सुवामाया पुरुषो भवति निश्चयात् ॥ ८९ ॥

लेनेवाला, निर्दभी अपने पापकर्मोंकी निंदा करनेवाला, यापोसे डरनेवाला, जिनधर्मका सेवन करनेवाला ऐसा जीव मनुष्य वधको प्राप्त होता है ।

अर्थ— हे राजन् ! स्त्री पर्यायको छोडकर पुरुष पर्याय (स्त्रीलिंगका छेदन) कौन कौन से पुण्यकर्म से प्राप्त होती है सो बतलाते हैं ।

जो स्त्री संतोष से रहती है अपने ही स्वामीकी भक्ति पूजामें अपना धर्म समझती है । शीलव्रतको ही मुख्य धर्म समझकर पालन करती है । क्रोध मान माया आदि विकारो की भावना नहीं करती है । नम्र-पवित्रताको धारण करनेवाली जिनभक्ति में तत्पर-जिनधर्म परायण दान पूजादि पुण्यकार्यमें सावधान-सरल परिणामोंको रखनेवाली-मायाचार रहित शुद्ध चित्तसे कार्य करनेवाली स्वल्प आहार करनेवाली व्रत संयम आदिको भाव भक्तिस पालन करने वाली-विषयोंसे विशेष शृद्धता नही रखने वाली इत्यादि सुदर कृत्योंको करनेवाली स्त्री अपने स्त्री लिंगको छेदनकर पुरुष लिंगको प्राप्त होती है । हे राजन् पुरुष पर्यायसे निवृत्त स्त्री पर्याय इस प्रकार प्राप्त होती है ।

मायाकण्ठसंपन्न अतिचंचलभाइयुक् । कामसेवासुसंस्क अत्यंतद्वारधी ह्यधी ॥ ९० ॥
 गायने भंडारागस्य अत्यंतचंचलस्तथा । नेत्रविकारसंपन्न तथैव कामभावयुक् ॥ ९१ ॥
 महामानी सदास्यो वद्वारभस्य धारक । बहुनिद्रास्तोशुद्ध निदापिशून्यतत्पर ॥ ९२ ॥
 क्रियाक्रमविहीनश्च निर्दयी निरूपी तथा । बह्व्याली तथा हीनो विनयेन नरेश्वर ॥ ९३ ॥
 कस्यापि नैव विश्वासं करोति साधुनिदक । बचक स्वजनानाच साधूना परदोषद ॥ ९४ ॥
 इत्यादिगुणसम्पन्नो मृत्वा मर्योपि निश्चयात् । परजन्मनि निन्धा च श्रेयैव भवति सद्वुद्धे ॥ ९५ ॥
 वृषाश्च महिष छांगं माहेर्यो च समेलक । मातंगं च खरं श्वान क्रिय मर्यैच बालकम् ॥ ९६ ॥
 लोहशखच संघृत्वा पावनेभ्यो नराधम । इत्यादीना च जीवाना अंकयतेच निर्दय ॥ ९७ ॥

जो पुरूप मायाचारी है, अतिशय चपल है, सदैव कामक्रीडामें मग रहता है, अत्यंत क्रूर है, पापो अभिमानी बनता है, बहुत आरभका ऋग्नेवाला निंदा और खुगली करनेवाला, भडवचनोका बोलनेवाला, कामोत्पादक गानका करनेवाला, नेत्र विकार और शरीरसे कुचेष्टा करनेवाला, दूसरोसे द्रोहको करनेवाला, श्रेष्ठ आचरणको छोड देनेवाला, नीच आचरणोका पालन करनेवाला, निर्लज्ज, निर्दयी, निदक, साधु पुरुषोंमें दोष लगानेवाला, गुरुजनोकी भी निंदा करनेवाला, सत्यका लोप करनेवाला, किसीका भी विश्वास नही करनेवाला और पापमार्गको प्रकट करनेवाला मनुष्य मर कर पर बन्धमें स्त्री पर्याग (स्त्रीलिंग) को प्राप्त होता है ।

हे राजन् ! यह जीव नपुंसक कौन कौन से कारणोंसे होता है । जो मनुष्य काम की तीव्र ज्वाला से अनर्थकारी कार्य करे । तथा बेल बेल घोडा भैस चकरा हाथी गदहा कुत्ता स्त्री बालक वृद्ध

छेदयति तथा तेया नणे वा तासिका मल । यथ या वयन चैव अन्तरादिरोमान् ॥ १०० ॥
 करोति मैव प्रामोति नेपुमस्त्व दुःगट । क्रमोय ग्रा मंगु निरनीय च कर्मसु ॥ १ ॥
 अलकान् च कपोलौघान तित्तरान् च हरीन मृगान् । प्राकीरयान् त नाकीशान् नीलकंठान् खनेनान् ॥ २ ॥
 शुक्रान् हंसान् मकाश्चैव प्रियते यो नृप कृषी । उपादीन् जीर्णमैदान् काष्ठान्दिवंसेषु च ॥ ३ ॥
 आहमाऽप्यपर्यन मा खलु वंदितुं गृहे । स्थिति श्रगेति दुर्गोः भुवन याचासोच ॥ ४ ॥
 मनसा निर्दयेनाच्च अदयानरिणाभयुक । अगर्भेव नीभान् च उगपयान्नादिमान् ॥ ५ ॥
 निर्दय तच दृष्ट्वा वै कोप्येवं ब्रुवते पुमान् । दयालकृतमदान त प्रति निर्गमक ॥ ६ ॥

मनुष्योंके अंगोंपांगका छेदन करे लिंग आदिको मडे २ मगहर श्रगोंके द्वारा मारें । अत्रा लिंग आदि गुहा स्थानोंको अग्निके द्वारा दाग लगाये अथवा मर्मवेदी स्थानोंमें दुर्भानोंमें पीडा उत्पन्न करने लायक छेद करे कर्ण नासिका आदिको छेदे और भी चोग मकट देतेवाले कुत्सिन काम करे वह मनुष्य सरहर परजन्ममें नपुंसक होता है । यह मर्मसे निंद्य कर्म है ।

हे राजन् सख्यायु होन हीनमें कारणसे होती है सो सुन-

जो मनुष्य कञ्चुतर तीतर हरिण मृग काकोटर हीश (पक्षी) नीलकण्ठ गरुड सुभा ह्य गला आदि पशु-पक्षियोंको पकडकर काटके पीजरोमें बंद करता है आजन्म उनकी स्रतत्रताका हरण करता उनकी इच्छाका न्यायात् करता है । जो भनमें सदैव निर्दयभावा रहता है दयाभावोंको जागता ही नहीं [जो किसीभी प्राणीको सुखी नहीं देखना चाहता] है । जो सदैव बक्रादि जीवोंका बंध करता है । जो कञ्चुतर आदि जीवोंको पकडनेमें मारनेमें दत्तचित्त रहता है । जिसके परिणामोंमें निर्दयपनेकी सदैव वासना बनी रहती हो । जिसको दयाका उपदेश करुणक मालुम

नवेव तेच कर्तुं वै युक्त जीवस्य घातक । मा गच्छ दुर्गतिं मूढ ब्रुत्वेत्थमाह दृष्टधी ॥ ७ ॥
 जीवानां मरणे नैव पापोत्पत्तिं पुमान् खलु । न्यादारथं च कृता सर्वे स्वयमुवा इमेस्य नु ॥ ८ ॥
 परलोकश्च नास्त्येव नैव धर्मं तथा ह्यथ । एवं धृत्वा हृदि स्वस्य यो मर्त्यो दुष्टभावयुक् ॥ ९ ॥
 संक्षिप्रैर्निर्दिश्यैश्चैव सांद्रैः कुपुरुषैः सदा । करोति चैव व्यापारं कुकर्मणश्च दुःसद ॥ १० ॥
 सोलायुर्भवरथेव इत्थं कुकर्मणोदयात् । सदा कालेन सदेहो नास्त्येव चेलनाप्रिय ॥ ११ ॥
 स्वयं नैव कदाप्येव मारयत्येव भाषित । मार्यमाणं च संष्ट्वा केनचित् पुरुषेण वै ॥ १२ ॥
 मोचापयति तं नूनं दयाभावेन मंडित । संतुष्टोभयदानेषु परघातनिवारक ॥ १३ ॥

होता हो और जीवहिंसा करनेके समय धर्मात्सार्के रोकनेपर जिसके परिणाममें क्रूरता प्रकट होती है । जो जीवोंके वधमें पापोत्पत्ति नहीं मानता हो । जो जीवों जीमस्य भक्षण कहकर जीवोंके भक्षण करनेमें धर्म मानता हो । जिसे परलोकका भय नहीं हो और जो परलोकको मानताभी न हो । जिसके परिणाम सदैव दुष्ट रहते हो । जो सदैव संकलेश परिणामोंसे रहता हो । और ऐसे ही दुष्ट पुरुषोंकी सगतिमें रहता हो । जो सदैव कुकर्मका व्यापार करता हो । इत्यादि कुत्सित कर्म करनेवाले जीवोंकी स्वल्पायु होती है । निगोद आदि पर्यायमें स्वल्पायुकी प्रुति वै जीव कर्ते हैं ।

अर्थ — हे राजन् जो किसी भी जीवको स्वतः नहीं मारता है न दूसरोसे मारनेके लिये वचनसे कहता है और न ऐसी अतुमोदना ही करता है । जो दयालु, दूसरोके द्वारा जीवोंके वधको देखकर दयाभावसे उस जीमको मारनेसे बचाता है । जो सदैव दयाभावसे अपने अंतःकरणको आर्द्र रखता है, जो जीवोंके अमयदानमें संतोष मानता है, जो दूसरों जीवोंके घातको रोकता है, जो दूसरोको सुखी देखकर प्रसन्न होता है, जो दूसरोको दुःखी देखकर दुःखी

भयर्मिषु संवृष्टे षट्पुत्रेषु दुःखभाक् । तीरस्त्रं गच्छेत्तत्र मया कालेन मन्वति ॥ १४ ॥
 दैवस्य तन्मैव भो भयर्भयं निश्चयात् । दीर्घानु मर्मकाले च मृदुभागेदयाचन्द्रम ॥ १५ ॥
 आर्ष्येव विचर्मदोहं म पुनर्न ददात्यहो । आद्रागाम्य च मद्दान पात्राय योहि मानव ॥ १६ ॥
 कदापि लोकस्त्राया वशादेव ददात्यहो । दान पात्राय तर्जित् त्वे हि स्वस्य मानसे ॥ १७ ॥
 पश्चात्तप करोयेमं वृथा ततो हि हा मया । अस्मि दान च मे स्वस्य व्यथो चातोऽप्य किं कृतं ॥ १८ ॥
 दीयमानं महादानं अन्येषा वर्जयत्यहो । किमर्थं कुत्थ लोका व्यथो द्रव्योत्कृष्टस्य च ॥ १९ ॥
 पभिं कुकर्मभिर्मूला मयं भो मापेक्ष्य । भवति वर्जितो भोगीः मदा दुर्गं रूपभजन ॥ २० ॥

होता है, जो जीवोंकी रक्षा करनेमें सदैव प्रयत्नशील बना रहता है ऐसे दयालु भव्यान्माको दीर्घायुकी प्राप्ति होती है । जो मृदु भागमें दया करता है वह भी दीर्घायुको प्राप्त करता है ।

अर्थ—भोगरहित क्रीन क्रीन में पापों में होता है सो ज्ञाते हैं ।
 हे राजन् ! जो मनुष्य द्रव्यकी यथेष्ट शक्ति रखने पर भी लोभ परिणामोंसे मुनिगणादि चतुर्विध मंत्र की

आहार दान नहीं प्रदान करता है । न पात्र में दान प्रदान करनेकी रुचि करता है । कदाचित् लोक लाज वश किसी खास मौकेपर दान अनिच्छा से देना भी पड़े तो पीछेसे पश्चात्तापको प्राप्त होकर विचार करता है कि हा मैंने व्यर्थ ही दान दिया । इस दानमें मेरा इतना द्रव्य व्यय हो गया । यह सर्व व्यर्थ ही गया । इस प्रकार पश्चात्ताप करता है । अरे तुम लोग व्यर्थ द्रव्य क्यों छुटाते हो जरा तो विचार करो । इस प्रकार मनकी मलिनता से अन्य जीवोंको दान करते हुए रोकता है स्वयं भी धनादिक वस्तुओंका सेवन नहीं करता है । ऐसे कुरूपोंसे भोगरहित मनुष्य होता है ।

शयनार्थं मुनीन्द्राणां फलकचृणादिकं शुभै । शयनोपकरणैरोमि वैयावृत्यसुपालक ॥ २१ ॥

वैयावृत्यं करोत्येव तथा पादस्य धोवनं । तेषा सद्गुणसंयुक्तं स्तवनं पापनाशकं ॥ २२ ॥

पिच्छिका सर्वभूताना रक्षका गुणमंडिता । मो ददत्येव कुंडीच शौचकार्यार्थं शोभन ॥ २३ ॥

आर्थिकायै तथा वल्लं शुभ्रच ब्रह्मचारिणा । गृहस्थाय तथा तेषा वामार्थे भूषण तथा ॥ २४ ॥

आडारादिचतुर्दशैः सदा शर्मप्रदायक । अतिहर्षेण संयुक्तो मृदुभावविर्मंडित ॥ २५ ॥

अर्थ—नाना प्रकार के सुखोंको प्रदान करने वाले मोग कौन कौन से कारणों से प्राप्त होते हैं ? हे राजन् ! जो मन्व्य जीव लकड़ेका फलरू तृणादिकोंके विविध आसन आदि वस्तुओंको मुनिगणोंके शयनार्थ रखता है और उसके द्वारा भाव भक्तिसे मुनिगणों की वैयावृत्य करता है । इसी प्रकार उनके निवासार्थ वसतिका-गुहा-मठ आदि बनाकर वैयावृत्य का लाभ लेता है । तथा जो मुनिगणोंके पादकमलोंका धोना, सेवा सुशुषा का करना स्तोत्रादिके द्वारा उनके गुणोंमें सुगंध होना आदि विद्युद्भ भावोंसे करता है । जीवोंकी रक्षाके लिये पीछी देता है, शौच रक्षाके लिये रुमडल देता है, आर्थिकाओंको वस्त्र देता है, ब्रह्मचारियोंके लिये वस्त्रादि देता है, गृहस्थोंके लिये भी वस्त्रादि भूषण प्रदान कर वात्सल्य अगको प्रकट करता है, इस प्रकार चारों प्रकारका दान चार

१ मुनि गण-आर्थिका आदि के लिये गृहस्थ अपने यहापर लकड़ेके फलक (तख्ते) रखता है जिसपर मुनिगण शयनादि करते हैं । इसी प्रकार आर्थिका आदिके निवासके लिये वसतिका-गुहा-मठ-आदि बना कर प्रदान करता है जिससे उनके शीलकी रक्षा और संयमकी सिद्धि बराबर बनी रहे । इसके बिना शीलदिककी रक्षा होना कठिन है ।

एवं मे नृत्तबोध नानुभवेच्छे संतः । संकल्पे एतदंशुले नर शिखरः ॥ १६ ॥
 नानां देव त्विन्द्राणां सुखस्यै । भवति मे सर्वे तेषु तेन सुखे एव ॥ १७ ॥
 कृतिचिन्त संतुलः सर्व कृते ॥ प्रवेगः । अस्मादेकस्यै एव । मे सुखे ॥ १८ ॥
 ईहो गन्तवो मुखा ह्युदन्तो भवन्त्ये । इतो नराभ्यः प्रसक्तैः शरणम् ॥ १९ ॥
 त्वत्स्विनां मुनीन्द्राणां पत्नैस्त्वानं स्त्रीषु । अ । त्वरी क । इतो नर पत्न्यानां स्त्रीषु ॥ २० ॥
 संवको अत्यंत हर्षभावेसे देता है और अपने परिणायकोंको सर्वैय कोमल रसता दे वा अको योग्यते भोमवेभाव

इस प्रकार चार संघको चार प्रकारका दान प्रदान करने वाले प्रथम जीवोंके सातव्य पुण्यही पाते यही है

और वह पुण्यके प्रभावेसे अनुपम सुखोंको प्राप्त होता है ।

अर्थः— यह जीव सुखसम्पन्न कौन कौनसे कारणोंसे होता है ।
 हे राजन् जो भव्य जीव देव, शारत, गुरुओंकी अतःकरणके भावोंसे भवा रसात् सर्वैय तजाले पुण्य जो
 हित प्रदाता मानता अतएव उनके प्रति एक भी कटुक अक्षर नहीं बोलता, मानन विनम और नाम प्रभावसे जाता है,
 सर्व प्रकारके सुखोंसे मपन्न होता है ।

अर्थः—अतिशय दुःख किन कारणोंसे उत्पन्न होता है । अथवा सर्वैय पुण्य पावने का कारण

हे राजन् तपस्वी-मुनि आदि धर्मस्थापकोंकी निन्दा करना अत्यंत विद्वाना दोषोंका कारण बनता है ।

निर्गुणी चैव गर्विष्ठो मायावी अतिक्रूषीः । जिनसिद्धतावाक्यानामुत्थापकश्च पापधी ॥ ३१ ॥

महद्भी च भो भूप इत्यादिगुणसेभृत । य पुमान् सैव मुत्वाच महादु खी भवत्यहो ॥ ३२ ॥

परमदुःखसंयोगात् कृत्वा पापस्य सचयं । पुनर्यात्विष दुःखाब्जौ अंहस्य चेदृश फलम् ॥ ३३ ॥

प्रात काले समुत्थाय तस्यात् यो हि नरेश्वर । कृत्वा सामाधिक चैव जाप्ये वा परमेष्ठिन ॥ ३४ ॥

पश्चादादाय स्वर्णादिभजने बहुमोदत । वसुद्व्योत्कर शुद्धमभिषेकविधिं तथा ॥ ३५ ॥

जिवक्सेमनि सास्य तत्र श्रीमज्जिनेश्वरान् । सपूज्य परया भक्त्या सदसि आगमस्य च ॥ ३६ ॥

महत्त्वको गिरानेका प्रयत्नं करना—उनके विषयमें झूठी झूठी विशुनता कर बड़े २ श्रीमानोंको धर्म भावनासे गिरा देना । प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपसे अवहेलना करना, स्वयं निर्गुण होकर भी अपना मिथ्या गर्वका साहस प्रकट करना, मायाचार प्रकटकर अपना मतलब बनाना—अत्यंत क्रूर और कुटिल परिणाम रचना । जैन सिद्धांतके वाक्योंका उत्थापन करना—जैन सिद्धांतके श्लोकोंका विपरीत अर्थ कर धर्मकी पवित्रताका नाश करना । सदैव पापबुद्धि का रखना और महान दंभी बनकर ढोंग फैलाकर अपना मांसारिक स्वार्थ सिद्ध करना—इत्यादि कारणोंसे जीव अत्यंत दुःखी होता है ।

अर्थ—इस प्रकार देव शास्त्र गुरुके निंदको को अपरंगार भयानक दुःख प्राप्त होते हैं । और वे उन दुःखोंसे पीडित होकर अन्य ऐसेही पापोंका सचय करते रहते हैं । इसी लिये वे चिरकाल पर्यंत ससारमें दुःखोंको भोगते रहते हैं । पापका फलही यह है ।

अर्थ—ज्ञानवान् कौनसे कारणोंसे होते हैं ? हे राजन् जो मनुष्य प्रात काल उठकर सामाधिक करता है । पंच परसेषीकी जाण्य देता है । फिर सौने चांदी आदिके पात्रमें अभिषेक और पूजन की सामग्रीसे श्रीजिनेन्द्रदेवकी

कथयत्येव धर्मैव अधर्मस्य नराधिप । सोधर्मोहि भवत्येव चाडाल परजन्मनि ॥ ५० ॥
 तित्तरं कुर्कट ध्यान शूकरं च मृगाधिपम् । व्याघ्र वा मर्कट नागं मृग कोकं परिश्रुतम् ॥ ५१ ॥

शुक्रादिजीवजातीना दृढगसेन योऽधमः । गृहीत्वा च गृहे स्वस्य आदाय तान् पुनः नृप ॥ ५२ ॥
 दृढैव रज्जुना तत्र बंधयित्वा च दुष्टधी खलु । रक्षति सैव मृद्या च भीरुको भवति सदा ॥ ५३ ॥

मनसा वचसा चैव कायेन प्राणिना नृप । न करोत्येव त्रास हि सर्वेषा मृदुभावयुक् ॥ ५४ ॥
 कारापयति नो नृप नानुमोदयति कदा । अन्यायवित्ततश्चैव मुक्तधीः पयोषकः ॥ ५५ ॥

ईदृशोसौ नृप मृत्वा सदैव निर्भय खलु । भवति नात्र सदेह पण्डुलस्य मोचनात् ॥ ५६ ॥

मनुष्य मद्यपान सेवन करे मांग भक्षण करे—विधवा विवाह जैसे व्यभिचार को धर्म वतलावे—असदाचार को धर्म वतला-
 कर उसका प्रचार करे वह मरकर चांडाल होता है ।

अर्थः— भीरु-भयवान् कौनसे कारणोंसे होता है ?

हे राजन् तीतर, कुत्ता, सुर्गा, शूकर, सिंह व्याघ्र, बंदर, सर्प, मृग, कर्कर, सूआ (तोता) आदि जीवोंको
 पकडकर जो दृढ बंधनोंमें रखता है वह मर कर भीरु होता है ।

भावार्थः— ऐसे पशु जो मनुष्योंके उपयोगी नहीं हैं जैसे व्याघ्र, सिंह, सर्प आदि और पक्षिगणोंको जाल
 द्वारा पकडकर मौज शौकके लिये दृढ बांधकर रखनेमें बडा भारी पाप है ।

अर्थः— निर्भय मनुष्य कौनसे कारणोंसे होता है ?

हे राजन् मन वचन कायसे जो कभी भी किसी जीवको कष्ट नहीं देता है, न दूसरोंसे दिलवाता है और न
 ऐसी अनुमोदना करता है, जिससे दूसरोंको कष्ट हो, जो अन्यायके कार्योंका परित्याग करता है, जो दूसरोंका परि-

विद्यालोभेन पूर्व च कृत्वा यो विनय गुरोः । विद्या गृह्णाति वा मत्र विवेकाटिकसफलम् ॥५७
 पश्चात् पूर्णे च याते हि मन्यते नैव स्वगुरोः । मया भाग्यासमापत्वा सर्वा विद्यादिसफला ॥५८
 तस्य मर्यास्य भो भूप परजन्मनि वात्र च । कलाच सकला विद्या निष्फला भवति खलु ॥५९
 अत्येव विनयेनैव चित्तशुद्धेन स्वगुरो । करोति विनय भूप वैशावृत्यं च सर्वदा ॥६०
 तद्गुणान् मन्यते चित्ते करोति तस्य कीर्तनम् । आगते सन्मुखे शीघ्रप्रभन्धुरथानादिसत्क्रियाम् ॥६१
 एव गृह्णाति यो विद्या सेव भोक्ता भवत्यहो । विद्याफलस्य अत्रैव परत्रापि पुनर्भवेत् ॥६२

पालन करता है वह निर्भय होता है ।

अर्थ—किसकी विद्याएं निष्फल होती हैं ।

हे राजन जो विद्या लाभकी प्राप्तिके लोभसे विद्या ग्रहण करते समय प्रथम तो गुरुका विनय सेवा सुश्रुपा करता हो उपकारी मानता हो परन्तु विद्या सपादन हो जानेके बाद कहे कि यह विद्या तो मेरे भाग्यसे मिली है इसमें गुरुने क्या कर दिया । इत्यादिक कार्योंसे जो गुरुके उपकारको भूलकर कृतघ्नी हो उस मनुष्यकी विद्या निष्फल होती है ।

अर्थ - विद्या सफल किसकी होती है ?

हे राजन् जो चित्तकी शुद्धिसे गुरुका विनय करता है वैशावृत्य सेवा सुश्रुपा आदि करनेमें निष्कपट भावो से तत्पर रहता है जो परीक्ष या प्रत्यक्ष गुरुको बड़ा मानता है उपकारी समझता है उनके आनेपर उठकर सम्मान आदि प्रकट करता उसकी विद्या सफल होती है ।

परेषा यो हस्येव कौटिल्यादि कुर्कर्मभिः । द्रव्यं तस्यैव विचक्ष्य द्वियतेऽन्यैश्च मानुजैः ॥६३
 नो हरति कदाप्येव परकीय च यः पुमान् । गृहे तस्यैव द्रव्यस्य सच्यो भवति सदा ॥६४
 नाश कदापि नो स्याद्विद्वि विचक्ष्य परजन्मनि । मगधेश भवत्येव एवं शुभोदयात् खलु ॥६५
 कथयत्येव यो मर्त्यं पूर्वमेव नरेश्वर । वल्ल वस्तु तथा द्रव्यं त्वा दास्यामि मनोहरं ॥६६
 धृत्वा लोभं हृदि पश्चात् नो ददात्येव तंच ताम् । आशाभंगं करोत्येव सर्वपापस्य दायकम् ॥६७
 तद्वि पापेन तस्यैव नाशो यात्येव निश्चयात् । द्रव्याशयाश्च भो मूष परजन्मनि जन्मनि ॥६८

अर्थ—किसका धन अपहरण होता है ?

हे राजन् ! जो मनुष्य कुटिल परिणामोंसे और विश्वासघातसे दूसरोंके धनका अपहरण करता है उसके धनका अपहरण होता है ।

अर्थ:—किसके धनका नाश नहीं होता है ?

• हे राजन् जो मनुष्य अन्याय पूर्वक दूसरोंका धन हरण नहीं करता है न कुटिल भावोंसे मायाचारी पूर्वक दूसरोंकी वस्तुका अपहरण करता है और न विश्वासघातसे दूसरोंके धनको लेता है उसके धनका लोप इस जन्म और परजन्ममें नहीं होता है ।

अर्थ:—द्रव्यप्राप्तिकी आशा किसकी नाश होती है ?

हे राजन् ! जो कोई मनुष्य विश्वास दिलाकर प्रथम तो बतलावे कि मैं तुमको काम पढनेपर वल्ल दूंगा धन दूंगा या असुक चीज मुझसे माग लेजाना. परंतु उसके काम पढनेपर विश्वास घात कर नहीं देवे और सब प्रकारसे उसकी आशाभंग करदेवे, तो ऐसे दगाबाज मनुष्यकी आशाभंग होती है । जो दूसरोंकी आशाका भंग करता हो

यथाद्धि शोभनं वस्तु मुनीना ब्रह्मचारिणाम् । दत्त्वा पश्चाद्धि स्वचित्ते मन्यते यो नरो वृष ॥६९
 धर्मस्य कारणं नास्ति लोकरज्जावाग्नमथा । वस्तवश्च इमे दत्ता एव हि मूढबुद्धित ॥७०
 सुकृतस्यैव सर्वस्य तस्यैव परजन्मनि । विनाशो हि भवत्येव नात्रैव संशय खलु । ७१
 मृगस्य तस्य वामाया स्त्रियाः मर्त्यस्य भो नृप । सिंहािन्याश्चैव सिंहस्य तथा पारावतस्य च ॥७२
 नागिन्याश्चैव नागस्य हसिन्या हसकस्य वै । शुकस्य चैव शुक्याश्च जायायाः वह्निणस्तथा ॥७३
 इत्यादीना च जीवाना परस्परं करोत्यहो । वियोग यो हि मर्त्यश्च स्थिताना च वनावनौ ॥७४
 पुत्रपौत्रादिहीनाह्यो भवत्येव परत्र वै । स पुमान् मगधावीश परवियोगपापत ॥७५

उसकी भी परजन्ममें आशाभंग होती है ।

अर्थ:— किसका पुण्य नष्ट हो जाता है ?

हे मगधेश्वर जो उत्तमसे उत्तम और उत्कृष्टमें उत्कृष्ट वस्तुको मुनिगण या ब्रह्मचारी आदि धर्माप्यतनोमें प्रदान कर फिर पीछेसे मनमें विचार करे । या पश्चात्ताप करे) कि मैंने लोक लाज वश यह वस्तु मुनिगण आदिको दी । नही तो वे देने लायक नहीं हैं । इस प्रकार धर्मगुरु आदिके विषयमें अपनी दुर्बुद्धिके कारण विपरीत श्रद्धान कर धर्मगुरुओकी महिमाकी न्हासता प्रकट करे उसके पुण्यकर्मका नाश हो जाता है ।

अर्थ:— पुत्रहीन, स्त्रीविहीन कौन होता है ?

हे राजन् जो मनुष्य मृग, सिंह, कव्चर, सर्प, हंस, तोता, मयूर आदि जीवोकी स्त्रियो (मादाओं) का वियोग करता है या उनके बच्चोंका अपहरण करता है या पापबुद्धिसे दूसरोकी स्त्रियोका हरण कर वियोग करता है अथवा दूसरोसे बालक बालिकाओको उनके भूल वा उनके लोभसे एकांतमें मारकर वियोग करता है उसके इस प्रकार

जायतेपि कचिद्द्विवात् संताना तस्य वा तदा । अियंते नैव जीवति तुर्यं वा पंचमे समे ॥७६
 पूर्वोक्त्वा नैव यो मर्त्यं कार्यान् करोति निश्चयात् । सर्वजीवेषु भो भूय दयापरो भवत्यहो ॥७७
 बहुवृत्तौ तथा पौत्रै वाधवौधैश्च वेष्टित । स भवत्येव जीवानामवियोगस्य कारणात् ॥७८
 जिनाननात्समुत्पन्नमागमं ह्यघनाशकं । वाच्यमानं सभामध्ये गुरुणा शास्त्रवेदिना ॥७९
 तन्मध्ये कुरुते वार्तालापादिकं च यो नर । वा कथा विक्थयोरत्रवा निद्रा हास्यंच श्रेणिक ॥८०
 बधिरो हि भवत्येव स पुमान् परजन्मनि । अश्रुतं कथयत्येव द्वापरो नात्र निश्चयात् ॥८१

के पापकारणोंसे पर जन्ममें संतान नहीं होती, स्त्रीका वियोग होता है, संतान होवे तो भी वह जीवित रहती नहीं है; मर जायगी ।

अर्थ—किसके पुत्र पौत्र कुटुंब परिवार का वियोग नहीं होता है ?

हे राजन् जो सदैव दूसरे जीवोंको दया भावो (परिणाम) की निर्मलता से पालन करता है । अन्य किसी भी जीव का वियोग नहीं करता है । जो सदैव दयाभावोंसे जीवोंको अभयदान देता है वह पुत्र पौत्र आदिका वियोग नहीं होता है ।

अर्थ—बधिरा—(बधिर) कौनसे पापोंसे होता है ? हे श्रेणिक ! जो मनुष्य सभामें समस्त तत्वोंको जानने वाले गुरुके परमागम के उपदेशके समय वार्तालाप और विक्थयादिक कर शास्त्र श्रवण करने वाले साधर्म्य भाइयोंको क्षोभ उत्पन्न करता हो । जो शास्त्र स्वयं श्रवण नहीं करता हो । शास्त्र वाचनेके समय हास्य आदि कुचेष्टा करता हो या नींद लेता हो वह बधिर होता है ।

हीनश्च विनयेनैव तथा वचनवर्जितः । चारित्रगुणहीनांगो मनोवाक्कायवर्जितः ॥ ८२ ॥
 जिनाभिषेकपूजादिवर्जितो दानतोषिच । स दरिद्री भवत्येव पलन्मनि जन्मनि ॥ ८३ ॥
 महाचार्यसंपन्नो महाविनयमंडित । चारित्रगुणसंयुक्तो जिनवाक्येषु निश्चलः ॥ ८४ ॥
 चित्तवाक्यतनुना च दडको भयवर्जितः । इज्यास्नानविधानस्य कर्ता च पात्रदानदः ॥ ८५ ॥
 इत्यादिपुण्यकार्याणां कारक पापवर्जित । स भवत्यत्र भो भूप पुण्यतो धनवान् खलु ॥ ८६ ॥
 धनवारधैर्यैस्त्यौ वेष्टितो भवति सदा । सैव पश्चाद्भवत्येव नाके हि निर्जगधिप ॥ ८७ ॥

अर्थ— दरिद्री कौनसे पापसे होता है ?

हे राजन् जो शास्त्रविरुद्ध बातको कहता हो जो सदैव जिनाज्ञामें संदेहास्पद रहता हो । देव शास्त्र गुरुकी विनय करनेमें मलिन परिणाम रसता हो । चारित्रसे रहित हो मन वचन काय से श्री जिनेंद्र देवकी पूजा और अभिषेक आदि करने में असावधान हो । शक्ति होनेपर दान देनेमें अतिशय कृपण हो । वह दरिद्री होता है ।

अर्थ— धनवान् कौन होता है ?

हे राजन् ! जो धर्मके कार्योंमें सदैव चतुर रहता है, देव शास्त्र गुरुओंकी विनय वैयाहृत्य करनेमें जो सदैव तत्पर रहता, जो चारित्र पालन करनेमें सदैव उत्सुक रहता है, जो जिनेंद्र भगवान की आज्ञा मानने में भावोकी विद्युद्गतासे दृढ रहता है, मन वचन काय से संयमका आराधन करता है, सगानकी पूजा-अभिषेक आदि धर्मकार्योंको जो श्रेमभाव से करता है और पात्र तथा चतुर्विध सघको दान देता है वह धनवान् होता है । पुण्यकार्योंसे धनवान् होता है ।

अर्थ— जो मनुष्य सदैव दान पूजा अभिषेक आदि पुण्यकार्योंको करता है और अपने परिणामोको सदैव

निजास्वाघातकारीच विपशन्नाग्निना नृप । अतकालेच संयुक्त शल्येन क्रियते तप ॥ ८८ ॥
 निजोच्चलकुलस्यैव क्षयकारीच यो नर । मृत्वा भवति स रोगी पुनः गच्छति दुर्गतौ ॥ ८९ ॥
 प्राणिना रक्षको मर्त्ये अंत्यगल्येन वर्जिन । निजापरकुलस्यैव वर्द्धकारीन यो नर ॥ ९० ॥
 निरोगी स भवत्येव परप्राणस्य रक्षणात् । सदाकाले महाशर्मभोक्ता नास्त्यत्र सशय ॥ ९१ ॥
 किंचिद्दस्त्रमदृष्टच मानवो योद्धि भूषत । दृष्टं हि कथयत्येव परदोषपदस्तथा ॥ ९२ ॥
 समये जिनपूजाया पश्यति सीस्तन तनुम् । आभरण चानन सुरूपलाजण्यादिकम् ॥ ९३ ॥

हर्षके साथ दान पूजामें लगाता है वह धनवान् होता है और फिर निर्जराधिप होता है ।
 अर्थ—रोगी कौनसे पापसे होता है ॥
 हे राजन् अपनी आत्महत्या करना, विप शत्रु अग्नि आदिसे अपघात करना—धर्म समझकर आत्म घातसे मरना—शल्यसे तप करना, अपने पवित्र कुलमें धर्मविरुद्ध क्लृप्तक लगाकर नाश करना, गुरु मातापिता आदि पूज्य पुरुषों की वैयावृत्य सेवा सुश्रुषा आदि नहीं करना इत्यादि कामोंसे मनुष्य रोगी होता है । और दुर्गतिमें जाता है ।
 अर्थ—निरोग कौन कारणों से होता है ?
 हे राजन् समस्त प्राणियों को औषध दान से रक्षण करना । शल्य रहित धर्म सेवन करना । अपने अपने कुटुम्ब तथा समस्त जीवोंके कुटुम्बों की वृद्धि चाहना, दान पूजादि कार्योंमें हर्षित होना इत्यादि पुण्य कार्योंसे निरोगता प्राप्त होती है । वह जीव महान् सुखोंका प्रभोक्ता होता है ।
 अर्थ—जन्मांध कौनसे पापोंसे होता है ?
 हे राजन् विनादेखी हुई वस्तुको देखी हुई बतलाना दूसरों के दोषोंको देखते रहना । धर्मालसा पुरुषोंके

जात्यंबो भवत्येव परजन्मनि जन्मनि । स पुमान् नात्र सदेह सदा दुःखस्य भाजक ॥ ९४ ॥

बृहत्लेपि नराधीश क्लोक्रीडाभक्षपोषणे । मुचति य पुमान् नैव रसैर्नानाविधैस्तथा ॥ ९५ ॥

स मृत्वाहि भवत्येव अधश्च परजन्मनि । महादुःखाडिययोगी च मरणतेहवारत ॥ ९६ ॥

दुर्गधाढ्यामशुद्धं च उच्छिष्टं परकल्पनात् । मंत्राकर्षेण खानीतं शूद्रस्पृश्यं विवायितम् ॥ ९७ ॥

ईदृशं न्वादपानच व्रतिना वा मुनीशिनः । आर्यिकाणा ददात्येव यो मनुष्यो नराधिप ॥ ९८ ॥

निवसो जायते तस्माद्दोगात् दुर्गतिकारणम् । व्रत्युक्तय नो देय वक्तोऽशुद्धच वस्तुकम् ॥ ९९ ॥

छिद्र दूटना । भगवानकी पूजाके समय स्त्रियोंके स्तन मुख और आभूषणोंको देखकर प्रसन्नचित्त होना इत्यादि पापका-
यीसे मनुष्य जन्मांध होता है । और वह सदैव दुखको प्राप्त करता है ।

अर्थः—जो बृद्ध होकर भी कामक्रीडामें तत्पर रहना । इन्द्रियोंके पोषण में ही निमग्न रहना । पुष्ट रसोंके सेवनमें ही जीवनको व्यतीत करना, धर्मकृत्यको भूल जाना—दूसरोंकी आखें फोडना—इत्यादि पापोंसे अधा होता है ।

अर्थः—महान् निवस (भोगरहित) कौनसे कारणों से होता है ?

हे श्रेणिक ! जो मुनि—आर्यिका—व्रती—सथमी पुरुषोंको दुर्गंध—अशुद्ध—उच्छिष्ट—दूसरोंके 'लिये सकल्प पूर्वक बनाया हुआ—मंत्रके द्वारा लाया और शूद्रजन से स्पर्श किया हुआ भोजन पान देता है वह भोगरहित होता है । और मायाचारके पापसे दुर्गतिमें अनंतसत्तार तक भ्रमण करता है । व्रती पुरुषोंको अशुद्ध अन्न देनेसे महान् पाप का आश्रव होता है । इसके समान अन्य पाप नहीं है । इसलिये मन वचन कायकी शुद्धिका उच्चारण कर फिर भी अशुद्ध और शूद्र जनसे स्पर्श किया, आहार पान देना, दाताको पुण्यके स्थानपर धर्मकार्यमें मायाचारी परिणामोंके कारण महान् पापबंध होता है । इसलिये ऐसा पापका कार्य कदापि नहीं करना चाहिये ।

मनुष्यो माघाधीश मधुस्थानस्य यः कुवी । घात करोति दाह च अग्निना हि करोत्यहो ॥ १०० ॥

कस्यैव ललु जीवस्य शरीरं ज्वालत्यहो । वा ग्रामं सदनं चैव भुधर जीवसंभृतम् ॥ १ ॥

प्रज्वाल्यस्वराण्य च तथा हनुषवनादिकम् । सर्वं कुष्टी भवत्येव पश्चात्रैव निश्चयात् ॥ २ ॥

जात्याद्यष्टमदाना च करोति य पुमान् मदम् । परसन्ननि स दासो भवति नात्र संग्रह्य ॥ ३ ॥

अष्टभेदमदस्यैव प्रयोगाच्च किमत्रमा । दोषा भवति अस्मिन् वै तान् शृणु कथयान्यहं ॥ ४ ॥

जात्या मदेन अस्यैव नीचजातिर्भवत्यहो । कुरस्य मददोषेण कुकुलस्यैव प्राप्तिता ॥ ५ ॥

मूर्खत्व जायते चास्य ज्ञानमदस्य कारणात् । ऐश्वर्यमदतोय च दासो भवति निश्चयात् ॥ ६ ॥

निर्वली च भवत्येव चकार्वस्य दोषत । विचङ्क्रेण अस्यासिगेपयेव दरिद्रता ॥ ७ ॥

अर्थः—कोठी कौनसे पापसे होता है ?

हे राजन् मधुमक्षिकाके छताओके नीचे अग्नि लगाकर जीवोंको मारना, नगरका दाह करना, ग्राम, धर्म, धर्ममें अग्नि लगा देना, शूकर आदि प्राणियोंसे भरे हुए वन जला देना । धर्म समझकर सती दाह करना, धर्म समझकर धर्ममें अग्नि दाह करना, वन या जंगलमें अग्नि लगवा देना, जीवोंको भयानक त्रास देना इत्यादिक पापसे कोठी होता है ।

अर्थ—दास कौनसे पापों से होता है ?

हे राजन् जो जाति कुल ज्ञान बल वीर्य तप ऐश्वर्य और रूप इन आठके मदो (अभिमान) को धारण कर दूसरे धर्मत्मा जीवोंका अपमान करता है वह मरकर दास होता है । जातिका मद करनेसे नीच होता है ? कुलका अभिमान करनेसे कुकुलीन होता है ? ज्ञानका मद करनेसे मूर्खता आती है ? ऐश्वर्यका मद करनेसे

अत्यातंकी तपस्याया भवेन भवति ह्यय । कुरुपीच सुरूपस्य मदस्य करणात्तथा ॥ ८ ॥
 एभिरुन्मत्तचित्त य करोत्येव नरेश्वर । श्रुत्वा सेव खरो भुक्त्वा दासो भवति स पुन ॥ ९ ॥
 पादेन ताडयत्येव टणचारीन नरोत्तम । मानवो य भयत्येव सैन खज पत्र हि ॥ १० ॥
 गडुलो जायते चायं केन तु कर्मणा जित । मानुजः सर्वपापशिमैव पुष्योपमपभो ॥ ११ ॥
 सौभेगान् तथा टणान् लुञ्जयान् च कमेळकान् । रामभान माटयान् चैव तथा चानैकपान् नृप ॥ १२ ॥
 इत्यादिजीवसदोहान् वृणभक्षणतत्परान् । अपराधविनिमुक्तान् वचनालाभमर्जितान् ॥ १३ ॥
 पीडयत्यतिभारस्वपरोपणेन नराधमः । अतिनिन्द्यभाभाट्टो योहि परस्य वीडद ॥ १४ ॥

अथैव कुञ्जको मत्वा रगोनि गमन सदा । यष्टिकाभ्याच दृग्भवा वै भुक्त्वा दुःखमनारतम् ॥ १५ ॥

दरिद्री होता है ४ । बलता मद करनेसे निर्मल होता है ५ । तपका मद करनेमें गेगी होता है ६ । रूपका मद करनेसे कुरूपी होता है ७ । और जरीरका मद करनेसे (सा मागण दृष्टीसे) दास हाता है ८ ।

अर्थ--खंजा किस कारणसे होता है ?

हे राजन् जा पादों (चरणों) से इमरोकी चाद में ठोकर मारता है वह राजा होता है ।

अर्थ--कुण्डा कौन से पापों से होता है ?

हे राजन् कृत्वा-उकरा-मंसा-बलद-गदहा आदि वृणके भक्षण करनेवाले मूक प्राणियों पर शक्तिके वाहर भार लादना-पीडा देना निर्दय भावसे ताडना करना अन्न पानादिका निरोध करना इत्यादि पापसे मनुष्य कुण्डा होता है ।

मृत्वा पश्चाच्च गत्वाहि क्षत्रे तत्रापि निप्रभम् । अशर्म थापाकेन तस्मादपि च स पुमान् ॥ १६ ॥
 आगत्य कुञ्जको नून भवति नात्र सशय । पूर्वपापयोगेण अशर्मवस्तुभक्षक ॥ १७ ॥
 दारिद्र्याद्य नर दृष्टा यो धनी स्वात्मनि नृप । जुगुप्साच करोत्येव द्रव्योत्करमदात् खलु ॥ १८ ॥
 परभवे भवत्येव मृत्वाऽसौ मानवर्जित । अन्यैश्चाप्तोति धिक्कार सर्वस्थानेषु तदघात् ॥ १९ ॥
 लकहस्नेन य मर्त्यो मापथिवा ददात्यहो । परेथामशुक मूप महाकपटमडित ॥ २० ॥
 हीनतुलक्या चैव धान्यादिवस्तुसंचय । यच्छति अन्यमर्त्याना हीनगनेन वा तथा ॥ २१ ॥
 गृह्णाति परधान्यादिवस्तुसंहतिंजसा । वृद्धतुलक्या वृद्धमानेनातीव्रलोभत ॥ २२ ॥
 स हि मृत्वा भवत्येव परजनन्यघोदथात् । अगहीनो महादुःख भाजनो नात्र संशय ॥ २३ ॥

अर्थ—वह कुनडा विना अपराधी [निरपराधी] पशुओको अतिशय पीडा देनेके पापसे मरकर नरकमें
 दुःखोको प्राप्त होता है । और वहांसे निकलकर फिर भी कुनडा होता है । इस लिये मूक और निरपराधी पशुओंको
 सताना अच्छा नहीं है ।

अर्थ—धिक्कार का पात्र कौन होता है ?

हे राजन् जो दरिद्री दीन मनुष्यको देखकर अपने भनमें धनमद से उसका तिरस्कार करता है वह मनुष्य
 मरकर धिक्कार का पात्र होता है । उसका सर्वत्र अपमान होता है ।

अर्थ—अंगहीन कौनसे पापोसे होता है ?

हे राजन् जो मनुष्य तृष्णाकी गृह्णता से कमती तोलता है और बढती लेता है । मापसे कपडा आदि
 को कमती माप कर देता है । बढती लेता है । धान्यादिक वस्तुओको बढती मापकर लेता है कमती देता है । इस

स्वकारेण कदाप्यत्र दान खान च पृढनम् । मानुजो नो करोत्येव य स भवति डुट्टकः ॥२१॥
तीर्थनाथस्य तीर्थ भो करोति नैव यो नर । स हि पशुर्भक्त्येव परतीर्थस्य सेवनात् ॥२५॥
जिनिन्द्रगुणसंभूना रागविद्या शिवभद्राम् । यः विगायति नैवात्र मातवो भूपते ननु ॥२६॥
भडरागसमुद्भुता गायति चातिदुर्वृत । रागविद्या नर सैव मूको भवति निश्चयास ॥२७॥

प्रकार जिसकी निष्ठा मनकी लोभवृत्ति से मलिन रहती है वह मरकर या उसी भवसे हीनांग होता है ।

अर्थः— दूटा कौनसे पापसे होता है ?

हे राजन् जो अपने हाथसे श्रीमञ्जिनेन्द्र देवकी प्रतिमाका अभिषेक पूजा और मुनिगणोको दान वैयावृत्य आदि नहीं करता है वह दूटा होता है ।

अर्थ— पशु कौनसे पापसे होता है ?

हे राजन् ! जो मनुष्य देवाधिदेव श्री तीर्थकर परमदेवके पवित्र तीर्थकी यात्रा अपने पैरों से न कर अन्य मिथ्या कल्पित तीर्थोका पर्यटन करता है उसके सत्य धर्म में श्रद्धा न होने के कारण और मिथ्यात्वके सेवन करनेके कारण तीव्र पापका आश्रव होता है ।

अर्थ— मूक कौनसे पापसे होता है ?

हे राजन् जो मनुष्य श्री जिनेन्द्र भगवानके गुणोंकी गानविद्याको न गाकर भंडराग और वीभत्स रागो-
त्पादक भंड गानोंको गाता है और उसमें अनुराग करता है वह मिथ्यात्व सेवन करने के कारण मूक होता है ।

यो हि सैयमयुक्ताना नराणा गुणिना तथा । शील्यलंकृतगानाणां जिनधर्मोपदेशिनाम् ॥ २८ ॥

दिग्भरसुनीन्द्राणा तथाहि ब्रह्मचारिणाम् । आर्यिकाणा तथा भूष श्रावकाणा सुवर्णिणाम् ॥ २९ ॥

इत्यादीना च य मर्त्य अपवाद दृढात्सहो । करोति पापदा निंदा वा हास्य शर्मनाशकम् ॥ ३० ॥

य मृत्वा तद्धि पापेन कुरूपी गजन्मनि । भयत्यपमर्त्यैर्घे निन्दनीय मदा खलु ॥ ३१ ॥

एषामितरतो भूष महात्सवी भवत्ययम् । तदैव शमभोक्तान मदासारविभूषित ॥ ३२ ॥

अर्थ—महान् कुरूपी कौनसे पाप में होता है ? और जनतामें अपवाद किमका होता है ?
हे राजन् मगमको धारण करने वाले परम गुणी मत पुरुष, शील (ब्रह्मचर्य) से निभूषित, जिनेन्द्र मार्ग के प्रकाशक, दिग्भर मुनिगण ब्रह्मचारी-आर्यिका और श्रापिका आदि चतुःश्रेयका अपवाद करनेसे उत्तम स्थित्या दूषण लगानेसे उनकी मिथ्या निंदा करनेसे और उनका हास्य आदि कुमान करनेमें कुरूपता प्राप्त होती है और उनकी निंदा मर्मत्र होती है । डप पापक समान अन्य कोई भी पाप नहीं है । इस पापका फल प्रत्यक्ष इसी भवमें प्रकट होता है । और कोठ रोग आदि भयकर दुःसह वेदना शरीरमें इस प्रकारके पापके फलमें प्रकट होती है ।

अर्थ—कुरूपी और मनोहर कौनसे कारणोंसे होता है ?

हे राजन् चार प्रकारके सबकी मन बचन कायसे प्रशमा करना मराहना करना और चतुःश्रेय को मार्गका प्रकाशकारी मपहकर अतिशय आदर करना-पूज्य मानना और सदैव उसकी भक्तिमें तत्पर रहना इससे मनुष्य सुरूपवान सुदर और कीर्तिशाली होता है ।

जंतो कस्यैव पीडा च अतितीक्ष्णासिना पुमान् । वा कुंतेन करोत्येव कारापयति ह्यन्यत ॥ ३३ ॥

बहुभिर्वेदनाभिश्च सयुक्तो भवति नृप । आजन्मात्यपर्यतपपीडात्र किं भवेत् ॥ ३४ ॥

अन्यस्मिन् य पुमान् जीवे पीडिते व्याधिभि सदा । तेषाहि प्राणिना चैव मोचापयति व्याधित ॥ ३५ ॥

भेषजै वा रसैर्मनै अन्योपायोःकरै तथा । कारुण्यहृदयं कृत्वा सदा परदयारत ॥ ३६ ॥

स भवति नराधीश पजन्मानि मानव । वेदनारहितो नूनं परपीडानिवारणात् ॥ ३७ ॥

कृषिकर्ममनताना जीवाना क्षयकारकम् । य करोति तथा त च कारापयति अन्यत ॥ ३८ ॥

कृतस्य कारितस्यैव पापस्य गदित जिनै । ममानैव फल जन राद्धार सर्ववेदिभिः ॥ ३९ ॥

अर्थः—जीवोको दुस्सह पीडा कौनसे पापसे होती है ? हे राजन् जो जीवोको बिना कारणही त्रास देता है । तलनाग कुंता चाकू वरछी आदि शस्त्रोंसे अन्य जीवोको पीडा देता है या अन्य किसीसे ऐसी भयानक पीडा जीवोको दिलाया है । समस्त जीवोको दुःखी करनेकी क्रूर भावना रखता है वह आजन्म पीडाको प्राप्त होता है । पापसे क्या नहीं होता है । जो दूसरोंको पीडा देगा उसको अवश्य ही पीडा प्राप्त होगी ।

अर्थ—वेदना रहित कौनसे पुण्यसे होता है ?

हे मगधेश्वर ! जो व्याधि-दुःख-और पीडासे सतप्त, वेदना से आक्रांत जीवोंको देखकर उनकी पीडा को दूर करता है जो दूसरोंको दुःखोंसे छुडाता है जो रोग-व्याधीके समय औषधी मत्र आदिसे उनके दुःखोंका नाश करता है और जो समस्त जीवोंपर सदैव दयाभाव रखता है वह वेदना रहित होता है ।

अर्थः— मोही कौनसे कारणोंसे होता है ?

हे राजन् खेती आदि हिसक व्यापार स्वय करना अथवा तीव्र मोहके कारण हिसक व्यापार दूसरोंसे

कृषिकर्मसं पाप नो परं भुवनत्रये । रामहं शृंगवेरादि कंद्वारक्रिय तथा ॥ ४० ॥

जवागुञ्जं मधुच्छिष्टं मर्दिजकामश्मज तथा । गोपरं तथा नागभम्म क्षार च पिजरं ॥ ४१ ॥

चपलं गंधक चैव शिलित्रीञ्च च अन्निशं । तिलोद्भवास नैव लाक्ष जीवस्य घातकम् ॥ ४२ ॥

इत्यादीना करोयेन क्रय वा विक्रयं तथा । कुटुम्बोपणार्थं च घान्नोत्करम्य यो नरः ॥ ४३ ॥

तीव्रमोही कुटुम्बेषु मोक्षज्ञानविवर्जितः । हाहाकारकरो दु ले सदैव दुर्मैतिस्तथा ॥ ४४ ॥

तीव्रोदयो भवत्येव यस्यैव मोहकर्मण । ज्ञानदर्शनयोर्नूनं अत्रयेवावगणस्तथा ॥ ४५ ॥

अतिकौटिल्यता चैव त्रयाणा मगधाधिप । सदा शोकी दिने भोगी म्रिया सदर्शवर्जित ॥ ४६ ॥

पमि दु कर्मणि सैव पंचेन्द्रियोन्यनम्पवि । भवत्येकेन्द्रियोन्तदु सवाम्य भाजत ॥ ४७ ॥

रराना इसी प्रकार अदरस, कंद, गूलर आदि अनंत जीम मिश्रित पदार्थोंका व्यापार करना; मदिरा, मांस, शहत आदिका व्यापार करना; रायगुडिया (जीम विशेष) का रस निकाल कर व्यापार करना करना; जीवोंकी चर्बीका व्यापार, गंधक, लोहा, लारस आदिका व्यापार; महुआ (मधुपुष्प) का व्यापार; मशीनोंके द्वारा महान हिसक होनेवाले व्यापार, चमड़ेका व्यापार आदि निद्य और हिसाजनक व्यापारोंका करना करना या ऐसा उपदेश देना, तीव्र मोहोदयसे पापकी प्रवृत्तिमें लग जाना आदि कारणोंसे मोही होता है जो अनंत संसारका कारण है ।

अर्थ—एकेन्द्रिय कौन से पापों से होता है ?

हे राजन् जो अन्य धर्मत्मा जीवोंके दर्शन ज्ञानका आवरण करता है कुटिल परिणामो से जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रका अपबाध करता है जो सद्धर्मका लोप करता है जो आर्तध्यान से सदैव शोकालुर रहता है जो

महागूढ च आत्मोत्थं चिन्मय कर्मवर्जितम् । य पुमान् जीवतत्त्वं सदा निश्चलसंस्थितम् ॥ ४८ ॥
 ईदृशं कर्मकर्तारं भोक्तारं तत्फलस्य च । व्ययमपि च अभव्यानामाप्तं च कदाप्यहो ॥ ४९ ॥
 जानाति स्वहृदि नैव धर्मधर्मफलं तथा । लोकाकाशमलोकं च सर्वज्ञं दोषवर्जितम् ॥ ५० ॥
 मुनीनां सकलाचारं स्वरूपं च चतुर्गते । कर्मकर्मफलं चैव कर्मणो बधनं तथा ॥ ५१ ॥
 व्यवहारनयस्यैव स्वरूपं नाकदायकम् । निश्चयस्य नयस्यैव स्वरूपं मोक्षदायकम् ॥ ५२ ॥
 सैव भो मगधाधीश एभिः कुकर्मभिः खलु । तिष्ठत्येव सदा काले सप्सारे दुःखसंभृते ॥ ५३ ॥
 उक्तदोषान् निजे चित्ते इतत्वेन यो नरः । जानात्येव नराधीश भव्यभावेन महितः ॥ ५४ ॥

दिवसमें द्वियों का सेवन करता है जो अपनी प्रवृत्ति धर्मरहित करता है वह एकेन्द्रिय पर्याय को प्राप्त होता है ।
 अर्थ:— अतः संसारमें कोन परिभ्रमण करता है ?

हे त्रैणिक समस्त द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे रहित आत्माका जिसके श्रद्धान नहीं है, जो चिद्रूप आत्माके अस्तित्वको नहीं मानता है, जिसके अतरप परिणाम तीव्र अज्ञान मिथ्यात्वसे सत्य पदार्थोंकी श्रद्धासे रहित है, जो लोकाकाशादि तत्वोंको नहीं जानता है, जो मुनिधर्मके चारित्रको नहीं जानता है और जो चारो गतियोंका स्वरूप कर्मका फल, कर्मोंका स्वरूप, कर्मवधका स्वरूप, व्यवहारनयका स्वरूप, निश्चयनयता स्वरूप, मोक्षका स्वरूप आदिके स्वरूपको, नहीं जानकर अन्यथा श्रद्धान करता है, मिथ्यात्वभावसे तत्वोंके स्वरूपका अन्यथा श्रद्धान करता है, पदार्थोंके स्वरूपको नहीं जानता है वह चिरकाल संसारमें परिभ्रमण करता है ।

अर्थ—संसारके परिभ्रमणसे कौन शीघ्रही छूटता है ?

हे मगधेश्वर ! जो सात तत्वोंका यथार्थ श्रद्धान करता है । जो मुनिधर्म व गृहस्थ धर्मको मोक्षोपयोगी सम-

बहुकाल च स नैव भवारण्येतिदु खवे । अमति शीघ्रतो मोक्षे आत्येव ह्यघनाशत ॥ ५५ ॥
 भंजनाञ्जिनर्विवांना आल्याना च भो नृप । उपसर्गान्मुनीन्द्राणामागमानाच नाशत ॥ ५६ ॥
 एभिस्त्रिभि कर्मभिश्चास्य कर्मणा च दृढा खलु । ग्रंथी सवधपतेऽनतभवदु ख-दायिका ॥ ५७ ॥
 सम्यग्दर्शनसद्गुणचारित्राणाच य पुमान् । त्रिशुद्ध्या धालयत्येव निश्चयव्यवहारत ॥ ५८ ॥
 तपोयोगेन कृत्वैव ग्रथन ह्यष्टकर्मणाम् । नाशं आत्येव भो भूप मदा शर्मभयेऽक्षये । ५९ ॥
 च्युतोपमे निराधारे वृद्धिहासविवर्जिते । सिद्धसदोहमंयुक्ते ह्यतातीतगुणाल्ये ॥ ६० ॥

शुद्ध भावोंसे धारण करता है जो निश्चयनय आग व्यवहार नगमे आत्मानके स्वरूपको अच्छी तरह जानता है । जो भव्यभावों से मदैव आनंदित रहता है । जो यज्ञम गवेयादि गुणोंको धारण करता है वह शीघ्रही रासाय से युक्त होता है और आत्मीक अविनश्वर सुखको प्राप्त होता है ।

अर्थ— मोहकी गांठ किस कारण से दृढ होती है ? हे राजन् । श्रीमज्जिनेन्द्र भगवानकी प्रतिमाओहा भग्न करना-दुष्ट बुद्धिसे उनका अपमान करना—श्रीजिनदेवके मंदिर का विध्वम करना—मुनियोंको उपसर्ग करना—जिनागम को अवर्णवाढ लगाना या जिनागमको मिथ्या कल्पित सिद्ध करना इत्यादि भयकर पापोंसे मोहकी गांठ दृढ होती जिससे जीव अनतकाल पर्यंत घोर दुःखोंको प्राप्त होता है ।

अर्थ— मोहकी गांठ किस कारण से छटती है ?

हे राजन् ! सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र आदि आत्मिक गुणोंको मन वचन कायकी विभुद्धिसे धारण करनेसे मोहकी गांठ शीघ्रही नष्ट हो जाती है । जिससे आत्मीक सत्य सुख प्राप्त होता है ।

अर्थ— मोहकी ग्रंथी नष्ट होनेपर जीव को उपमा रहित अनुपम स्वभावरूप से प्राप्त अनत गुणोंसे परिपूर्ण

इन्द्रनागेन्द्रभूपेन्द्रवृद्धपुण्येष्टविच्युते । ईदृगे परमे स्थाने दुर्लभे बान्धवलिंगिनाम् ॥ ६१ ॥

प्रदोषो निहृत्तश्चैव तथा मात्सर्यसंज्ञक । अतारायाभिधश्चैव आसादनोपघातकौ ॥ ६२ ॥

एभि पट्कर्मभिश्चास्य बधो भवति भूयते । द्रयोर्हि ज्ञानदर्शनावरणयोर्भेदपदः ॥ ६३ ॥

पृथक् पृथक् शृणु त्व च पण्णाटि लक्षणं नृप । निर्विकल्पतया मध्ये कर्मवधविघातकम् ॥ ६४ ॥

सम्प्रदर्शनसद्ज्ञानधारकस्यच नुः खलु । चारित्रपालकस्यैव त्र्येकस्य धारकस्य वा ॥ ६५ ॥

सभायांच कुना नून मत्थैत केनचिदियम् । पशमा पगम तम्य अहो घन्योऽधुना सच ॥ ६६ ॥

शुभं नो करोत्येव पुमान् कोप्येन तस्यैव । पैशुन्यदोषितातस्थः परोदयविघातकः ॥ ६७ ॥

इन्द्र नागेन्द्र देवेन्द्रोस पृजित अतीन्द्रिय और अविनाशीक मोक्ष सुख प्राप्त होता है जिसकी प्राप्ति एक जैन दिगंबर लिंगमेही होती है ।

अर्थ—ज्ञानारण और दर्शनावरण कर्मका आश्रय कौन कौनसे कारणो से होता है ?

हे राजन् प्रदोष—निहृव—मात्सर्य—अतराय—आसादन—और उपघात इन छह कर्मोसि ज्ञानावरण और दर्शनावरण का आश्रय होता है । इनका स्वरूप आगे खुलासा से बतलाते हैं ।

अर्थः— प्रदोषादि छहो आसनोका पृथक् पृथक् स्वरूप आगे बताते उसे सुनो ।

अर्थ—प्रदोषको लक्षण क्या है ?

हे रानेन्द्र ! सम्प्रदर्शन सम्प्रज्ञान—सम्यक् चारित्र और उनका पालन करनेवाले भव्य प्राणियोंकी सभामें प्रशंसाको सुनकर सहन नहीं करना—अथवा उन गुणोंमें अनुराग नहीं होना, गुणोंमें रुचि नहीं प्रकट करना सो प्रदोष

प्रशंसा च वदस्वीम चापवाद तु तस्य वै । प्रदोषस्थैव ण्त्वद्दि जानीहि रक्षणं नृप ॥ ६८ ॥
 केनचिःपुरुषेणैव प्रोक्तं मो दुरभक्षम । भवताच गृहे तस्मिन् अमुक पुस्तकं शुभम् ॥ ६९ ॥
 मा देहि त पठित्वाच क्तिरित्वैव पूनश्चैव । दास्यामि भवता तद्धि द्वापरो नात्र किञ्चन ॥ ७० ॥
 किमपि कारणं ब्रूवा ल्हकारं च म्बहृदि । विद्यमानपि जानात्री व्याख्येयं म कुत्री ॥ ७१ ॥
 नां जानामि इदं जगन्मन्त्रार्थं च निश्चयात् । पुन्रनोप्येयं म नास्ति मा म्ब्याप्येयं मानय ॥ ७२ ॥
 ण्व योद्धि कस्रोत्येव ज्ञानस्थान्छादनं पुमान् । नास्ति चेति क्वचन तत् ज्ञानस्य विद्यनं लुप्तं ॥ ७३ ॥
 प्राप्नोति सैव दुर्दोषं निन्द्वाद्भ भवप्रदम् । मानवो मगधावीश योभाषल्यनाच्च वै ॥ ७४ ॥

हे । ईर्ष्या या असहिष्णुताके लिये दूसरे पुण्य पुरुषोंके उत्तम सम्प्रदर्शनादि गुणोंके अभ्युदयको सहन न कर मनमं द्वेष बुद्धिमे उमका अपवाद करना निंदा करना-यां प्रदोष है । उममे ज्ञानाधरण और दर्शनोत्तरण कर्मका आश्रम होता है ।
 अर्थ—निन्द्व दोषका लक्षण क्या है ?

ह राजन् किसी पुरुषने आन ज्ञानकी वृद्धिक लिये किसी पुरुषके पास ज्ञानवृद्धिका माधन पुस्तक आदि की याचना की । मागी । परतु मेरी पुस्तकादिकोंसे यह ज्ञान संपादन कर महत्वशाली उन जायगा जिनमे मेरी प्रतिष्ठा या गौरवका नाश होगा उम प्रकारके दूष्ट भावोंको हृदयमें धारण कर किसी भी यहाँनेमे निषेध कर देना कि मेरे पास यह पुस्तक नहीं है । उम प्रकार विद्यमान ज्ञान साधनोंको छुपान्तर मनकी कुटिलतासे निषेध करना सो निन्द्व है । इसी प्रकार शास्त्रकी चर्चाका अपनकों ज्ञान होनेपर भी उक्त प्रकार दुष्ट बधिप्रायको रखकर निषेध कर देना कि मुझे यह बात मालुम नहीं है । सो निन्द्व है ।

सम्यग्ज्ञानके प्रचारको रोकना-सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि का नाश करना-सम्यग्ज्ञानियों का महत्व गिरा देना मो

विद्यते गान्धार्य कठस्थो भवता खलु । प्रथो मा पाठय धीर चाग्रवर्द्धनेहेतवे ॥ ७५ ॥
 योग्योऽपठने तस्य पाठने नस्य निश्चयात् । योग्यस्त्वमसि नान्योऽपि महामतिप्रधारक ॥ ७६ ॥
 एव श्रुत्वापि तथैव वाच पुंसे च तस्य वे । दानयोग्याय केनापि हेतुना दीयते न मत् ॥ ७७ ॥
 यः म लभत भो भृप दोष मात्सर्वसङ्गम् । मात्सर्यहेतुतो नूनं भवश्चमणकारणम् ॥ ७८ ॥
 सदसि विद्यमानेच व्याख्यानभागमस्य वै । केनचित् शरणेनैव तस्मिन्कोपि करोत्यहो ॥ ७९ ॥
 प्रशेदशं मनोकथावा येनैव ह्यागमस्य च । अतरायो भवत्येव स्वकार्यवशात् तथा ॥ ८० ॥

मम निन्दन दोष है । इससे अनन्त दुःख प्रदायी कर्म (ज्ञानाभरण और दर्शनाभरण) का बाधन होता है ।

अर्थः—मात्सर्य दोष किसे कहते हैं ?

हे राजन् किसी शिष्यने आकर कहा कि हे स्वामिन् आपको शास्त्रोका गहन अर्थ सब कठस्थ है । मे अपने ज्ञानकी बृद्धिके लिये आपसे पठन पाठन और अभ्यास करना चाहता हूँ । मे इसके योग्य हूँ । और आप भी सब प्रकार यथेष्ट योग्यताके धारक हों—यह विद्या आपके सिवाय अन्यत्र सुझ प्राप्त नहीं होगी । इसप्रकार प्रार्थना करनेपर जो मनकी मत्सरतासे सम्यग्ज्ञान के शास्त्रों का पठन नहीं करावे अथवा किसी दुष्ट अभिप्रायमे योग्य ज्ञानको प्रदान करने में द्वेष करे सो मात्सर्य दोषका धारक है । इससे संसारका भ्रमण होता है ।

अर्थः—अतराय दोषका लक्षण क्या है ?

हे राजन् शास्त्रसभामें सम्यग्ज्ञानका उत्तम व्याख्यान हो रहा है । जिसको श्रवणकर अनेक भव्य अपना हित संपादन करते हो । उस परभागमके सर्वोत्कृष्ट व्याख्यानको मनकी दुष्टतासे रोक देना अथवा ऐसा प्रश्न सजा कर

अन्या वाहि करोत्येव कुर्वता हास्यदायकाम् । मौल्यैवेन यो मर्यं स्वमेदेन तथा नृप ॥ ८१ ॥
 अतगायामिध दोषमहसंततिदायकम् , उपाजैवति सो नूनं शास्त्रविच्छेदकारणात् ॥ ८२ ॥
 करोति नैव यो मूढ सतो ज्ञानस्य मानव । कायेन विनय चैव हस्तकुड्मलतस्तथा ॥ ८३ ॥
 पद्मासनाच्च स्तवनात् स्मरणाच्च प्रशशनात् । प्रब्रंयाना च सोप्येव तदाच्छादनत खलु ॥ ८४ ॥
 आसादनान्य दुर्दोषमाप्नोति गगनाधिप । सर्वदु ल्पद हेय जैनतत्वविदारैः ॥ ८५ ॥

देना जिससे व्याख्यान बढ़ ही जावे । अथवा मनको दुष्टतासे परमागमके व्याख्यानमें हास्यादिक कर परमागमके प्रभाव को नष्ट कर देना अध्याग सिध्दा वातें लगाकर परमागमके व्याख्यानमें विघ्न कर देना शास्त्र सभा वा पाठशाला आदिको तोड़ देना या किसी वहीनेसे अन्यके द्वारा नष्ट करा देना सो अतराय दोष है । मूर्खता और अभिमान से परमागमका विच्छेद करना सो भी अतराय दोष है । यह अनंत पापका प्रदान करनेवाला भयकर दोष है ।

आसादन दोषका स्वरूप क्या है ?

हे राजन् ! परम उत्कृष्ट और सर्व प्रकार से सर्वदा निर्दोष ऐसे परमागमका मन वचन काय से विनय नहीं करना हाथ नहीं जोड़ना बढ़ना भक्ति नहीं करना पूजा नहीं करना ऊंचे स्थानपर विराजमान नहीं करना परमागम के उपकारको भूल जाना और अन्य समाजमें परमागमका प्रभाव कुठित हो ऐसे आवरण करना, मनसे परमागमको हितरूप नहीं समझना वचनसे उत्तम प्रबंधमें दूषण लगा देना—सो सब आसादन नामका दोष है ।

प्रशस्त ज्ञान और उस ज्ञानको धारण करने वाले भव्योत्तमका आदर सत्कार कर महत्त्व नहीं प्रकट करना सो आसादन नामका दोष होता है ।

सुज्ञाने वाच्यमाने हि सदसि गुरुणा नृप । यः कोपि कथयत्येवं मदमात्सर्यकारणात् ॥ ८६ ॥
 इदं पाठमशुद्धं च कल्पोक्तमिव दृश्यते । अनुक्त भामते नूनं सवधोऽयं कथं घृतं ॥ ८७ ॥
 इत्याद्यगुणबुद्धेश्च आगमस्यैव योधम । दूषणं च ददात्येव मनुजो भो नृपोत्तम ॥ ८८ ॥
 सैव नूनं लभत्येवोपघाताहं कुदोषकम् । जिनवाक्यविधातत्त्वास्त्वशब्दस्यैवोपोणात् ॥ ८९ ॥
 एतेहि षड्विधा दोषा ज्ञानावरण-दर्शना-वरणयोर्हि भवत्येव आश्रया भगदायकाः ॥ ९० ॥
 आचार्ये शत्रुता चैव अकालेऽध्ययन तथा । अरुचिपूर्वकं ग्रथपठनं पठतोपि च ॥ ९१ ॥

अर्थ—उपघात दोषका लक्षण—

हे राजन् सभामें उत्तम और सर्वथा निर्दोष परमागमका भाषण होनेपर जो अहंकार या मात्सर्य भावसे (किसी प्रकारकी मलिनतासे) उस सत्यार्थको स्वीकार नहीं कर “ यह पाठ नहीं है ” “ यह अर्थ ठीक नहीं है ” अथवा “ पदार्थका स्वरूप नहीं है ” इस प्रकार ज्ञानका घात करना सो उपघात है ।

आगमके वाच्यार्थ में या पदार्थके स्वरूप में मनकी कुटिलतासे अन्यथा रूप प्रतिपादन करना सो उपघात नामका दोष है । आगममें दूषण या आगममें असत्यार्थ पदार्थकी नियुक्ति कर देना भी उपघात कहा जाता है ।

अपने अहंकार को सिद्ध करनेके लिये अपने मिथ्या वचनों को सत्य कहना और आगमके सत्य वचनोंको मिथ्या बतलाना सो उपघात है ।

अर्थ—ऊपर बतलाये हुए निम्नवादि दोष ज्ञानावरण और दर्शनावरणके वधके कारण है ।

आचार्य से शत्रुता करना, अकालमें पठन पाठन, शाल्म श्रवण करनेमें मनके परिणामोंकी ग्लानि रखना-अथ श्रवण करनेमें प्रमाद प्रकट करना गुरुकी चुगली या निंदा करना अथवा गुरुके समक्ष मिथ्या भाषण करना सो

आत्मस्थकरणं नूतनमादरेण तस्थच । व्याख्यानश्रवणमुन्मनीकत्वं स्वगुरोस्तथा ॥ ९२ ॥
 वाच्यमाने प्रथमानुयोगे धर्मप्रभावके । तत्रैव कथयत्येव कोपि पैशुन्यदोषत ॥ ९३ ॥
 वाचनीयं सभामध्ये मोक्षमार्गप्रदं शुभ । द्रव्यानुयोगनामंच । सभाया नो परं खलु ॥ ९४ ॥
 बहुश्रुतेष्टगर्वस्य विधान चापमाननं । परपक्ष पोषयत्येव मित्रोपदेशकी तथा ॥ ९५ ॥
 स्वस्य पक्षस्य लोकस्य गुष्टकर्मविवर्जित । ख्यातार्थं पूजनार्थंच लाभार्थमागमस्यच ॥ ९६ ॥
 चोपदेश ददात्येव असंबद्ध (निरर्थक) । ऋपटेन ज्ञानगठी चागमानाच विक्रयी ॥ ९७ ॥
 दूषण च ददात्येव सम्यग्दृष्टे- ह्यधप्रदम् । प्रशंसा च करोत्येव कुशाख्याणा च मानवान् ॥ ९८ ॥

ज्ञानावरणी कर्मबधके कारण है । सभामें प्रथमानुयोगका व्याख्यान होरहा हो उसको श्रयण करनेमें ग्लानि प्रकट करना तथा “ शास्त्र सभामें तो द्रव्यानुयोगका ही ग्रथ पठना चाहिये वही मोक्षमार्गका प्रदाता है ” इस प्रकार कहकर ग्रथ-
 मानुयोग शास्त्रमें अरुचि उत्पन्न करादेना या प्रथमानुयोग शास्त्रोको मिथ्या ठहरानेका भाव प्रकट करादेना, ग्रीह ज्ञानी
 पुरुषोको अपना गर्व प्रकट करना अथवा उनका अपमान करना ।

आगमके ग्रीह ज्ञाताओं के द्वारा आगमानुमार सत्य २ पदार्थ का स्वरूप सप्रमाण कहनेपर ने तां परपक्ष
 को पुष्ट करनेवाले है मिथ्या उपदेश देनेवाले है अपने धक्षको पुष्ट नहीं करते हैं । इस प्रकार अपने मनकी कल्पनामें
 आगममें पक्षोंकी कल्पना कर सत्यार्थ स्वरूप को रोक देना । मान बडाई पूजा लाभ और स्वार्थके लिये शास्त्रका उप-
 देश देना । अपने स्वार्थके लिये मिथ्या उपदेश देकर सत्य वतलाना असबध और कण्टाचारसे विरुद्ध पाठ पठन
 करना, आगमका क्रय विक्रय करना, सम्यग्दृष्टी जीवोंको दूषण प्रदान करना मिथ्या शास्त्रोकी प्रशंसा करना ।
 इत्यादि बहुतेसे कारणोंसे ज्ञानावरण कर्मका आशय होता है ।

दीर्घनिद्रायुतो निद्रास्युक्तो धर्मनिन्दक । महाआलस्यवान् चैव जुगुप्सो निन्दकी तथा ॥ १९ ॥
 दर्शनावरणधैव आश्रवाश्च इमे बुधै । इत्याद्या शिवधस्य कर्तारः समता खलु ॥ १०० ॥
 दुःखशोकेन तापेन आक्रन्देन वधेन च । तथा हि रोदनैव अहो मगधमडम ॥ १ ।
 आत्मपरोभयत्वेन अस्मद्वैद्यस्य वंधन । भवत्येव च नु त्व च एतेषा वर्णनं शृणु ॥ २ ॥
 आधिव्याध्यादिके जाते स्वस्य परस्य वा तनौ । सक्लिष्टपरिणामेन वितन क्रियतेत्र यत् ॥ ३ ॥
 सैव दुःखाभिर्धं दोषं लभत्येव नरेध्व । वा कारितानुमोदेनाजुमयार्ग्यस्य दीपकम् ॥ ४ ॥

दिवसमें सोना, दीर्घ निद्रा ग्रहण करना, शास्त्र पढते पढते शयन करना, धर्मकी निन्दा करना, जिनदर्शनादिक शुभ कार्योंमें आलस करना, दूसरोंके दर्शनमें व्याघात पहुचाना, निन्दा करना, मुनिगणोंके पवित्र शरीरको देसकर ग्लानि करना इत्यादि कारणोंसे दर्शनावरण कर्मका आश्रय होता है ।

अर्थः— असाता वेदनी कर्म कौनसे कारणोंसे होता है ?

हे मगधेश्वर दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, रोदन ये सब अपनी आत्सामें, पर जीवमें अथवा दोनोमें उत्पन्न कर देनेसे असाता वेदनी कर्मका आश्रय होता है । आगे इनका विशेष खुलासा प्रकट करते हैं ।

अर्थ — आधि, व्याधि, पीडा और तीव्र वेदना आदि होनेपर संक्लेश परिणामोंके द्वारा चार चार उस दुःखका अनुभव करना अथवा ऐसा दुःख दूसरोंको देना अथवा दुःख देनेकी अनुमोदना करना, दुःखके कारणोंको उपस्थित कर देना सो सब दुःख है । इस प्रकार अपनेको और दूसरे जीवोंको दुःख देना मो सर्व असाता वेदनी कर्मका आश्रय है ।

पुत्रकृता कुटुंबाना विच्छेदे म्वस्य वा नृ । हस्यध्यानद्रयाणा बहुमोदद्विदायमाम् ॥ ५ ॥

महाशोकं करोत्येव तेया प्राच्यै सदैव हि । शोकाख्य नयशब्देव दोष जन्मनि जन्मनि ॥ ६ ॥

केनचिन्निघकार्यस्य कारणात्स्वस्य जायते । अपवादो महान् लोकं त श्रुत्वा लात्ननि म्वा ॥ ७ ॥

पश्चात्तापं करोत्येव नैव मुच्यति त पुन । स पुमान् भजते तापाग्निं दोष म्बुटु सदम् ॥ ८ ॥

केनचित्कारणैर्नैव विरपाक्रुदन तथा । नैवाश्रुपातपतन पृ कार्कणं श्रुप ॥ ९ ॥

स्थितोहि रोदनं चैव करोत्येव विकारणं । आक्रुदनायं मो दोष लभत भगटु सदम् ॥ १० ॥

अर्थ—इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग के होनेपर शोक होता है । पृत्र स्त्री कुटुंब आदि मजीन पदार्थोंके वियोग होनेपर वा अपने ही वियोग होने पर अथवा हस्ती घोडा—धन धान्य आदि पदार्थोंके वियोग होनेपर जो वेदनारूप शोक होता है उसको शोक कहते हैं । दुःखका विशेष रूप ही शोक है । इससे अमाता वेदनीय कर्मका आस्रव होता है । शोक अपनेमें करना या दूसरेमें कराना मन ही अभाताके कारण है ।

अर्थ— कोई भी निघ कार्य करनेसे अथवा किसी भी अशुचित कार्यके हो जानेपर मंगारमें अपमाद (निंदा) हो जानेसे जो पश्चात्ताप—वार वार आत्म परिणामोंमें संकेश रूप ग्लानि हो मो पश्चात्ताप है । कभी कभी धनधान्यादिके नष्ट हो जानेपर, व्यापारमें हानि होनेपर, कार्यका विपरीत परिणाम होनेपर भी पश्चात्ताप होता है । यह भी एक प्रकारका दुःखका ही रूप है । यह भी असाता वेदनी कर्मका कारण है ।

अर्थ— किसी भी कारणसे ऐसा विलापपूर्वक रोना कि जिसको श्रमण कर दूसरोके मनमें आघात पहुंचे दूसरोके मन दुःखसे पिघल जावे, नेत्रोंसे पुत्कार पूर्वक दीनताके साथ रुदन करना—अपने परिणामोंका सबलेश भाव प्रदर्शन कर रुदन करना, दूसरोके चित्तको विकार या क्षोभ हो ऐसा रुदन करना

शंषपात हि यो अत्रे पावके च प्रवेशन । अध्वौ च पतनं तथा श्वासोच्छ्वासप्ररोधरम् ॥ ११ ॥
 करोत्येवं तथा नून खादत्येव विषादिकम् । आसिना स्वस्य हस्तेन स्वात्मान घातयत्यहो ॥ १२ ॥
 इत्यादिभि नराधीश स्वस्य प्राणस्य पापघ्नी । वियोगं च करो येव वधाहं सैव निश्चयात् ॥ १३ ॥
 दोषं ह्यनतससारपरिभ्रमणकारणम् । प्राप्नोति आत्मघातस्य करणात्रात्र संशयः ॥ १४ ॥
 परमङ्गलसंयोगात् ईदृशं रोदन नृप । य करोति पुमान् नून महादुःखस्य दायकम् ॥ १५ ॥
 परेषा श्रवणाद्यस्य रोदन भवति सदा । दोष परिवदनाख्य लभते भवदुःखदम् ॥ १६ ॥

सो सब आक्रन्दन है । यह अपनेमें और दूसरोंमें करने करानेसे असाता वेदनी कर्मका आसन्न होता है ।
 अर्थ—समुद्रमें पडकर आर्तोरौद्र परिणामोंसे मरना या दूसरोंको मारना, पर्वतसे गिरकर प्राणोंका
 नाश करना, अग्निमें प्रवेश करना सती होना नदीमें गिरकर प्राणोंका घात करना श्वासोच्छ्वास क्रियाको रोककर
 अपघात करना विषादिक भक्षण कर प्राणोंका नाश करना तलवार बटूक आदि शस्त्रोंके द्वारा प्राणघात या
 आत्मघात करना धर्म समझकर प्राणोंका वियोग करना इत्यादि अनेक प्रकार से संकलेश परिणामपूर्वक मरना—
 दूसरोंको मारना या मरवाना सो सब बध है । इससे भी असाता वेदनी कर्मका बध होता है ।

अर्थ—आत्महत्या अथवा परघात करनेसे अनंत ससारका बध होता है । सबसे भयकर पाप आत्महत्या
 है । जो धर्म समझकर आत्महत्या करते है वे अनंत ससारमें परिभ्रमण करते है ।

अर्थ—हे राजन् ऐसे संकेश और दुःख परिणामों से रोना कि जिसको श्रवण करते ही दूसरों को भी
 रुदन हो जावे । अपने और दूसरोंके परिणामोंको क्लेश कारक— वीभरत रूपसे कल्याणपूर्ण रुदन करना सो परिदेवन

पैशुन्यात् पापकार्यस्य नेरणात् चापवादतः । तिरस्कारस्य करणात् परेषां निन्दनान् तथा ॥ १७ ॥
 परद्रव्यापहरणात् अघर्मिजनसेवनात् । कार्यद्वितेच अनर्थदंडस्य करणात् पुन ॥ १८ ॥
 जीवनार्थं च शास्त्राणामभ्यासकणात्तथा । इत्याद्यन्यदपि नूनमस्याश्रमा भवंत्यहो ॥ १९ ॥
 भूतव्यनुकृपाच दान सरागसंयम । योगाना क्षांति शौचश्च एतेहि मगधाधिप ॥ २० ॥
 आश्रवाहि मद्देधस्य महाशर्ममदायका । भेद शृणुच तेषाहि नच्यहंच पृथक् पृथक् ॥ २१ ॥
 सर्वभूतेषु चित्तन कायेन वा हृदा तथा । दयाभावं करोत्यिव यो नाहि भव्यभावयुक् ॥ २२ ॥

नामका दोष है । इससे भी असाता कर्मका आश्रव होता है ॥

अर्थ—चुगली करना-पाप कार्योंकी प्रेरणा करना दूसरोंमें दोष लगाकर निंदा करना, दूसरोका तिरस्कार करना दूसरोकी निंदा करना, दूसरोके द्रव्यको चूट लेना पापी अधर्मी और अपने धर्मसे पतित ऐसे निघ मनुष्य की सेवा करना बिना प्रयोजन हिमा आरंभ करना, अनर्थदंडके कार्य करना अपनी आजीविकाके लिये विद्याभ्यास करना इत्यादि बहुतेसे अन्य कारण भी असाता वेदनीय कर्मके होते हैं ।

अर्थ—सातावेदनी कर्मके आश्रम कौनसे है ? प्राणी मात्र पर अनुकंपा व्रती पुरुषोपर विशेष विनय-के साथ अनुकंपा, दान सराग संयम क्षांति शौच इत्यादि माता वेदनी कर्म के कारण हैं । इनका स्वरूप खुलासा से बतलाते हैं ।

अर्थ:—भूत अनुकंपाका क्या स्वरूप है ?

हे राजन् मन बचन कायसे समस्त जीवोपर दयाभावोका रखना अर्थात् जीवमात्रमें भेदाभेद विचार किये बिना ही दयाभावसे सबपर दया प्रदर्शित करना सो भूतअनुकंपा है ।

एव विचारयत्येव चतुर्गतिभवा इमे । मृता सर्वे सदैवौचै कर्मोदयवशात् खलु ॥ २३ ॥
 निजनिजैव भुजति दुःखौघ पारवर्जितम् । भविष्यति कदा मुक्तिः प्लेवा दुःखतो ननु ॥ २४ ॥
 स पुमान् भूतकंगाल्य गुणं शर्मप्रदायकम् । लभते नात्र सर्वेह सद्दयापरिणामत ॥ २५ ॥
 पंचाणुव्रतयुक्ताना दृष्ट्वा सद्बर्मवृद्धये । य पुमान् स्वात्मनि नित्य दयाभावं ह्यधापहम् ॥ २६ ॥
 करोति परम भुप बाल वृद्ध तपस्विनम् । धर्मस्य ज्ञानद चैव जिनधर्मोपदेशकम् ॥ २७ ॥
 परपीडा च जानाति आत्मपीडामिव सदा । परोपकारकण्ठे हि दयादर्शित्विधायक ॥ २८ ॥

ऐसा विचार करना कि जीव अपने कर्मोंके विपाक (फल) से चारो गतिमें दुःखको प्राप्त हो रहे हैं । इन जीवोंका कर्मका सबध कम नाश को प्राप्त हो । ये जीव का दुःखोंमें छूट जावें । इनको सन्मार्गकी प्राप्ति कत्र हो जावे इस प्रकारका समयदान समस्त जीवोंपर देनेकी इच्छासे ममस्त जीवोंपर परम करुणाभाव रखकर उनके दुःखोंका प्रतीकार करना सो भूतअनुकपा है ।

अर्थ:— त्रतियोपर अनुकपाका क्या स्वरूप है ?

हे मगधेश्वर पंच अणुव्रतके धारक या पाच महाव्रतके धारक, सयमी, त्रती और श्रेष्ठ चारित्रिके प्रतिपालक पुण्य पुरुषोंको दुखी देखकर श्रेष्ठ धर्मकी वृद्धिके लिये दयाभाव प्रदर्शित करना, उनके पवित्र गुणोंकी चाहना प्रकट कर पूज्य भावसे उनके दुःखोंका नाश करना, उनकी पीडाको शांत करना, बृद्ध बाल तपस्वी गणोंकी सेवा वैयावृत्य करना, रोगी और असमर्थ सयमी को धर्म साधनमें लगाये रहना, धर्मात्मा 'साधर्म्य' भाइयोंकी आदरभावसे सेवा सुशुभा करना, ज्ञानी विद्वानोंको धर्मके अग समझकर उनका आदरभाव करना; पाठक, उपाध्याय और धर्मके स्वरूपको व्यक्त करनेवाले भव्य जीवोंको सहायता कर धर्ममार्गमें दृढ बनाये रखना, दूसरोंकी पीडाको आत्मपीडा समझनेवाले भव्य

त्रत्यनुकंपाभिर्घं सैव गुण संसारनाशकम् । प्रामोति माघाघीश अनुकंपात्र कि भवेत् ॥ २९ ॥
 संसारहेतुहृत्वारं दानं मात्राय योजयेत् । चतु प्रकारं यो भावात् गुण दानाभिश्च लभेत् ॥ ३० ॥
 संसारवृद्धेकान्येव द्रव्यकर्माणि वा तथा । भावकर्माण्यपि यो हि त्यजते मनमादित ॥ ३१ ॥

सो हि सरागसंज्ञं च गुण शिवप्रदं नृप । लभते भावशुद्धिवात् क्रमान्मोक्षप्रदं खलु ॥ ३२ ॥

जीव सार्धं भाइयोको सत्र प्रकारसे सुखी बनाना, परोपकार दयाभासे करना इत्यादि अनेक प्रकारसे धर्म-अंगोंकी दृढता करना सो त्रती अनुकंपा है । समारका नाश करनेमाला एक यही गुण है । इस गुणसे ममत्त्व पापकर्म एक क्षण मात्रमें विलीन हो जाते हैं । और अनंत पुण्यकर्म संपादन होता है ।

अर्थ—दानका स्वरूप क्या है ?

हे राजन् जिस दानसे संसारके बंधनोंका नाश हो वही मत्स्यदान है वाकी कुदान है । दान मात्रमें ही दिया जाता है । पात्रम प्रदान किया हुआ दान सत्यदान कहलाता है । कुपात्र और अपात्रमें प्रदान किया हुआ दान कुदान कहलाता है ।

चार प्रकारके पात्रमें (मुनि-आर्थिका श्रावक श्राविका) चार प्रकारका दान समारका नाश करता है । और इसके व्यतिरिक्त अपात्रमें प्रदान किया हुआ दान संसारको बढ़ाता है ।

अर्थ—सराग सयम किसको कहते हैं ?

हे राजन् ! संसारको बढ़ानेवाले द्रव्यकर्म और भावकर्मों को मनकी विशुद्ध वासना से नहीं छोड़ना सो सराग संयम है । भाग्यर्थ-बाह्य वचन और कायकी क्रिया संप्रभरूप हो परंतु मनमें सकल्प विकल्पोंकी भावना हो, द्रव्य कर्म और भावकर्मोंके परित्याग करनेमें मनकी विशुद्धता नहीं हो सो सराग सयम है । राग सहित संयम सो सराग

पड़ वे जीविकायेषु दयापरिणामकारणात् । षडिन्द्रियाणां बंधत्वात् परसंतोषकारणात् ॥ ३३ ॥

स्नात्मता सर्वभूतेषु निवृत्तिता ह्यथा तथा । आच्छादनत्वात् परेषा दोषाणा धर्मदेशनात् ॥ ३४ ॥

क्रियते य पुमान् स्वस्मिन् गुणान् चेमान् सुखप्रदान् । संयमस्यं गुणं सैव प्राप्तोति चेलनाप्रिय ॥ ३५ ॥

संयमेन ह्ययं प्राणी शोभते नानायकः । सर्वपापक्षयं कृत्वा मोक्षधाम व्रजत्यहो ॥ ३६ ॥

संयमेन विना सर्वा क्रियाः हि निष्फला मता । मुनीना वा गृहस्थाना तपोदानादिका खलु ॥ ३७ ॥

संयम है । यह सराग संयम क्रमसे मोक्ष के सुखको प्रदान करनेवाला है ।

अर्थ—संयम का स्वरूप क्या है ?

चेलनाप्रिय श्रेणिक महाराज ! छह प्रकार (पृथ्वी काय-अपू काय-तेजकाय-वायुकाय वनस्पति काय और त्रस काय) के जीवों की रक्षाके लिये अपने परिणामों की विशुद्धताको धारण कर अपने मन और इन्द्रियोंको रोकना अथवा इन्द्रियोंके बिषयोंका परित्याग करना-दूसरोंको सतोष भाव प्राप्त हो ऐसा सरलतासे दयाभाव प्रदर्शित करना समस्त जीवोंको अपनी आत्माके समान समझकर समस्त जीवोंपर दयाभाव रखना सब जीवोंकी रक्षा करना-पापकार्यों से भयभीत होना-दूसरोंके दोषोंको ढांकना, धर्मोपदेशके द्वारा दयाभावका प्रचार करना-इत्यादि कार्योंसे संयम भावना प्रकट होती है ।

आत्माके परिणामोंको विशुद्ध बनानेके लिये मन और इन्द्रियोंको बंध करना-विषय कर्मायोंका परित्याग करना संयम है ।

अर्थ—संयमके पालन करनेसे मनुष्यजीवन की शोभा है । संयमके पालन करनेसे ही जीव कर्मोंका नाश कर मोक्षसुखको प्राप्त होता है । संयम के विना समस्त जप तप दान आदि क्रियाएँ व्यर्थ हैं ।

तरिता तरंति भो भूप तरिष्यति नरोत्तमा । ये हि चानेन लोकेस्मिन् नान्योपायोस्ति किंचन ॥ ३८ ॥
 क्रोधाद्याना त्रयाणा च निवृत्तिर्यत्र तत्र वै । क्षातिर्भवति भो नूनं सर्वाशर्मविनाशिका ॥ ३९ ॥
 य इमा वारयत्येव सैव क्षात्यभिधं गुणम् । सर्वभगत्तिकतरि प्राप्नोति मनुजोत्तम ॥ ४० ॥
 क्रियते यद्विरमणं लोमस्यालोभवस्तुत । परलोकनिदानस्य वा पुमान् हि त्रिशुद्धिन ॥ ४१ ॥
 सैव शौचाभिधं नृण गुण ह्यगीकरोत्यहो । आत्मशुद्धकरं भूप निर्ममत्वस्य कारणात् ॥ ४२ ॥
 जिनेन्द्रविभवस्त्वानकरणाच्च रसोत्कै । तपुजनात्पुद्गलैश्चै स्तवनात्प्रभनात्तथा ॥ ४३ ॥
 वैश्रावृत्यविमानाच्च वालवृद्धतपस्विनाम् । साधर्मिजनसंमगाति स्वस्य कुलस्य पोषणात् ॥ ४४ ॥

सयमको पालन कर ही भव्य जीव मोक्षको प्राप्त होंगे । संयमसे ही संसारसमुद्रसे जीव तर्ते है । तिरेंगे । और

तिरेंगे । और

अर्थ—क्रोध आदि विकार त्रयकी निवृत्ति होना सो क्षांति है ।

भावार्थ—क्रोध-मान-माया आदि विकारोको मनकी पवित्रतासे रोक लेना-उत्पन्न नहीं होने देना

सो क्षांति है - क्षातिसे । समस्त दुःख नाशको प्राप्त होता है ।

अर्थ—हे राजन् लोभका त्याग करना सो शौच है । समस्त वस्तु मात्रसे निर्ममत्व भावको धारण कर

अपनी पवित्र आत्मामें लवलीन होना सो शौच है । इससे महान् पुण्यकी प्राप्ति होती है ।

अर्थ—श्रीमज्जिनेन्द्र देवकी प्रतिमाका भक्तिपूर्वक शुभभावो से पचामृत (दही दूध घी शर्करा सर्वाषधि)

से स्नान करना-पूजन वंदना स्तोत्र आदिके द्वारा भगवान्के गुणोका स्मरण करना प्रशुको भक्तिसे नमस्कार करना बुद्ध बाल रोगी तपस्वियोंकी वैद्यावृत्य करना-साधर्मि भाइयोकी सेवा सुश्रुषा और दान मान समर्पण करना अपने कुल और

मोचनात् परबन्धस्य परदु खनिवाराणात् । क्षुधिताय प्रदानाच्च भोजनस्योदकस्य च ॥ ४५ ॥
 मुनीना त्यक्तसगाना इन्तयादादिमर्दनात् । तेषा पादारविदाना घोबनात्भाशुर्कैर्जैः ॥ ४६ ॥
 ब्रह्माभरणदानाच्च गृहिणा ब्रह्मचारिणाम् । दयादानस्य सदानादन्येषा सर्वप्राणिनाम् ॥ ४७ ॥
 इत्यादिगुणसदोहधारणादस्थ नु नृप । भवति आश्रवा नून सद्देवस्यैव सत्पादाः ॥ ४८ ॥
 केवलश्रुतसंघानामवर्णवादतोऽस्य नु । तथाहि धर्मदेवाना भवत्यावरणो ननु ॥ ४९ ॥
 मृप दर्शनमोहस्य यस्यैव कारणात् खलु । सम्यग्दर्शनसमाप्तिः नो भवति कदाप्यहो ॥ ५० ॥

एषा संक्षेपत कुर्वे वर्णनंच पृथक् पृथक् । शिवद त्व शृणु मृप स्वचित्तस्य समाधिना ॥ ५१ ॥

कुटुबी जनोका नीतिपूर्वक पालन करना दूसरे जीवोंको वधनोंसे मुक्त करना भूखे जीवोंको भोजन पान करणामात्रोसे देकर सतोषित करना दीन असमर्थ लोगोंकी करणामात्रसे सहायता करना रोगी और पीडातुर जीवोंको कष्ट से छुडाना मुनिजनोंके हाथ पांय आदिको दयाकर सेना करना—भक्ति करना वैयावृत्यके द्वारा उनकी यथोचित सेवा करना उनके चरणकमलोंको प्राशुकि निर्मल जलसे धोवना, जैनधर्म अनुयायी गृहस्थोंको ब्रह्माभूषण प्रदान करना ब्रह्मचारी आदि सधमी जनोको ब्रह्म आदिका देना दयादानका करना इत्यादि अनेक शुभ कारणोंसे सातवेदनी कर्मके आश्रव होते हैं ।

अर्थ— दर्शन मोहनी कर्मके आश्रवके कौन कौनसे कारण हैं ?

हे राजन् केवली—श्रुत—चतुर्विध सघ और धर्ममे अवर्णवाद लगाना असत्स्वरूप कल्पना करना सो दर्शनमोहनी कर्मके आश्रव हैं । इनसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं होती है । आगे इन सघका खुलासासे लक्षण बतलाते हैं ।

दुर्बुद्धिधारका. केचित् भुवत्येव मनोक्ति । महामित्यात्वंसंमथा सदा द्वापरसंभृता ॥ ५२ ॥

कोट्यादिपूर्ववपति जीवति भोजनाहते । कथं केवलिनश्चोभे इदं पश्यत सज्जना ॥ ५३ ॥

गुप्तत्वेन सदाहारं भुजति सकला इमे । अतो हि सशयो नास्ति देवाच्चा. केवल्लेक्षणा ॥ ५४ ॥

सामान्यपुरुषोप्येव विना न्यादेन अत्र हि । महातो तदहते तेहि कथं तिष्ठति भो बुधा ॥ ५५ ॥

आतका हि भवत्येव तेषा शातिक्रमंजसा । भेषजैश्च प्रकुर्वति देवा तत्सेवका ह्यत ॥ ५६ ॥

अर्थः— केवली भगवानको आवरण किस प्रकार लगाया जाता है ?

हे राजन् चार घातिया कर्मोंको नाश कर केवली भगवान अनत चतुष्टय युक्त होते हैं । अनत चतुष्टयता (अनत ज्ञान, अनत दर्शन, और अनत अंनंत ही तीर्थ— और अनतसुख) तब ही प्राप्त होती है जब कि वे प्रभु अपने ध्यान-सयम- और योग द्वारा समस्त दोषोंका नाश करदेते हैं । केवली भगवान् के उस समय शुधा प्यास-जरा-रोग-चिंता-शोक उपसर्ग आदि एक भी दोष नहीं रहता है । इसीलिये उनमें वह अतिशय प्रकट होता है कि जिसके प्रभावसे देव नागेन्द्र और समस्त त्रिलोकके जीव उनको सर्वोत्कृष्ट और पूज्य समझकर नमस्कार करते हैं, भावभक्तिसे पूजा स्तजन और गुणगान करते हैं । परंतु ऐसे महान पूज्य केवली भगवान् के अज्ञानी अवर्णवाद लगाकर असत कल्पना करते हैं ।

अज्ञानी और सशयशील मनुष्यों का ज्ञान प्रमाणरूप नहीं होता है इस लिये मदेन्मत्त पुरुषके समान मूर्खता वश कहते हैं कि भगवान् समोसरणमें कोटि पूर्व वर्ष पर्यंत विना आहार के सजीवित नहीं रहसके इस लिये गुप्त आहार ग्रहण करते होंगे । लुण्छिपकर देवगण या उनके भक्त गण आहार करा देते होंगे । एक साधारण पुरुष आहारके बिना एक वर्ष नहीं रह सकता तो महान् पुरुष कोटि वर्ष पर्यंत किस प्रकार सजीवित रह सके है ?

उपसर्गापि जायते किञ्चित्पापोदयाच्च वै । निर्जरा तद्विनाशे च कुर्वति नात्र सगय ॥ ५७ ॥
 त नद्यापि तथाप्येव षोडशाभरणाग्निता । सर्वथा च प्रहृश्यते देवातिशयमंडिता ॥ ५८ ॥
 तुर्षी वा कवल दंड रक्षति न न संशय । कालभेदेन वर्सेत तेवा जानोपि निश्चयात् ॥ ५९ ॥
 केवलजानिनामेव सर्वेषु महता खलु । तारकाणा च सर्वेषा निर्दोषाणा विमानिना ॥ ६० ॥
 निलिगाधिपनागेन्द्रगचरेन्द्रनन्द्रभि । पृथ्यादारविंदाना गुणवता गुणेव्वपि ॥ ६१ ॥

केवली भगवानको गेग भी होता है । जब भोजन करते है तउ उसका विकार कफ वात और पित्त अवश्य ही रोगोकी उत्पत्ति करेगे । और उसकी शांति देवगण करते है । अथवा उनके भक्तगण अनेक प्रकारकी औपधियोंके द्वारा शांति करते है ।

केवली भगवानके उपसर्ग भी होते है । क्योंकि अभी उनके पापका कारण असाता वेदनी कर्मका उदय सौजद है । असाता कर्मके उदयसे दुस और उपसर्गोका होना स्वाभाविक वात है । पापसे क्या नही होता है । भगवानके असाताका उदय होना यह भी तो पाप है ।

केवली भगवान यद्यपि नग्न है तो भी उनकी शोभा देवगण षोडश भूषण पहनाकर करते है । क्योंकि भगवान त्रिलोक के प्रभु है और वे नग्न रहे तो उनका अतिशय ही क्या रहा ? और उनकी प्रभुताही महान कैमी मानी जावे ? क्योंकि महान वही है जो उच्चोत्तम पदार्थोंसे सुसज्जित रहता हो ।

केवली भगवान तुम्ही-दड-और कवल रखते है क्योंकि इसके विना वे प्रभु शौच क्रिया किस प्रकार करे । तथा भयका निवारण किस प्रकार करे एव शील आदिकी वाधा से अपनी रक्षा किस प्रकार करे ।

इत्यादियुक्ताना येऽगमा कलयथंयहो । असद्भूलाभिष्य दोषमनंतभवदायकम् ॥ ६२ ॥
 प्राप्नुवन्ति नूनं ते हि केवल्यावरणाभिषम् । दोषं भो मगतावीश भवाङ्कूणारवर्द्धका ॥ ६३ ॥

प्राशुकस्य पलस्यैव मधो मधस्य वा तथा । नवनीतस्य वा प्राप्ते नो दोष किमपि खलु ॥ ६४ ॥
 मातृस्वलादिकस्यैव मेयुने कदमक्षणे । रात्रिमोजनपानादौ अंहो नास्ति कदाप्यहो ॥ ६५ ॥

केवली भगवानका ज्ञान भी कम बढ (न्यूनाधिक) हो जाता है । कालभेदसे केवली भगवानके ज्ञानमें हीनता प्रकट होती है । भगवानके शयन समय ज्ञान ठीक नहीं रहता है और जाग्रत अवस्थामें वे सावचेत रहते हैं ।

इस प्रकार केवली भगवान में अनेक प्रकारकी अमत् कल्पना अपने मनोनीत भावोंसे कितने ही अज्ञानी करते हैं । परंतु केवली भगवान में उक्त प्रकार की असत् कल्पना किंभी प्रकारभी नभावित हो नहीं सकती है । जब कि केवली भगवानने समस्त कर्मोंका प्रचड राजा मोहनीय कर्मका ही नाश कर दिया है तब फिर उनके दोषोत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है । समस्त दोष मोहनीय कर्मक उदयसे होते हैं । उसके अभावमें दोषोंकी सत्ता रह नहीं सकती । इसलिये भगवान में दोष नहीं होते हुए भी कल्पित कर मिथ्या स्वरूप मानना सो केवलीका अवर्णवाढ है । इससे मोहनीय कर्मका आश्रय होता है । जिससे अनंत ससारका बंध हो ।

अर्थ—मांस पकाकर प्राशुक होता है । उसका भक्षण करनेमें धर्म शास्त्रकी आज्ञा है । इसी प्रकार मधु-मधु [शहत] और नमनीतके सेवन करनेमें कोई भी हानि नहीं है । दोष नहीं है । इस प्रकार मलिन और त्रसहिता से निरंतर परिपूर्ण पदार्थोंका संवन करना पवित्र मानना और ऐसी शास्त्रकी आज्ञा बतलाना यह श्रुत [शास्त्र] का अवर्णवाढ है ।

कामवाधा यदा साधो उत्पद्यते तदैव हि । सेमनीयं च वित्तस्य स्त्रिय दासीं च कन्यकाम् ॥ ६६ ॥
 वा साधो सेवका नूनं स्वैय्यावृत्त्यसिद्धये । अर्पणीयाश्च स्वामा कामार्तीयैव साधवे ॥ ६७ ॥
 अर्पणं न करोत्येव स्वस्त्रिया साधवे च य । भैव स्ववर्मातो बाह्यो भतो नास्त्यत्र संशय ॥ ६८ ॥
 इत्याद्ये ये व्रजेत्येव उन्मार्गे चाक्षपोपका । केचित् पृच्छति तानेव बाहो कुमार्गोपका ॥ ६९ ॥

माता वहिन पुत्री आदि परस्त्रीके सेवन करलेमें मूलरुद्रके भक्षण करनेमें-रात्रिमं भोजन पान करनेमें पापकी प्रवृत्ति नहीं मानना इस प्रकार नीति और सदाचार विरुद्ध पदार्थोंका सेवन करना और उमको उत्तम ममझ धर्मशास्त्रकी आज्ञा मानना सो श्रुतका अवर्णवाद है ।

जिस समय साधु (मुनिजन) को कामपीडा उत्पन्न हुई हो । तो वह अपनी पीडाको वेध्या दासी और किसीकी भी कन्याका सेवन कर शांत कर सक्ता है । इसमें कुछ भी पाप नहीं है । यहा साधुका धर्म है कि पीडाको किसी प्रकार भी शांत कर सुखी रहे-एसी आज्ञा धर्मशास्त्रकी बतलाना-इस प्रकार अपने मनकी मलिनतासे धर्मशास्त्रमें मिथ्या दोष लगाकर कहना सो श्रुतका अवर्णवाद है ।

अथवा साधुकी कामपीडाको शांत करनेके लिये उनके भक्तगणोंको अपनी अपनी सुदर स्त्रियोंका दान कर देनेमें विशेष वैयावृत्य होता है । जो भक्त इस प्रकार अपनी सुंदर स्त्रीको साधुकी कामपीडाको शांत करनेके लिये प्रदान करता है वह धर्मको स्थिर करनेवाला वैयावृती है । कदाचित् कोई भक्त इस प्रकार कामपीडाकी शांतिके लिये अपनी स्त्रीको साधुके लिये नहीं प्रदान करे तो वह अपने धर्मसे बाह्य है, इसमें जरा भी सदेह नहीं है । इस प्रकार अपने अपने स्वार्थको सिद्ध करनेके लिये महानसं महान भयंकर पापको भी उत्तम मानना और उसको धर्मशास्त्रकी ज्ञा बतलाना यह सब श्रुतका अवर्णवाद है ।

काचार सर्वनिधय च भवद्वि लयकारकम् । इदं कस्यानुसारेण आगमस्य च स्वीकृतम् ॥ ७० ॥
 अगीकृत च अम्माभि दन्नून समल बुवा । आचरण तद्वि शान्मोक्त तहते न किमपि नो ॥ ७१ ॥
 इमे सर्वे च संप्रोक्ता आगमेषु न मशय । स्वीसेवनादिका कार्या नो निगतातो भजामहे ॥ ७२ ॥
 शान्माहते किमप्येव नाम्येयाचरण खलु । अम्माक शान्मर्गात्सर्ववर्षस्ति क्रियादिक्म ॥ ७३ ॥
 बन्धुक्तन गुणमतो महतो हि श्रुतम्य च । अमद्भूत च दुर्दोष ददाति यो हि मानव ॥ ७४ ॥
 श्रुताचरणवादाहं सो हि दोष कुटु खदम् । स्वीकरोत्येव भो भूप शान्मदोपप्रदानत ॥ ७५ ॥
 यथा हि पर्वतो विप्र गतो हि मसभामनौ । कयथित्वैव जीवौषा घातयोग्या इमे खलु ॥ ७६ ॥

अर्थः--इस प्रकार धर्मशास्त्रमें मिथ्या अवर्णन वाः लगानेमालोसे कितनेही विचारशील मनुष्योंने पूछा कि हे नीति और सदाचारकी पवित्र मर्यादाको अपने स्वार्थमें नष्ट करनेवाले हो और इसी लिये पवित्र धर्मशास्त्रको बदनाम कर अपना मतलब मिट्ट करनेवाले हो, यह निधय पापकारक मलिन आचरण कौनसे आगमसे कहते हो और आचरण करते हो ?

यह श्रणकर पापीने कहा कि जो कुछ हम आचरण करते हैं वे सन धर्मशास्त्रसे ही करते हैं । धर्मशास्त्रकी आज्ञाविरुद्ध कुछभी नहीं करते हैं । " कामपीडित साधुको स्त्री देना " मांस मद्य मधु नमतीत आदिका भक्षण करनेमें हानि (पाप) नहीं नतलाना इत्यादि जितने कार्य हैं वे सग शास्त्रमें वतलाये हैं । इसमें संदेह नहीं मानना चाहिये । शास्त्रविरुद्ध चलनेमें हम भी पाप ममझते हैं । परंतु हमारे शास्त्रोंमें उक्त समस्त क्रिया करनेकी आज्ञा दी है । इसप्रकार परम पवित्र धर्मशास्त्रमें असङ्कत दोषोंको लगाना सो श्रुतका अवर्णन है ।

तथा हि किं न यास्यति अंधदोषस्य कारणात् । ते मूढा इन्द्रियाणा च पोषका आत्मनिन्दका ॥ ७७ ॥ *

धूर्ता परूपमाश्रमे शूद्रा दिग्गवरा खलु । तथा त्रयीवह्निर्भूता शुचिबर्कर्मवर्जिता ॥ ७८ ॥

निर्लेब्जा मललिप्ताणा अत्रैव दुःखभाजना । परत्रापि भविष्यति ग्हाटु खस्य भाजना ॥ ७९ ॥

महता कथयत्येव य पुमान् सैव निश्चयात् । सधावर्णवादाख्य दुर्दोषच लभत्यहो ॥ ८० ॥

निरुणोय खलु धर्मो जिनोक्तो धर्मवर्जित । वर्तते ये हि लोकेऽपि न् पुलगा तद्विधायका ॥ ८१ ॥

हे राजन् यह श्रुतावर्णवाद महान् पापका आश्रय करनेवाला है । पर्वत ब्राह्मणममान मातर्वे नरकमें ले जाने वाला है । पर्वतने भी जीवहिसाको धर्म बतलाया था और वह शास्त्रमें लिखा है गुरूजीने धर्मशास्त्र इसी प्रकार बतलाया है इस प्रकार श्रुतमें मिथ्या स्मकल्पित दोषोंका लगाना सो सम श्रुतका अवर्णवाद है ।

अर्थ—सचका अवर्णवाद क्या है ?

हे राजन् पवित्र और सर्वोत्कृष्ट सदाचारको पालन करनेवाले—कुल और जातिसे अतिशय विशुद्ध-त्रिवर्णमें से किसी एक वर्णको अपने शरीरमें धारण करनेवाले शांत-मन और इन्द्रियोंको विजय करनेवाले समस्त दोषोंसे मुक्त ऐसे दिग्गवर साधुओंको धूर्त-पशुसम शूद्र कहना मलिन बतलाना निर्लेब्ज कहना दुःखके पात्र मानना सो यह सम सचका अवर्णवाद है । सर्वमें अमद्भूत दोषोंकी कल्पना कर मिथ्या निंदा करना है ॥

अर्थ—धर्मका अवर्णवाद किस प्रकार होता है ? हे मगवेश्वर ! श्रीजिनिन्द्र देवद्वारा प्रतिपादित (अहिंसा

* कितने ही मत मास संबन्धादिक अपने धर्मशास्त्रोंमें बतलाते हैं । तथा कितने ही साधुओंको अपनी स्त्री प्रदान करनेमें पुण्यकी प्राप्ति बतलाते हैं ।

तेहि सर्वेपि चाग्नेहि भविष्यत्यसुराः खलु । अतोयं सर्वतो वाह्यः संप्रोक्तो वेदधारिभिः ॥ ८२ ॥
 वेदग्रन्थेण सर्वेहि लोका तरति चान्यत । नो तरति कदाप्येव अस्माद्वाहा परे मताः ॥ ८३ ॥
 महति गुणवति चैव तारके भव्यदेहिनाम् । ईदृशो सर्वदेवेन्द्रै पूज्ये धर्मेच्युतोऽग्रे ॥ ८४ ॥
 केवलज्ञानसपन्नै प्रणीते दोषवर्जिते । य पुमान् स्थापयत्येव दोषं पूर्वोक्तसंज्ञकम् ॥ ८५ ॥
 धर्मावरणवादाहं दोष प्राप्नोति सैव वै । अन्तर्भवदुःखाना कारक मगधाविप ॥ ८६ ॥
 सर्वज्ञोक्तसमं धर्मं नो परं भुवनत्रये । मोक्षदं पापहारं मताऽन्ये दुःखदायका ॥ ८७ ॥
 पिबंत्येव इमे सर्वे निर्जना नात्र संशय । मद्य अदति मास च मधु वा चामृतोपमम् ॥ ८८ ॥
 होमस्य सकलाते हि साग्नीं स्वात्मतोषदाम् । स्वीकुर्वंत्येव रक्तं च सद्योजान च निश्चयात् ॥ ८९ ॥

परमो धर्म) अहिंसास्वरूप सर्वोत्तम पवित्र सदाचार विशिष्ट-इन्द्र नरेन्द्र विद्याधरादि विलोकके उत्तम पुरुषोंसे सेवनीय ऐसे पवित्र जैन धर्मको निर्गुण बतलाना अधर्म स्वरूप बतलाना उसके धारण करने वाले मरकर असुर-राक्षस आदि होगे ऐसा असदृशत दोष लगाना जैनधर्म वेदको नहीं मानता है अतएव नास्तिक है धर्मनाह्य है ससार के समस्त जीव वेदसेही तरंगे । अन्य धर्मसे नहीं । इस प्रकार अपने अज्ञान भावोंसे हिंसा (पशुबलि) करने वाले वेदके धर्मको सत्य समझकर परम दयामयी सत्य जैन धर्ममें असदृशत दोषोक्ती कल्पना करना और असत् दोषोक्ती अपनी मनोनीत कल्पना से पवित्र जैन धर्ममें लगाना सो समस्त धर्मका अवर्णवाद है ।

अर्थ—देवोंका अवर्णवाद किस प्रकार होता है ?

हे श्रेणिक देवोंका शरीर वैकृतिक होता है-इस लिए उनके शरीरमें मद्य मांस आदिका कुछ भी साथ नहीं है । देव स्वयं पवित्र होते हैं । वे मद्य मांसका सेवन नहीं करते हैं । परंतु मिथ्यात्व कर्मके उदयसे ऐसे पवित्र

एषामर्थं च सर्वेहि रचिता जंतवोखिला । स्वयंभुवा अतो नून होमविधिरपि तथा ॥ ९० ॥
 देवार्थं मारयंथेव ये जीवा तेहि सत्यदम् । प्राप्नुवंत्यत्र सेदेहो नास्त्येव तद्धि शर्मणात् ॥ ९१ ॥
 होमामनौ पतिता येहि वामा वा पुरुषोक्तरा । हस्त्यथा । सौरभेयाश्च अजावृदा नपुसकाः ॥ ९२ ॥
 तेहि सर्वे गता नाकलोके शर्मन्विशसभृते । एषा मास च देवाहि स्वीकुर्वन्ति संदेव हि ॥ ९३ ॥
 होमकाले अतो यज्ञविधि प्रोक्त स्वयंभुवा । नास्त्यत्र सशयो नूत नानाशर्मप्रदायकम् ॥ ९४ ॥

देवोको मद्यपायी बतलाना मांस भक्षी कहना-मधुसेवी कहना सो देवोका अवर्णयाद है ।

इसी प्रकार (देवोके विषयमें) होमके समय देवगण तत्काल काटे हुए वकरा आदि पशुओका रक्तपान करते है । उनका मांस भक्षण करते है । इसीके लिए समस्त जानवर प्राणी बनाए गए है ।

जो देवोको प्रसन्न करनेके लिए जीवोको मारकर बलिदान देते है वे सत्यथके गामी है । उनको स्वर्गके सुख प्राप्त होते है । इसलिए देवोके सामने पशुओको मारकर चढाना यह उत्तम धर्म है ।

स्त्री-पुरुषोंके हाथसे होममें पडे हुए हाथी घोडे कुत्ते वकरे नपुंसक मनुष्य और दूसरे प्राणि मरकर नियमसे स्वर्गकी प्राप्त होते है ।

होममें बलि चढाए हुए जीवोका मांस देवगण स्वीकार कर भक्षण करते है । इसीलिए ब्रह्माने मंम जीवोकी सृष्टि निर्माण की है ।

इस प्रकार ब्रह्माने जीवोको स्वर्गकी प्राप्तिके लिये होम विधि बतलाई है । और होममें जीवोको मारकर

इत्यादि उक्तितो येहि भुवति तेहि निश्चयात् । लभते तु खदं दोषं देवस्यावर्णवाद्जम् ॥ ९५ ॥
 अदोषे दोषकथनादस्य नुरेभि कर्मभि । मित्यावाभिधमोहस्य आश्रवा हि भवंत्यहो ॥ ९६ ॥
 शृणु चारित्रमोहस्य कारण कथयाम्यहम् । तीव्रभावो भवत्येव कयायोदयतो ननु ॥ ९७ ॥
 यस्य तस्यैव चारित्रमोहस्य भवति खलु । बंधो भो मगधावीश सर्वदु खप्रदायक ॥ ९८ ॥

बलि चढाना वतलाया है ।

यदि देवोको जीव मारकर नहीं चढाये जावें तो देवगण क्रुपित हो जायेंगे । इसलिये उनकी प्रसन्नताके लिये जीवोकी बलि देना चाहिये ।

इस प्रकार पवित्र देवोंमें असद्भूत दोषोकी अपने स्वार्थके लिये मिथ्या कल्पना कर अवर्णवाद लगाना मो देवावर्णवाद है । यह अनत दुःखोंको प्रदान करनेवाला है, इसमें संदेह नहीं है ।

अर्थ:— इस प्रकार केवली, श्रुत, सब, धर्म, देवके सर्वथा निर्दोष स्वरूपमें दोष कहना, असद्भूत कल्पना करना सो मिथ्यात्व कर्मका कारण है । अनत ससारको बढानेवाले मिथ्यात्वका आश्रय इसमें होता है ।

अर्थ:— हे मगधेश्वर चारित्र मोहनी कर्मके आश्रय बतलाते ह — कर्पायोके उदयसे परिणामांम तीव्र रूपय पूर्वक सङ्केश भावोके होनेसे चारित्र मोहनी कर्मका आश्रय होता है । कर्पायाका उदय और तीव्र परिणाम चारित्र मोहनी कर्मके बधके कारण है ।

व्रंतिना शील्युक्ताना मुनीना ब्रह्मचारिणाम् । इथैव दूषण दुःख ददात्येवापवादकम् ॥ ९९ ॥

म्बरय वा हि परम्यैव ऋरोत्युत्पादन दृथा । कयायस्यैव यो नून तथा हि धर्मैवसकम् ॥ १०० ॥

मास्वर्यं चैव वैजृन्थं निंदा हास्य च धर्मिणाम् । शीलव्रतम्य त्यागं हि विग्रमोपादकं तथा ॥ १ ॥

अतसाय च सद्धर्मकार्यं तोषादिक तथा । मन्थासिजामादीना सेवा वा व्रतधारणम् ॥ २ ॥

इत्यादिभिर्नराधीश अम्य जीवस्य निश्चयात् । वंश्वारित्रमोहरय भवत्यनतदु ष्वद ॥ ३ ॥

अर्थ--ब्रती-सयमी-सदाचारी-मुनि-ब्रह्मचारी आर्थिका-श्रामक-श्राविकाओपर व्यर्थ दूषण लगा देना उनकी निंदा हो और धर्मका प्रभाव घटे ऐसा कार्य या अपमाद प्रकट कर देना धर्मको न्यस करनेवाली हसी या कथा रुद्धकर जीवोको सन्मार्ग मे हटानेका प्रयत्न करना धर्मत्मा पुरुषोमे मात्मर्यभाव रखना उनकी चुगली कर उनको मन्मार्ग से गिराने के भाव रखना शीलव्रतोके धारक पुरुषोको शीलका माहात्म्य घटानेके अभिप्राय मे विग्रम

१ कुशिक्षा और विषयोकी अनर्गल प्रवृत्ति जिस समय उपगत होती हे उस समय मनुष्यकी बुद्धिमें कुत्सित स्वार्थके वश दुर्वासना हो जाती हे जिससे वह विवेकको मूलकर निर्दोष और पवित्र पुण्यपुरुषोको अपने समान पापी वनानेका प्रयत्न करता हे । उत्तम सदाचारीके गुणोको उनके सन्मान को उनके आदर्श चरित्र से उत्पन्न हुण निर्मल यशको देखने में असमर्थ होता हे इसलिये किसी प्रकार मे उनकी निंदा कर जगतमें उनकी महिमा को न बढने दे इस प्रकारकी धारणासे अनेक प्रकार के दोष असद्व्युत्त दोष-मनोनीत भावोंसे कथित कर जगतके सामने रखता हे । परतु इसमें संशयी या पवित्र चारित्रके धारक मुनिगणोंकी धानि नहीं होती हे । उनका यश और अधिक उज्वल होकर विश्वव्यापी बनता हे । परतु इसप्रकार कुत्सित कर्मसे अपनी आत्माको वह अवश्य टाकर नरकादि दुर्गतियोका पात्र बनाता हे ।

भास्योदये हि व्यथैत्र नो भवत्येव श्रेणिक । चारित्रपालने शक्तिश्चात्प्रमात्रापि जुर्ननु ॥ ४ ॥
 वषो भवति भो मय तीव्ररागस्य कारणात् । परद्रव्यापहरणात् विश्वलैरकारणात् ॥ ५ ॥
 सिध्यादर्शनसंसात् शीलव्रतादिनाशनात् । अत्येव कृष्णनेत्र्यस्तादन्तरोद्ग्रथानत ॥ ६ ॥
 बालवृद्धपशूनांच वधनान्मारणात्तथा । हिंसादिकूरुकार्यस्य कारणात्प्रेणात्तथा ॥ ७ ॥
 विषयाणामसिष्टद्वलाददृत्तस्य च पोषणात् । सेवनात्परगमाया निशाभोजनकारणात् ॥ ८ ॥
 अगालितजलस्नानकरणात् कंदमक्षणात् । मधुमधादिमासानामदनाज्जिननिन्दनात् ॥ ९ ॥

उत्पन्न कर देना धर्मकार्यमें अतराय कर देना मन्ग्यासी-पाखंडी कपाली और चाब्य पुरुषोंकी सेवा करना इत्यादि सर्व चारित्र मोहनीके आश्रव हैं । ह श्रेणिक महाराज इम कर्मके उदयसे चारित्र पालन करनेकी अल्पमात्र भी शक्ति नहीं होती है ।

अर्थ—तरक गति कौन कौन से कार्योसे होती है ?

हे राजन् तीव्र राग का करता तीव्र मोह युक्त परिणामोको रखना दूसरोंके द्रव्यका अपहरण करना विश्वलैर चाधना मिथ्यादृष्टियोंका संसर्ग करना ब्रह्मचर्यका नाश करना अथवा दूसरों के ब्रह्मचर्यका नाश करना कृष्ण लेश्यामय होना—अत्यंत आते रौद्र ध्यानका मतत चित्तवन होना—वाल वृद्ध पशुओंको कोडा आदितसे पीटना अथवा शुद्र प्राणियों को मारना—असमर्थ दीन पशुओंको मारना—हिंसादि पाप कार्यो में मतत लगे रहना पापकार्योकी तीव्र अभिलाषा रखना विषयोमें अतिशय गूढता [विशेष अयुराग] रखना परस्त्री सेवन करना रात्रिमें भोजन करना बिना छाने पानीसे स्नानादि समस्त क्रियायें करना कदमूलका सेवन करना—मद्यका पान करना—मांस

नर्कगत्यायुषश्चास्य कर्मण पुरुषस्यैव । इत्यादिकर्मतो नृजे सदा दुःखविधायक ॥ १० ॥
 वंचनाभ्रमर्थस्य असत्यानंदधारणात् । नीलकापोतलेश्चत्वात् सदात्तिध्यानकारणात् ॥ ११ ॥
 लोपनात् सदुणानाच इतराणाच कीर्तनात् । अनर्थवचनस्यैव कथनात्पापीडनात् ॥ १२ ॥
 कारणात् कृत्रिमवस्तोः द्रुतस्वाच्च परस्य वै । लोपनात् वचनस्यैव अन्यथैव प्रजल्पनात् ॥ १३ ॥
 मायाकुर्मभिश्चैव इत्याद्यैर्भवद्वृद्धैः । तिर्यगोन्मिसम नून दुःकमान्यो नहि नृप ॥ १४ ॥
 तैर्योन्यायुषो वंशो भवत्यस्यैव प्राणिन । अनंतानतदुःखाना दायको वा भयप्रदः ॥ १५ ॥

विनीतपक्वतित्वाच्च परद्रव्यस्य हापनात् । स्वभावभद्रसंभावात् असूयत्वात्परस्य च ॥ १६ ॥

भक्षण करना शहलका सेमन करना श्री जिनेन्द्र भगवान और उनके पवित्र शासन की निंदा करना, जिन-
 वाणी में दूषण लगादेना इत्यादि कारणों से नरक गति (नरकायु) का आश्रय होता है ।

अर्थ—तिर्यच कौन कौनसे पापोंमें होता है ।

हे मगधेश्वर मायाचारी रखना, दूरोंको ठगना, झूट वचन बोलना, नील कपोल लेख्याके परिणाम रखना
 आत्तध्यानके परिणाम वनाये रखना दूमरो के सदगुणोंका लोप करना और अपनी अपने आप प्रशंसा करना अनर्थकारी
 वचनोंका बोलना दूसरोंको पीडा देना कृत्रिम वस्तुका उत्पन्न करना, द्रुतकर्म करना, अन्य जीवोंको ठगना, मिथ्या
 प्रलाप करना, मिथ्या प्रजल्प करना, मायाचारसे ठपना इत्यादि पापकर्मोंसे तिर्यच गतिका आश्रय होता है ।

अर्थ — मनुष्य आयुका वध कौन कौनसे कारणोंसे होता है ?

हे राजन् [नम्र स्वभाव रखने । सरल भाव रखनेसे दूसरोंकी द्रव्यकी चोरी अपहरण आदि नहीं करनेसे
 स्वभावसे भद्रपरिणामी होनेसे अल्प आंस और अल्प परिग्रह रखनेसे मनुष्य आयुका भाश्रय होता है ।

शोषणास्वतनो व्रतध्यानाद्यै शुद्धकर्मभि । अतकाले चासंकेशभावस्य करणात्था ॥ १७ ॥
 भाषणानिमिष्टवाक्याना त्रसजीवादिरक्षणात् । शिक्तारेखसमानक्रोधस्य घारणात्था ॥ १८ ॥
 पट्कर्मपालनाच्चैव मिथ्यादर्शनवर्जनात् । ऋशणा विक्रयाणा च शुद्धाना कार्यकारणात् ॥ १९ ॥
 मिश्रपरिणामतश्चैवाहःसंकेशभावत । जिनेन्द्रपूजनादित्य गुरुणा सेवनात्था ॥ २० ॥
 श्रवणादिजनशालाणा लिखित्वा अर्पणाच्च वै । गुर्वे स्वस्य हस्तेन वा घनेनोपदेशत ॥ २१ ॥
 भवभोगागशर्मदौ उदासीनस्य कारणात् । कापोतपीतलेड्यत्वात्परजीवस्य रक्षणात् ॥ २२ ॥
 मानाभावात् मृदुभावादल्पारमस्य धारणात् । तथारूपपरिग्रहत्वाच्च यथाविनयपालनात् । २३ ॥
 इत्यादिकर्मतश्चास्य मानुपस्यैव आयुष । बधो भवति मो नून शर्मार्गमपदायक ॥ २४ ॥

सन जीवोंके साथ दया परिणाम रखना, व्रत ध्यानादिकके द्वारा अपने शरीरको कृश करना, उत्तम शुभाचरणोंका पालन करना, अतु समयमें असंकेश परिणामोंका रखना मिष्ट हितकारी वचनोंका प्रतिपादन करना, त्रसजीवोंकी रक्षा करना बालके समान क्रोधके परिणाम होना पट्कर्मोंका पालन करना मिथ्यात्वका परित्याग करना व्यापारमें नीति और श्रेष्ठ निष्ठका रखना परिणामोंमें असकलेशताको धारण करना जिनेन्द्र भगवानका पूजन करना, गुरुओंकी सेवा सुशुभा वैयावृत्य करना जिन्मानी शास्त्रोंका उद्धार करना अपने द्रव्यका जिनशासनकी वृद्धिमें उपयोग करना संसार भोग और देहसे विरक्त भावोंका धारण करना पर पदार्थोंसे उदासीन रहना कापोत पीत लेड्या के परिणाम होना समस्त जीवोंकी दया पालना निरहकार भावसे सरस परिणाम व कोमल भावोंका होना गुरुजनोंका विनय करना इत्यादि कार्योंसे मनुष्य आयुका आश्रय होता है ।

पालनात् द्वादशानां च व्रतानां धर्मसंग्रहात् । मूलादिगुणव्रताना अगीकारस्य कारणात् ॥ २५ ॥
 धारणात् स्थेदमलाना बुभुक्षत्वस्य रोधनात् । सहनत्वाच्च वृष्णाया भूशयनस्य कष्टत ॥ २६ ॥
 कष्टेन ब्रह्मचर्यस्य धारणात् चदिदुर्गृहे । परित्यापादिकाना च सहमानादिहादृते ॥ २७ ॥
 एकदंडी त्रिदंडीना सन्यासितापसा पुन । तथा परमहंसाना परित्राजादिका पुन ॥ २८ ॥
 इत्यादीना च बालाना सदाहिंसादिकारकाम् । परममिथ्यादृष्टीना तपसः सेवनादपि ॥ २९ ॥
 कायक्लेशव्रतस्यैव धारणात्कष्टसेवनात् । तथाहि शुद्धसम्यग्भावात् नित्येव्याकर्मकारणात् ॥ ३० ॥

अर्थ—देवगति का आश्रय कौन कौनसे भावोंसे होता है ?

हे राजन् वारह प्रकार के व्रतों का पालन करना धर्म का सेवन करना अठाईस मूलगुणों का पालन करना आदि उत्तम चात्रि के धारण करनेसे देव आयु का आश्रय होता है । स्वेद मलको धारण करनेवाली दीक्षा लेना भ्रूय ध्यास आदि बाधाओं का सहन करना पृथ्वीपर शयन करना वदीगृह आदिके निमित्त से ब्रह्मचर्य पालना अक्राम निर्जरा के कारण उत्पन्न करना परिताप-धूप-गर्मी-शीत-आदि बाधाओं का सहन करना एकदंडी त्रिदंडी सन्यासी वावा आदिके अज्ञान भेषोंको धारण कर मिथ्या तपश्चरण करना परमहंस परिवाज वनकर नग्न होकर तपश्चरण करना बाल तप-बाल चात्रि और बाल (हठ) योग ध्यान आदि क्रियाकांड करना हिंसादि क्रूर भाव वाली दीक्षाको धारण कर कष्ट सहना मिथ्या दृष्टियों के मलिन आचरणोंको धारण कर कष्ट सहन करना काय क्लेश का सहन करना कष्ट पूर्वक व्रतों का धारण करना इत्यादि कारणोंसे देवगति का आश्रय होता है ।

शुद्ध सम्यग्दर्शन-शुद्ध चात्रि का पालन नित्य भगवानकी पूजादिक शुभ कर्मों का पालन शुभ भाव-कया-

इत्यादिहेतुतथास्य देवानामायुषो नृप । प्राप्तिर्भवति नुर्तुं सदाशर्मप्रदायक ॥ ३१ ॥

केचिदेषां च मध्येहि कर्मवधा नरेधर । कुदेव्योनिर्करारं केन्तिसुदेवदायका ॥ ३२ ॥

पराधीनस्य मृत्यत्वात् वालादितपसस्तथा । अय जीव प्रयात्येव कुदेवयो निपु सदा ॥ ३३ ॥

महावृताणुनतत्वात् सम्यक् वशुद्धभावत । यायेव शुद्धदेवाना पदेपु वार्चनादितः ॥ ३४ ॥

शुद्धभावेन संसाप्तिर्भवत्यस्यैव निश्चयात् । परमशतभावस्य उत्तरेणेतस्य हि ३० ॥

सिद्धिर्भवति मोक्षस्य चित्तशुद्ध्याहि अस्य नु । तथाहि इतरत्वेन श्वश्रानिकोक्तकर्म्यैव ॥ ३६ ॥

मत्वेति सकला भव्या दानेऽप्रात्रतसचयम् । परिणामस्य संशुद्धया कुर्वीज्व च मदेव हि ॥ ३७ ॥

योकी शांतता ध्यानकी प्रवृत्ति सामायिक आदि व्रतोका पालन इत्यादिक कार्णोसे उत्तम देवगतीका आश्रव होता है ।

अर्थ—देवोंके भवनत्रिक और कल्पयासी ऐसे दो भेद हैं । भवनत्रिक मर्त्य कुदेव कहलाते हैं और कल्पयासी सुदेव (सम्यग्दृष्टी) कहलाते हैं । पराधीन और परवशसे व्रतोका पालन करनेसे या चालतप (अज्ञानी मिथ्यादृष्टियोका) तपश्चरण करनेसे कुदेव गतिका आस्रव होता है ।

अर्थ—सम्यग्दर्शन सहित शुद्धभावोंके धारण करने से और सम्यग्दर्शन पूर्वक महाव्रत अणुव्रत आदि धारण करने से उत्तम देवायुका वंध होता है । विशुद्ध भावों से उत्तम देवगतिका वंध होगा और मलिन भावोंसे कुदेवगतिका वंध होगा ।

अर्थ—इस जीवको मोक्षकी प्राप्ति सम्यग्दर्शनादिपूर्वक चित्तशुद्धि से होती है । जिनके ऐसी चित्तकी शुद्धि प्राप्त नहीं हुई है और मिथ्यात्व के उदयसे चित्तकी मलिनता प्रतिसमय मलिन हो रही है ऐसे जीवको नरक या निर्गोद गतिका वंध होता है । इसलिये जिस प्रकार हो भावोंकी शुद्धि सदैव निर्मल रखनी चाहिये । जिनके भाव निर्मल

भावशुद्ध्या न यो मर्येश्चास्वमात्रमपि बुधा । दानपूजादि सरकार्यं करोति सैव त्रिभयात् ॥ ३८ ॥
 लभयेव वरा पंक्तिं शर्मणां च फलस्य हि । अंतरेण विनाचाग्ने जन्मनि सदा ॥ ३९ ॥
 योगाना वक्रत्वाच्चैव विंशवादाच्च भो नृप । कुनाम्नश्च भवत्येव अस्याश्रवाश्च कर्मण ॥ ४० ॥
 सक्षेपतश्च प्लेषा मृणु व्यालुच्यनमजसा । त्याज्यं संसारभीतैश्च दयाद्र्चिचिचधारकै ॥ ४१ ॥
 कायेनाऽन्यक्तरोत्येव वचसान्यद्भवीत्यहो । अन्यद्भि चित्तदत्येव दुर्मनसा सदैव हि ॥ ४२ ॥

नहीं रहते है वे व्रत तप करनेपर भी उत्तम फल प्राप्त नहीं करसक्ते हैं। और जिनके भाव निर्मल हैं वे विना व्रत तपके भी सुगतिका लाभ संपादन करते हैं। इसलिये हे भव्यजीवो अपने अपने भावोंको भगवान की पूजा-दान-अभिषेक प्रतिष्ठा महोत्सव लिन धर्मकी प्रभावना आदिसे विशुद्ध बनाओ जिससे भव भवमें उत्तम सुखकी प्राप्ति होती रहे।

कुनाम कर्मका आश्रव कौन कौन से कारणों से होता है ? हे राजन् ! मन वचन कायकी कुटिलता साधर्मि भाइयोंके साथ विसवाद करना इत्यादिक कार्योंसे कुनामकर्मका आश्रव होता है। आगे इसका विशेष खुलासा करते हैं।

अर्थ— कायसे कुछ अन्य कार्य करना वचन से कुछ अन्य ही भाषण करना और मनमें कुछ अन्य ही भाव रखना— [अर्थात् मन वचन और कायकी कुटिलता रखना— मायाचार पूर्वक प्रश्रुति करना]—सो योगोंकी वक्रता कहलाती है। इस प्रकार योगोंकी वक्रतासे कुनामकर्मका आश्रव होता है।

(मन वचन कायकी कुटिलता) आत्मगत हो तो वह योगोंकी वक्रता कही जाती है। और वही दूसरो के लिये उत्पादिका हो तो उसीको विसवाद कहेंगे।

एवंहि त्रिविधानां च योगानां यस्य वक्रता । भवत्येव हि तस्यैव योगसम्पत्सुन्यने ॥ ४३ ॥
 मता आत्मगतत्वाच्च अस्थैव योगवक्रता । तथा परगतत्वाच्च त्रिसयादोहि समत ॥ ४४ ॥
 स्वस्य कौटिल्ययोगेन स्वस्मिन् कर्माणि यः पुमान् । व तने कुट्टिनान्येव स्वात्मदुःखकराण्यहो ॥ ४५ ॥
 सैव प्राप्नोति दोष च योगवक्रत्वसंहतम् । त्रिसंवादस्य भेदोत्र कथं प्रोक्तो द्वितीयक ॥ ४६ ॥
 सम्यक् प्रवर्त्तते कश्चित् क्लियामु मनुचेत्तम । परमाभ्युदयदायमेतु हि भद्रभावयुक् ॥ ४७ ॥
 पुत्रासं वर्त्तमानं तं तत्रैव कोपि तुर्मति । इष्टा हि मानस स्वस्य विपरीतस्य तैत्नभि ॥ ४८ ॥
 मिथ्या प्रेरयति ह्येव माकार्णो भो नरोत्तम । त्वमेव च इदं सार्थं मयोक्तं त्वं कुरु मदा ॥ ४९ ॥

सार्थार्थ—अन्य मनुष्य के परिणामों में कुटिलता उत्पन्न कर चाद विनाड करना या अन्यके लिये अपने परिणामोंमें कुटिलता लाकर चाद विनाड करना सो विसंवाद है ।

अपने मन वचन काय अपने ही (आत्म कार्यके लिये) कार्यके लिये कुटिलताको धारण करे, मायाचार पूर्ण मन वचन कायकी प्रवृत्ति मनी रहे वह गोगोकी नकता है । इस प्रकार योगाक्रतासे इनामकर्मका आश्रय होता है ।
 अतः शका यद होती है कि दूसरा भेद त्रिसंवाद है यह सुदा सो उताया है ' इसलिये आगे विस्तादका सप्रार्थ करते हैं—

अर्थ— एक भद्रपरिणामी मन्य जीव श्री जिनागमकी आढानुसार मस्यक् प्रज्ञाने एत शुभ क्रियांमं प्रवृत्त हो रहा है । और शुभाचरणोको पालन कर रहा है । उमही इय शुभ प्रवृत्तिको देराकर कोई दुष्ट जीव विपरीत भावोंको धारण कर अपने मन वचन कायकी कुटिलतासे कहे या मिथ्या प्रेरणा करावे या मिथ्यामार्गमें (स्व मनकल्पित असन्मार्गमें) लेजानेके लिये मीठी बातोंसे समझावे कि, आप यह काम क्या करते हो ? यह तो डीक नहीं है ।

इमे कार्या हि दातारो नो शिवस्य कदाप्यहो । कुर्वाणाश्च त्वया नून मया प्रोक्ता हि शर्मदा ॥ ५० ॥
इत्येव नाहि यो भूप मोक्षायति यन्नास् । शुभकार्यत्तिथा त च दुर्मार्गं पातयत्यहो ॥ ५१ ॥
सैव तत्कर्मतो नून विसवादाभिध नृप । प्रामोत्येव महादोषप्रशुभनामकारकम् ॥ ५२ ॥
मिथ्यादर्शनतेश्चैव पञ्चन्यदरतस्तथा । धारणात्कूटमानाना तुलकायाश्च कूटतः ॥ ५३ ॥
कूटेन पद्मव्यस्य हरणान्मानकारणात् । वचनार्थ परेपा च वेयोऽवल्ववधारणात् ॥ ५४ ॥

इससे आपकी हानि होगी । इस कर्मके करनेसे लाभ नहीं है । इस (पुजाभियेक ब्रह्मचर्यकी रक्षा के लिये दान देनेसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होगी । यह मत करो और मैं नतलाऊ वह कार्य करो जिससे सुख मिले लाभ हो । इस प्रकार उस भव्यजीव को शुभ कार्य से छुड़ाने कुमार्गमें पात करादेवे पापकार्योंमें लगादेवे सो विस्वादा कहलाता है ।

भार्गव-विरावाद का यह अभिप्राय है कि मायाचारको धारण करनेवाले मनुष्योंकी मनकी दुष्टतासे जो स्वार्थ सिद्धिके लिए वचनकी मीठी मीठी प्रवृत्ति और कार्यकी मोहक चेटा जिससे सामनेमाला अपने अभिप्रायको नहीं जानकर अपनी बातोंमें और अपनी चेटामें रूप रूपेँ जाये और इससे सन्मार्गको छोड़कर पाप मार्गमें लग जावे वह विस्वादा कहलाता है ।

अर्थ—मिथ्यादर्शन के प्रभावमें अशुभ नाममात्र मदैव आश्रा होता है । चुगली करना—उठे माप करनेके गत्र पाली मानी आदि माप रखा रूपको उठने तोलना मायाचार से दूसरोंकी द्रव्य हर लेना—दूसरोंको ठगनेके लिये ऐसी सोनागटी बनाना कुशिक्षाके अभिमान से दूसरोंको पीडाकारक संन तत्रोंकी रचना करना दूसरोंको ठगनेके

दु मंत्रतत्रयोगेन तथा चूर्णसेन वै । सौभाग्योत्पादनादन्यद्वशीकरणकार्येन ॥ ५५ ॥
 दवानलप्रदानाच्च इष्टकोत्थयपाचभात् । तदोपदेशानुमोदात्तकृतुः ऽवधारत ॥ ५६ ॥
 आरामखंडनाच्चैव मुक्षाना लब्धनात्तथा । त्रापिकाङ्कुरकासाररुणाद्वास्य कारणात् ॥ ५७ ॥
 देवागमगुरूणाच पूजाद्रव्यस्य भक्षणात् । परकुहलोत्पादनात्परेषा विडम्बनात् ॥ ५८ ॥
 क्रोधाद्याना चतुर्णाच वर्द्धनात्परपापदात । पापकर्मीरजीवित्वान्महाआक्रोश गराणात् ॥ ५९ ॥
 इत्यादिकार्येभ्यो मृग भवत्यन्वैव आश्रवा । दुर्नामिभारकृति अशुभनामकर्मण ॥ ६० ॥

लिये ऊचा भेष धारण करना । झूठे मंत्र तन प्रयोग कर पार कर्मकी चेष्टा करना पत्र पौत्र वा लोभ
 देकर दूसरोंकी स्त्रियोंको बग करना डानल लगाकर बतलाना ईश्वरका हेर लगाकर
 जलाना (होली मनाकर जलाना) अथवा ऐस्य ही पापिष्ट कायोंकी अशुभोदना करना देना पापिष्ट
 उपदेश देना कुषार्ण वा पापमार्ग में ले जाने वाले मिथ्या लेग व्यवहार करना कि जिमसे
 कुषार्णकी वृद्धि हो जीम हिमाके कार्य करना वागमगीचा तरवावा बुद्धिके जंगलके काटनेका ठंका लेना कथा गावडी
 तलम आदि रोदनेका पापाग्भ करना या रुगना और उगमें धर्म मानना । देशास्तुगुल मनुषी द्रव्यका भक्षण करना
 दूसरो को कौतुहल उत्पन्न करनेवाले पचन रहना दूसरोकी विडम्बना करना क्रोधमान मया-लोभ कर्णयोको बढाना या
 ऐसे भावोये रूपायोत्पादक कार्य करना पाप मार्गका उपदेश देना मिथ्या मार्गकी प्रशंसा कर उपदेश देना पक्ष्मकी
 आजीविका बतलाना आक्रोशको धारणकर कुचेष्टा करना काम वासना में मनचनत्रायकी कुचेष्टा करना कामके राग
 से हसना मिश्रम उत्पन्न करना इत्यादिक कुकार्योंसे अशुभ नाम कर्मका आश्रय होना है ।

कारणान् त्वं शृणु शुभनाम्नश्च कर्मणः । तद्विपरीतत्वेनास्यैव आश्रमा हि भवत्यहो ॥ ६१ ॥
 त्रयाणां चैव योगानां क्रतुयात्रस्य कारणात् । परेषां मञ्जनानां हि अविशंवादानात्तथा ॥ ६२ ॥
 साधमिजनसंमिलनादस्यैतदर्थधारणात् । अभ्युत्थानस्य कणात् भलादुपजल्पनात् ॥ ६३ ॥
 मायाभावस्य सत्यागात् प्रमादवर्जनात्तथा । परपशून्धमत्यागान् सिग्गचित्तस्य धारणात् ॥ ६४ ॥
 भयशमनत्वाच्च आत्मनिन्दनकारणात् । जल्पनात्स यथाक्वात् कूटमाक्षिरेवर्जनात् ॥ ६५ ॥
 वर्जनात्परद्वेषस्य जल्पनाच्च परेषां चै परटुत्वविमोचनात् ॥ ६६ ॥
 रूपादिमदननिर्गशात् उच्चमलप्रवर्जनात् । सद्स्य चत्रघाञ्चैव मुदुवचनभाषणात् ॥ ६७ ॥

अर्थ—हे राजन् ! शुभनामकर्मके आश्रमको सुनो । जो जा कारण अशुभ नाम कर्मके आश्रमके मतलाये है ।
 उमके विपरीत कारण शुभ नाम कर्मके आश्रमको सुनो । तो भी विशेषतारो स्पष्ट मतलाये हैं । मन् उच्यते काय योगीकी
 मरलता परिणामोंकी कोप्रलता सज्जन पुरुषोंके साथ अविमनात् माधमी भाइयोके मिलनेपर अतिशय हर्ष प्राप्त मगमी
 जनोके सयोग होनेपर खडा हांता अन्यत आदरके साथ तत्र भावोसे वचनालाप करना, मायाचार परिणामोंका
 परित्याग करना प्रसादका परित्याग करना चुगली और निंदाका परित्याग चित्तकी स्थिरता का वागण करना
 धर्ममे धर्म सेवन करना दूसरोंके गुणोंकी प्रशंसा करना अपनी आत्मनिंदा करना मत्स्य उच्यतेका मभाषण, क्रुट
 कर्कश गुहा—हास्य—और कामोत्पादक वचनोंका परित्याग झूठी माधीका परित्याग करना
 दूसरों की द्रव्यका अपहरण नहीं करना, अल्प आश्रम और परिग्रह रखना सतोग पूर्वक ज्ञान भावोसे रहना दूमगोंके
 वैर भावका परित्याग करा देना जीम मात्रके साथ मैत्रीभाव प्रकट करना । अन्य जीवोंको दुःखो से छुटाना । अपने
 स्वरूपका अभिमान नहीं करना । अभिमानका परित्याग करना । बलचर्यादि उत्तम भेषका धारण करना सत्य भाषण

संघस्य सेवनाद्धर्मकार्यस्य करणात्तथा । जिनयात्राप्रतिष्ठानां जिनमर्मोपदेशनात् ॥ ६८ ॥
 भवशीकरणाच्चैव परसौभाग्यवर्द्धनात् । हास्यत्यागात्प्रेषां च अकृतुहलकारणात् ॥ ६९ ॥
 इष्टकापाकदावांशं वर्जनात् धनरक्षणात् । निर्मापणात्तथा जैनविवांना धातुवस्तुभि ॥ ७० ॥
 तन्मसाढादस्य करणात् जीर्णोद्धारणात्तथा । आमणात्तद्व्यस्यैव पुवाहवने शुभे ॥ ७१ ॥
 तन्नामस्तवनाच्चैव अविडवस्य धारणात् । चतुर्णां च प्रशमनात् क्रोधाद्यानां सदैव हि ॥ ७२ ॥
 अपापकार्यजीवित्वात् पवस्तुविवर्जनात् । परापवादसत्यागात् परुषवाक्यलोपनात् ॥ ७३ ॥
 सुमुञ्जुसत्वदानाच्च जिनगुणस्यैव गायनात् । मृगादिपञ्चजातीनां नधनिर्नाशतात्तथा ॥ ७४ ॥

करना , मृदु वचनोका उच्चारण करना चतुर्विध सवकी सेवा करना धर्मकार्य में अत्यंत हर्ष सहित उत्साहित रहना । तीर्थ यात्रादि धर्म कार्योंमें तत्पर रहना श्रीमज्जिनेन्द्र भगवानकी प्रतिभा आदिका प्रतिष्ठा महोत्सव करनेमें समुत्सुक होना । श्रीजिनेन्द्र भगवानके शासनकी वृद्धिके लिये सत्य धर्मका उपदेश करना दूसरोको ठगने के लिये वशीकरण आदि प्रपच नहीं करना समस्त जीवोको सुखी करनेका प्रयत्न करना । हास्य और कौतुहल का त्याग करना वनमें अग्नि नहीं लगाना होली इत्यादि हिंसक क्रियाका परित्याग करना जैन मूर्ति निर्माण कर प्रतिष्ठापूर्वक श्रीजिनालय में विराजमान करना जैन चैत्यालय का बनवाना श्री जिनमंदिरकी स्थापना करना श्री जिनागम की वृद्धि और रक्षाके लिये सरस्वतीभवन खोलना गुरुओकी सेवाके लिये वसतिका (मठ) गुफा आदि का बनवाना प्राचीन जीर्णोद्धार श्री जिनमंदिर का जीर्णोद्धार करना भगवानका रथ महोत्सव करना जलयन्त्रा विधान करना अष्टोत्तर कलशों से प्रभु (श्रीजिनदेव) का महाभिषेक करना । अनेक प्रकार के गीत नृत्योके द्वारा भगवानके गुणोंका स्मरण करना रात्रि जागरण कर प्रभुके गुणोंका गान स्तुति भक्तिके द्वारा करना हिसादि पंच पापोंका परित्याग करना

अस्यैव आश्रनाश्रमे भवत्येव नरेश्वर । इत्यादिशुभसमावात् शुभान्नाश्रश्च कर्मणः ॥ ७५ ॥

सदैव शुभनामं च प्राप्तोत्येव अयं पुमान् । एभिः सुकर्मभिर्नृनं सदा शर्मप्रदायकैः ॥ ७६ ॥

तीर्थकराभिषो गोत्र अस्यैव परमेश्वर । नद्यते कर्मभि कैश्च निलिपाधिपवंदितः ॥ ७७ ॥

षोडशभावनाभिश्च भव्योत्तमस्य अस्य वै । श्रीतीर्थकरगोत्रस्य बधो भवति भूपते ॥ ७८ ॥

तेषा नामानि त्वं भूप शृणु एकाग्रमनसा । अनन्तशर्मसदानि सर्वेषामभितोषदे ॥ ७९ ॥

सम्यग्दर्शनशुद्धिमहानि कर शैलेति वज्रोपमा—माधा सर्वत्रतेषु मोक्षसुखदा भव्यैर्नरैः सश्रुताम् ॥ ८० ॥

क्रोधादि कषाय भावोंको छोडना पाप कार्योंकी आजीविका नहीं करना पशुओंके वधन लुडाकर अभयदान करना दूस-
गोंका अपवाद नहीं करना भूखोंको अबदान देना, दीन, अपगु, अंधा, कोडी, दुःखी जीवोंकी रक्षा करना, जीवोंको
पापमार्गसे बचाना, श्री जिनेंद्र भगवानके भक्त साधर्मि भाइयोंकी सेवा सुश्रुपा विनय तथा आदरभाव करना,
भोजन पानादिकसे संतुष्ट करना, स्थिरभाव करना वात्सल्य प्रकट करना, जिनमार्गकी प्रभावना प्रकट करना
इत्यादिक शुभ कार्योंसे शुभनामकर्मके आश्रव होते है ।

अर्थः— श्रीमत्तीर्थकर प्रशुका गोत्र कौनसे शुभ कार्योंसे होता है ?

हे मगधेश्वर इन्द्र नरेन्द्र धरणेन्द्र आदि समस्त त्रिलोकी जीवोंसे सदैव पूजित पचकल्याणोंके द्वारा जगतमें
परमाश्रयोंको प्रकट करनेवाले ऐसे श्री तीर्थकर प्रशुका गोत्र षोडश भागनासे बंध होता है । उनका स्पष्टीकरण विशेष
रूपके द्वारा बतलाते है उसको हे राजन् एकाग्र मनसे सुन जिससे पापोंका नाश हो ।

अर्थ—हे मगधेश्वर ! समस्त पापरूपी पर्वतों के नाश करनेके लिये वज्रके समान, समस्त व्रतोंमें मुख्य
से सदैव आराध्य समस्त दोषोंसे रहित समस्त जीवोंका उपकार करनेवाली यह दर्शनशुद्धि भावना है । जो

दोष सर्वविवर्जितां मुनिवरो यो धारयत्येव मो । नन्मैव लभ्यते हो वरमति सद्भावना भुषते ॥ ८१ ॥

यो रत्नत्रयपालकेषु मुनिषु अत्यंतहर्षोत्सदा । कुर्वादेव विनाशपाशुं द्रा निर्माणशर्मपदम् ॥ ८२ ॥

नानाशर्मपदयुक्तं च वित्तय प्राप्नोति सैव द्रुव । सर्वेषु विनयाभिषा मन्नुता सद्भावना भेषिक्त ॥ ८३ ॥

सर्वेषु योहि धत्ते असमगुणनिधि शीलव्रतेषु मौनी । अनतीचारत्वमेवानुदिन सर्वत्रैवैवगुरुषा नरेन्द्र ॥ ८४ ॥

मुनीश्वर इस पवित्र भावना को परिणामोंकी विशुद्धता से धारण करता है वह श्रीतीर्थंकर मोनका वध अवश्यही करता है ।

पचीस दोष रहित आठ गुणों सहित निर्मल परिणामों से श्रीजिनदेव जिनाभम-और श्रीजिनगुरुका श्रद्धालु पूर्वक सम्यग्दर्शनको धारण करना सो दर्शनविशुद्धि है ।

अर्थ—हे श्रेणिक ! रत्नत्रय और रत्नत्रयही पालन करने वाले मुनिजनोंकी अतिशय भक्तिपूर्वक और अत्यंत हर्षके साथ निष्कपाय शुद्ध भावोंसे विनय करना उनके गुणोंमें आसक्त होना, हाथ जोड़कर नमस्कार करना अंतरंग परिणामोंसे अतिशय पूज्य मानना लोकोत्तम शरणभूत और मोक्ष मार्गके हितकारी समझना सो विनय नामकी भावना है । इसमें सर्व सुखकी प्राप्ति होती है ।

देव शास्त्र और गुरुको सत्य सत्य प्रमाणित मानकर आत्महितके लिये सेवा भक्तिपूर्वक विनय करना चाहिये । इसी जिन धर्म जिनचैत्य जिनचैत्यालय धर्मको धारण करनेवाले भव्यजीव आदि की तथा योग्य विनय करना चाहिये ।

अर्थ—हे श्रेणिक ! जो भव्यजीव समस्त व्रतों में अतीचार नहीं लगाता है, मन नचन कायकी विभार भावना से सम्यक् श्रद्धा पूर्वक पालन करता है और अपने व्रतोंको सर्वोत्कृष्ट समझकर निर्मल भावोंसे निरूपण (निर्व्याघ्रा)

अनतीचारस्वप्नशा परमपददा भावना धर्मवीणा । वद्या इन्द्रादिदेवै सकलमलहरा पालयत्येव नूनम् ॥ ८५ ॥
 ज्ञानं दोषविवर्जितं जिनसुखादुत्पन्नमेव शुभ । पापापापविभेदक रविप्रम त्रेधा विशुद्धया मुनि ॥ ८६ ॥
 काले काले सदैव सु ष्ठति य ईदृश धर्मवीज । शुद्धा सैव सुभावनामघहरा ज्ञानाभिधा शप्रदाम् ॥ ८७
 संसार दुःखमूल बुधजननिकरै सर्वकालेषु हेयं । निस्सारं शर्महीनं सकलविधिकरं पारहीन अमन्यै ॥ ८८ ॥

पूर्वक पालन करता है वह सगस्त उत्तम सुखोंको प्रदान करनेवाली देवीसे पूजित शील व्रतेषु अनतीचार नामकी भावना को धारण करता है ।

अर्थ— हे श्रेणिक्र जो भव्यजीन दोष रहित-श्रीजिनद्र भगवानके मुख कमलसे उत्पन्न हुए सम्यग्ज्ञान का मन वचन कायकी विशुद्धिस कालमें पठन पाठन मनन स्वाध्याय करता है वह ज्ञान भावनाको धारण करता है ।

श्रीजिनागमके श्रद्धापूर्वक विशुद्ध भावोंसे पठन पाठन करना सो ज्ञानभावना है । जिनागम ही धर्मका बीज है । पापोंका नाश करने वाला है और आत्मा आदि असूतीक अतीन्द्रिय पदार्थोंको प्रकाशने के लिये सूर्यके समान है । कल्याण मार्ग इससेही प्रकट होगा । वस्तुका यथार्थ परिज्ञान जिनागम से ही प्राप्त होगा । इस प्रकारके भावोंसे श्रीजिनागमका अभ्यास करना और इसके सिवाय अन्य ज्ञानको संसारका मार्ग समझकर त्याग करना सो ज्ञानभावना है । अपने वालक चालिकाओंको भी जिनागमका अभ्यास सबसे प्रथम कराना चाहिये । अन्य ज्ञानके अभ्याससे बुद्धि मलिन और संस्कार मलिन होते हैं ।

अर्थ— संसार दुःखका मूल है । विचारशील भव्यजीव इस संसारको मूर्खता हेय और निस्सार समझते हैं । इसमें रच मात्र सुख नहीं है । समस्त उत्तम कार्योंका नाश करनेवाला है । उसका पार पाना अभव्योंसे कठिन

एव चित्ते विचारं सकलविधिहरं गो मुनिर्भावशुद्ध्या । सैव संवेगसंज्ञा सुमजति नृपते भावनां कुर्वते हि ॥ ८९ ॥
 शाल्यनुसास्तौवै सकलशुखवरं पुण्यबीजं सुदानम् । पात्राय यच्छति यः सकलमतिप्रदं शुद्धभावाचतेन्द्र ॥ ९० ॥
 त्यागाख्या सैव नूनं लभति च नृपते भावना भावशुद्धया । अहानाः वारानाशे ह्यसुखमवहारा वज्रतुल्या सदैव ॥ ९१ ॥
 प्रोक्तं श्रीजिननायकैर्मुनिवृत्तं संसारपापप्रदम् । नानार्जुमविनाशक मुनिवरो यः शक्तिलोपादृते ॥ ९२ ॥
 पाल्येव विशुद्धितो हि अमलं द्विपट्टप्रभं सत्तप । भैव भो मगधाधिप सुतपजा ता भावना सेवते ॥ ९३ ॥

साधूना साधुबुद्ध्या अमलगुणप्रदा यः करोति नरेन्द्र । तेषामुत्पन्नविघ्नेनश्नत्तपवरात् शीलसद्ब्रुतानाम् ॥ ९४ ॥
 है । ऐसे ससारको अपना हितरूप न समझकर संसार मंत्रांध भोगोपभोगोपर ममत्व भावना त्याग करना और ससार की चाहना मन वचन कायकी शुद्धिसे नहीं करना भो संवेग भावना है । समारसे विरक्तता और आत्मभावना सो सवेग भावना है ।

अर्थ—हे राजन् अपनी शक्तिके अनुसार भक्तिपूर्वक भावोकी विशुद्धिसे 'मन वचन काय और द्रव्यकी शुद्धिसे पात्रमें दान देना सो त्याग भावना है । इस प्रकार नित्य ही पात्रमें दान देनेकी उत्कट भावना और अत्यत हर्षित परिणाम त्यागभावना के उत्पादक है । इस प्रकार की भावनास समस्त सुख प्राप्त होते है ।

अर्थ—हे मगधेश्वर श्री जिन्द्र भगवानने संसारका नाश करनेके लिए और समस्त कर्मोका विध्वंस करनेके लिए अत्यंत पवित्र बारह प्रकारका तप प्रतिपादन किया है । उसको जो यतीश्वर भावोकी विशुद्धिसे अपनी शक्तिको नहीं छिपाकर धारण करते है वे तपोभावनाका पालन करते है ।

अर्थ— हे मगधेश्वर शील संयम व्रत तपयुक्त साधुपणोंके व्रत नियम तपादि अशुभानमें आनेवाले विघ्नोका दूर करना, अतिसय कठिन पाषाण आदि पर योग धारण करनेपर आये हुए दुस्सह उपसर्गोंके विघ्नोको दूर कर

योगाना धारणाद्धै अतिकठिनशिलातिष्ठनाञ्चोपसर्गति । दुष्टाना योगतो वै त्रयमनिग्रहपालकाना सेवैव ॥
 राक्षतालापबोधे परममुल्लसदौ पापसतापहारै । वान्योपायैर्मुनीन्द्र तदुपग्रामनं भो वाहि विप्रस्य नाश ॥ ९५ ॥
 यथा पुञ्जा मुनीन्द्रै शुभागुणपदा भावना मोक्षबीजा । साधुममाधिसजा परमहितकरा सेव प्राप्तोति नूनम ॥
 मुद्धाद्याना मुनीना परमगुणमता क्रियते यो मुनीन्द्र । पादादिर्मर्दनाद्वि मरुत्सुगुपदा भैव नृणेन्द्र नूनम् ॥ ९६ ॥
 वैशावृत्य च सैम लभतिच शिवदा सर्वव्रतेषु सारा । वैशावृत्यास्त्वययुक्ता मरुत्त्विविधिद्वग भावना मन्त्रव्यवसाय ॥
 विधीयते गस्त्वपनादिजाप्य स्वैव तथा तदुणचित्तमच । श्रोमन्देता शुभभावशुद्ध्या मन्त्रैः काले मुनिमत्तमोहि ॥ ९७ ॥
 रत्नत्रय की रक्षा करना । आदि व्याधि और दी उपसर्ग आजाने पर ममम और रत्नत्रय की रक्षा करना दुष्ट मनुष्य
 तिर्यच और देव आदि से होनेवाले उपद्रवोंसे रत्नत्रय की रक्षा करना मरणादिक मयकर उपद्रव उपस्थित होनेपर
 शाल्वों का उत्तम धर्मोपदेश-सम्यग्ज्ञानका महदुपदेश मममकी निस्मारता आदिका प्रदर्शन कर रत्नत्रयकी रक्षा करना
 समाधिभरण समय सेकैश परिणामोंसे सद्भाव द्वारा रक्षा करना सां मव साधु ममाधि है । उम भावना में आत्मा
 स्थिर-शात-और आत्म भावनामें लयलीन रहता है ।

अर्थ—हे राजन् ! वृद्ध बाल असमर्थ रोगी ऐसे परम गुणवान् मुनीश्वरोंकी बृहद्यमे मक्तिपूर्वक सुश्रुषा पाद
 मर्दन-आदि अनेक प्रकार से वैशावृत्य करना सां वैशावृत्य सामना है । रोगी मुनियोंको ओपधी (प्रासुक और रोग
 को नाश करने वाली) प्रदान करना असमर्थ और क्षीतादिसे पीडित मुनियोंको चमत्कादि प्रदान कर वैशावृत्य
 करना बाल मुनिया को जिम प्रकार धर्ममें दृढता प्राप्त हो वैसे वैशावृत्य करना चाहिये ।

अर्थ—हे राजन् ! जो श्रीमान् जगत पुञ्ज अरहत भगवानकी प्रतिमाको साक्षात् अग्रहत मानकर भक्ति-

सैव नरेन्द्र भजते विशुद्धा भक्तिं मनः पापविमलकानाम् । तत्राभजा ता शुभभावनाहि सत्सातदा भव्यनैः प्रपुष्याम् ॥ ९८ ॥
 आचार्याणां करोति परमहचिवशाःपादपद्मस्थं पूजा- । मश्रुत्यां तदासे सन्मुखप्रगमनं सत्रप्रस्थं विधानम् ॥
 आज्ञादानं च तथा पुनः प्रणतयो यतीन्द्र त्रिशुद्ध्या । प्रामोति भावना स सकलमुनिनुता सरिभक्त्याल्ययुक्ता ॥ ९९ ॥
 शास्त्रावियोगेषु सुमनिषु मतिमान् यो विधत्तेनुराग । वचनालपरिन्त्यै गुणयश कथनैःश्रुत्यानादिकैश्च ॥

सैव बहुश्रुतजा सत्रा सुखप्रदा भी मृणते भावना । लभते सधमथी सुभागुणयुक्त द्वापरो नात्र भव्य ॥ १०० ॥
 पूर्वक विशुद्ध भावसे (मन वचन कायकी शुद्धतापूर्वक) पचासुताभियेक पूर्वक पूजा करना गुणगान करना स्तनन करना पूजन करना वदन करना अष्टविधार्चन करना आदि समस्त रूपसे श्री जिनेन्द्र भगवानके स्वरूपका चिंतन करना सो सब अरहत भक्ति है ।

हे राजन् जो हृदयकी विशुद्धि और भक्तिभावनासे आचार्य परमेष्ठीके चरणकमलोंकी पूजा करना आचार्य महाराजको सामने आतेही [देखकर । खड़े होजाना हाथ जोड़कर विनय से नमन करना उनके पीछे पीछे विनयसे चलना उनकी आज्ञाको शिरसा बंध समझकर बहुत मन्मान पूर्वक धारण करना उनका योग्य सम्मान कर सदैव अर्चना करना उच्च आसन देकर अभ्यर्थना करना और उनकी सेवा सुश्रुषा करना सो आचार्यभक्ति है ।

अर्थः— हे राजन् जो ममस्त शास्त्रके पागामी और आगमको जाननेवाले ऐसे उपाध्याय परमेष्ठीकी भक्ति करता है, उसके बहुश्रुत भक्ति होती है । उपाध्याय परमेष्ठीकी आज्ञाको शिरोधारण करना, विनय करना, सेवा सुश्रुषा करना, हाथ जोड़ना, नमस्कार करना, मधुर वचनालापसे संतोषित करना, पाद मर्दन करना इत्यादि अनेक प्रकारसे भक्ति की जाती है ।

जिसके आगमपर पूर्ण विश्वास है ऐसे भव्य जोय अपना हित आगमसे ही मानकर आगमके ज्ञाता

शुद्ध श्रीमज्जिनोक्ते सकलसुरागणैर्माननीये प्रपूज्ये । भयाना ताके हि अमलमतिप्रदे तत्वदीपे मनोज्ञे ॥

भूपेदृक्षे करोति मुनि च प्रवचने भावशुद्धयानुराग— । मामोति शर्मदां य प्रवचनसुनामजां वरां भावनां स ॥ १०१ ॥

आवश्यकानि मुनिसत्तमाना यो विद्यते पट् शिवदायकानि । काले च काले सकलांहान्यै त्रिशुद्धितो वै मुनिसत्तमश्च ॥ १०२ ॥

सो भावना संभजते हि आवश्यकपरिहाण्यभिधा विशुद्धान् । सामायिकाद्यानि शुशुद्धकानि तेषाच चित्तस्य अतो हि कार्या ॥ १०३ ॥

उपाध्याय परमेश्वरीकी पूजा भक्ति कर समस्त सुखको प्राप्त होते है ।

अर्थ:— हे राजन् जैनागम समस्त देव, इन्द्र, नरेंद्र और गणधरेंद्रोंसे पूज्य है । भव्य जीवोंको ससारममुद्रसे धार करनेके लिये समर्थ है, उत्तम निर्दोष ज्ञानका प्रदान करनेवाला है, जगत उपकार करनेवाला है, समस्त तत्वोंका प्रकाश करनेवाला है । ऐसे सर्वोत्कृष्ट जिनागमकी भाव शुद्धिसे शत्रु नष्ट कर भक्ति करना सो श्रुतभक्ति है ।

एक श्रुतभक्तिसे जीव मम्यदर्शनको प्राप्त कर मोक्षसुखको प्राप्त होता है । देशनाके विना किसी जीवका हित नहीं हुआ है । इसलिये जिनागमपर पूर्ण श्रद्धान रखकर आत्मकल्याण करना चाहिये ।

अर्थ—हे राजन् ! पट् आत्मशुद्ध करिजाओका पालन करना नितांत आवश्यक है । जो भव्यजीव शरीरादिके अस्वस्थ हो जानेपर—और (गृहादिकके) आवश्यक कार्य उपस्थित होनेपर भी पट् आवश्यक क्रियाओंके पालन करनेमें प्रमादी नहीं होता है वह इम भावनाको पालन करता है ।

सामायिकादि पट् आवश्यक कर्मोंको जो अपना मुख्य कर्तव्य समझता है और समस्त कार्योंको छोड़कर समस्त प्रकारकी क्रियाओंको रोककर मन वचन रूप की एक भावनासे पट् आवश्यक कर्मोंका पालन करता है वह इस श्रेष्ठ भावनाका आराध्यक होता है । इस लिये जिस क्रियाका जो समय है उस समय वह आवश्यक क्रिया अवश्य ही करनी चाहिये ।

शुद्धव ज्ञानयोगात्पुन जिनप्रभान्नाद्धा चतुर्दानदानान् । विद्यामत्तद्य नं-नाटनित्यज्जगतीश्वर्यापि ज्ञानात् ॥

इत्यादिहेतुनार्वि परममतिप्रयुक्तं य ह्योनि त्रिशुद्धया । श्रीमज्जिनेन्द्र गिरेश चतु न्युपने सुप्रभाव मनोज्ञम् ॥ १ * ४ ॥
गान्धोति मेव नूनं शिमपदजनका चित्तपारिद्वर्त्री । मार्गप्रभावनां च जिनपरमरदा धर्मवृद्धे प्रोभात् ॥

अर्थ—हं राजन् जो भव्य जीप ममोच्छुष्ट जिनागमके ज्ञानके द्वारा समस्त सत् पतंतरेके अमत् (मिथ्या) तत्त्वोंका खंडन कर मत्प्य और प्रसाणित अनेकान्त स्वरूप तत्त्वोंका प्रकाश कर जैन गायनकी इष्टता करना है वह मार्गप्रभावना प्रकट करता है । अथवा शास्त्रार्थके द्वारा जैन मतकी ममोच्छुष्टनाका प्रकाशना से मार्गप्रभावना है ।

भगवानकी प्रतिमाका विशुद्ध भावसे और उन्गा गीत नृत्यादि पूर्वक पंचामृताभिषेक जल्पयाना प्रतिष्ठा महोन्मव-ग्यमहोन्मव-और चतुःमवको दान प्रदानके द्वारा महान प्रभावना की जाती है ।

इसी प्रकार मत्रकी शक्तिसे अनेक प्रकारके चमत्कार उत्पन्नकर अमका प्रभात प्रकट कर समस्त दुर्गोदि जोर जड शब्दानी जीवोंको तन्मार्ग में लया देनेसे भी प्रभावना होती है ।

इसी प्रकार जप-तप-नीश्यात्रा-जिनमंदिर निर्माण आदि धार्मिक कार्यों की महिमा प्रदर्शन करनेसे मार्ग-प्रभावना होती है ।

अथवा चतु मव (बुनि-आर्षिका श्रावक आर्षिका) निकालकर धर्मका उद्योत करने से भी मार्गप्रभावना होती है ।

जीवों का अमयदान प्रदान करने से और परोपकार केलिये करुणादान करनेसे भी प्रभावना होती है । इस प्रकार जैनधर्मकी महिमा अन्य मिथ्यामतियोंमें प्रकट कर देनेसे धर्मका प्रभाव प्रकट होता है । अपनी शक्तिके अनुसार जैनधर्मका प्रभाव प्रकट करना से मार्गप्रभावना है ।

बुद्ध्या धर्मस्य लोके किमपि न भवति दुःखपत्तिः शरीरे । शक्त्यानुसारयोगासुखनिवर्गणे सर्वदैव प्रकार्या ॥ १०५ ॥

पुरुषे भुप करोति यः सुहृदा स्नेह महानददं । स्वकसे हि यथा च शृंगिणि तथा सद्यः प्रसूता मुदा ॥
धर्मं जनेन्द्रस्थे भजति प्रवचतवदसल्लख्ययुक्ता । मैव सत्त्वर्मकारा परमगुणपदा भावना भो मुनीन्द्र ॥ १०६ ॥

एतानि मगधाधिप हृदि सदा जानीहि तीर्थकरस्यैव । तानि योडश कारणानि सुखदान्येवाहुः सुस्मरणे ॥

अस्यैवाश्रवकारणानि सःसल्लेखादिवद्यस्यैव । ससारातपधार्तकस्य सुमते हे हि भवत्येवच ॥ १०७ ॥

लोपनं सद्गुणानां च इतराणां प्रकाशनम् । एगिहि कर्मभिः सैव चतुर्भिः दुःखदायकैः ॥ १०८ ॥

लभत नीचगोत्रं च शृणु त्व वर्णनं ह्यग । एतेषामेकचित्तेन प्रवर्धयेहं पृथक् पृथक् ॥ १०९ ॥

धर्मकी बुद्धि-धर्मकी स्थिरता-और धर्मकी महिमा प्रकट होने से यह भावना सर्वोत्कृष्ट है । ममस्त पापोंके नाश करने वाली है और समस्त प्रहार के सुखोंको प्रदान करनेवाली है ।

अर्थ—हे राजन् जो अन्धजन्तु श्रीजिनेन्द्र देवके पवित्र धर्मको धारण करनेवाला है और जिसके देव ग्राह्य गुरुका पूर्ण श्रद्धान है उसको अपना धर्मबंधु समझकर गाय और वछडेके समान श्रेयभाव करना उसको साधर्म्य भाई मानकर आदर सत्कार करना सो प्रवचनवात्सल्य भावना है ।

अर्थ—हे राजन् ! उपर्युक्त दर्शनविशुद्ध्यादि योडश कारणभावनाएँ तीर्थंकर गोत्रके आश्रय करने वाली है । देवसे पूज्य और लोकोत्तम महिमाको प्रदान करने वाली है और संसारके समस्त पापोंको नाश करनेवाली है इसलिये भावोंकी विशुद्धिसे नित्यही भावना चाहिये ।

अर्थ—हे राजन् ! दूसरोंके सद्गुणोंका प्रकाश करना, दूसरोंके मिथ्या दोषोंको प्रकट करना और अपने दोषोंको ढक देना इससे नीच गोत्र कर्मका आश्रय होता है जिसका स्पष्टीकरण करते हैं सो

परनिदाभिधं दोष भजते परनिदनात् । अयं पुमान् न मंद्रेह अन्तर्भवतु खदम् ॥ ११० ॥
विधीयते च य म्वस्य प्रजसा पन्ना मदा । प्रशंसाम्य च दुर्दोषं मेव समापत्ने वृत् ॥ १११ ॥

ज्ञानसत्त्वोपुक्तस्य पुल्लस्य महत्तन्त्रा । परोपकारकर्तुं च जिनधर्मतरस्य च ॥ ११२ ॥
पालकस्यैव शीलस्य धर्मोपदेशस्य च । मन वा श्रावकस्यैव व्रीतगणमतस्य च ॥ ११३ ॥

इत्यादिसद्गुणानाच धारकस्य नाम्यहि । सद्गुणान तस्य यो मर्थं वैश्यागुणान् ॥ ११४ ॥

एकाग्र मनमें श्रवण करना चाहिये ।

अर्थ—हे राजन् ! दूसरीकी निंदा करना दूसरे जीवोंके परोक्षरूप अपवाद या मलिन वचन बोलना बुराई करना-उसकी निंदा बहते हैं । (समाचार पत्रोंमें भी यह निंदा की जा सकती है) मनकी कुटिलता में दूसरीका अभ्युदय सहन नहीं होनेके कारण उसको गिरा देनेके भाव प्रकट करना सो निंदा है ।
हे राजन् ! जो अपने गुणगान अपने आप करना अथवा अपने में गुण नहीं रहनेपर मिथ्यारूपसे करना अपनी प्रशंसा कीर्ति और बढ़ाई के लिये कहना सो आत्मप्रशंसा है ।

अर्थ—सम्यग्ज्ञान सम्यक्कृतप और सम्यक् चारित्र्य सहित महान पूज्य पुरुष तथा जगतके जीवोंको सम्मार्ग में लगानेवाले श्रेष्ठ उपदेशक-श्री जिदधर्मको पालन करनेवाले मिथ्यामार्गिका परित्याग करनेवाले शील धर्मको बढ़ाने-वाले ब्रह्मचर्यकी महिमाको व्यक्त करनेवाले धर्मका उपदेश देनेवाले ऐसे मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका-जिनधर्म धारक भव्य जीवोंके उन सर्वोत्कृष्ट गुणोंको धारण करने वाले को उनके दुष्परिणामोंसे दूर देना उनकी प्रशंसा और उनका आदरभाव नहीं करना सो सद्गुणोच्छादन नामका दोष है ।

आच्छादयति यो भूप महान् दुर्बुद्धिमदित । सदगुणोच्छादनाख्यच स दोष भजते खलु ॥ ११५ ॥
केचिन्कारणैर्नैव कस्यैव पुरुषस्य च । किमपि आगत दोष प्रकटं त करोत्यहो ॥ ११६ ॥
असद्गुणोद्भावनच स दोष भजते पुमान् । महादु खस्य कर्तार नीचगोत्रप्रदायकम् ॥ ११७ ॥
चत्वारि खलु कर्माणि एतानि माधेधर । अस्य मलिनगोत्रस्य आश्रवकारणान्यहो ॥ ११८ ॥
भवत्येव पुन त्वं च शृणु अन्यानि नृप । कारणानस्य संक्षेपात् तु गोत्रकर्मदायकान् ॥ ११९ ॥
करणाद्यातिमदस्यैव कुलरूपमदस्य च । शिल्पिज्ञानबलस्यैव तपश्चैर्धर्म्यकस्य च ॥ १२० ॥
प्रेषामपमानस्य चापवादस्य कारणात् । वृथा हास्यैव कारणात् परब्रधस्य दानत ॥ १२१ ॥

गुणोकी प्राप्ति गुणोंमें और गुणी जनोमें अदुराग करनेसे होती है । परन्तु जिस मनुष्यका मन दुष्ट है वह मनकी दुष्टतासे उन गुणी जनोका आदर नहीं करता है और न उन सर्वोत्कृष्ट गुणोको धारण करनेकी भावनाही व्यक्त करता है बल्कि उन गुणोको डाकता है । ऐसे समय वह सदगुणोच्छादन नामके दोषको प्राप्त होता है ।

अर्थः— हे राजन् किसी एक कारण विशेषसे । अनिवार्य कारण विशेषसे) किसी एक भव्य जीवको कोई भी दोष लग गया हो तो उसको प्रकट कर देना सो असद्गुणोद्भावन नामका दोष है । अथवा मिथ्या द्रवण लगाकर प्रकट करना सो भी असद्गुणोद्भावन नामका दोष है । इससे नीच गोत्र कर्मका आश्रव होता है ।

अर्थः— हे मगधाधिप उपर्युक्त चार कारण नीच गोत्रके आश्रव करनेवाले है । कुलमद १, जातिमद २, रूपमद ३, शिल्पिज्ञानमद ४, बलमद ५, तपमद ६, ऐश्वर्यमद ७, क्रद्धिमद ८ आदि आठ प्रकारका अभिमान दूसरोका अपमान करना, दूसरोका तिरस्कार करना, वृथा हसना, दूसरोकी इसी कर नीचा दिखाना, दूसरोका वधबंधन

उद्घाटनादुरुणा च गणभस्म करणान् । द्रोणणा कथनासिंहा तथावगातकारणात् ॥ १२२ ॥
 निभस्मिन् पुनस्तेषां भजयथोदनालथा । मृतमङ्गलान्चैव अन्मृगानाम् करणान् ॥ १२३ ॥
 इत्याद्या हि नाम्यास्य आत्रवाश्रय भवद्दो । मारुट् पद्म गान्धरी नीचगोत्रस्य दायका ॥ १२४ ॥
 आत्मनो निन्दनाञ्चैव श्रेणा च प्रजमनात् । मृदुणोद्भाननाञ्चैवास्युञ्च्यदनासुनः ॥ १२५ ॥
 तथा नीचवृत्तित्वात्पुसेफच अन्निहि । ऋषि आश्रया उक्त्वोत्तम्ये मे शुभ ॥ १२६ ॥
 नीचवृत्तेन्मथा म्यामित्ति अस्तुपेनस्य त्पुणान् । किं स्याद्वि तच्छुगु च्च्य म्नाशमेभद नृप ॥ १२७ ॥
 म्यात्मनो गुणवृष्टे जानाथै यो ऽट गन्धव । प्रहृषीभाव म्गोत्रेय चित्तशुद्धया नरेषु हि ॥ १२८ ॥
 करना, गुरुओंके दोषोक्ता उद्घाटन करना परामर्श करना, गुरुओंकी निंदा करना, गुरुओंको अवर्णनाद लगाना, अपमान करना, गुरुको देखकर मूढ़े नहीं होना, हाथ नहीं जोड़ना, नमस्कार नहीं करना, धर्मका अनुगम नहीं करना, धर्मकी निंदा मजाक और हसी करना, श्रेष्ठ आचरणोंकी हमी करना, निंदा करना, चाण्डियमका लोप करना इत्यादि अनेक नीच गोत्रके आश्रय हैं ।

अर्थ—अपनी निंदा करना—दूमरोके गुणोंकी प्रशंसा करना अपने गुणोंका आच्छादन करना और दूमरोके गुणोंको प्रगट करना दूमरोके दुर्गुणोंको ढांक्ना अपने दुर्गुणोंको निकालनेका प्रयत्न करना इत्यादि कारणोंसे ऊच गोत्रका आश्रय होता है ।

अर्थ—हे भगवन् नीचवृत्ति नामक गुणका क्या लक्षण है ? हे राजन् जो अपने से अधिक गुणवान् चारित्रवान् और सम्पददर्शनादि उत्कम गुणोंसे संपन्न हो उसको देखकर हर्ष करना, गुणी और सयमी देखकर प्रमोद भानना प्रकट करना धर्मात्मा भाईको देखकर हर्षित होना, मनकी प्रफुल्लता प्रकट करना—गुरुजन (गुणोंसे वृद्धिगत) को देखकर

नमस्कारं तथा हर्षादि-शुभान् सुभाषणम् । उपवेशनं तस्माद्दि नोचस्थानेषु नन्ददम् ॥ १२९ ॥
 नीचैर्द्वैत्यमिध सैव गुणमाप्नोति शोभनम् । नम्रन्वात्सर्वकार्याणां सिद्धिर्भवति निश्चयात् ॥ १३० ॥
 ज्ञानसत्त्वोयुक्तोपि तथान्यगुणमडित । तथापि नो करोत्येव यो मदं म्बालसि नृप ॥ १३१ ॥
 मेव संभजते नूनमनु सेकाभिध गुणम् । समारवनदावाग्ने सहश मोक्षशर्मदम् ॥ १३२ ॥
 पयि षट्कर्मभिश्चास्य वधो भवति मूर्खे । उच्चगोत्रस्य मर्यस्य नाक्रमोक्षस्य दायकम् ॥ १३३ ॥
 अष्टाना मदसत्यागात्सरेषा मानवर्द्धनात् । अन्हास्यैव कर्णात् मृदुवचनभाषणात् ॥ १३४ ॥
 अपविवादनस्यैव कर्णाज्जिनपूजनात् । कुपुष्याना नराणां व सत्कारादिककारणात् ॥ १३५ ॥

नमस्कार करना उच्चासन देना साथ जोडना मिष्ट सभापण कर उनके नीचे बैठना दृष्टिको नीचा कर विनयभावसे रहना उनकी आज्ञाको शिरसा वद्य ममझना भोजन पान दान सन्मान आदिद्वारा उनकी पूजा करना-स्तुति करना प्रशमा कर उनके गुणोको महान पृष्य मानना सो नीचवृत्ति नामका गुण है ।

अर्थ—अपनेमें निर्दोष ज्ञान और उत्तम तप विद्यमान होने पर भी अथवा अन्य चारित्रादि उत्तमोत्तम गुण विद्यमान होनेपर भी अभिमान नहीं करना और अपने परिणामोको मरल व कोमल रखना-सो अनुत्तम नामका गुण है । इम प्रकार षट् कारणोसे उच्चगोत्रका आश्रय होता है ।

अर्थ—आठ प्रकारके मदोका परिस्थाय करना, गुणयान् व्यक्तियोका योग्य सन्मान करना उनका आदर भाव-प्रशमा-गुणकीर्तनादिक करना दूसरोकी हसी नहीं करना सदैव मीठे वचन बोलना दूसरोको तिरस्कार करनेके भाव नहीं करना मुनिजनके सम्भावसे मलिन और स्तनत्रयसे पवित्र ऐसे शरीरको देवकर ग्लानि नहीं

गुरुणा सद्गुणाढ्यानामनुद्भूतपरवर्तनात् । तेषाच स्तवनादभ्युत्थानस्य करणात्तथा ॥ १३६ ॥
 स्थानार्पणाञ्च सन्मानविगानाद्गुणव्यापनात् । निवारणास्परेषाच पीडादिकर्मणस्तथा ॥ १३७ ॥
 इत्यादयोपि अस्यैव वक्ष्यन्ते आश्रवाश्च नु । महागोत्रस्य कर्तारं शुद्धभावान्नाराधिप ॥ १३८ ॥
 गमि सुकर्मभिश्चाय पटवडपालकस्यच । बलभद्राच्युतस्यैव कामदेवस्य भूपते ॥ १३९ ॥
 इत्यादिकस्य संशुद्धे नाना सपद्धिभूषिते । नरोत्तमस्य भो नूनं सद्गोत्रे सुरवंदिते ॥ १४० ॥
 उपपद्यते महाशर्म तत्र मुक्त्वा ह्यनुक्रमात् । निहत्य कर्मसंदेहं तपसा याति सत्यदस ॥ १४१ ॥
 महत्कुलोद्भवा मर्त्या ये भवन्ति शुभोदयात् । सारवीर्यादिसपन्ना तेजसा भास्करोपमा ॥ १४२ ॥

करना श्री जिनेन्द्र देव की प्रतिमा का नित्य पूजन अभिषेक और इसी प्रकार स्तवन गुणकीर्तिन करना पुरुषोंका सत्कार करना गुरुओंके साथ नम्र भावसे विनीत स्वरूपमें रहना—उद्धृतताका परित्याग करना गुरुओंकी पूजा सन्मान प्रभावनाके साथ शुद्ध भावसे करना अभ्युत्थान प्रणामांजलि करना उच्चासन प्रदान करना गुणोंका यशोगान करना दूसरोंके दु खोंको निवारण करना गुरुओंको योग्य वसतिका गुफा बनवाकर प्रदान करना और गुरुओंके लिये योग्य औषधी बनाकर प्रदान करना इत्यादिक शुभ कार्योंसे ऊच गोत्रका कर्माश्रव होता है ।

अर्थ—इस प्रकार उपर्युक्त शुभ कार्योंसे चक्रवर्ती बलभद्र नारायण कामदेव आदि पदवी धारक पुरुषोंके ऊच गोत्रको प्राप्त होता है । जिस गोत्रस उत्तम हुए पुरुषोंकी देवगण भी नित्य सेवा करते हैं और जो लोकमें उत्तम समझा जाता है । जिस ऊच गोत्रको प्राप्त करने पर ही भव्यजीव मोक्ष मार्गके योग्य होता है । ऊच गोत्रके प्रभावसे ही जीव कर्माका नाशकर मोक्षसुखको प्राप्त होता है । ऊच गोत्रसे जीव महान उत्तम कुल उत्तम जाति और उत्तम

चद्रप्रसमा कात्या प्राप्तुवयेव ते तथा । शिवशर्म निरात्राधं कर्मातीत च्युतोपमम् ॥ १४३ ॥
 पचभिः कर्मभिश्चैव भवति आश्रवोऽस्य नुः । नानादु खप्रदैनमतरायस्य कर्मण ॥ १४४ ॥
 दानस्य चैव लाभस्य भोगोपभोगकस्यच । वीर्यस्यैव करो येन विघ्न स्वरय कुबुद्धित ॥ १४५ ॥
 दातुः पात्रस्य भो भुपास्थवहि व-शते च यः । खत्सनि शर्महृत्तारमतरायाभिध विधिम् ॥ १४६ ॥
 यच्छति कोपि पात्राय दानमाहारसंज्ञकम् । वज्रयस्यैव त कोपि महाकृष्णभानयुक् ॥ १४७ ॥

वशको प्राप्त होते हैं । जिनको अतुल बल वीर्य प्राप्त होता है । जिसका प्राप्त करना बड़ा ही दुर्लभ है । जिम कुलमें तेज क्रातिरूप आदि सर्व आश्चर्यकारी महिमा होती है । और अतमें मोक्षसुखको प्राप्त होते हैं ।

अर्थ—हे राजन् ! इस जीवको पाच प्रकार कारणोपे अंतराय कर्मका वध होता है ।

दानांतराय—लाभांतराय—भोगांतराय—उपभोगांतराय—वीर्यांतराय । इम प्रकार पांच कार्यों में विघ्न करना सो इमसे अंतराय कर्मका वध होता है ।

यदि दाता इस प्रकार दानादिक कार्योंमें विघ्न करता है तो दाताको अंतराय कर्मका आश्रय होगा । यदि मात्र इस प्रकार विघ्न करावे तो उमको आश्रय होगा । इसका स्पष्टीकरण आगे लिखा है ।

दानांतराय —

अर्थ—हे राजन् कोई भव्य जीव किसी पात्रको आहार दान करनेका भाव करता हो या देता हो उसको देखकर कृपणबुद्धि से या दुर्भावो से निषेध करना, अथवा कोई विशेष कारण वतलाकर दान करनेसे रोक देना या बुद्धि को धारण कर पात्रकी अयोग्यता (मिथ्या कल्पनाकर) प्रकट कर दान देने में विघ्न कर देना इत्यादि

केनचिद्वा कुतुब्धेन प्राप्तिपुत्रादयस्यहो । येन तस्यैव दातुश्च मतिर्दानि न जायते ॥ १४८ ॥
 दानात्तयादुःकर्म म लाभस्यैव मूढधी । अग्नेन कर्माणा तस्य दानासिर्नो भवत्यहो ॥ १४९ ॥
 लाभसिर्जायते कस्य विधातार्थं न तस्य वै । कुतुब्ध्या यः स्तोत्रेयैव लाभस्यैव विनाशकम् ॥ १५० ॥
 बध्यते सैव दुःकर्म लाभान्तरायसंज्ञकम् । दानेन विश्रियोयेन लाभान्तरायस्यैव नो भवेत् ॥ १५१ ॥
 भोगवस्तो करोग्येव वियोगं यो हि मानव । कस्यैव पुरुषस्यैवासहमानस्तदोद्दयम् ॥ १५२ ॥
 भोगात्तरायसंज्ञं न सैव दुःकर्म दुःखदम् । परजन्मनि शप्नोति संगयो नात्र भूयते ॥ १५३ ॥

कार्यों से दानात्तराय रूपका आश्रय होता है जिससे जीवोंको सब कुछ प्राप्त पावन मौज्जद होनेपर भी दान देनेके भाव नहीं होते हे या दान देनेका नियोग नहीं प्राप्त होता है ।

अर्थ:— जिस किसी जीवको धनादिक वस्तुका लाभ प्राप्त हो, व्यापारादिकके द्वारा यत्र प्राप्त होता हो ता कुतुब्धि या दुर्भाग्यसे उसके लाभ प्राप्तमें विघ्न कर देना या उस लाभको ही नष्ट कर देना अथवा ऐसे व्यापारको किसी प्रकार जानकर स्वतः उसका फल (लाभ) लेकर उसको लाभसे वंचित रखना सो इससे लाभान्तराय नामका कर्म बधता है । जिससे जीवको लाभ प्राप्तिका योग नहीं होता है ।

अर्थ - हे राजन् ! जो मनुष्य दूसरोंके भोग पदु की प्राप्ति में विघ्न करे अथवा किसीको भोग प्राप्त होते हों तो उसको नष्ट करदेना भोगोंको भोगने में विघ्न करदेना भोगने नहीं देना इससे भोगांतराय नामका कर्मबंध का आश्रय होता है ।

उपभोगस्य सहस्त्रो नाश करोति य कुषी । कस्यैव सैव भो नूनमप्रजन्मनि जन्मनि ॥ १५४ ॥

लभते उपभोगातराण्यस्य शर्मनाशकम् । कुकर्म मगभाधीश परोपभोगवर्जनात् ॥ १५५ ॥

केनाचित्कारणेनैव कोपि कस्यैव मृत । नाश करोति वीर्यस्य नानाद् खणदायकम् ॥ १५६ ॥

वोर्यान्तरायसंज्ञच विधिच वध्यते खलु । सैव सत्कारातारभयप्रमणकारकम् ॥ १५७ ॥

यात्रादिधर्मकार्येषु ऋणत्वात्त्राधिप । कारणाद्दाननिदाया देवनेवेषमक्षणात् ॥ १५८ ॥

जिनकोशस्थवित्तस्य ऋयविक्रयकारणात् । तदगनाल्लोपनाच्चैव धारणाद्द्राहि स्वापणे ॥ १५९ ॥

छन्दनाञ्चैव जिह्वाया विपश्यच्चैव नापनात् । अधर्माचरणाच्चैव वपनाद्दूधनात्तथा ॥ १६० ॥

कसैनाञ्चैव जिह्वाया विपश्यच्चैव नापनात् । अवकोत्पाटनान्चैव तथातंकविवर्द्धनात् ॥ १६१ ॥

अर्थ—हे राजन् ! उपभोग वस्तुकी प्राप्तिमें विव्न करना दूसरोंको उपभोगोंके भोगने में विव्न कर देना उपभोगोंको नष्ट कर देना सो इससे उपभोगान्तराय नामका कर्मका आश्रव होता है ।

अर्थ—किसी कारणसे या दुर्भावसे किमी जीमके वीर्यका नाश करना उसकी शक्तिका न्हास करना या लोप कर देना इससे वीर्यातराय नामका कर्मवध होता है । यह वीर्यातराय सत्कारके प्रमण करानेमें मुख्य सहायक है ।

अर्थ—हे राजन् यात्रा-प्रतिष्ठा-स्थमहोत्सव जिनमदिर निर्माण आदि धर्मकार्यमें विव्न करना । कोई प्रतिष्ठादि करता हो तो उसको रोकना “ अभी प्रतिष्ठा व प्रतिष्ठा बहुत होगई अब जरूरत नहीं ” इस प्रकार प्रलोभन या दुर्भावसे उत्तम प्रतिष्ठादिक कार्यमें विव्न करना, कृपणतासे धर्मकार्य नहीं होने देना, देवकी पूजाके लिये अर्पण किया हुआ धन जमीन आदि द्रव्यका भक्षण करना । ये सब अंतरायके कारण है ।

इत्याद्या आश्रवा भूप अंतरायस्य कर्मण । भवति सर्वमर्थानां शर्मान्तरायकारका ॥ १६२ ॥

सदैव णभि भो भूप अस्य नु. चाष्टकर्मसि । व-यते कर्मणो वधा शर्माशर्मपदायका ॥ १६३ ॥

सातासिश्चैव दु ख्वासि यत्तद्धि प्राणिना नृप । जायते नात्र संदेह शुभाशुनैककर्मणा ॥ १६४ ॥

मृते भर्तरि या नारी व्यभिचारं करोत्यहो । तथा भरणवत्त्वाद्यै. बहुमूल्यात्समुद्भवे ॥ १६५ ॥

अर्थ— तीर्थ-जिनमंदिर-जिनशास्त्र भंडार और जिनायतनो हे भंडारका भक्षण करना । जिनधर्मका ध्वंस जिनमूर्ति का खंडन करना । जिनधर्मका विधास (सत्यता) का लोप करना पवित्रोचरणोंका नाश करना अधर्माचरणोंको वढाना वध वधनादि हिंसा कार्योकी वृद्धि करना दूसरोकी नाक काटना जिब्हाका छेदन करना, विना प्रयोजन वृक्षोका छेदन कराना शुब अशोका छेदन करना इत्यादिक बहुतेमे कारणोंसे अतराय कर्मका आशय होता है ।

हे राजन् ! इस प्रकार आठ कर्मोंके आशय बतलाये हैं इनमें कितने ही पुण्योत्पादक हैं और कितनेही पापोत्पादक हैं । जीवोको शुभाशुभ कर्मोंसे सुखदुःख प्राप्त होता है ।

अर्थ— विधवा स्त्री व्यभिचार सेवन करे । अथवा व्यभिचार सेवन करनेके कारणो (पुनर्विवाह) को धारण करे । शरीरपर सुंदर भनको लुभानेवाले वस्त्रधूपण पहले बहुमूल्य साडी पहने । शरीरका शृंगार करे । केशो की रचना करे नेत्रमें शुरभा आदि लगा कर कामोत्पादक वेशको बनावे । भड राग को गान करे ऐसा कि जिससे ब्रह्मवर्ष नष्ट होजावे । पुष्ट रसोसे अपने शरीरको कामोत्पादक शोय बनाये रखे । या पुष्ट रसभोजन पान सेवन कर कामोत्पादक बनावे । दूसरो की निंदा और अपनी प्रशंसाके गान करे । मायाचार और मानको धारण कर धर्म धारण करनेका ढोढ बतलावे । कुकथा और कुशिक्षाका ऐसा पठन पाठन और अभ्यास करे कि जिससे काम-

नेत्राणा नन्दैश्वैव भूपयस्येव स्वतनो । नेत्राजन करोत्येव केशादिमडन तथा ॥ १६६ ॥
गायति महाराग च ब्रह्मचर्यविनाशकम । तथैव पोषयत्येव शरीरं च रक्षात्करै ॥ १६७ ॥
परनिदासशसा च मायामान् च स्वात्मनि । कुक्कथा प्रकरोत्येव कुशिक्षा कामवर्द्धका ॥ १६८ ॥

बुद्धि हो व्यभिचार की बुद्धि हो । अथवा मिथ्या शास्त्रोंका पठन पाठन करे जिससे कि सदैव कुबुद्धि वनी रहे और कुमार्ग (धर्मलोप करनेके मिथ्यामार्ग) की बुद्धिकी वासना बड़े इत्यादि कारणोंसे स्त्री मर कर भवभवमें जन्म जन्मांतरो में विधवा होती है क्यो कि उसने अपने धर्माचरण वैधव्य दीक्षाका नाश किया ।

विधवा स्त्रीका वैधव्य दीक्षा देना ही जरूरी है धर्म शास्त्रोंमें विधवाके लिये वैधव्य दीक्षाका विधान बतलाया है । वैधव्य दीक्षाको धारण कर वह केशका उत्पाटन-शृंगारका त्याग-सुंदर बह्न जिसे सौभाग्यशाली स्त्रिया पहनती है उनका त्याग करना पडता है ।

असलमें जो स्त्री वैधव्य दीक्षाको धारणकर सभसे धर्माचरण पूर्वक रहती है वह एक प्रकारकी घरमें रहने वाली आर्थिकोंके समान है परम साध्वी है । उससे समस्त कुटुम्बको शीलकी शिक्षा प्राप्त होती है वह सबको पवित्र आचरण सिखलाती है और शीलकी रक्षा और माहात्म्यका आदर्श जगतके सामने रखकर स्त्री समाजका और अपना कल्याण करती है । किंतु जो विधवा वैधव्य दीक्षाको स्वीकार न कर शृंगार करती है उत्तमोत्तम बह्नाभूषण पहनती है और ऐसी कुशिक्षा प्राप्त करती है कि जिससे व्यभिचार बढे और धर्माचरण का लोप हो शील (ब्रह्मचर्च) त्रत नष्ट हो जावे । ऐसी ही विधवायें भ्रमका लोप कर केवल व्यभिचार बढाती है ।

पठति पाठयत्येव मित्याशाखं कुतुब्धिदम् । इत्यादिकर्मभि नारी निर्धवा च भवं ॥ १६९ ॥

भवति शोकसयुक्ता धर्माचरणविघातनात् । अतिर्निर्दयभावेन रागतिं मारयत्यडो ॥ १७० ॥

मुक्त्वा तं सेवते चान्यं जीवितं स्वगतिं खला । पापाचार सदा पालयत्येव धर्मवर्जिता ॥ १७१ ॥

कर्मणाभितरत्वेन एतेषा साहि भूपते । शीलव्रतान्निता चाग्ने जन्मनि जन्मनि तथा ॥ १७२ ॥

कुशिक्षाका फल—

असलमें व्यभिचार की जड़ कुशिक्षा है, कुशिक्षा के प्रभाव से विधवा स्वियें ब्रह्मचर्य की सर्यादाका परित्याग कर निर्लज्ज बनकर व्यभिचार में प्रवृत्त हो जाती है और उसको निर्भर्त्स कर तथा धर्मका लोप कर पुनर्निवाह के द्वारा व्यभिचार बढ़ाती हैं ।

कुशिक्षा से सन कुछ हो जाता है कुशिक्षा से ममस्त मार्ग खुले हैं । और कुशिक्षाका परिणाम सबसे प्रथम धर्म लोप-तथा डीट बनना है ।

अर्थ—हे राजन ! कुशिक्षासे स्त्री अपने पतिको सजीवन अवस्थामें अतियाय निर्दय भावसे मार डालती है । अथवा जीवित सुदूर पतिको छोडकर भग जाती है । दूसरोको पति बना लेती है । यह पापाचार कुशिक्षाके प्रभावसे धर्मका नाश करनेवाला होता है ।

अर्थ—उपर जितने कारण विधवा होनेके बतलाये हैं उनसे विपरीत कारण सधवा होनेके जानना चाहिये । जो स्त्री शीलव्रतका पालन करती है श्री जिनेन्द्र देवकी आज्ञाका श्रद्धान कर अपना आचरण आगमके अनुकूल रखती

भवति नात्र संदेहो नानाशर्मविमडिता । अत्यात्यैः सधवा ग्हासौभाग्यमडिता ॥ १७३ ॥

वितागानाश्च मृत्वाहि शीलहीना भवंत्यहो । सदैव कामदेवस्य क्रीडाशक्ता मदोद्धता ॥ १७४ ॥

म्लेच्छोत्सन्ना नरा नार्थः मृत्वाहि मगधेश्वर । भवंति व्रतहीनाश्च इमे वामाश्च मानवा ॥ १७५ ॥

हे । वैधव्य दशा प्राप्त होनेपर वह वैधव्य दीक्षा धारण कर ससार देह भोगो से उदास रहती है । न शृंगारादि कामोत्पादन दुष्ट कार्योंको करती है वह भवभ्रममें सधवा होती है । महान् सौभाग्य उसको प्राप्त होता है ।

अर्थ:—वैश्यायें जो व्यभिचारका धदा फैलाकर शीलसे रहित होती हैं वे मरकर पर जन्ममें शीलविहीन मदोद्धता^१ भनत पापोंको सेवन करनेवाली और समारमें परिश्रमण करनेवाली होती हैं ।

अर्थ—जिनके यहां पुनर्विवाहादि मलिन आचरण हैं जिनको उत्तम व्रत धारण करनेकी योग्यता ही नहीं प्राप्त होती है उनको म्लेच्छ वा शूद्र कहते हैं । शूद्रोंको शीलव्रत किसी प्रकार भी पालन नहीं हो सक्ता है । क्योंकि उनके यहां उनकी जातिमें पुनर्विवाह होता है । पुनर्विवाह व्यभिचार है । व्यभिचार करनेवालोंकि शीलव्रत हो नहीं सक्ता है । शीलव्रतके अभावसे अन्य व्रतोंका पालन भी परिपूर्ण नहीं होता है । अतएव ऐसे जीव मरकर व्रतविहीन होते हैं ।

१ म्लेच्छ व शूद्र जो स्त्रीका पुनर्विवाह करते हैं अतएव व्यभिचार जिनके सुतरां होता है व्रत होनेकी योग्यता उनको नहीं प्राप्त होती है । शीलव्रत धारण करनेका जिनको भवसर ही प्राप्त नहीं होता है ऐसे म्लेच्छ जीव मरकर व्रतविहीन भनत संसार के भ्रान्तवाले पापी होते हैं ।

मृत भातममृतमेव ह्यखिल ससारापाणहं । वीरो वीरयुणाऋरो मुनिनुतो वृतात्तमेवाजसा ॥
 आनुकायमुमावैभमयुतान् पुण्योदयात् सखुखात् । मर्याना च पृथक्पृथक् जिनपति त्रिषष्टिकाना जुषम् ॥ १७६ ॥
 योगणाथ तथाहि अन्यमनुजाना च चरित्रं महत् । तत्वातत्वविभेदकं च स्मरतो मोक्षस्वरूप तथा ॥
 क्वचंश्च च जिनेश्वरो ह्यत्रहगे व्याख्यानक चोत्तम । मोक्ष ह्याप दशार्द्धधी जितरिपुः सर्वाधिर्वैर्दित ॥ १७७ ॥
 उच्य कर्णसुलप्रज्ञा मुनिवैर्दद्यात् मोक्षप्रदाम् । श्रीतीर्थकरवक्रजामघहरा श्रुत्वा गणास्नेऽखिला ॥
 वाणीमामुम्नडात् च निरुपमा मदेहवृदापहा । मोद मोदकगा सुरासुराणै पृथ्याच पुञ्योदयाम् ॥ १७८ ॥

अर्थः— हे मनुवेश्वर जो कुछ समारमें जितना उच्चात हो गया है, आगे होगा और वर्तमानकालमें ही रहा है वह मय वीर प्रभु अपने दिव्य ज्ञानसे परिपूर्ण यथार्थ रूपसे जानते है । इसी लिये वीर प्रभु सर्वज्ञ वीतराग और विलोक वदिन है । मुनिगणोंसे पृथ्य है । जो मनुष्य वीर प्रभुके वचनोका श्रद्धान कर उनको ही अपना भ्येय ममज्ञता है, अपना कर्तव्य मानता है वही आशुः काय भोग सपदा आदि उत्तमोत्तम सामग्रीको प्राप्त कर महान् पुण्यका सपादन करता है । वह पुण्य त्रिषष्टि पुरुषोके चरित्रादिकोका श्रवण करनेसे सपादित होता है ।

अर्थ— श्री वीर प्रभुने त्रिषष्टी शलाका पुरुषोका पुण्योत्पादक जीवन चरित्र, तत्वातत्वका विवेचन मोक्षका स्वरूप आदि समस्त पदार्थोंका व्याख्यान ममोशरण में दिया । वे दयालु भगवान् मदैव जयवत रहो ।

अर्थ— इस प्रकार मुनिगणोंसे भी पूजित समस्त प्रकाके सुखोको प्रदान करनेवाली— समस्त पापोंका नाश करनेवाली निरुपम-समस्त सदेहोंकी त्रि-म करनेवाली समस्त जीवोंको आनंद प्रदान करनेवाली महान् पुण्योदय से प्राप्त होनेवाली ऐसी वीर प्रभुकी मनोहर श्री जिनवाणीको प्रभुके सुखकमल से श्रवण कर समस्त गणधर देव प्रसन्नताका प्राप्त हए ।

केचिद्द्वयास्तदा भीत्या समागम्यत खलु । स्वीचक्रु जिनमुद्राच्च श्रावकाचारज व्रतम् ॥ १७९ ॥
 ज्ञानेच पूजने केचित् मति चक्रु शिवासाये । दिनाभिकनियम पचास्यतरसोक्तौ ॥ १८० ॥
 निनाया भक्षणस्यैव त्यागं चक्रुश्च केचन । स्वस्त्रिया नियम केचित् पर्वण्या चाग्रशर्मणे ॥ १८१ ॥
 अष्टान्हिकविधिं केचित् कर्माद्दहनं व्रतम् । स्तत्रयव्रतं केचित् जग्रहु कनकावलिम् ॥ १८२ ॥
 पचकुर्याणनामपि पचकुर्याणश्रायकम् । पल्यास्य व्रतमुल्यव केचित्च जग्रहुस्ता । १८३ ॥
 समेताचक्र्यात्रार्थं मति चक्रुश्च केचन । दुष्टाष्टवधिनार्थं शुद्धमोवेन महिता ॥ १८४ ॥
 श्रेणिकोपि तुगवीशो भाविनीर्थकगमणी । गृहसम्यस्त्वभूषाब्धः वीरगांस्य याक्तिक ॥ १८५ ॥
 महाधीस्त्वज्ञाकाले भावंगमस भावनाम् । तथा यात्राव्रतादीनां गृहहृदि शुद्धभावत ॥ १८६ ॥

अर्थ—वीर प्रभुकी दिव्यधनि श्रमणकर कितने ही भव्योने समागके दुःखोसे भयभीत होकर श्रीजिनदीक्षा धारण करली। श्रावकाचारके व्रतोंको धारण किया। कितनोने दान करनेकी प्रतिज्ञा ली कितनोने जिनपूजनका नियम ग्रहण किया। कितनोने पचासतसे नित्य जिनाभिके करनेका नियम लिया। रात्रिमें भोजनका त्याग कितनोने किया। स्वदागमनोप नियम पालन करनेको प्रतिज्ञा बहुतोने ली। ब्रह्मयज्ञत धारण किया। कितने ही जीवोने अष्टान्हिक स्तत्रय—कर्मदहन पत्यवन—पचकल्याणव्रत—कनकावलि—द्विकावलि मरुपक्ति आदि व्रतोंको पालन करनेका नियम लिया। श्री समेदाचलकी यात्रा चतुर्विध मव सहित करनेका पुण्यकार्य कितने ही भव्यजीवोने स्वीकार किया।

इस प्रकार शुद्ध भावोसे महित भव्यजीवोने श्री वीर प्रभुकी दिव्य धनिकी श्रवण करके दुष्ट अष्ट कर्मोंको नाश करने के लिये विविध प्रकारका चारित्र धारण किया।

अर्थ—भावि तीर्थकर ऐसे श्रेणिक महाराजने श्री वीर प्रभुकी भक्तिसे शुद्ध सम्यक्त्व से अपनेको विभूषित

इत्याद्यं धर्मसंदोहं स्वप्नशक्यनुसारतः । गृहीत्वा सह भूपेन ययुस्ते स्वपुरे मुदा ॥ १८७ ॥
 चेलनाशाः प्रियास्तस्य वारिषेणादयः सुताः । नागरा भन्वयमावाढ्याः तेषां वासाश्च नन्दना ॥ १८८ ॥
 इत्याद्याः सकला मन्याः अन तं कर्मनाशकम् । यथोक्तविधिना चक्रु कर्मादिदहनाभिधम् ॥ १८९ ॥
 राशुः सजायते भव्या धर्मोत्पत्तिर्नि संशयः । यत्र राजा च धर्मात्मा भवत्येन प्रजापिच ॥ १९० ॥

किया और जो देसना (धर्मोपदेश) वीर प्रभुने दिया था उसकी भावना की तीर्थ यात्रादिको की भावना की । इस प्रकार धर्म श्रवणकर समस्त भव्यलोक अपने अपने स्थानको गये ।

अर्थ—श्रेणिक महाराजकी बेलना आदि महादेवी वारिषेण आदि राजकुमार और नगरके समस्त नरनारी गणने इस कर्मदहन ऋतको यथोक्त विधिसे धारण किया ।

अर्थ—इस प्रकार श्रेणिक महाराजकी धर्म भावना को देखकर समस्त प्रजा धर्ममय बन गई । नीति है कि राजा धर्मात्मा होने से प्रजा भी धर्मात्मा होती है क्योंकि राजाके भले बुरे आचरण प्रजा सीख लेती है ।

धर्मकी बुद्धि और धर्मकी मर्यादा राजाओने ही स्थिर रह सकती है । क्योंकि राजगण दंड आदिके द्वारा प्रजाको अनिति और असदाचार (अधर्म) से रोक सकते हैं । राजाओंकी आज्ञा समस्त प्रजाको पालन करनी ही पडती है । राजाकी आज्ञा धर्मरूप-नीतिसे पूर्ण होगी तो प्रजा भी वही नीति वही धर्मव्यवस्था सांगोपांग स्वीकार करेगी । वर्तमान में वर्णव्यवस्था लोप विधवा विवाह स्पर्शास्पृश्य लोप-समान हक-आदि समस्त धर्मविरुद्ध नीतिविरुद्ध मर्यादाविरुद्ध-घातोंको धर्म नीति और कर्तव्य बतलाया जा रहा है यह सब राजा और राजाकी ऐसी ही कुबिधाका फल है । यह बात सच है कि यथा राजा तथा प्रजाः ।

इमा च महिमां मत्वा नुषा व्रतस्य चास्य वै । कुर्वाध्व सङ्गतं चेमं तूर्णमेव शिवप्रदम् ॥ १९१ ॥
 जिनवक्रोद्भवा वृता इमे सर्वे नरोत्तमाः । विधिना क्रियमाणाश्च शिवशर्मपदायकाः ॥ १९२ ॥
 शास्त्रोक्तविधिना व्रतमेकमप्येव ये नरा । करिष्यति मज्जियंति मोक्षसौख्यं न संशय ॥ १९३ ॥
 मातंगाद्याश्च ये मर्त्या शुद्धैकव्रतपालनात् । सुखमाप्ता ब्रह्मो भव्या बहुभिः कारणं च किम् ॥ १९४ ॥
 कर्तव्यं यच्च भो भव्या नितारभेण तद्गतम् । भारभेणैव संयुक्ता इमे हि भवदायकाः ॥ १९५ ॥
 कृत्वा चैवोषवासं च आरंभं न करोत्यहो । गजस्नानसमं शर्म प्राप्नोति सैव मानव ॥ १९६ ॥

अर्थः— हे राजन् कर्मदहनकी महिमा अपरपार है । इस प्रकार जो भव्य जीव इस महिमाको सर्वोत्कृष्ट और परम दुर्लभ समझते हैं वे मोक्षको प्रदान करनेवाले इस व्रतको भावोंकी विशुद्धिसे करें । हे भव्य जीवो ! यह व्रत श्री जिनन्द्र देव भगवानके सुखकमलसे प्रकाशित है । इसलिये जो भव्य जीव शास्त्रोक्त विधिसे इस व्रतका पालन करते हैं वे मोक्षसुखको प्राप्त होते हैं ।

अर्थः— हे भव्य जीवो, मातंग आदिक अनेक भव्य प्राणी इस व्रतके माहात्म्यसे सुखको प्राप्त हुए है तो आप लोगोंको भी निःसंदेह भावसे शुद्ध व्रत पालन करना चाहिये ।

अर्थः—समस्त प्रकारके हिसक और मोहोत्पादक आरंभोंका परित्याग कर व्रतोंका परिपालन करना चाहिये । जो उपर्युक्त प्रकारका आरंभ कर व्रतोंका पालन नहीं करता उसके संसारके मार्गकी वृद्धि होती है ।

अर्थः— इस प्रकार जो मनुष्य आरंभ सहित उपवास करते हैं उनके व्रत सुख व्रदायी नहीं होते है । गजस्नानके समान उनकी क्रिया है ।

अथ श्रीमज्जिमाघीशो महावीर सुरार्चित । विहारं कृतवान् आर्ये वर्षे भव्यनैर्भूते ॥ १९७ ॥
 तर्पयत्सिंघ तान् भव्यान् वचनामृतवर्षणै । मिथ्यातमो हि तेषां च वागमयूखैर्विषहृद्यन् । १९८ ॥
 स्थापयन् श्रीजिनेन्द्रोक्तं सद्धर्म मोक्षदायकम् । उत्थापयन् कुण्डर्मच भवसततिदायकम् ॥ १९९ ॥
 एव कृतेच भव्यौषा तद्दहनन्दुजं वरम् । गद्धन्नामृतमग्नान्मितरेषां च दुर्लभम् ॥ २०० ॥
 जहुरनादितो लंघन भवाकूपारवर्द्धकम् । मिथ्या विष महाक्रूर शर्मलेशविनाशकम् ॥ २०१ ॥
 ततश्च जग्रहुः शुद्धसम्यक्त्वं भवनाशकम् । यस्यैव धारणात्सर्वे तरंति भवतो नरा ॥ २०२ ॥
 याता याति तथा भव्याः आस्यति शिवसत्वदे । अस्यैव पालनात्कोपि अन्योपयोगो हि नो बुधा ॥ २०३ ॥

अर्थ—इस प्रकार विलोकगुरु श्री वीर भगवानने अपने वचनामृतसे ममस्त भव्य जीवोको परम सताय करते हुए अपने वचन किण्णोसे जगतके निविड मोहाधकारको नाश करते हुए श्रीमज्जिनेन्द्र देवके अनादिनिधन जैन धर्मको समस्त जगतमें स्थापन करते हुए तथा कुधर्मोका नाश करते हुए भारत क्षेत्रके आर्यसुखमें विहाण किया । और अगणित भव्योको संसारसे पार कर परमसुख धाममें पहुंचाया ।

अर्थ—इस प्रकार त्रिलोकवधु श्री भगवान् महावीर प्रभूके मुखकमलस विनिगतं वचनामृत का पानकर अनेक भव्योने अनादि कालसे सलग्न ऐसे मिथ्यात्वरूपी हालाहलका परिस्थाग किया ।

अर्थ—हे राजन् श्रीवीर प्रभूके वचनामृतके पानसे बहुतसे भव्यजीवोने शुद्ध मम्यदर्शनकी प्राप्ति की । जिस सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेपर अनतभक्तके समस्त पाप एक क्षणमात्रमें नाश होजाते हैं । ओं भव्यजीव संसार समुद्रसे पार होजाते हैं ।

अर्थ—इस सम्यग्दर्शनके प्रभावसे ही भव्यजीव संसार से पार हुए । होते हैं । और होने । इसके सिवाय मो-

एव संबोधयन् भव्यान् पावापुरस्य सो जिन । प्रत्यागूर्णस्थकासारे सिताम्बोजैर्विमंडित । २०४ ॥
 तन्मध्ये रचिते देवैश्चन्द्रकांतमये शुभे । शिलापट्टे निरोपम्ये सर्वदेवाधिपै सह ॥ २०५ ॥
 आयौ तत्प्रभावाच्च पूर्वमेव सुरार्चित । तस्योपरं तदा दक्षे प्रतिमायोगमुत्तमम् ॥ २०६ ॥
 अंत्यशुक्लासिना हत्वा कर्मगतीन् ततो जिन । बाहुलाभिधसन्नासे देशे च शर्वरीक्षये ॥ २०७ ॥
 मोक्षमाप सुखाच्च नक्षत्रे स्वातिकाभिधे । महावारो गुणं पूर्णः तारको भव्यपाणिनाम् ॥ २०८ ॥
 चतुर्निकायदेवेन्द्रा तदैवासनकपनात् । आजगमु तस्य पूजार्थं जाल्वा निर्वाणसदृत्तिम् ॥ २०९ ॥

क्षपट प्राप्त करनेका अन्य उपाय नहीं है ।

अर्थ— इस प्रकार त्रिलोकगुरु देवाधिदेव श्रीवीर भगवान् समस्त भव्यजीवोंको सर्वबंध (रत्नत्रयका परिज्ञान) कराते हुए पावापुरके तलावके मध्य-भाग भूमिपर आये । देवगणोंने कमलोसे विभूषित उस तलावके मध्यभाग में चन्द्रकातिमणि की दिव्य और परम सुंदर एक शिला स्थापन की । देवगणोंसे पूज्य श्रीवीर ग्रथुने उस रत्नमयी शिलार प्रतिमायोग धारण किया और कार्तिक वदी चतुर्दशीकी रात्रिक अंतिम समय स्थाति नक्षत्रके उदयमें वे अंत्य शुक्ल ध्यानके प्रभाव से समस्त कर्मद्वन्द्वोंका समूल नाश कर निर्वाण पदको प्राप्त हुए ।

भव्य जीवोंको ससार से पार करनेवाले समस्त आत्मीक शुद्ध गुणोंसे परिपूर्ण ऐसे वीर [महावीर] प्रभु पात्रपुरके तलावके मध्यभाग से मोक्ष को पधारे ।

अर्थ—वीर ग्रथुके मोक्ष पधारनेके समय देवोंके आसन कणायमान हुए । जिससे चतुर्निकाय देव प्रभुके निर्वाण के समयको जानकर भगवानकी निर्वाण पूजा करनेके लिये बहांपर आये ।

महदानदसंपत्ता. सेन्यसप्तविमडिता । नानाशोभाभिसंपत्ता. सागना सहवाहना. ॥ २१० ॥

पदे पदे प्रकाशार्थं चक्रु देवा मुदान्विता । नाकरत्नोद्भवानां च प्रकाश तमनाशकम् ॥ २११ ॥

सुधाधिग. विभो देहं दृष्ट्वा वस्वंगतस्तदा । नत्वाच स्थापयामासुः शिबिकाया सुरैः कृताम् (?) ॥ २१२ ॥

बभ्रीन्द्रशुक्रुटोद्भूतपावकेन पुन शुभैः । काश्मीरगुरुकपूरैर्यैर्द्वैत्यैः सुरोद्भवैः ॥ २१३ ॥

पर्यायांतरमेवाशु चक्रुस्ते सुनायका । ते काय अतिहर्षेण शिवशर्मकर वरम् ॥ २१४ ॥

तदत्रे मृतपिंडेष्वा शुभां चक्रु. शिवाशये । महामंत्रेण सौधर्मप्रमुलाश्च सुरेश्वरा ॥ २१५ ॥

अर्थ—महान् आनन्द और हर्षसे प्रफुल्लित सात प्रकारकी सेनासे विश्रुपित अपनी अपनी देवांगनाओं सहित अपने अपने वाहनोपर बैठे हुए देवता अपूर्व शोभाके साथ वहाँपर आये ।

अर्थ— उस समय हर्षसे प्रफुल्लित देवगणोंने अधिकार नाश करनेवाले और अपूर्व प्रकाशको प्रकट करनेवाले ऐसे स्वर्गके रत्नमयी दीपक स्थान स्थान पर रखे । अगणित दीपकोसे दीपावली (दिवाली) को प्रकट किया । उसी दिवस से यह उत्सव दीपावलि के नामसे दिवाली आजतक प्रचलित है ।

अर्थ— देवगणोंने त्रिलोकपृथ्वी वीर प्रभुके उस परम औदारिक दिव्य देहको एक सुंदर पालकीमें विराजमान कर महान् उत्सव प्रकट किया ।

अर्थ— पावापुरके उस तलावके मध्यभागमें ही अशिकुमारके देवोंके मुकुटोंसे प्रज्वलित अग्निके द्वारा अत्यंत सुगंधित केशर, अगर, चंदन, कपूर आदि स्वर्गकी पवित्रतम दिव्य वस्तुओंसे वीरप्रभुके परम पुनीत उस दिव्य देहको देवेंद्रोंने पर्यायांतर किया ।

अर्थ— सौधर्म इन्द्र आदि मुख्य देवेंद्रोंने भगवानके उस (पर्यायांतर अवस्थाको प्राप्त हुए) शरीरको मोक्षकी प्राप्तिके लिये महान् मन्त्रोंके द्वारा पूजा की (मृतपिंडकी पूजा की) ।

मोक्षाभिप्रेहि कल्याणे मोदकेत मता बुधा । गणाधीश्विनेन्द्रस्य इत्था मोक्षप्रदायिका ॥ २१६ ॥

मपेठुः शातिस्र्वाठं सर्वशातिप्रदायकम् । सर्वेन्द्राश्चातिहर्षण महदानंदसमृता ॥ २१७ ॥

तद्भ्रम मुजयोः भाले नेत्रेच हृदये सुराः । तथा सर्वशरीरेषु विभो कायसमुद्भवम् ॥ २१८ ॥

सपृत्वा चेति द्युस्तेः इयमस्तु हि नो शुभा । शिवदा स्वामिनो नून मतिनरित्यत्र संशयः ॥ २१९ ॥

आनदनाटकं चक्रे सौधमंद्रो हि हर्षत । अग्रे निर्वाणसद्भ्रमेः सह शब्द्या तथा सुरैः ॥ २२० ॥

“ अर्थ—मोक्ष कल्याणक की कल्याणक पूजा गणधर देवोंने मोक्षको प्रदान करनेवाली वतलाई है इस लिये प्रत्येक भव्यजीवको अतिहर्षभावसे करना चाहिये ।

देवगणोंने अति हर्षभावसे मन्त्रपूर्वक विधिक्रमसे निर्वाण कल्याणक पूजाको कर अंतमें शांतिपाठ जगतकी शांतिके लिये किया ।

अर्थ—भगवानके शरीरकी भस्मको देवगणोंने अतिशय पूज्य भावसे उस भस्मको अतिशय पूज्य ममझकर सुखकी प्राप्तिके लिये अपने अङ्गोंपर हृदयमें भाल नेत्र और समस्त शरीर में लगाई और अपनेको पवित्र माना ।

अर्थ—देवगणों ने उस पवित्रतम और मोक्षको प्रदान करनेवाली भगवानके शरीरकी भस्मको उत्तम और शुभ-वस्तु को अत्यन्त सरक्षणिय समझकर अपनी अपनी रत्नोंकी पिठारियोंमें बड़े बलसे गोप्य कर रखी । और उससे देवोंने अपनेको मोक्षगति प्राप्त होगी ऐसा निश्चय किया ।

अर्थ—सौधर्म इंद्रने उस समय निर्वाण भूमिपर अपनी इन्द्राणी और देवगणोंके साथ आनंद नाटक अत्यंत हर्षसे किया ।

आतोधानां तदा शुत्वा ध्वनि कर्णसुखगदम् । श्रेणिकाषाश्च भ्रज्यौवाः प्रचेत्सु सह भीरुभि ॥ २२१ ॥

इत्याद्रव्येण सयुक्ता मोदगारमिडिता । एव सर्वे च संगणु या देवैश्वराश्च ये ॥ २२२ ॥

तमुत्सव च संदद्या चिता ते मुमिपादयः । मुदमापुश्च संचक्रु प्रणतिमचला च ताम् ॥ २२३ ॥

सुनासीरकृतानंदनाटकं नंददायकम् । विमो मुमे पुम्स्त च ददृशुन्ते नरोचमा ॥ २२४ ॥

परिपूर्णं विधायाश्च धुनृत्य नृत्यागमार्यवित् । मधया सह देवौथिः सर्वेषा वक्रनंददम् ॥ २२५ ॥

सुनासीरस्तश्चाद् शृणु श्रेणिक मूषने । पष्टिसहनप्रश्नानां कर्तारं मगषाभिव ॥ २२६ ॥

अद्य प्रमृतितो जाता वृषभाद्या जिनैश्वरा । तेषा निर्वाणसयुजा अस्माभी रचिता वरा ॥ २२७ ॥

अर्थः— वीर प्रभुके निर्वाण हर्षमें देवोंने दुंदुभि व्रजे त्रिलोकको शुद्धायमान ऋनेवाले बजाये । जिनकी ध्वनिको श्रवण कर श्रेणिक प्रमुख राजाओंने वीर भमवानका निर्वाण महोत्सव जान लिया । और उस महोत्सवकी पूजा करनेके लिये सपरिवार सेना और समस्त प्रजासहित सुदूर सुदूर पूजाकी द्रव्यको साथ लेकर पात्रापूर्कं तलावपर वीरप्रभुको निर्वाणभूमिपर भाये ।

प्रभुके शरीरकी चिताको देखकर अतिशय हर्षको प्राप्त हुए । और भक्तिभावसे मोक्षकी प्राप्ति के लिये उस चिताकी पूजा की । नमस्कार किया और देवोंके उस निर्वाण महोत्सवको देखकर हर्षित हुए ।

देवोंके उस आनंद नाटकको समस्त राजाओंने देखा और वीरप्रभुकी महिमाको अपूर्व समझ हर्ष प्रकट किया ।

अर्थ—नृत्यकलामें प्रवीण ऐसे इन्द्रने नृत्यकी विधिको समाप्त किया ।

अर्थ—आनंद नाटकको समाप्त कर इन्द्रने श्रेणिक महाराज आदि प्रमुख राजगणोंसे कहा । श्री बुधमादि पार्थनाथ पर्यंत तेवीस तीर्थंकर प्रभुकी निर्वाण पूजा (निर्वाण कल्याणक) विशुद्ध भावोंसे उत्सव की । और आज

अथैव वीरनाथस्य गतिर्निर्वाणकाऽभवत् । अस्मैव चित्तार्थिब मोक्षसौख्याप्तये नृप ॥ २२८ ॥
 प्रत्नवर्द्धं मोदकेनैव दीपनातैर्धृतोद्भवैः । राष्यते वीरनाथस्य इज्या कार्या सुभाबतः ॥ २२९ ॥
 इत्युक्त्वा ते च नाकेन्द्रः सहलैले सुरास्पदं । जगाम वीरनाथस्य धितयन् सदुणोक्तान् ॥ २३० ॥
 सह मलयैस्तदा शूपो मोदकेन शुभेनच । कृत्वेज्या सिद्धसुमेश्च आयातवान् स्वमास्पदम् ॥ २३१ ॥
 तदा प्रमृत्तितो भव्याः आर्यवर्षे च सद्विधिः । अयं बिल्यावर्ता ज्ञासः सर्वकार्यकरावहः ॥ २३२ ॥

ही श्री वीर भगवानकी निर्वाण पूजा की है । इस महान महोत्सवके स्मरणार्थे प्रत्येक वर्ष (रात्रिके अंतप्रहर) इसी समय में घृतोंके उत्तमोत्तम दीपसमूह को प्रज्वालित कर और महा सुंदर-दिव्य रससे परिपूर्ण इन्द्रियोंको तृप्त करने वाले ऐसे लाइसे निर्वाण पूजा करनी चाहिये ।

इस प्रकार कहकर वीर प्रभुके गुणोंको स्मरण करता हुआ इंद्र अपने स्थानपर गया ।

अर्थ—इंद्रकी आज्ञा से श्रेणिक महाराजने अनेक भव्य राजगणोंके साथ सुंदर लाइसे श्रीवीर भगवानकी निर्वाण पूजा की तथा उस सिद्ध भूमिकी (पावापुरके तलावमध्य जहाँ से श्री वीर प्रभु मोक्ष धामको पधारे) पूजा सुलभता से की । इस प्रकार समस्त प्रजाके समक्ष निर्वाण पूजा व सिद्धश्रुति पूजाको यथाविधिसे परिपूर्ण कर श्रेणिक महाराज वीर प्रभुके गुणोंका स्मरण करते हुए अपने स्थानको गये ।

अर्थ—श्रीवीर भगवानकी निर्वाण पूजा भारतवर्षमें सर्वत्र उत्तमोत्तम लाइ और घृतोंकी सुंदर दीपावलीसे भव्यजीव तब से आजपर्यंत करते आ रहे हैं । कर रहे हैं । और जवतक जिन शासन है तबतक करते रहेंगे ।
 दिवालीके दिवस लाइ चटानेकी विधिकी प्रवृत्ति उसी समयसे हुई है ।

कृत्वा सुखिनां तत्र कासारे जलसमृते । तदालयस्य स मूपः प्रतिष्ठां तस्य स्थापना ॥ २३३ ॥
 अंतकाले च त्यक्त्वा हि रौद्रध्यानस्य भावत । प्रस्तरे प्रथमस्यैव श्वस्रस्य गतिवधभाक् ॥ २३४ ॥
 प्राणान् जगाम दुःखाद्धे तत्र सुक्त्वाच आयुषम् । मित्राष्टसहोदरंत पश्चाद्विर्गत्य तत्रत ॥ २३५ ॥
 अत्रैव कोशले देशे अयोध्याया भविष्यति । महापद्मालयसयुक्तः श्रायस्तीर्थकराग्रणी ॥ २३६ ॥
 क मूप नारकी चैष क पुनः तीर्थनायक । अहो भव्याश्च पश्यन् चरित्रं कर्मणोद्भुतम् ॥ २३७ ॥
 के के न कर्मणा प्राप्ता दुःखवन्दं बुधोत्तमा । देवमानवसंसेव्या भगताया नरोत्तमा ॥ २३८ ॥

अर्थ—श्रेणिक महाराजने (जलसे परिपूर्ण) उस पावापुरके तलावके मध्यभागमें (जहाँसे श्रीवीर प्रभु निर्वाण पदको प्राप्त हुए थे) श्रीवीर प्रभुका जिनालय बनवाया और उसकी प्रतिष्ठा अतिशय धूमधामसे की। उस जिनालयमें श्रीवीर प्रभुके स्मरणार्थ वीरप्रभुकी चरण पादुका स्थापित की।

अर्थ—श्रीवीर प्रभुसे साठ हजार प्रद्वौको करनेगले शुद्र सम्प्रदष्टि भव्य श्रेणिक महाराजने रौद्रधरिणामोसे नरक आयुका वध किया था और इसीलिये अंतसमयमें संह्रेश परिणामोसे प्राणोका परित्याग कर श्रेणिक, महाराजका जीव प्रथम नरकके प्रथम पाथडेमें चौरासी हजार वर्ष की आयु पाकर उत्पन्न हुआ। वहाँ से निकलकर कोशल देश अयोध्या नगरमें महापद्मनामके प्रथम तीर्थकरका महान पद प्राप्त करेगा।

अर्थ—कहाँ तो महा मंडलीक राज्यपद और कहांपर नारकी अवस्था तथा कहांपर फिर तीन जगतसे पूज्य तीर्थकर पद। ये सर्व बातें एकसे एक आश्चर्य करनेगली हैं। हे भव्य जीवो! परंतु इसमें कुछ भी आश्चर्य मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि ये सब कर्मके चरित्र हैं। कर्म इससे भी अधिक आश्चर्यकारी घटनाको कराता है। संसारमें कर्मोंसे कौन कौन जीवोको दुःख प्राप्त नहीं हुए। अरे भारत महाराज सरीखे चक्रवर्ती पुण्य पुरुष भी

मन्वेत्येयं सकला भव्याः कर्मारतिविहानये । एक श्रीरज्जिनेन्द्रोक्तं । कुर्वीध्वं धर्ममुत्तमम् ॥ २३९ ॥

अथ श्री गिरनारि सिद्धेश्वर प्रकरण.

अथ श्रुणुय भो भव्याः वृत्तातमपरं शुभम् । संक्षेपत प्रवक्ष्येह जिनमार्गस्य सूत्रकम् ॥ २४० ॥
 श्रीनेमिनाथस्य सुशोभितेन । पादारविदेन मनोहरेण । श्रद्धार्थताभिधमृधरोहि । पवित्रताः भो गतनिजिराच्ये ॥ २४१ ॥
 यस्याद्गता मोक्षपुरे मुनीन्द्रा । द्विसप्ततिकोटिप्रगालध्यानात् । जायाशतं सार्धमहो सुराच्यौ । बंदाग्रह तान् सकलात् त्रिकाले ॥ २४२ ॥
 कर्मिके द्वारा दुःखको प्राप्त हुए तो अन्य साधारण जीवोंकी क्या बात ? इसलिये समस्त भव्य जीवोंको कर्मिके नाश करनेके लिये श्रीजिनेन्द्र भगवानके द्वारा प्रतियादित दयामयी पवित्र एक जैनधर्मका पालन करना चाहिये ।

अर्थ—हे भव्यजीवो समस्त जीवोंके कल्याणके लिये अब एक दूसरा वृत्तांत संक्षेपसे कहते हैं । जिससे जैनमार्गकी महत्त्वता प्रकट होगी ।

त्रिलोक पूजित देवाधिदेव श्री नेमिनाथ भगवान के पवित्र चरण कमलों से पवित्र तीर्थ अवस्थाको प्राप्त हुआ ऐसा पवित्र नेमिनाथ भगवानकी निर्वाण भूमि श्रीगिरनार पर्यंत सोरठ देशमें प्रसिद्ध है । जहाँसे वह चार कोटि मुनीश्वर मोक्ष धामको पधारें हैं । उस पर्वतराजको भै त्रिकाल भाव विबुद्धि से नमस्कार करता हू ।

अर्थः— गिरनार पर्वतकी गुफामें नग्न दिगंबर धरसेन नामके एक योगीश्वर ध्यान धारण कर रहते थे । श्रीधरसेन योगीश्वर देवगणोंसे साक्षात् पूजित थे । दया, तप, सयम आदि उत्तमोत्तम गुणोंसे विभूषित अगके कुछ अंश पर्यंत महान ज्ञानके धारक, तपसे तैजस, ऋद्धिको प्राप्त, ध्यान क्रियामें अतिशय निपुण, समस्त तत्त्वके

अंगाशायारी तपदीशिष्यारी ध्यानाधिकारी सकलार्थचारी । श्रीजैनधर्माधिपुसोमकारी पुनातु न स वसुभाबधारी ॥ २४४ ॥
 तेन मुनीन्द्रेण विचागित्तेयं अंगाश्च पूर्वा. इखिलाः गताश्च । स्वस्य हृदि ब्रह्मदिने शुभारुचे श्रीजिनमार्गस्य प्रवर्तनार्थम् ॥ २४५ ॥
 शाखाहते नैव नराखिलाश्च । धर्मस्य मार्गं श्रुतपाठनं च ॥ ज्ञास्यति नैवात्र श्रुतार्णवं च । अतो रचिष्यामि दलेषु मध्ये ॥ २४६ ॥
 जयादिशुभ्रं प्रथम चकार । ग्रंथं ब्रह्मणारसम्, मुनीन्द्र ॥ अनेकमेदार्थभृतं मनोज्ञं । श्रीवीरनाथस्य ध्वनेश्च तुष्यं ॥ २४७ ॥
 प्रमाणं, तस्य ज्ञानं सहस्रसप्ततिं खलु । बुधैर्नमान्धं तं च शिरसा समये त्रिके ॥ २४८ ॥
 विचित्रशब्दं गहनार्थयुक्तं महादि अति धवलं च ग्रंथम् । तत परं भो मतिराट् चकार बुद्ध्याबलेन द्वितीयं शुभं च ॥

प्रेता, श्रीजिनधर्म रूपी समुद्रको वढानेके लिये चद्र समान प्रभुताको धारण करनेवाले ऐसे श्रीधरसेन मुनीश्वर हमारी रक्षां करो ।

अर्थः— श्रीभगवान् श्रीधरसेनाचार्यने अंगको अपने हृदयमें धारण कर जैन मार्गकी प्रवृत्तिके लिये ग्रंथोंकी रचना की ।

श्रीधरसेनाचार्यने विचार किया कि अब आगे जीव मंदज्ञानी धारणा शक्ति विहीन होंगे । इसलिये वे धर्ममार्ग व श्रुतका पठन पाठन नहीं जान सकेंगे । इसलिये मैं श्रुतको पत्रोंपर लिखकर जगत्में प्रकाश करूँ ?

श्री धरसेनाचार्यने सबसे प्रथम समुद्रके समान गंभीर अनेक शब्दार्थों से मनोज्ञ जगतके हित कारक श्रीवीर भगवानकी ध्वनी समान परमपुज्य जयधवलदि ग्रंथ निर्माण किये ।

अर्थः— जयधवल ग्रंथकी श्लोक संख्या सत्तर हजार श्लोक प्रमाण है । उस ग्रंथराजको मैं फिर नयाकर त्रिकाल वंदना करता हूँ ।

अर्थः— विचित्र शब्दरचनासे गुफित और गंभीर अर्थका प्रतिपादक ऐसा महाशबल ग्रंथ बनाया जिसके

चत्वारिंशत्सहस्रस्य मानस्य वर्षेभूतम् । तस्मै ग्रंथाय शुद्धाय नमोस्तु समय प्रति ॥ २५० ॥
विजयादिभ्यो घवलंच ग्रंथं । गूढार्थयुक्तं तृतीयं वरंच । मतांतराः यच्छ्रवणात्म्याति विखंडिता ह्युत्तरवर्जिताश्च ॥
षष्टिसहस्रसंख्यालं भवजीवैश्च पूजितम् । साष्टांगेन सदा तत्र वदे कर्मरिनाशकम् ॥ २५२ ॥

एषा त्रयाणां रचना कृता वै ज्येष्ठस्य मासे शुभभयानयोगात् । तेन मूर्तीन्द्रेण दलेयुग्मध्ये शुक्राभिधे पंचमीवासेच ॥
मुन्यार्थिकाश्रावकश्राविकौषेथु-प्रकारं महतै सुसंधे । इज्या कृता वै अभिषेकमुद्रया तेषां न गानैर्वादान्मानै ॥
सद्धर्मध्यानेन ब्रह्मन् प्रत्यक्त्वा वगादिसेनो यतिराट् गतश्च । स्वर्गोन्वमृत शर्मतति शुभाच्च किं किं न यात्येव शुभोदयाद्धि ॥
त्रयाणां धारकास्तस्य शिष्या बुद्धयन्त्रिपारगा । मृतबल्यादयो जाता योगीन्द्रा बसनोज्ज्वला ॥ २५६ ॥

श्लोकोंका प्रमाण चालीस हजार है ऐसे समय ग्रंथको मैं त्रिकाल नमस्कार करता हू ।

अर्थ — विजयधवल ग्रंथ अतिशय गूढार्थ बनाया जिसको श्रवण करतेही मतांतर खंडित हो जाते हैं और बड़े २ प्रवादि निरुत्तर होकर सत्य मार्गको ग्रहण करते हैं । यह ग्रंथ साठ हजार श्लोक प्रमाण बनाया । उस ग्रंथ राजको त्रिकाल मैं वदना करता हू ।

अर्थ:— उक्त तीन ग्रंथोंकी ज्येष्ठ सुदी १ को ताडपत्रपर लिपिरूप स्वामी श्री धरसेनाचार्यने रचना की ।
अर्थ — श्री धरसेनाचार्यकी चार प्रकारके संधने (मुनि आर्थिका श्रावक श्राविका) महान् उत्सव और भक्तिपूर्वक अभिषेकपूर्वक पूजा की ।

श्रीधरसेनाचार्य शुभ ध्यानसे प्राणोंका परित्यागकर स्वर्गमें उत्तम सुखोंको प्राप्त हुए । शुभ ध्यानसे क्या क्या नहीं होता है ।

अर्थ:— उक्त तीनों ग्रंथराजोंको धारण करनेवाले आपमके पारगामी श्रीभृत्वली आदि अनेक दिग्ंबर योगीश्वर उत्पन्न हुए ।

ग्रंथप्रवर्तना कृत्वा गतास्तेषु दिव खलु । मुनीन्द्रा ध्यानयोगेन त्यक्त्वा नाणान् शिवासये ॥ २५७ ॥
 ह्यनुक्रमेण योगीन्द्रो नेमिचन्द्रो मुनीश्वर । आसीत् क्षितौ प्रविल्यातः तत्राग्र्यां च वाचनात् ॥ २५८ ॥
 तदनुसारतस्तेन ग्रथाना स्वस्य बुद्धित । कृता च रचना लोके ग्रंथवर्द्धनहेतवे ॥ २५९ ॥
 संस्कृतापि कृता ग्रथा प्राकृतापि कृता पुन । तेन धर्मप्रकाशार्थं चात्मकल्याणसिद्धये ॥ २६० ॥
 त्रयाणा रचना तेन महाधवलग्रंथत । ग्रंथानाच कृता नूनं सर्वार्थस्य प्रकाशिका ॥ २६१ ॥

अर्थ—श्रीमान् भूतबली आदि आचार्यगण भी उन ग्रंथोंकी प्रवृत्ति संभस्त ससार में कराकर शुभध्यानसे उत्तम सुखको प्राप्त हुए ।

अर्थ—आचार्य भूतबलि आदि महर्षियोंके बाद अनुक्रमसे श्रीनिखिल परमागमके वेत्ता श्रीदिगंबर योगीश्वर छरि श्रीनेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती उत्पन्न हुए । जिनने उक्त तीनों ग्रंथोंको पढ़कर अपनी प्रसिद्धि सर्वत्र अखंड रूपसे व्याप्त कर दी थी ।

श्री आचार्य नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्तीने उन ग्रंथोंको [जय धवल महा धवलादि] पारगत कर उन ग्रंथोंके अनुसार प्राकृत संस्कृत के बहुतसे ग्रंथ बनाये । प्राकृतके ग्रंथ गोमटमार आदि प्रसिद्ध हैं । कितने ही ग्रंथ संस्कृत भाषामें भी बनाये । जिससे नैनधर्मकी महिमा बढे और अपनी आत्माका कल्याण हो ।

महाधवल ग्रंथसे उनने तीन ग्रंथोंकी संस्कृत भाषामें रचना की । उसमें अनागत प्रकाश नामका ग्रंथ निर्माण किया, जो समस्त मत मतान्तरोका खडन करनेमें एक अद्वितीय श्रेणिकी (छटा) धारण करता है और जिसमें समस्त क्रियाओंका स्वरूप वर्णन किया है ।

अनागतप्रकाशाख्यमाथमानन्ददं लघु । सर्वक्रियादिकथक मतातरविघातकम् ॥ २६२ ॥

द्वितीय मोक्षद तत्वप्रकाशाख्यमघापहम् । ग्रथ सकलत्वाना प्रकाशकरणे रविम् ॥ २६३ ॥

मुनीना वा गृहस्थाना सट्टमोत्पादक शुभम् । धर्मप्रकाशसंज्ञ च नाकशिवप्रदायकम् ॥ २६४ ॥

इमे च निर्मिताः शुद्धाः त्रयो त्रयाश्च तेन वै । समुताश्च विप्रैकैश्चै कलाभि शिवदायका ॥ २६५ ॥

अनागतप्रकाशग्रन्थानुसाराच्च प्रनिर्मित । सूर्यप्रकाशसत्त्वाम् अथ मयो बुधोचमा ॥ २६६ ॥

दूसरा ग्रथ तत्प्रकाश नामका वनागा जो समस्त तत्त्वोओ प्रकाश करनेके लिए कुर्य समान है । और ममस्त पापोका नाश करनेवाला है ।

तीसरा ग्रंथ धर्मप्रकाश वनाया जिसमें मुनि और गृहस्थोके धर्मका पूर्ण रूपसे वर्णन है । जिसको पढनेसे स्वर्ग और मोक्षके सुख प्राप्त होते हैं । आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्तीने उक्त ग्रंथोकी रचना की जिनमें विविध प्रकारकी कलाएं गुफित की ।

इस ग्रंथका अवतरण

अर्थ—श्री आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्तीके बनाए हुए अनागत प्रकाश नामक ग्रंथके आधार से यह सूर्यप्रकाश नामका ग्रंथ मैंने हे विद्वानो बनाया है ।

१—सूर्यप्रकाश यह स्वतंत्र ग्रंथ है । परन्तु इसकी रचना आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्तीके बनाए हुए अनागत प्रकाश नामके ग्रंथसे की है ।

अनेकनयसयुक्तो मिथ्याधरविस्मयः । सज्जनैर्भयभावान्धैः सदा मान्यो न दुर्जनैः ॥ २६७ ॥
 अस्य श्रवणपात्रेण कुण्ठपोषका नरा । सूकवत् येन स्थास्यंति यथा नागाश्च कीलिता ॥ २६८ ॥
 सार्थनामयुतं चेदं सकलार्थप्रकाशकम् । सुमत्या दायकं भव्या पठन्व शिवसिद्धये ॥ २६९ ॥
 अस्मिन् अथे वृता केचित् संबंधाश्चान्यग्रथत । केचिद्धि मूलग्रथाच्च जैनमार्गप्रकाशका ॥ २७० ॥
 श्रथोऽय सज्जनाना न महद्वर्षप्रवर्द्धक । दुर्जनाना पुनश्चाय महत्कोषस्य वर्द्धक ॥ २७१ ॥

यह सूर्यप्रकाश अनेक नय सहित मिथ्याधकारकी नाश करनेके लिये हर्षके समान है और भव्यभावसे सज्जन पुरुष इसको सर्वोत्कृष्ट समझते हैं । और सदैव मान्य करते हैं । परंतु दुर्जन पुरुष इसको श्रवणकर मनोनीत भावना करेंगे ।

अर्थ—इस ग्रथके श्रवण मात्रसे कुमारगंको पुष्ट करनेवाले मनुष्य ब्रह्मके समान स्थगित रह जायेंगे । जैसे मर्प मंत्र से कीलित होकर स्थगित हो जाते हैं ।

अर्थ:—यह सूर्यप्रकाश ग्रंथका नाम मार्थक है । समस्त अर्थको प्रकाश करनेवाला और सुमतिकता प्रदान करनेवाला यह ग्रंथ है । इसलिये इसका पठन पाठन मोक्षकी सिद्धिके लिये करना चाहिये ।

अर्थ:—इस ग्रथ में कितने ही संबध अन्य ग्रथो से लेकर किये हैं । कितने ही मूलग्रथ का प्रबंध जैसा का तैसा रखदिया है ।

अर्थ—यह सूर्यप्रकाश नामक ग्रथ सज्जनोको महान हर्षको बढानेवाला है और दुर्जन पुरुषोको क्रोधको उत्पन्न करनेवाला है ।

सज्जना दुर्जना लोकं हिताहितकरा घना । संति ह्यनादित अस्मिन् गोपत्रागसमा बुधाः ॥ २७२ ॥

तस्मिन्ने सज्जना नैव परकाण्य गुणोज्वलम् । दृपयत्येव त दृष्टा मुदमेव प्रयात्यहो ॥ २७३ ॥

चरत्यहो वृणानेव यथा गौ पयसततिम् । ददात्येव न रक्तं च कदापि तद्वि द्वेषत ॥ २७४ ॥

तथा हि सज्जाना च सदा प्रकृति निर्मला । स्वयमेव मनोमोददायका द्वेषवर्जिता ॥ २७५ ॥

दृढमानोपि भो भव्या पावकैर्नैव चदन । तथापि नैव दुर्गथ ददात्यहो न सशय ॥ २७६ ॥

तथाहि सज्जनो नैव पीड्यमानोपि दुर्जने । मुंचति सज्जनत्व च शत्रुमित्रसमानधी ॥ २७७ ॥

अर्थः— सज्जन और दुर्जन पुरुष गाय और सर्पके समान हिताहित करनेवाले अनादिसे ही है ।

अर्थः— सज्जनोका यह स्वभाव ही है कि दृसरोके निर्माण किये हुए काव्यको गुणसपव देखकर प्रमत्त होते हैं ।

अर्थः— जिस प्रकार गाय वृणोको भक्षण कर दूध देती है परतु कभी भी द्वेषसे रक्त नहीं देती है । ऐसे ही सज्जन पुरुष/सदेव गुणग्राही ही रहते हैं ।

अर्थः— सज्जन पुरुषोका ऐसा ही स्वभाव होता है कि वे ममको आनंद ही प्रदान करते हैं परतु किसीसे भी द्वेष नहीं करते हैं ।

अर्थः— चंदन जिस प्रकार जलानेपर भी अपनी सुगंधीको नहीं छोडता है और कभी किसी अवस्थामें दुर्गथ नहीं देता है । यह उसका स्वभाव है । इसी प्रकार सज्जनोका भी ऐसा ही स्वभाव होता है कि वे गुणोको ग्रहण करते हैं ।

अर्थः—चंदनके समान सज्जनोका भी यही स्वभाव है कि दुर्जनोके त्रासको सहन कर भी सज्जन पुरुष

शर्करामिश्रितं दुग्ध पिवत्येव सुजाभा । तथापि गरलं येहि मुचंयंवाप्तं न च ॥ २७८ ॥
 तथाहि दुर्जनानां च स्वभावोय न सशय । दोषाणां ग्रहणे दक्षा गुणग्रहणविच्युता ॥ २७९ ॥
 दर्शने परदोषस्य खलाश्रयात्वेवचातुरा । स्वदोषदर्शने ते हि जन्माधसदृशाः खलु ॥ २८० ॥
 रच्यते नैव दुष्टानां परोदय कदाप्यहो । स्वेस्तेजो यथा लोके दिवाधाना तथैव हि ॥ २८१ ॥
 परोदय च दृष्टा हि वृथा कोप भंज्यहो । ये ते च दुर्जना नूनं धिक् वृथा कोपकारिण ॥ २८२ ॥
 परकीय महाकाव्यं निदयत्येव दुर्जना । मनोहरहि तेषां च स्वभावोयं सनातन ॥ २८३ ॥

अपनी सुजनताका परित्याग नहीं करते हैं और शत्रु मित्रपर एक समान हित रखते हैं ।

अर्थ—मिश्री मिश्रित दूध सांपको पिलानेपर भी सांप विय ही उत्पन्न करता है अमृत नहीं । वैसे ही दुर्जनोंका यह स्वभाव ही है कि वे दोषोंको ग्रहण करते हैं और गुणोंका परित्याग करते हैं ।—

अर्थ—दुर्जन पुरुष दूसरोंके दोष देखनेमें ही अतिशय निपुण होते हैं । परंतु कभी भी अपने दोषोंको जन्मांश पुरुषके समान चक्षु रहने पर भी नहीं देखते हैं ।

अर्थ—दुष्ट पुरुषोंको दूसरोंका अभ्युदय (उन्नति) रुचकर नहीं होता है । जैसे सूर्यका प्रकाश उल्लू नामके जीवको नहीं रुचता है । दुष्ट पुरुष दूसरोंके उदयको देखकर वृथा ही क्रोध करते हैं इस प्रकार विनाकारण क्रोध करनेमाले दुर्जनोंको धिक्कार है ।

अर्थ—दुर्जन पुरुष दूसरोंके बनाये हुए काव्य की निंदा करते हैं यह उनका सनातन स्वभाव ही है ।

सज्जनाना गुणानाच गृह्यार्थं निर्मिता इमे । सज्जना अत्र लोके वा स्वयंसुखा बुधोत्तमा ॥ २८४ ॥
 गृह्यार्थं दोष वस्तुना इमेच निर्मिता खलाः । ब्रम्हणा चात्र सदेहो नो खलु सज्जनोत्तमा ॥ २८५ ॥
 सुज्ञानवारका लोके कुज्ञानधारका खलु । माहेपीसदृशा येहि ज्ञेयाः पद्मासदृशा ॥ २८६ ॥
 वचनाडबैरं किं स्थात् सज्जना गुणयोपका । भो बुधा दुर्जना नूनं दोषपोषणसरता ॥ २८७ ॥
 मे काट्योपरि कोपव मा कुरुध्व वृथाच भो । कोपोहि मर्वपापस्य वर्द्धको नात्र संशय ॥ २८८ ॥
 हृदिहि भवता चैव रुच्यते भो नरोत्तरा । अथोय भजथ नून माध्यस्थं पापनाशकम् ॥ २८९ ॥

अर्थ— सज्जन पुरुषोंका निर्माण गुणोंको ग्रहण करनेके लिये ही हुआ है । परंतु दुर्जन पुरुषोंका निर्माण दुर्गुणों (दोषों) को ग्रहण करनेके लिये हुआ है । इसमें हर्य विपाद नहीं करना चाहिये । जिसका जैसा स्वभाव होता है वह वैसा ही करता है ।

अर्थ— इस विशाल संसार में सुज्ञान और कुज्ञान के धारक अनेक मनुष्य हैं । कितने गायके समान सुजन हैं और कितने ही सांपके समान दुर्जन हैं । इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ है । परन्तु समका साराश मात्र यही है कि सुजन गुणोंका पोषण करते हैं और दुर्जन दोषोंको पुष्ट करते हैं ।

अर्थ— मेरे इस काव्य के लिये वृथाही क्रोध वृथाही क्रोध किसीको नहीं करना चाहिये क्योंकि क्रोध ममस्त पापोंका मूल कारण है ।

अर्थ— हे सज्जनो ! जो आपको यह मेरा वचनाया हुआ सूर्यप्रकाश नामका ग्रंथ रुचिकर न हो तो आप मध्यस्थ भावको धारण करें ।

आत्मनिर्दां च कुर्वति परेषा सज्जनाश्च न । परकाव्यं च ते दृष्ट्वा हर्षोऽसि भजत्यहो ॥ २९० ॥
 वातांतकप्रयुक्तश्च यद्वत् कश्चित् भुवति ना । वचसा सतति नूनं शब्दाशब्दविवर्जिताम् ॥ २९१ ॥
 तद्वत् उक्ता मया ह्यस्मिन् ग्रंथेन वचनावलि । यां दृष्ट्वा सज्जनास्ता च मा भजन्व क्षमाणहम् ॥ २९२ ॥
 अभिमानेन अस्थैव नो कृता रचना बुधाः । मया केवलवर्मस्योद्योतानार्थे शिवप्रदा ॥ २९३ ॥
 आलम्ब्ययोगाद् बुधसत्तमा हि । अस्मिन् वृत्तादित्यप्रकाशग्रंथे ॥
 शब्दा अशुद्धा यदि चेन्मया वै । क्षमध्वमेवाखिलसज्जनाचार्याः ॥ २९४ ॥
 मा शत्रु जानसंपन्ना वालकोपरि मे खलु । रोपत्व सज्जनास्तेहि हीनशब्दार्थदर्शनात् ॥ २९५ ॥

अर्थः—सज्जन पुरुष दूसरोकी निंदा नहीं करते हैं । और दूसरोके काव्यको देखकर वे अतिशय हर्षित होते हैं ।

अर्थ—जिस प्रकार वात रोगी यद्वा तद्वा वक्त्राद् करता है कुछ भी शब्दाशब्दका बोलने न बोलनेका विचार नहीं करता है । ऐसे ही यह मेरी वचनावलि इस ग्रंथमें गुफित की है । सज्जन पुरुष इससे दुर्भावको धारण नहीं करेंगे ।

अर्थः—मैंने यह ग्रंथ अभिमान या किसी अन्य स्वार्थकी सिद्धिके उद्देश्यसे नहीं बनाया है । केवल धर्मका उद्योत ही एक इसी सद्माननासे प्रेरित ही यह ग्रंथ निर्माण किया है ।

अर्थः—इस स्वर्णप्रकाश ग्रंथमें प्रमादसे कोई अशुद्ध शब्द रखे हो । उस पर सज्जन पुरुष क्षमा भाव धारण करें । ज्ञानसे विश्रुत सज्जन पुरुष मुझे वालक समझकर क्रोधभावका प्रकाश नहीं करें ।

वीरः शर्मप्रदायको मुनिन्दुतो वीर श्रिता ज्ञानिनो— । वीरैर्गणैर्न, समाप्यते शिवपदो वीराय मूर्ध्ना नमः ॥२९६॥
 वीरात्रास्त्यस्यरोहि देव भवने वीरस्य शुद्धा गुणा । वीरे चित्तमह दधे ह्यनुदिन हे वीर मेघं नहि ॥ २९७ ॥
 देवेश पूज्यपाद हतसकलमलश्चिन्मय शातरूपः । वीरेश स्वात्मसस्यो गणधरमहिती लोकभाग्याप्रसस्य ॥
 पापाना वारनाशो ऋतुलपविसम काममातगमिहः । ह्यस्तु मेसौ जिनेन्द्रो विमलमतिप्रदो भगलाय शिवाते ॥२९८॥
 शेषास्ते जिननायका शिवप्रदाः ससारविच्छेदका । देवेन्द्रै लवकेशैर्मुनिवैरै संन्या सदा शप्रदा ॥

पापातकविधातका सुविमला नानागुणै समृता । कुर्वतु मम मंगल शिवपद वधा मया संस्तुता ॥ २९९ ॥

सिद्धा कर्माष्टहीना गणधरमहिता लोकभाग्यासंस्था । वधा नेमीन्दुनाम्ना शिवपटजनका सर्वपापाशिमेषा ॥

अर्थ—वीर भगवान् ही सर्व सुखोको प्रदान करनेवाले हैं । श्री वीर प्रभुका ही शरण मज्जन पुरूप स्वीकार करते हैं । श्री वीर भगवान् के प्रसादसे मोक्षकी प्राप्ति होती है । इसलिये श्री वीर प्रभुको मस्तक नमाकर नमस्कार है । श्री वीर भगवान् के सिवाय अन्य कोई इस जगत्में देव नहीं है । वीर भगवान् के शुद्ध गुण है । मैं वीर भगवान् में अपने चित्तको लगाता हूं । हे वीर प्रभो मेरे पापोंको दूर करो ।

अर्थ—देवाधिदेव पूज्यपाद समस्त कर्ममल कलकको नाश करनेवाले चिन्मय परमशत अपने स्वरूपमें स्थिरीभूत गणधर देवोंसे पूजित लोकके अग्रभागमें विराजमान पापोंके नाशक काम रूपी हाथी का नाश करनेकेलिये सिंह समान और विमल ज्ञानके प्रदान करनेवाले ऐसे अरहंत श्रीवीर परमात्मा हमें मंगल प्रदान करें ।

अर्थ—मोक्षको प्रदान करनेवाले ससारका नाश करनेवाले देवेन्द्र विधावर और मुनीश्वरोसे सदैव पूज्य, पापोंका नाश करनेवाले अनंत गुणोंको प्रदान करनेवाले ऐसे चतुर्विंशति ब्रह्मभादि देव हमें मंगल प्रदान करो ।

अर्थ—आठ कर्माँसे सर्वथा रहित गणधर देवोंसे पूज्य लोकके अग्रभागमें विराजमान मोक्षपदको प्रदान

निकाया निर्विकल्पा गुणगणनिलथा सर्वकालेषु सस्था-। ते मे कुर्वतु नित्य सकलसुखकर मंगल पावनं च ॥ ३०० ॥
 आचार्या वर्मतीर्था मुनिवरनिवहै पृजिता सत्पदाब्जा । राम शत्रुगुणाना सुधरणकुशला सर्वपाभारिहीना ॥
 धीरा वै वीरसेवया सुरअसुरनुता पूर्णजानान्निचन्द्रा । नो वो यच्छत्रु शुद्ध शिवपथजनक मंगल सत्पाब्जा ॥ ३०१ ॥
 वदेहं पाठकाना पदद्वयमनिशं पावनाना त्रिशुद्ध्या । येषा शक्तचस्ति नित्य अवगमपठने पाठने लेखपुञ्जम् ॥
 शिष्याना तेच दध्यु परममतियुजा पाससतापहारा । ते शुद्धं नगलौव कविमतिजनका शुद्धभागाय शुद्धा ॥ ३०२ ॥
 पक्षे वा मासमध्ये सुनिवसकरणे दिवतेनरुपशक्ति । मूले वृक्षाय चापि गिरिद्विपसि तथा वा तटे चैव नया ॥
 करनेवाले समस्त पापोंको नाश करनेवाले शरीर रहित समस्त प्रकारके सकल्प विकल्पोसे रहित गुणोंके स्थानभूत सब
 शालमें अनादिनिवृत्त रूपसे विराजमान और नेमिचन्द्र (ग्रंथकर्ताका नाम) आचार्य से वंदनीक ऐसे मित्र परमात्मा
 परम पवित्र मंगल प्रदान करो ।

अर्थ:— धर्मतीर्थके नायक मुनिगुरुसे पूज्यपाद छत्तीस गुणोंसे विराजमान समस्त पचाचारके धारण करनेमें
 कुशल समस्त पापोंके नाशक सुधीर वीर पूर्ण ज्ञानके समुद्र ऐसे आचार्य परमेष्ठी हमे मोक्ष पथमें जानेके योग्य मंगल
 प्रदान करो ।

अर्थ — जिनमें समस्त द्वादशागके पठन पाठनकी अपूर्व शक्ति विद्यमान है देवोंसे पूजित समस्त संता-
 पका नाश करनेवाले और परमबुद्धिके प्रदान करनेवाले (पाठक) उपाध्याय परमेष्ठी मंगल प्रदान करो । मैं सतत वदना
 करता हू ।

अर्थ — पन्द्रह दिवस-अथवा एक मास पर्यंत प्रोषध (उपवास) धागण करनेकी जितमे अपूर्व शक्ति होती
 है । जो वृक्षके मूल या पर्वतके शिखर अथवा नदीके किनारेपरं योगासन लगाकर अपने आत्मध्यानमें लवलीन होते हैं

साधुना सर्वकाले पदयुगलमहं वा त्रिशुद्धया च येषां । ते मे हि साधुवर्गाः परमसुखप्रदाः मंगलाय भवन्तु ॥३०३॥
 एतया परमेष्ठिना बुधजना गात्रस्थपापोत्करा । नानादुःखप्रदायका ह्यतिहृदाश्चैव प्रयांयेव वै ॥
 नाशत्वं वमलासये शुभहृद्द सस्मरणत तत्क्षणे । कुर्वीचं शिवशर्मदं हृदि सदा स्मरण ह्यत पापहृम् ॥ ३०४ ॥
 आधिव्याधिहरा सुशर्मजनका पापाग्निनाशकरा । वद्याः पूज्याः सुरैर्द्वै सकलगुणधरा पापसतापहीनाः ॥
 चेमे वद्याः यथावै भवभयहतकाः ते दिशंतु च नो व । शर्म मोक्षस्य नून गुणनिवहकराः तारकाहिः भवाब्धे ॥ ३०५ ॥
 त वदे सर्वकाले परमसुखपद श्रीजिनेन्दैः प्रणीतम् । भव्याना तारणेशं सकलसुगणैः सेव्यमान सदास्थम् ॥

ऐसे साधु परमेष्ठी के चरण कमलको त्रिशुद्धिस नमस्कार करता हूं । वे साधु परमेष्ठी परम सुखको प्रदान करने वाला मंगल प्रदान करो ।

अर्थ— ये उपर्युक्त अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और सर्व साधु पंच परमेष्ठी भव्यजीवीके समस्त प्रकारके पापोंका नाश करनेवाले हैं । और जिनके स्मरण से अमल गुणोंकी प्राप्ति होती है । वे पंचपरमेष्ठी ह्ये मंगल प्रदान करो । और हमारे पापोंका नाश करो ।

अर्थ— समस्त प्रकारकी आधिव्याधियोंको दूर करनेवाले पापोंके सतापको हरनेवाले देवेंद्रोंसे पूज्य समस्त गुणोंको धारण करनेवाले ससारके समस्त दुःखोंका नाश करनेवाले संसार समुद्रसे तारनेवाले ऐसे पंचपरमेष्ठी मोक्षसुख प्रदान करो ।

अर्थ— परम सुखको प्रदान करनेवाली भव्य जीवीको संसारसमुद्रसे पार करनेवाली समस्त देवगणोंसे पूज्य

निर्दीप्यं सप्तपुत्र्यं विषयनगर्वि धीरवीरगणेन्द्रैः । मेघाद्यस्यैव शब्दा अमलगुण (युता) याति मोक्षे सदा हि ॥३०६॥
 यो धर्मोऽधर्मइत्ता जिनवग्गढदो वंदनीयो मुनीन्द्रैः । यावन्मुक्त्यापानायाः परमत्पवशाक्षिन् प्राप्तिर्भिन्नेभ्ये ॥
 तावन्मे शुद्धचित्ते दुरितनगपवि तिष्ठतु सर्वबुद्धय । दुःपाप्यो दुर्जनानामप्रमत्तिप्रदः सो हि ससारंहता ॥ ३०७ ॥
 वदे त धर्मनाथ नरसुरखचरैः मेघ्यनान गणेशं । शान्ताया व्रतारूप मकरमुनिगणे महिशाया च सस्यम् ॥
 श्रीमत मुक्तिफातं मकलभयहरं वदनात्सेवकाना । भक्त्या भीमघराहं हरतु मम हृद सो जिन पापशत्रुम् ॥३०८॥
 नरसुरवनिर्वध पापदावाग्निमेघ—। ममगुणनिगानं सर्वतत्त्वार्थवारं ॥

समस्त दोषोंमें विमुक्त, कुमार्गका नाश करनेवाली, पूर्वापर विरोध रहित, निर्मल गुणोंसे पूर्ण ऐसी श्री जिनेन्द्र भगवानके मुखकमलसे विनिर्गत श्री शारदा देवीको मैं विकाल वंदना करता हू ।

अर्थ— अधर्मका नाश करनेवाला, श्री जिनेन्द्र भगवानका उत्तम पद प्रदान करनेवाला, मुनिगणोंसे वदनीय, परम तपसे श्राप्त, ममस्त पापोंको नाश करनेवाला, संसारका विध्वंस करनेवाला, विमल बुद्धिका प्रदान करनेवाला और दुष्ट जीवोंको अश्राप्य ऐसा पवित्र जैनधर्म जब तक मोक्षसुखकी प्राप्ति न हो तब तक मेरे हृदयमें विराजित रहो ।

अर्थ:— धर्मके ईश, नर सुर विधाधरोसे पूज्य, गणधरोसे सेव्यमान, पूर्व दिशामें ब्रह्माका स्वरूप धारण करनेवाले, मुक्तिके बल्लभ, समस्त भयोंको हरनेवाले ऐसे देवाधिदेव श्री सीमंशर स्वामी मेरे पापशत्रुओंका नाश करो ।

अर्थ—नर देव इन्द्र चक्रवर्ती आदि त्रिलोकके जीवोंसे पूज्य पापरूपी दावागिनको शांत करनेके लिये मेघके समान समस्त गुणोंका निधान सर्व तत्वोंका सारशत ऐसी दिव्य ध्वनिरूप (जिनवाणी) को नमस्कार करता हू ।

जिनपरमुखजातं गौतमाद्यै प्रणीतं । सकलमुनिपसेव्य हि इदं भोजध्वम् ॥ ३०९ ॥

अस्यैव श्रवणाद्भुक्त्वावरा ज्ञानं क्रियाणा तथा । धर्मस्यैव फलस्य आमंजनक मुक्ते स्वरूपस्य वै ॥

अन्यस्यापि सदैव मो हृदि खलु एव च जाला हृदि । कुर्वीच्च ह्यघहानत्रे अनुदिनं स्वाध्यायमस्यैव वै ॥ ३१० ॥

अम्य प्रयोगात्सकलाश्च अहा । प्रयात्स्थो दुर्तरा जनाना ॥ खगोश्चरदर्शनतो यथा हि । पवनाशाना दुर्जनरूपयुक्ता ॥ ३११ ॥

पठंतु चेम बुवश्चत्मान् प्रथ मन पापविमज्ज हि । वादस्य कर्तुं गजसिंहबुल्यमनं क्रमेदार्थभृत मनोजम् ॥ ३१२ ॥

यह वाणी श्रीगौतम स्वामीने प्रतिपादन की है । और क्रमसे गुरुरपराराद्वारा वैसीही अविच्छिन्न धाराप्रवाह रूप चली आ रही है ।

अर्थ--इस ग्रथराजके श्रवण करनेसे मनुष्य समस्त क्रियाओके ज्ञाता हो जाते हैं धर्म और धर्मफलके स्वरूप को जानने लग जाते हैं । जो इस ग्रथराजका स्वाध्याय करेंगे वे समस्त तत्वोंके ज्ञाता होंगे । इस लिये पापोंके नाश के लिये इस ग्रथराजका स्वाध्याय नित्य पतिदिवस करना चाहिये ।

अर्थ—जिस प्रकार गरुडके दर्शन मात्रसे सर्प भाग जाते हैं । उसी प्रकार इस ग्रंथके पठन पाठन स्वाध्याय और श्रवण करनेसे समस्त पाप शीघ्रही नष्ट हो जाते हैं ।

अर्थ—इस ग्रंथका पठन पाठन है भव्यगणो अवश्य ही करिये इससे मनके समस्त पाप शीघ्रही नाश को प्राप्त हो जायेंगे । यह ग्रंथ वाद विवाद करनेवाले कों सिंहके समान है और अनेक भेदार्थ को प्रकट करनेवाला है ।

सूर्य प्रकाश ग्रंथ प्रस्तावितः

श्रीमृत्सवे विदित भगथा गच्छे हि तस्मिन् वरभारतीये । तस्मिन् वरात्काराणोतिरस्ये श्रीकुन्दकुडाह्यमुच्यमुक्ते ॥ ३१३ ॥
 तपस्विभ्युके वरनदिनाम्न आम्नायेषु तस्य तपस्सुनेथ्य । स्वर्णादिकीर्तिर्विगमूरिनाम्ना चापत्तीनामपुरे प्रगच्छे ॥ ३१४ ॥
 मुरेः हि तस्य वर वीवद्युक्त । बभूव सुनाम्ना विदुभाच भान्य ॥ विद्वद्भ्य श्रीयुतराजमस । जिन्यो नृपे पृजिनपादपस ॥
 नाम्ना फनेचङ्ग सुख्ययुक्त । शिष्यो ह्यमुचस्य मनोभिराम ॥ शान्त्यदिपारगतानेचयुति । रवीव देगवस्यधर्मकारी ॥ ३१६ ॥
 तस्याप्यमृच्छ्रीवरयोववान् व । वृदावनाह्य सुरपुथ्यपाद ॥ प्रतापवान् शुभगुणाकितथ्य ॥ जिनेन्द्रमादाजद्विरेकसुख्य ॥ ३१७ ॥

अर्थ—संसार मात्रमें प्रसिद्ध ऐसे मूलसंघमें भारतीय नामक गच्छमें वलात्काराण में और श्रीकुन्दकुद आम्नाय में तप कृद्धि से विभूषित—पद्मनदी मुनिकी आम्नायमें स्वर्णकीर्ति नामके प्रसिद्ध आचार्य चंपापुर नगर में थे ।

अर्थ—स्वर्णकीर्ति आचार्यके पट्ट पर विद्वानोंसे मान्य श्रेष्ठ विद्वद्दर्श श्रीयुक्त राजमलजी हुए । जिनके अनेक राजा शिष्य थे ।

श्रीराजमलजी के फतेचंद्रजी नामके सुजन शिष्य थे । फतेचंद्रजी समस्त शास्त्रों में पारंगत सरस्वतीको अपने चित्तमें धारण करनेवाले और धर्मको प्रकट करनेवाले थे ।

अर्थ—फतेचंद्रजी के वृदावन नामके शिष्य थे । वे प्रतापी गुणवान् श्रीजिनधर्म के प्रेमी देवताओंसे पूजित ज्ञानकालमें अतिशय निपुण थे ।

स्मरारिहता सकलार्थेत्ता, परोपकारे धृतशुद्धचित्त । धर्माधिपैः सेवितपादपद्म धर्माविग्रहद्वन्द्वसमभावयुक्त ॥ ३१८ ॥
 कलाकलापाकितविग्रहश्च पचाक्षयार्माद्विभ्रल सदा वै । मायाभिमानेन विवर्जिताग निःक्रोधरूपदृष्ट्युतकोभयशु ॥ ३१९ ॥
 मतातरपालकभिश्च पादौ सद्धं दितौ यस्य प्रतापतेजसा । तस्यापरा किं कथयामि गोभा धर्मोपदेशे धृतचित्तवृत्ति ॥ ३२० ॥
 वृन्दावनस्यापि ह्यभुद्धरेण्यः सीतादिरामाभिग्रथिष्य वाग्मी । भव्यै नृभि सेवितपादपद्मो मुद्गाशयो वा वरपुण्यमूर्तिः ॥ ३२१ ॥
 विवेकधर्ता वररूपयुक्त दयाव्रतपालनचक्षु शुद्धः । श्रीजैनधर्मस्य प्रकाशकारी विद्वज्जनाना मनमोदकारी ।
 षट्कर्मधर्ता बिहताहवारः श्रीसिद्धभूमेश्च कृता सुयात्रा । सच्छीलव्रत्तेन विमुषितागो मानापमाने समधी सदैव ॥

अर्थ—श्रीवृन्दावनका वर्णन ऊपर कहा जा चुका है । फिर भी तीन श्लोकोमें विशेष दिखलाते हैं ।
 कामदेवको नाश करनेवाले समस्त तत्वको जाननेवाले परोपकार करनेमें विशेष लक्ष्मीन राजाओंसे संदेव
 मान्य धर्मको वृद्धिगत करनेके लिए चद्रमाके समान अनेक कलाओंसे जगतमें चमत्कार प्रकट करनेवाले पांच
 इन्द्रियोंको जीतनेवाले विषयोसे विरक्त—मान माया लोभ आदि कपायोसे रहित क्रोधादि दुर्भावनासे विरक्त परमशात
 अनेक मतांतरोका खडन कर समस्त वादियोंसे पूजित परम प्रतापी और तेजस्वी ऐसे वृन्दावनके गुणोंका कौनसे
 शब्दोंसे वर्णन करें । उनके समस्त गुण कह नहीं सक्ते ।

अर्थः—वृन्दावनके शिष्य सीता—थे । सीतारामजी वाग्मी भव्य जीवोंसे पूजित, सरल परिणामी, पुण्य-
 मूर्ति, त्रिवेकी, सुरूपमान, दयानतके पालनेमें विशेष लययोग लगानेवाले, अतःकरणकी शुद्धताको धारण करनेवाले,
 श्री जैनधर्मके प्रभावक विद्वानोंसे मान्य, आनन्द स्वभाववाले, षट्कर्मसे प्रवीण, पापोंको नाश करनेवाले, सिद्धभूमिकी
 यात्रा करनेवाले, शील और व्रतसे विशुषित, मानापमानमें चित्तको सावधान रखनेवाले, परम शांत थे ।

श्री राम होते शिवनीहि आदौ शिष्यो धराया विदित. कृपालु । अमुच्च तस्यापि गुणोत्कराढ्यो विपश्चिदोघेषु सुसुलभ्यमूर्ति ॥
अनेकविज्ञानप्रकाशकारी सद्गर्मध्याने धृतधीः निशान्दि । सिद्धात पौराणविचारदक्षः सद्गीः सदासेवितधर्मवर्त्मा ॥ ३२२ ॥
क्रियत्समाब्दैर्विहिताच तेन तत्रैव चंपावति सत्पुरे हि ॥ सदर्मयुक्तेन गुणाकरण भव्याब्जभानुसहशेन येन ॥ ३२३ ॥
तस्माद्धि चागत्य पुरे मनोज्ञे तक्षाभिधे सैव स्थितिं चकार । क्रियन्समैर्वा श्रीधर्मवर्त्मैव प्रवर्द्धनार्थम् ॥
आगत्य तस्मादपि सोहि भग्य द्रोणीपुरे वा विदिते क्षितौ हि ॥ अनेकशोभाभिभृते मनोज्ञे सत्खातिकाशालविमलिते च ॥
तस्मिन् विभात्येव मनोहरोहि जिनेन्द्रसङ्को वरभृतियुक्तः ॥ सशोभते तस्मिन् पापहंता श्रीपार्श्वनाथो हि जिनेन्द्रदेव ॥

अर्थः— सीतारामके शिष्य शिवजीराम प्रसिद्ध हुए । शिवजीराम कृपालु, गुणगणसे विभूषित, विद्वानोंमें
सबसे अग्रश्रेष्ठ, विज्ञानको प्रकट करनेवाले, धर्मध्यानमें अपनी बुद्धिको लगानेवाले, धर्मके सत्य सिद्धांत समुद्रके पारगन्
श्रेष्ठ वाणीको प्रकाश करनेवाले और धर्ममार्गकी सदैव सेवा करनेवाले थे ।

अर्थः— शिवजीरामजी चंपापुर नगरमें विशेष रहे । और धर्मकी महिमा चंपापुरमें विशेष रूपसे प्रकट की ।
किंग्र वहांसे तक्षाभिध नगरमें कुछ समय सुखसे रहे । और यहांपर भी धर्मका उद्योत करते रहे ।
शिवजीरामने अपनी पर्यायमें अपनी शक्तिसे असीम धर्मकी महिमा प्रकट की । और स्थान स्थानपर धर्मके
प्रकाशनके लिये विहार करते थे ।

अर्थ—श्रीयुक्त शिवजी रामजी वहांसे (तक्षनगर से) कुछ दिवस वाद चले आये और द्रोणी नामक
ग्राममें रहे । उस समय द्रोणीपुर समस्त ससारमें प्रसिद्ध था । खातिका कोट-सरोवर आदिसे विशेष शोभायुक्त और
व्यापार का केन्द्र था । द्रोणीपुरमें एक पार्श्वनाथ भगवान् का दिगंबर जैन मंदिर था । यह जिन मंदिर बडी बडी भारी
विभूतिसे सुशोभित था । उस मंदिरमें समस्त पापोंका नाश करनेवाले स्वर्णके सिंहासन पर विराजमान समस्त प्राणि-

मृगारिषीठोपरि सस्थितं हि दर्विकाराक मनमोददच । छत्रादि शोभाभि विराजमानं पद्मासनस्थं वरसौम्यमूर्तिम् ॥३२७॥
 आतंकरामातंगुण्डरुख्यं । सुरेन्द्रपुण्ड्रख्यं ॥ चित्तस्थापापालि विनाशक तं । इतारमेवाखिलदुःखकाना ॥३२८॥
 इत्यादिशोभाभि विमण्डित तं दृष्ट्वाच नत्वा हृदि ब्राप्य मोदं । वासं चकार विदितो धरिष्या धर्मोपदेशार्थमहो हि तस्मिन् ॥
 तत्रैव तस्यापि अभूच्च शिष्यो । नेमीन्दु नाम्ना वरधीप्रयुक्त । श्रीशारदासेवनचिचच्चुचि तस्याः प्रसादाच्च अयं कृतोवै ३३०
 ग्रंथेऽस्मिन् जिनवक्त्रे तनुधिगा किञ्चिद्विरुद्धच यत् । मात्राशब्द पदाक्षरादिरहितं आलस्यसंयोगत ॥

राद्धतागमतश्च भो शिवप्रदे नानाकथासभृते । प्रोक्तंच क्षमता सुतद्धि विमले सर्व ममाग लल्ल ॥ ३३१ ॥

योको आनंद के देनेवाले छत्र चमर भामडलसे अनुपम आत्माको धारण करनेवाले पद्मासन विराजमान सौम्यमूर्ति परम शांत मुद्राके धारक समस्त रोग शोक आदि व्याधिहो दूर करनेवाले देवगणोंसे पूजित व भव्य जीवोंसे वंदनीय सबके मनके पापीको शांत करनेवाले समस्त प्रकारके कष्टोंको नष्ट करनेवाले सातिशय चमत्कार को धारण करनेवाले इत्यादि बहुतसी शोभासे विभूषित श्री पार्श्वनाथ भगवान् देवाविदेव विराजमान थे ।

शिवजी रामजीने यह स्थान धर्मसाधनके लिये सुयोग्य समझा । और यहाँपर वही धर्मोपदेश देकर (धर्मका प्रकाश कर) धर्मकी मढिमाको बढ़ाने के अभिप्राय से निवास किया ।

अर्थ—द्रोणी नगरमें शिवजीरामके शिष्य नेमिचद्रजीने अनेक शास्त्रोंका पठन पाठन किया था और सरस्वती माताकी विशेष सेवा की थी जिसके प्रसाद से इस ग्रथकी रचना हुई ।

अर्थ—इस ग्रथ में (सूर्यप्रकाशमें) श्रीजिनवर भगवान् के मुखकमलसे विनिर्गत दिव्यध्वनि (जिनागम) के विलुद्ध जो हो और अक्षरपद मात्रादि दोष तथा व्याकरणके दोष सहित जो कुछ कहा गया हो विद्वान भव्य भरे अपराधोंको क्षमा करे । शास्त्र समुद्रमें कौन नहीं थल खाता है ?

यस्याः मसादाद्रचयति ग्रंथान् कवीश्वराः धर्मकाशकान् हि । श्रीशारदायाः शुभबुद्धियोगात् इहे हि तां सम्मत्तिसिद्धयेहं ॥
 पूजार्थं ख्यातितार्थं ननुच बुधजना नो कृतोयंच ग्रंथः । द्वेषाद्वा रागभावात् शिवपदजनको वा कवित्वाभिमानात् ॥
 बोधार्थं आत्मनो वै पुनश्च शिवपदप्राप्तये सज्जनानां । संबोधार्थं पुनातु ममच सलु हृदं वा शरीरंच वाक्यम् ॥३३२॥
 बुधाश्रेमे ग्रंथं प्रवरगुणद धर्मजनकम् । अथा नाश याति श्रवणपठनादस्य निखिलाः ॥
 ततो नूनं दुःखनिवहविषयाः दुर्जनसमाः । सदाकाले शुद्धे अमलमतिषा भो पठथ वै ॥ ३३३ ॥

अर्थ—जिस सरस्वती के कृपाकटाक्षसे कवीश्वर धर्मकी महिमाको प्रकट करनेवाले ग्रंथोंकी रचना करते हैं । उस सरस्वती माताको मैं भाव विद्युद्धिसे सन्मति की प्राप्तिके लिये पूजा करता हूँ ।

अर्थः— मैंने यह ग्रंथ अपनी प्रसिद्धिके लिये या मान बढ़ाई प्राप्त करनेके अभिप्रायसे नहीं बनाया है या द्वेष और राग भावसे अभिमानके वश होकर नहीं बनाया है । मैंने केवल अपनी आत्माको बोध करनेके लिये और सज्जनोको सवोध करनेके लिये पवित्र भावोंसे बनाया है । इसलिये यह ग्रंथ मेरे हृदय, वचन और शरीरको पवित्र करो ।

भावार्थः— ग्रंथकारका अभिप्राय है कि इस ग्रंथकी रचना किसी दुष्ट बुद्धिसे अभिमानकी रक्षाके लिये राग द्वेषके विकार भावोंसे या किसी भी स्वार्थ बुद्धिसे नहीं की है । जिससे इस ग्रंथमें जिनागमके विरुद्ध वर्णन लिखा जाय । जो कुछ वर्णन किया है वह श्री जिनागमका स्वरूप ही है । मात्र शब्द योजना मैंने की है ।

अर्थः— हे विद्वज्जन हो यह ग्रंथ अनेक गुणोंको प्रदान करनेवाला और धर्मका वीजभूत है ! इसके श्रवण करने और पढ़नेसे पाप नाशको प्राप्त होते हैं । परतु दुर्जनोको यह न रक्षेगा । सुजन जन तो सदा काल इसका पठन करेगा ।

नो सति सज्जनात्र परममुनिमुताः पक्वज्ञानिनो हि । लोकाना तारणेशाः सकलद्युगनुताः संपदासायुक्ता ॥
 एषु हि संगतान बुधजननिकाग तेषु शास्त्रेषु नृनम् । तत्तुस्या सति भवथा कल्पियुगभवने नो खलु सशयोत्र ॥ ३३३ ॥
 अथो बुद्धिमद सदा सुखकरो अथ श्रिता ज्ञानिनो । अथैव समाप्यतेऽप्रकृदो अथाय तस्मै नम ॥
 अथान्नास्वपरो हितोत्र भगने सच्छर्मद सज्जना । अथस्यैव शुभा गुणा शुभमदे तस्मिन् हि अथैव सदा ॥ ३३४ ॥
 नानासाारकथाश्रिते बुधजनैर्बधेच देवेश्वरै । प्रोक्ते श्रीजिनदेवभिश्च महति सर्वैव अथा खलु ॥
 चित्त मोक्षपदे दधेच शुभां भो ईदृगे नददे । मा त्व चोद्व शीघ्रमेव भवत ईहाहि नो चापरा ॥ ३३५ ॥

अर्थः— इस विषय पचम कालमें, मुनियोंसे पूज्य, समस्त जगतके तारक, अनत चतुष्टय और ममोसरणादि विश्वतियुक्त ऐसे तीर्थकर केगली भगवान् साक्षात् नहीं है । परतु उनके वचन ही गणधरोंने तीर्थकर केवली भगवान् माने है । केगली और उनके वचनोंमें भेद नहीं है । इसमें कुछ सदेह नहीं करना चाहिये ।

अथ ही बुद्धिके प्रदाता है सुखको करनेवाले है । ज्ञानी पुरुषोंने अथोका आश्रय ग्रहण किया है । अथो से ही अमलपदकी प्राप्ति होती है । अथके लिये भेरा नमस्कार हो । अथके सिवाय अन्य कोई इस ससार में सुखका प्रदाता नहीं है । अथके शुभ गुण सर्वत्र प्रसिद्ध है—अथमें शुभ गुण रहते है ।

अर्थ—अनेक कथाओंसे विश्वपित बुध जनोसे मान्य श्रीजिनराजके मुखरुमलसे प्रतिपादित समस्त प्रकारके आनन्दको प्रदान करनेवाले मोक्षको देनेवाले और ससारका नाश करनेवाले ऐसे शास्त्रोक्तो भव्य जीव अपने हृदयमेंदिर में विराजमान करते है ।

अर्थमें बुधसत्त्वाः शिवसदं विद्वद्वरेणैव वै । प्रोक्तं पापप्रणाशकं बुधनुतं सहुद्धिदं पावनम् ॥
 सारं सिद्धान्तसिन्धोः सकलमत प्रियं नेमिचन्द्रेण धीराः । बुद्धयन्त्रे पारप्रासा सकलमदच्युतास्ते मुदा शोधयतु ॥
 जिनेन्द्रपादाब्जमधुव्रतेन ग्रथ कृतोय शुभचेतसा वै । तेन मुदा मन्यप्रभोऽनार्य शिवाय वोऽंगु ननु नोपि शुद्ध ॥३३७
 कराच्च स्वस्यैव लिखति चेद वित्ताच्च स्वस्यैव च लेखयति । श्रीजैनमार्गस्य प्रवर्द्धनार्थं तंऽग्रे भविष्यति सुबोधयुक्ताः ॥
 ग्रथ सूर्यप्रकाशनामकलितो विद्वज्जैर्नैर्बदित । सूर्याचंद्रमसा उडूपनिकरा अग्रे महानिमैले ।
 स्थास्यस्येयं ह्ययं यथाश्रितितले मिथ्यामतध्वसतो । मान्यो भव्यनुभिस्तथाहि भवने पूज्यश्चिरं नदतु ॥ ३३९ ॥

अर्थ—समस्त पापोंका नाश करनेमाला बुद्धिका प्रदाता मोक्षके सुखको देनेमाला परमपवित्र सिद्धांतका सार शत समस्त जनोको प्रिय यह सूर्यप्रकाश ग्रथ श्री विद्वद्वर्य श्री नेमिचन्द्रेने बनाया है । इसका निरभिमानी विद्वान गण शोधन करें ।

अर्थ— श्री जिनराजके पवित्र चरणोंकी सेवा करनेमें तत्पर, विगुद भावोंसे विभूषित ऐसे नेमिचन्द्रेने भव्य जीवोंके प्रबोधके लिये तथा अपने आत्मकल्याणके लिये यह ग्रंथ बनाया है ।

अर्थ— जो सज्जन इस ग्रंथको अपने हाथोंसे लिखेंगे या जो भव्य जीव अपनी संपत्तिमें लिसायेंगे और इसका विस्तार करेंगे वे जैन धर्मकी वृद्धि करेंगे उनको भविष्यमें अष्ट ज्ञान संपादन होगा ।

अर्थ— विद्वज्जनोंसे वदनीक भव्य जीवोंसे सदैव मान्य और मिथ्या मत्तका ध्वंस करनेमाला यह सूर्यप्रकाश नामका ग्रथ संसारमें जब तक सूर्याचंद्र या ग्रहनक्षत्र हैं तब तक सदैव स्थिर रहो । चिरकाल तक जैनधर्मका प्रकाश करो ।

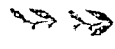
अथ च ग्रथ पठकस्य नित्यं करोतु पापालिविनाशनं हि । सन्मालं बुद्धिवरा तथा हि हृद्वाहितं शरीरं तति पुनश्च ॥ ३४० ॥
 समाधिपृष्ठे सुगतिं तथैव सदृशनं ज्ञानं तथा च व्रतम् । पुत्रादिदृष्टिं जिनधर्मसिद्धिं जिनपादद्वयसन्नुत्तिं च ॥ ३४१ ॥
 ममापि सर्वे सुगुणा भवतु इमे हि मोक्षपददायकाश्च । तु पापसंदोहविनाशश्चाथ नाकादि स्यात् तस्य कथा हि नास्ति ॥
 अकाशानन्देदुभमे हि चाब्दे मित्रादिशैलेन्दु सुशाकयुक्ते । मासे नभारणे शुभजनदवष्टे विरोचनस्यैव सुवारके हि ॥ ३४३ ॥
 द्रोणीनार्था विदितेऽवलयायामनेकशोभाविमडिते च । मध्यान्हकाले अरुणस्य शुद्धे । राधाचक्षेत्रे शुभनामयोगे ॥ ३४४ ॥
 श्रीपार्थनाथायतने हि तस्मिन् संपूर्णता हि आगदय च । सदा पुनातु प्रवरो हि ग्रंथो नो वश्च चित्त जयति धरित्रयाम् ॥ ३४५ ॥

अर्थः— यह सूर्यप्रकाश ग्रथ पढनेवाले मन्व्य जीवोंके पापोंका नाश करो, मंगल करो, बुद्धि प्रदान करो और मनके मनोरथ सफल करो ।

अर्थः— यह ग्रथ पढनेवालोंको समाधि मरण, सुगति गमन, बोधि लाभ, पुत्रकलत्र आदिकी प्राप्ति और जिनधर्मकी सिद्धि प्रदान करो ।

अर्थः— यह सूर्यप्रकाश ग्रथ ग्रथकर्ता श्रीनेमिचंद्रको भी समस्त गुणोंकी प्राप्ति करो जिससे मोक्षसुख की प्राप्ति हो और पापोंका नाश हो । स्वर्गके सुखोंकी आवश्यकता नहीं है ।

अर्थः— यह सूर्यप्रकाश ग्रथ सत्तामै प्रसिद्ध विचिन शोभा से सुशोभित द्रोणी (दूनी) नगरमें म-यान्ह के समय राधा नक्षत्र शुभयोगमें विशुद्ध भावोंसे श्रीपार्थनाथ दिग्गजर जैन चैत्यालय में पूर्ण किया । यह ग्रंथ चिरकाल पर्यंत सत्तामै जैनधर्मकी बुद्धि करो, हमारे चित्तको पवित्र करो ।



पश्चादित्या च गानं च स्तवनं तद्गुणोद्भवम् । कृत्वा पुनः चचालसौ तस्माच्च स्मरुर प्रति ॥ ५५४ ॥

तावत्तद्वह्नरस्थानात् निःसृतो गंगदुःसहः । जनैः सोढुमश्वयोपि दुष्टैर्जतिजुगुप्सकैः ॥ ५५५ ॥

दुर्गंधं कुत्रत स्वामिन् आयातो देहदुःखदः । कथय सत्वर मय कारण मम शतदः ॥ ५५७ ॥

शुक्ला इत्याह ता मूः शृणु त्व प्राणवल्लभे । कश्चिद्योगीश्वरो ह्यत्र दृश्यते ध्यानतत्परः ॥ ५५८ ॥

मन्वाविलो मन्वाधीरस्तस्य दहस्य योगतः । आगतश्च प्रिये चाय दुर्गंधो नात्र मशयः ॥ ५५९ ॥

अर्थ—फिर उस विद्याधरने श्रीजिनेन्द्र भगवानकी अष्ट द्रव्यमे भक्तिपूर्वक पूजा की, भगवानका गान किया, स्तनन किया और प्रभुके गुणोका स्मरण किया । फिर वहाँसे (कैलाशसे) अपने नगरको आनेका विचार किया ॥ ५५४ ॥

अर्थ — उसी समय पर्वतकी एक गुफामे से अत्यंत दुःसह दुर्गंध ऐमा निकला कि जिसको निर्विचिकित्सा अगके पालनसे रहित (सम्यग्दर्शन विहीन) जीव सहन करनेको सर्वथा असमर्थ हो ॥ ५५५ ॥

अर्थ:— उस दुर्गंधको सूघते ही शुभमतिने अपने पति विद्याधरसे पूछा कि हे स्वामिन् इस परम सुगंधित नंदन वनके समान महान उत्कृष्ट वनमे शरीरको दुःख देनेवाली यह दुर्गंध कहासे आई ? हे प्रभो मुझे सुख देनेवाला इसका कारण कहिये ॥ ५५७ ॥

अर्थ:— अपनी धर्मपत्नी शुभमतो रानीके ऐसे वचनोको सुनकर विद्याधरने कहा कि यहांपर कोई योगीश्वर अतिशय तपस्वी महान् मलसे पूर्ण हो रहा है और यह दुःसह दुर्गंध उसीके शरीरसे आ रही है इसमें संदेह नहीं है ॥

पते वाचमिति शुत्वा सा गत्वा तस्य सकिधे । ददर्श तत्तनु दीप्त तपसा कृपता गतम् ॥ ५६० ॥
 व्यासान् स्वेदग्लौघै ध्यानमम निरवरं । कायोत्सर्गं स्थितं सौम्य चिदात्सससभृतम् ॥ ५६१ ॥
 ईदृगस्य मुनीन्द्रस्य किञ्चिच्चकार सा हृदि । तस्मिन् काले जुगुप्सा च दृष्ट्वा सर्वार्थिनाशकाम् ॥ ५६२ ॥
 पश्चात्प्रासुकरीरेण पक्षाल्य तत्तनुं च सा । चकार लेपन तस्य कृष्णागुर्वादिजै रसै ॥ ५६३ ॥
 मुनिं नत्वा तत्रौ पश्चात् स्तुता स्मरुमागतौ । शृणु ख चान्यवृत्तानि यज्जातं तत्र लाल ॥ ५६४ ॥
 लेमजातपुण्येन तदा मत्ता भुव्रता । लम्बाश्चाग्ल्य देहस्य मुने, सहस्रश प्रमा ॥ ५६५ ॥

अर्थ—अपने स्वामीके ऐसे वचनो को सुनकर वह शुभमती रानी शीघ्रही मुनि समीप गई । और परम दी-
 दीप्यमान तपसे कृषितशरीर ऐसे दिव्य मुनिको देखा । जिनके शरीरमें स्वेद (परसेन) के कारण मल बहुत होगया
 था । तो भी ध्यानमें लमलीन थे । कायोत्सर्ग स्थिर थे । शांत थे । और अपने चैतन्य परस्नानद रसका पान करने
 में दत्तचित्त थे ॥ ५६० । ५६१ ॥

अर्थ—एसे परमध्यानी और शरीर से सर्वथा मोह रहित मुनीश्वरको देखकर प्रथम तो उस रानीने अपने
 मनमें समस्त प्रकार के अनर्थको करनेवाली किञ्चित्त जुगुप्सा (ग्लानि) की । फिर तत्कालही प्रासुक और पवित्र
 जल से मुनीश्वरके शरीर को प्रक्षालकर अगर तगर आदि सुगंधी द्रव्यो का सुगंधित लेप किया ॥ ५६२ । ५६३ ॥

अर्थ—मुनीश्वर को नमस्कार कर और स्तुति कर वे दंपति (विद्याधर व रानी) अपने नगरमें आये ।
 इसकं वाद वहां पर दूसरी कथा वनी वह मुनो । उस सुगंधी लेपकी सुगमसे मुनीश्वर के शरीर पर हजारो अमर
 आकर लिपट गये । ५६४ । ५६५ ॥

चैतन्यजडरूपे च पश्यन् भिन्नत्वमंजसा । आत्मन्येव तदा तस्थौ स मुनिः घोरभावयुक् ॥ ५६६ ॥
 नात्यजत् आत्मनो ध्यानं तदा घोरोपसर्गके । बायुना किं नागावीशः प्रचलत्येव निश्चयात् ॥ ५६७ ॥
 तदोपसर्गो संजाते स यतिरात्मवेदक । स्थिरोऽभवत् शिवाकाक्षी आत्मनि मेरुवत् क्षयी ॥ ५६८ ॥
 मुने देहात् पलं सर्वमश्नंति शोणित तकाः । तथाऽप्येप मुनिश्चिते न चचाल स्वध्यानत ॥ ५६९ ॥
 एव पक्षमपे घसे याते स भार्ययान्वित । पूर्वोक्तश्चायगौ तत्र यात्रार्थं लचरेऽश्वर ॥ ५७० ॥
 नो दृष्ट स यतिश्चात्र सा चाह स्वपतिं प्रति । कं गत स मुनि स्वाभिन् वस्माभि पूजिनश्च य ॥ ५७१ ॥

अर्थ — वे घोर वीर मुनीश्वर आत्मा और शरीरको सर्वथा भिन्न विचार करते हुए अपने आत्म विचारमें लवलीन होगये ॥ ५६६ ॥

अर्थ— यह घोर उपसर्ग आनेपर भी मुनिराजने अपना ध्यान नहीं छोडा । सच है कि संरूपवत कही बायुसे कंपित होता है ? ॥ ५६७ ॥

अर्थ— इस प्रकार असुरोका घोर उपसर्ग आनेपर भी वे मुनीश्वर अपने आत्मीक ध्यानसे रच मात्र भी चलायमान नहीं हुए । मेरुके समान अडोल रहे ॥ ५६८ ॥

अर्थ— मुनीश्वरके शरीर का सर्व मांस और रक्त असुर (भोरा) भक्षण करने लगे पण्तु मुनिराज अपने ध्यानसे रच मात्र चलचित्त नहीं हुए ॥ ५६९ ॥

अर्थ— इस प्रकार यह घोर उपसर्ग पंद्रह दिवसपर्यंत रहा । पंद्रह दिवस बाद वही विद्याधर और शुभमती रानी कैलाश गिरीकी वदनाके लिए पनः वहांपर आए ॥ ५७० ॥

अर्थ— शुभमती रानीने अपने स्वामी विद्याधरसे पूछा कि जिन मुनीश्वरकी हमने प्रथम पूजा की थी,

सर्वत्रालोकनां चक्रे श्रुत्वा राश्ट्रदितं वच । स खगो अमर्युक्त ददृशाग्रे मुनीश्याम् ॥ ५७२ ॥
 प्रियामाह खगाधीश पश्य पश्य दयोलिम्बते । त्वया भक्त्या कृतो लेखत्रानिष्टस्तु जातवान् ॥ ५७३ ॥
 सापि श्रुत्वा पते वाच दृष्ट्वा योगीश्वर तदा । भात्मनः परमां निंदा चकार खचरमिया ॥ ५७४ ॥
 निर्घातितास्ततः सर्वे तथा षट्पदसंचया । तदा ध्यानप्रभावेन स लेभे केवलोदयम् ॥ ५७५ ॥
 समायुः सुरेन्द्राश्च तस्य पूजार्थमज्ञसा । कृत्वा पूजा ज्जिनेन्द्रस्य तस्य तत्रैव भावत ॥ ५७६ ॥

लेप किया था सो वे यहांपर दीखते नहीं हैं कहांपर गए ॥ ५७१ ॥

अर्थ—शुभमती रानीके कहनेसे विद्याधरने मुनीश्वर को सर्वत्र देखा, तम अमरो से आच्छादित उसी स्थान पर मुनीश्वर को देखा ।

अर्थ—हे बल्लभे हे निशुरे ! देख देस तेने मुनीश्वर को भक्ति से सुगंधी पदार्थों का लेप किया परतु बिना विचारे हुए कार्यका कैसा अनिष्ट परिणाम हुआ है । ५७३ ॥

अर्थ—शुभमती रानीने अपने स्वामीके ऐसे वचनोंको सुनकर और मुनीश्वर का वोर उपसर्ग देखकर अपनी धोर निंदा की । ५७४ ॥

अर्थ—शुभमती रानीने उन समस्त अमरोंको दूर किया । उपसर्ग के निवारण होते ही ध्यानके प्रभावेसे चार घातिया कर्मोंका नाश हुआ और मुनीश्वर को केवलज्ञान प्रकट हुआ ॥ ५७५ ॥

अर्थ—उसी समय मुनिराजके केवलज्ञानकी पूजा करनेके लिये देवगण आये और भगवानकी पूजा कर वहांपर धर्मोपदेश श्रवण करनेके लिये ठहरे ॥ ५७६ ॥

तावद्वधिनेत्रेण पूर्वाक्ति खचेश्वर । तस्या. पति. गत भवो ज्ञात्वा तस्या सुदुःसक ॥ ५९० ॥
 आजगाम सुरस्तत्र तस्याग्रं सकल स्वकं । वृत्तान् पूर्वज्ञे न्दिय कथयामास मोदत ॥ ५९१ ॥
 पुन इत्याह त्व भावात् सप्ताहानि प्रमाणिच । पचाभृतामै शुद्धे जिनाना स्नपन कुरु ॥ ५९२ ॥
 तत काश्मीरकर्पूरगंधसागजसद्रूपे । जिनाना शुद्धभावेन पादयो लेखन कुरु ॥ ५९३ ॥
 अनेनैव प्रयोगेण त्वत्तनौ शतता खलु । भविष्यति प्रिये नात्र सदेहगाकुरुष्व मो ॥ ५९४ ॥
 इत्याख्याय सुरो दक्ष स्वस्थानंच गतस्तत । तच्छ्रुत्वा सापि तत्सर्वं चकार स्वस्य शतये ॥ ५९५ ॥

अर्थ— हाय ! हाय ! पापिनी मेने पूर्वभवं ऐया कौनमा भयकर पाप क्रिया होगा कि जिसके फल से यह दारुण दुःख सुझे प्राप्त हुआ । ऐया विचार मदनावली अपने मनमें कर रही थी कि उसी समय पूर्वभवंके स्वामी विद्याधरका जीव (जो विद्याधरकी पर्याय से स्वर्गमें देव हुआ था) स्वर्गसे मटनावलीके पाम आया । मदनावलीके जीवने पूर्व भवमें मुनिनिंदा की थी और उसके फलसे ही यह रोग होगा है ऐया मुनिनिंदा करनेका ममस्त पूर्वभव का वृत्तात् उस देवने बतलाया ।

अर्थ— उस देवने फिर कहा कि हे मदनावलि ! तू मात दिवस पर्यंत भावसे श्री जिनदेवका पचाभृत रस से अभियेक कर और पवित्र सुगंधित केशर-कर्पूर-चंदन आदि पदार्थों के रस से श्रीजिनदेवके पवित्र चरण कमलोंका लेप कर तो ऐसा करनेसे तेरी यह दुःसह व्याधि शीघ्रही शमन हो जायगी । इसमें जरा भी सदेह नहीं । ऐसा कहकर वह देव अपने स्थानको गया और मदनावलीने वह सच विधि समस्त सांगोपांग की । ५९२ । ५९३ । ५९४ ।

अर्थ— मदनावलीने अपने रोगकी शक्तिके लिये तीनों काल पचाभृतसे श्रीजिनदेवका अभियेक किया और सुगंधी पदार्थोंके रससे प्रभुके पवित्र और सुगंधित चरणोपर लेप किया । इस प्रकार करनेसे उसकी देह अत्यंत सुगंधित

त्रिकाले सा जिनन्द्वेषामभिषेक विमानत । चक्रं च पादयोर्लेपं नित्यं सुगण्डै रसै ॥ ५९५ ॥
 एव च क्रियमाणे हि तस्या देहोऽभवनमहान् । सुगण्डाब्जस्य सर्वेषां प्रियं स्नानप्रभावत ॥ ५९६ ॥
 प्रतिवत्न तत सापि चकार घनमोदत । अभिषेक जिनन्देवणा पादयो लेन तथा । ५९७ ॥
 कालञ्च-या तत सापि, लात्वा दीक्षा जगन्नुताम् । दुर्धरं च तपस्तेपे कर्मवृद्धारिहानये ॥ ५९८ ॥
 अने सन्यासमादाय विशुद्धकन्या तप -- । प्रभावात् सा निहत्याशु स्त्रीलिङ्गं निन्दितं बुधै ॥ ५९९ ॥
 सागप पचमे नाके देवत्व गर्भसंभ्रुने । धर्मत जिवसंप्राप्ति का कथा नारुसञ्जन ॥ ६०० ॥
 मोमरो दिव्यसौख्यानि प्रभुज्यति स सर्वदा । पूर्वधर्मप्रभावेन धर्मतो दुर्घट च किम् । ६०१ ॥

तथा सुदर होगई ॥ ५९४ । ५९५ ॥

अर्थ:-- तदनंतर यह मदनानवली हर्षके साथ प्रति दिवस श्रीजिनदेवका पूचामृताभिषेक करने लगी । और सुगंधी द्रव्योंसे जिनंद चरणोंका लेप करने लगी । काललब्धि प्राप्तकर वह मदनानवली श्रीभगवती जिनंददीक्षाको धारण कर दुवर तपश्चरण करने लगी । अतमें विद्युद् भावोंसे सन्यास धारण कर स्त्रीलिङ्गको छेद पाचमें स्वर्गमें देव हुई । मच है धर्मसे सा कुठ होता है । जम मोक्षकी प्राप्ति धर्मसे होती है तो स्वर्गकी प्राप्ति में क्या आश्चर्य ?

अर्थ-वह देव स्वर्गके दिव्य सुखोंको प्राप्त हुआ । सो ठीक ही है क्योंकि धर्मके प्रभावे कोई भी कार्य दुर्घट नहीं रहता । ६०१ ॥

तस्माच्छुद्ध्या स्वकालात्ते नराज्जन्म शुभे कुत्रे । मंत्राप्य मयं धृ वा मोमर शिवमिद्वये ॥ ६०२ ॥

याश्रति कर्मनिर्णाशात् मिद्वस्थानेच्युतोमे । मुनि भो मगधाधीश तत्रापि भवंपूजिनम् । ६०३ ॥

भो भग श्रीजिनेन्द्रस्य पादयोश्च प्रलेनात् । सुवमासाच सा राज्ञी प्रत्यक्ष सन्तु पश्यश ॥ ६०३ ॥

चन्दनस्य प्रलेपेन सुखमाप्ता घना जना । लेनीयौ जिनपादौ षत्तथ्यन्दनकुर्मु ॥ ६०४ ॥

शुकः कीरी जिनेन्द्रस्य पादाश घृ भजसा । शालिकृण पुन तौहि गतौ स्वर्गे मनोदरे ॥ ६०५ ॥

शान्धत कपतो मोक्षे बुग नित्य जिनोत्तमम् । पुजश्व वरै शुद्धैश्चतीक्ष्णनासये ॥ ६०६ ॥

पुष्पीधि कुन्दपक्षौध विभो पूजा कृत षत् । लीलापत्यभिग श्रेष्ठश्रेष्ठिन्या प्रतिवासम् ॥ ६०७ ॥

अर्थ-वह देव स्वर्ग से चपकर मनु-य पर्यागको प्राप्त कर और जिनेन्द्र भगवानकी पवित्र दीक्षाको धारण कर मोक्षको प्राप्त होगा । हे श्रेणिक महाराज यह मम महिमा भगवान पर चन्दन चढानेके गुणके फल की है । भगवानके चरणकमलोंकी चन्दन मे पूजा करने का महान् फल है । ६०१ । ६०२ ॥

अर्थ—हे भव्य जीवो ! श्रीजिनेन्द्र देवके पवित्र चरण कमलोंपर चन्दनका लेप करनेके फलसे मदनपत्नी ने प्रत्यक्ष फल प्राप्त किया । भगवानके चरण कमलपर चन्दनका प्रलेप करनेमे मद्दत से जीप मुरको प्राप्त हुए, हे इस लिये चन्दन स पूजा नित्य ही करनी चाहिये ॥ ६०३ । ६०४ ॥

अर्थ—एक ताता दपती ताताके जोडा) ने श्रीजिनेन्द्र भगवानके पवित्र चरण कमलोंकी अक्षत के कणसे बडी भक्तिपूर्वक पूजा की । उसके फलमे वे दोनों स्वर्ग को प्राप्त हुए । और क्रमसे मोक्षको प्राप्त होगे । इसलिये भव्य जीवों को शुद्ध अक्षतसे श्री जिनेन्द्र देवकी पूजा नित्यही करनी चाहिये ॥ ६०१ । ६०६ ॥

अर्थ--श्रीजिनेन्द्र भगवानके पवित्र चरण कमलोंकी कुंद-पत्र चमेली गुलाब आदिके फलोंसे पूजा कर

दिवि साच गता ह्येवं मोक्षं यास्यति निश्चयात् । अतो भव्या जिनेन्द्राश्च पूजयध्वं लुपुप्यत ॥ ६०८ ॥
 हालिकाभिमर्शयोर्यो यत्युदेशात् कृतीति वै । नियमं एकग्रासेन पूजयिष्यामि वै जिनम् ॥ ६०९ ॥
 सोपि नृपार्चितो जात तस्फलेन पुनश्च स । दीक्षा जैनेधर्मी धृत्वा दिवि देवोऽभवत्खलु ॥ ६१० ॥
 मोऽपर स्वर्गतश्च्युत्वा लम्प्यति मोक्षमक्षयम् । कुर्वतु सर्वदा भव्या नैवेद्ये पूजन प्रभो ॥ ६११ ॥
 जिनपादारविंदायै नार्शार्थं मोहकर्मण । यत् खलु शुद्धभावेन दीपस्योद्योतनं कृतम् ॥ ६१२ ॥
 धूपश्रीकन्यका जाता दिवि देवागनापि सा । चांग्रं यास्यति मोक्षं हि अनुकमाच्च सा सुरी ॥ ६१३ ॥

लीलापती नामकी संठानीने स्वर्ग पद प्राप्त किया और क्रमसे मोक्षको जापणी । इस लिये भव्य जीवोको भगवान् जिनेंद्र देवकी फूलसे पूजा नित्य करना चाहिये ।

अर्थ:— एक मुनीश्वरके धर्मोपदेशसे हालिक नामके एक अतिशय दरिद्र वैश्यने श्रीजिनेंद्र भगवानके पवित्र चरणकमलके समक्ष एक ग्रास मात्र चढानेका नियम लिया था । उस पुण्यके प्रभावसे उसका उसी पर्यायमें समस्त दरिद्रताका दुःख दूर होगया और राजासे पूजित हुआ । अतमे पररु रह स्वर्गमें देव हुआ । और आगे वह मोक्षको नियमसे प्राप्त होगा । इसलिये भव्य जीवोको भगवान् जिनेंद्र देवकी पूजा नैवेद्यसे प्रतिदिन करानी चाहिये ॥ ६०९ । ६१० । ६११ ॥

अर्थ:— मोहनीय कर्मका नाश करनेके लिये श्रीजिनदेवके समक्ष शुद्ध भावसे दीपकोका उद्योत अवश्य ही करना चाहिये । धूपश्री नामकी कन्याने दीपकी पूजाके फलसे स्वर्गमें देवांगनाकी पर्याय प्राप्त की । और क्रमसे मोक्षको भी प्राप्त करेगी ॥ ६१२ ॥ ६१३ ॥

विवयधरो नाम्नेति श्रेष्ठिपुत्रश्च शुद्धवी । धूपपूजाप्रभावेन तुर्यकल्पेऽमरोभवत् ॥ ६१४ ॥
 सोपि यात्यति भो भग्या ऋतुकमात् शिवास्पद । पूजयध्वं जिनैर्द्रं वै धूपय्यूहे शिवाप्तये ॥ ६१५ ॥
 रूपिणी नामत लयाता दरिद्रवणिजात्मजा । केलाद्वादि फलोघ च सा जिनाग्ने फलाप्तये ॥ ६१६ ॥
 धृत्वा इत्याह भो स्वामिन् देहि मोक्षफल च मे । कृत्वा प्रतिदिनं चैव मृत्वा समाधिना तत ॥ ६१७ ॥
 आद्ये स्वर्गमरो जातश्चाग्ने मोक्ष गमिष्यति । फलेज्याफक्ततो भग्या किं न म्यात् गर्भसंतति ॥ ६१८ ॥
 एकैकद्रव्ययोगेन पूत्रयि वा जिनाधिषम् । संप्राप्ता गर्भनिकरं नराश्च वहवो भुवि ॥ ६१९ ॥
 विष्णुभद्रो द्विवश्वैको वसुद्रव्यैर्जिनं मुदा । पूजयित्वा दिवि चाद्ये संजातो देवगट् खलु ॥ ६२० ॥

अर्थः— विनयंधर नामके एक सेठके पुत्रने शुद्ध भावसे श्रीजिनेन्द्र भगवानकी धूपसे पूजा की । उसके फलसे वह चौथे स्वर्गमें देव हुआ । और वहासे चयकर क्रमसे मोक्षको जायगा । इसलिये हे भव्य जीवो धूपसे भगवानकी पूजा महान फल देनेवाली है । इसे प्रति दिन करो ॥ ६१४ ॥ ६१५ ॥

अर्थ—मोक्षफलकी इच्छासे रूपिणी नामकी एक दरिद्र वणिक्पुत्रीने केला आम-नारंगी-नीरु आदि उत्तम फलोसे श्री जिनेन्द्र भगवानकी पूजा की उसके फलसे वह मर कर स्वर्गमें देव हुई । और फिर वहासे चयकर मनुष्य पर्यायको प्राप्त कर मोक्षको प्राप्त होगी । फलोकी पूजा से भव्यजीवोको समस्त प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं ।

अर्थ—एक एक द्रव्यसे ही भावभक्ति पूर्वक श्रीजिनेन्द्र देवकी पूजा करनेवाले बहुतसे भव्य जीव उत्तम सुख को प्राप्त हुए हैं ।

अर्थ—विष्णुभद्र नामक एक ब्राह्मणने श्रीजिनेन्द्र देवकी आठ द्रव्योसे पूजा की थी उसके फलसे वह इन्द्रपद को प्राप्त हुआ था ।

भेकाद्या शुद्धभावेन जिनपूजात्तमानसा । तेपि स्वर्गं गता भव्या अत कुर्वन्तु ता सदा ॥ ६२१ ॥
 पूजा ये नरसत्तमा सुविधिना कुर्वन्ति ते निश्चयात् । इन्द्रस्यैव खगेन्द्रपद्मगपते भूतिं समाप्याशु वै ॥
 यास्यंथ्येव शिवास्पदं मुनिमुतं नाशादिकर्मोच्चिदं । मत्सेयेव वुचोत्तमा जिनपते इज्या कुरुन्व च भो ॥ ६२२ ॥
 अनेन विधिना भूप कलौ मूढाश्च ये नरा । करिव्यति जिनेन्द्राणा पूजा नैव मदोद्धता ॥ ६२३ ॥
 तस्मिन् तदुद्भवा क्रूरा सुबोधखलववजिताः । वचनोत्थापका स्वस्यागमस्यैव प्रतिश्रयात् ॥ ६२४ ॥
 अंगपूर्वा नराधीश स्थास्यन्ति मत्सर खलु । पक्षचंसोमवपति प्रत्याष्टहीनतश्च ये ॥ ६२५ ॥

अर्थ—मैंदक आदि शुद्ध पर्याय के धारक जीवोंने भावोकी विद्युद्विसे श्रीजिन देवकी पूजा की और स्वर्गादिक उत्तम पदकी प्राप्ति की । इसलिये भगवान जिनेंद्र देवकी पूजा सदा करते रहना चाहिये । ६२१ ॥

अर्थ—जो भव्य जीव भव्य भावसे विशिष्टपूर्वक श्रीजिनेंद्र भगवानकी पूजा करते हैं वे निश्चय से इन्द्र धरणेन्द्र आदि की महान् दिव्य विभूतिको प्राप्त होते हैं । वे भव्य जीव मुनियोसे पूज्य और समस्त प्रकारके कर्मासे रहित ऐसी मोक्षको प्राप्त होते हैं । इसलिये भव्य जीवोंको भगवानकी नित्य पूजन करनी चाहिये ॥ ६२२ ॥

अर्थ—हे राजन् शास्त्रोकी उपर्युक्त विधिसे जो मनुष्य जिनेंद्र भगवानकी पूजा नहीं करते हैं वे मदोद्धत उसी भवमें क्रूर और हठग्राही बन जाते हैं उनका सम्यग्ज्ञान नष्ट हो जाता है । जो आगमके वचनोका उत्थापन करता है उसका क्या हाल नहीं होता । ६२३ । ६२४ ॥

अर्थ—श्रीसर्वेश देव महावीर स्वामीने राजा श्रेणिक से कहा कि हे राजन् मेरे निर्वाण होनेके बाद एकसौ बासठ वर्ष पर्यंत अंगपूर्वोका ज्ञान पूर्ण रूपसे रहेगा ।

चात्रे धर्मप्रकाशार्थं करिष्यति मुनीश्वरा । श्रथाना सकलानाच षण्णु रचना खलु ॥ ६२६ ॥

हायन प्रति तस्मिन् वै मुनिमार्गस्य हानिता । भविष्यति शरीरस्य हीनसहननाश्च वै ॥ ६२७ ॥

जिनधर्मात् भविष्यति भूदेवा भूमिपास्तदा । सुबोधवर्जिताश्चास्य निदकाश्च परान्मुखा ॥ ६२८ ॥

अर्थ—इसके बाद मुनीश्वर गण निःस्वार्थ और पवित्र वृत्तिसे धर्म प्रकाशनके लिये श्रीजिनदेवकी ही वाणी को ताड पत्र पर लिखकर ग्रंथोकी रचना करेंगे ।

अर्थ—इसके बाद क्रमसे प्रतिवर्ष मुनिमार्गकी हानि होती जायगी । पचम कालमें ही न सहनन होनेसे सिंह वृत्तिके चारित्रको धारण करने वाले विरले ही होंगे । ६२७ ॥

अर्थ—हे राजन् ! पचम कालमें राजा और ब्राह्मण जिनधर्मसे परान्मुख हो जायेंगे । उनमें सम्यग्ज्ञानका अभाव हो जायगा जिससे वे उलटे जैन धर्मके निदक बन जायेंगे ॥ ६२८ ॥

१ धर्मकी स्थिति और वृद्धि के कारण राजा धर्मगुरु और निर्ध्रिय ऋषिगण माने है । राजा यदि नीतिवान सदाचारी और सत्य धर्ममें तत्पर है तो प्रजा भी राजाके समान नीतिमान सदाचारी और धर्ममें तत्पर होगी । यथा राजा तथा प्रजा । वर्तमान समयमें राजाओंमें धर्मवासना-नीति-और सदाचारका अभाव होगया तो प्रजा भी वैसी होगई । ऐसे कायदे कानून बन गए जिनसे अधर्म फैलाया जासके-हिंसा की जासके—व्यभिचारमें धर्म कायदा कानूनसे होने लग गया । इसी प्रकार धर्मगुरु ब्राह्मण गृहस्थाचार्योंके अभाव होनेसे(ब्राह्मण लोगोंने जैनधर्म छोड देनेसे) सोलह संस्कार और उत्तम आचरणोंका अभाव होगया नीति प्रतिदिन उठने लग गई । ब्राह्मणोकी देखा देखी अन्य प्रजा भी धर्मसे परान्मुख होगई । निर्ध्रिय ऋषियोका अभाव होनेसे धर्मका मूल ही नष्ट होगया । लोगोंने धर्ममें मनमानी कल्पना काली और ऋषिगणोंके अभावके कारण उपदेश न होनेसे जैनसंख्या का अभाव हुआ । नवीन जैन बन्ते नहीं, जो हैं सो अन्य धर्म स्वीकार करने लगे ।

खतो मुनिपदस्यैव धारका पुरुषाः कलौ । तुच्छा जानीहि त्वं मूप यथा भूपास्तथा प्रजाः ॥ ६२९ ॥

आदिवीरस्य पुत्रेण रचिता ब्राह्मणाश्च ये । जिनधर्मप्रकाशार्थं पूज्याः सर्वेषु चोचमाः ॥ ६३० ॥

जिनधर्मविनाशाय तेन जाता बुधोचमाः । दुष्टकालप्रदोषेण न दोषः कस्यचिद् भुवि ॥ ६३१ ॥

तुर्यकाले समा सर्वे वैश्याश्च क्षत्रिया द्विजा । खलु चैकैव चेष्टाब्जा जिनधर्मप्रसेवकाः ॥ ६३२ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक उपयुक्त कारणों से मुनिपदके धारक वीर पुरुषों की सख्या स्वल्प होगी । सो ठीक ही है जैसा राजा वैसी प्रजा होती ही है ।

अर्थ—हे श्रेणिक—श्रीआदिप्रभु भगवान ऋषभ देव के पुत्र भरत चक्रवर्तीनि जिन ब्राह्मणोंकी स्थापना धर्मकी वृद्धि और धर्मकी पवित्रता स्थिर रखनेकेलिये की थी—इसीलिये जिन ब्राह्मणों को पूज्य माना था और सर्व वर्णोंमें श्रेष्ठता प्राप्त हुई थी वे ही ब्राह्मण जैनधर्मके नाशक—निंदक—और द्वेष करने वाले हो जायेंगे । यह सब कालका ही दोष है । इसमें किसी का अपराध नहीं । ५३० । ६३१ ॥

अर्थ— चौथे कालमें समस्त वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मणोंकी एक समान क्रिया—आचरण और धार्मिक प्रवृत्ति थी । इसलिये सब एक ही जिनधर्मके सेवन करनेवाले धार्मिक श्रे ॥ ६३२ ॥

१ धर्मकी वृद्धि और पवित्रताकी स्थिरता रखनेवालों में मुख्य मुनिराजही होते हैं । वे एकसाथ हजारों जीवों से अर्धं खुडाकर सबको धर्म मार्गमें लगा सकते हैं । ऐसी सामर्थ्य गृहस्थमें नहीं होती है—परतु कालके दोषसे अपने धर्मभाई ही मुनियों की निंदा कर मुनिधर्म का उठाने का प्रयत्न करेंगे । मुनियोंमें मिथ्या अवर्णनाद लगावेंगे । इन कठिनाइयों से मुनि धर्मका अभाव होगा । और मुनि धर्मके अभाव होनेसे जैनधर्मकी भी अत्यंत हानि होगी ।

अस्मिन् भूपा द्विजाः सर्वे मामाश्चैक्यता रल्लु । केवलत्र स्थिता वैड्याश्चैकाश्चास्य प्रपालका ॥ ६३३ ॥

अतो हि श्रीजिनेन्द्रोक्तो धर्मोय दृश्यते च वै । अल्पवत्तस्य दृष्टात शृणुथ यन्मयोदितम् ॥ ६३४ ॥

कंठीरवो यथा मत्तारणवागसंशयम् । क्षणैकेन सकुर्वीत एकश्च नात्र संशय ॥ ६३५ ॥

स च आम्ररस्थाना फलानामदनेषु च । नो क्षम कारण किं तु विश्रत्वात् बुधा खलु ॥ ६३६ ॥

अर्थः— हे राजन् ! पचम कालमें तो ममस्त ब्राह्मण एव राजा गण विधर्मी किगाभ्रष्ट और सदाचार विहीन होगये । एक केवल वैश्य ही जिनधर्मके प्रतिपालक रह गये ॥ ६३३ ॥

अर्थः— हे राजन् ! इमी लिये यह सर्वोत्कृष्ट जैनधर्म इस पचम कालमें अल्प सख्यधारक जीवोंमें ही देसा जाता है । इसका दृष्टात बतलाते है— ॥ ६३४ ॥

अर्थः— हे राजन् ! महाविक्रमशाली सिंह अकेला ही ममस्त गजोंको मार कर शीघ्र ही भगा देता है । इसमें कुछ भी संदेह नहीं है । सिंहकी शक्ति सर्वोपरि और सर्वोत्कृष्ट है । तो भी वह पर्वतपरके आम्रने फलोको तोडनेके लिये समर्थ नहीं है । इसका कारण क्या है ? इसका कारण गही है कि उसके पक्ष (पस) नहीं है । यद्यपि कौआ शक्ति रहित है और जातिसे हीन है । तथापि वह पक्ष वा पंखोंको धारण करनेवाला है । इसलिये अर्थात् केवल पक्ष धारण करनेसे ही वह कौआ उन पर्वतके आम्रके फलोको खानेमें समर्थ हो जाता है । इसलिये अर्थात् केवल कि फल एक सर्वोत्तम पदार्थ है । उसको पक्षधारी पक्षी ही खा सकते हैं । पक्ष रहित होनेसे सबसे अधिक बलवान सिंह भी उनको नहीं खा सकता । इसी प्रकार मोक्ष भी एक सर्वोत्तम पदार्थ है । उसको वही पा सकता है जिसके भगवान अरहत देवका पक्ष है । जिसके अरहत भगवानका पक्ष नहीं है, उनके वचनोंमें जिसका श्रद्धान नहीं है उसे कभी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकती । इसलिये मोक्ष प्राप्त करनेके लिये भगवान

ध्माक्षश्च शक्तिहीनाख्य तथापि पक्षमाकृ खलु । स्याद्वदनेषु तेषा च जातिहीनोपि स क्षम ॥ ६३७ ॥

बान्धनतश्च सप्तारं पक्षः स्यात् यस्य दृश्यते । महत्त्व च तस्यैव तद्वत् अमहत्त्वता ॥ ६३८ ॥

अरहत देवके बचनोका पक्ष अग्रथ रसना चाहिये । भगवान् अरहत देवके बचनोका श्रद्धान करना ही मोक्षका मूल कारण है ।

अथवा समुदाय शक्तिसे जातिहीन समुष्प अपने ऐसे कार्य निकाल लेते हैं । जो समुदाय शक्ति रहित उत्तम जाति वालोंसे भी नहीं हो सकें । परंतु इसमें बडप्पन नहीं है । बडे २ शक्तिशालियोंको नीचा दिखा देते हैं ॥ ६३५ ॥ ६३६ ॥ ६३७ ॥

अर्थ — हे राजन् कलिकालमें इस समारम जिसके पक्षमें बहुतसी सख्या है वह अपना बल प्रकट करेगा उसका महत्व प्रकट होगा । और जिनके पक्षमें सख्या स्वल्प है वे सर्वांग शक्तिशाली होने पर भी अपना महत्व प्रगट नहीं कर सकेंगे । अपना जैन धर्म यत्रपि समारमें समोच्छ्रुट है सर्वोत्तम है पवित्र है सदाचार से परिपूर्ण है परंतु राजा-ओका पक्ष न रहने से कमजोर होगया है । इसी प्रकार महत्त्व प्रगट करना चाहते हैं उनको धर्मगुरुओकी आज्ञा शिरोधार्य कर लुपता जाता है । इसलिये जो लोग धर्मका महत्त्व प्रगट करना चाहते हैं उनको धर्मगुरुओकी आज्ञा शिरोधार्य कर धर्मके रहस्य जाननेवाले सब्बे विद्वान त्यागियों की पक्षमें रह कर अपने धर्मकी रक्षा और बृद्धी करनी चाहिये । जो सुधारक मुनिगण और विद्वानोंको सत्य और आगमोचित पक्षको छोडकर धर्मके गहने अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं और धर्मकी पवित्रता विधमाविवाह, जाति पांति लोप और विजातीय विवाह आदि धर्मविरुद्ध कारणोंसे नष्ट करना चाहते हैं उनको विचार करना चाहिये कि इस प्रकार पक्षभेद कर देनेसे धर्मका सत्यानाश ही होगा । समुन्नति नहीं ॥ ६३८ ॥

मित्रकाले च अस्मैव गालका धारणा नृणा । प्रजा सर्वा द्विजा सर्वे अत सर्वेषु भो नृणा ॥ ६३९ ॥

उत्पत्ता च ह्यस्मैव अन्यस्य न्यूनता खलु । तद्वत् ननु विज्ञेयं विपरीतस्य काण्णम् ॥ ६४० ॥

तल्लौ धर्मप्रकाशार्थं सर्वलोकस्य साक्षिनः । नूतना स्थापना लोका करिष्यते च नाथिन ॥ ६४१ ॥

अर्थः— चतुर्थे कालमें इस जैनधर्मके प्रतिपालन राजा और ब्राह्मण आदि सभी प्राणी थे । इसलिये इसका उका सर्वत्र अविच्छिन्न रूपसे बजता था ॥ ६३९ ॥

अर्थः— गृह धर्म मर्मों-द्वय है । त्रिलोक पूजित है । और सर्व सान्ना है । और धर्म इम धर्म (जैनधर्म) से सम वातोमे अर्थ है । इसलिये जैनधर्मका पक्ष मुनियोंके मनुष्योंके विना मसस्त जीवोंको मिलना कठिन है । इसलिये इम जैनधर्मके पालन करनेवालोंकी सन्तान कम होगई है । इसलिये मुनिधर्म और नच आगमके जानकार विद्वानोंकी पक्षतो एतदम मनात मना देना चाहिये जिससे धर्मकी विररितीता नष्ट हो जाय ॥ ६४० ॥

१ कलिकात्तमें जैनधर्मके भीतर इम प्रकार धर्मकी स्थापना गायत्री लोगोंसे कितनी नाग हुई है । परन्तु दिगम्बर जैन महर्षियोंने उनको समवाद्य ममज्ञका उमका बहिष्कार ही किया है । जैन सन्ध्या गढ़ानके लोभमें उनको अष्ट श्रेयशिलाचारी समवाद्य नरली जैनगंधाररु जीवोंको अपने में नहीं मियाग । भद्रगाहके ममग जा स्वतन्त्र मेष उत्पन्न हुआ तम भी दिगम्बर जैन महर्षियोंने उनको (स्वतन्त्र) अपने में नहीं मिलाया । मायायी लोगोंने लोगोंका धर्मका वहाना बतलाकर नवोन धर्म-अमने स्वार्थ को सिद्ध किया । समाजमें भेदभाव डालकर कितने ही मनुष्योंको अनुकूल बनाया । और जो सबे वर्ष-भा थे उनकी देवी माना । इसी प्रकार वार २ जैन धर्ममेंसे कितनेही नकली धर्म उत्पन्न हुए ।

केचिच्च द्वेषका भर्ता केचिच्च सेवका खलु । एव तस्मिन् भविव्यति कलौ च साधाधिप ॥ ६४२ ॥
 जैनागमभुव षण्णु जमीमा मावेध्वर । निश्चयो न भविव्यति संशयाचीनचेतसाम ॥ ६४३ ॥

अथाना पूजना केचिन् विनयिन्त्य निहता । कलौ भेदा लनेके च ज्ञातया श्रेणिक स्वया ॥ ६४४ ॥

अर्थ--हे अगधाधिप कलिकाल में सागावी मनुष्य धर्म प्रकाशनके लिये समस्त लोगोंकी साक्षीमें नूतन स्थापना करेंगे । कितने हो मनुष्य उनके उरी हो जायगे । और जिनने वो भेदक बन जायगे ॥ ६४२ ॥

अर्थ--हे श्रेणिक महाराज ! समयसे मन और बुद्धि जिनकी श्रमित हो गई है ऐसे उपायुक्त मनुष्य श्री जिनागमके सत्य र मचनोज्ञा भी द्वेष्य (शत्रु) नहीं करेंगे ॥ ६४३ ॥

अर्थ--ठे श्रेणिक ! कितने ही तो केवल श्रमोंके पूजन तक जायगे । तितने ही जिन विमोको पूजा कर-नेका निषेध करेंगे । हे राजस्य ! कलिकालमें जैनधर्मसे नूतन से पंग अपने अपने सनेसे अपना कल्पना कर अनेक प्रकार से जैन धर्मका रूप विगाडेंगे । ६४४ ॥

१ वर्तमान समयमें कितनेही बहज्जाली अपने मतलबके लिये सच श्रमोंकी अमान्यता कर रहे हैं । उनके जिनागमका सर्वथा श्रद्धान नहीं है तो भी अपने को जैनावकवी बताकर लोगोंको यह जाहिर करते हैं कि हम भी जैन हैं । परंतु उनके जग आगमका सर्वथा ही श्रद्धान नहीं है तब जैनपना केसा ? उनका जैनपना कुछ स्मार्थ पर है । जो अतिशय भयानक है ।

२ श्वेताश्रमों में से हूडिया जिनविमोको पूजाका निषेध करते हैं । शिंगर में तारण पथी भी जिनमदिर में पूजन नहीं करते । परंतु दिगम्बर जैन धर्ममें या उसके आगममें अवर्णवाद नहीं लाते । जो लोग दिगम्बर जैन भी जैनविमोकी पूजन करनेका निषेध करते हैं इसका कारण उनको आगमके श्रद्धान का अभाव है ।

बसुधूपालवत् स्वस्य मतस्य ते नरा खला । दृढ पक्ष करिष्यति मस्रघावनिदु खदम् ॥ ६४५ ॥
 जिनाचपुरुषाणा च केचिच्छूद्धानिका नरा । खला निंदा करिष्यति जिनागमप्रघातका ॥ ४५६ ॥
 पूर्वार्चार्थकृता सर्वागमभिधेकादिका क्रियाम् । तस्मिन्नुत्थापयिष्यति न मूढा पंचमोद्भवा ॥ ६४७ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज ये लोग बसुधूपालके समान अपने अपने मिथ्या मतका हठग्रान्ही पक्ष कर सातवें नरक जाने लायक पाप सचय करेंगे ।

भावार्थ—यत्यधर्म (जो अरहत भगवान्ने कहा है) को दूषण लगा कर ये लोग जैनधर्म से नवीन धर्म अपने मनकल्पना से गढ कर अरहत भगवान का कहा हुआ है ऐसी मिथ्या घोषणा करेंगे । और अपने मिथ्यामतके पक्षको दृढ करेंगे । श्वेतांबर—दृष्टिया-ओर भी अनेक पथमालोने इसी प्रकार अपने २ मत दिगमर जैनमतमें से निकाल कर बनाये । और कितने ही दृष्ट मनुष्य अब भी ऐसा ही पाप कर रहे हैं ॥ ६४५ ॥

हे राजन् ! कितने दुष्ट श्रावक अतरंग से श्रीजिनागमका वात कर मूलोच्छेद करेंगे परतु फिर भी अपनेको श्रावक कहला कर जिनात्त पुरोकी (मुनियोकी) अथवा साधर्मी मज्जनो को निंदा करेंगे । भावार्थ, कितने दुष्ट हृदयके श्रावक मनकी दुष्टता और मिथ्यात्वके तीव्रोदयमं जिनागमका तो नाश करेंगे ही परतु जिनागमके अनुसार चलने वाले मुनिगण तथा भव्य धर्मात्मा श्रावको की निंदा भी करेंगे । इस प्रकार अपने अपने धर्मका मूलोच्छेदन वे स्वयं कर पापके भागी बनेंगे ॥ ६४६ ॥

अर्थ—हे राजन् पचम कालके श्रावकगण पूर्वार्चार्थप्रणीत और तीर्थकर द्वारा प्रतिपादित अभिषेकादि पवित्र आगमोक्त क्रिया का उच्छेद करेंगे ॥ ६४७ ॥

नृतानां नृतानां सर्वो करिष्यति जडाशया । ते नराश्च क्रिया भूप स्वस्वमतिविकल्पतः ॥ ६४८ ॥
 वय श्रद्धानिका यूयं मिथ्यात्वपथसेवका । मानयिष्यति ते चित्तं क्रियालेशोज्झिता खलु ॥ ६४९ ॥
 स्वधीकल्पितग्रंथान् वै स्वाध्याये पूजनादिके । कार्ये प्रवर्तयिष्यति नो तद्धिते खलाशया ॥ ६५० ॥
 इत्थ जैनेन्द्रधर्मस्य मध्ये भेदोकरा खलु । तस्मिन्नेव भविष्यति स्पृशतमतविनाशका ॥ ६५१ ॥
 भवंत्येव कलौ भेदा प्राक् चतुर्थाच्च निश्चयात् । चेलनाकात बुद्ध्वा शर्मलंशविवर्जिते ॥ ६५२ ॥

अर्थ—हे राजन पंचम कालके श्रावकगण दवीन नवीन क्रियायें अपने मनसे गढ़कर करेंगे । और धर्मके सत्य मार्ग का लोप करेंगे ॥ ६४८ ॥

अर्थ—हे राजन् ! श्री जिनदेन ग्रदिपादित प्राचीन क्रियाओका लोप करनेवाले श्रावकगण अपनेको सम्यग्दृष्टी ग्रसिद्ध करेंगे । और जो श्री जिनदेवके मार्ग पर आगमानुक्ल चल रहे हो उनको मिथ्यात्वावी बतलायेंगे इस प्रकार की पवित्र क्रियाओका परित्याग करेंगे । ६४९ ॥

अर्थ—हे राजन् ! अपने मनकी कल्पना से अपने मतलबके ग्रंथ बनाकर उनका ही स्वाध्याय करेंगे, प्रचार करेंगे और उन ग्रंथोंसे ही पूजन आदि धर्मक्रियाओकी प्रवृत्ति करावेंगे । ऐसे लोग आत्महितके लिये कुछ नहीं करेंगे ।

अर्थ—इस प्रकार इस जैन धर्ममें अनेक भेद होंगे और वे अपने अपने धर्मका नाश करने वाले ही होंगे ।
 अर्थ:— हे श्रेणिक ! जिसमें कल्याणमार्गका सर्वथा अभाव है ऐसे इस कलिकालमें आगामी चौथे कालके पहले पहले इस जैनधर्ममें बहुतसे भेद हो जायेंगे ।

भावार्थ:— इस पंचमकालमें जैनधर्ममें भी बहुतसे भेद हो जायेंगे जो आत्मकल्याणसे सर्वथा रहित होंगे ॥ ६५२ ॥

हुडासर्पिणि काले हि भवति नो कदाचन । जिनधर्मस्य हानिश्चान्यत्र भो माधेश्वर ॥ ६५३ ॥
 चेहृन्विभो । दयाधीश किञ्चकले गते सति । आयात्येव तदा चाह त प्रति दिव्यभाषया ॥ ६५४ ॥
 वसुधैदेन्दुसह्यानां चतुर्विंशतीना गत । हुडको जायते ह्येको । तत्रायणा मतश्च स ॥ ६५५ ॥
 आसिञ्चैव भवत्येव ह्यनर्था चेलनापने । तीर्थकरस्य पुत्र्यौ चक्रे-धस्यापमानता ॥ ६५६ ॥
 प्रभोगात्रादप्यविक्रो दोर्वत्रैभञ्जता तनो । जेपनार्थं च अमता धरया वृषभस्य वै ॥ ६५७ ॥
 पदवीधारकाणा च हासोपसर्गमिं च । धार्मिकाणा कलकाश्च मतीनामपमानता ॥ ६५८ ॥

अर्थः— हे राजन् यह इतना धर्मका भेदभावका विद्व्व हुंढासर्पिणी कालमें ही होता है । अन्ना कालोंमें नही । इसी लिये इस कालमें जैनधर्मकी त्राधि विशेष होगी ॥ ६५३ ॥

अर्थः— महाराज श्रेणिकने हुंढासर्पिणी कालको ऐसा दुष्ट सुनकर भगवानसे पूछा कि हे स्वामिन् ! हे वीर प्रभो ! कितने कालके बाद हुंढासर्पिणी काल आता है ? तब दिव्य धनिसे भगवानने कहा कि १४८ एहूनी अद्वतालीम चौथीसी व्यतीत होनेपर एक हुडक काल आता है ॥

अर्थ—हे श्रेणिक ! हुडक कालके प्रभाव से बड़ी २ विपरीत बातें इस भरतक्षेत्रमें होगी । मन्त्र अनर्थ होगे ? तीर्थकरोंके पुत्रीका जन्म होना । २ चक्रथराता अपमान होना । ३ प्रसु तीर्थकरोंके शरीर से अधिक ऊंचा शरीर बाहुबलि का होना । ४ नीचपदमका आहारकेलिये पट्टमास पर्यंत परिश्रमण होना । ५ पदवी धारक त्रेपट्टि सलाका पुरुषोंका न्हास होना । ६ तीर्थकर देवकी छत्ररथ आस्था में उपसर्ग होना । ७ धर्मात्मा पुण्यपुरुषोंको कलंकका लगना । ८ सतिगोत्रा अपमान होना । ९ सिद्ध क्षेत्रोत्री अतिशय दूर स्थापना होना । १० जिनशासन यक्षगणोंका अतिशय क्रम होना । ११ मिथ्या शासन देवोंकी महिमा का बढना । १२ पाखंडियोंकी बढवारी

स्थापना सिद्धक्षेत्राणां चातिदूरा शिवार्थेन । जिनशासनयज्ञाणाः तुच्छाश्चातिशयाः खलु ॥ ६५९ ॥
 मिथ्याशासनदेवानां पचारं सवधो ननु । श्रीजिनाधिपनिधानमपमानं कुमानवै ॥ ६६० ॥
 साधर्मिपुरुषाणां च निंदा ते श्रावणां राला । करिष्यन्ति कलौ भूय निंदायां किं फलं भवेत् ॥ ६६१ ॥
 भवति परनिंदायां जातायां परजन्मनि । मूका सदातरुमना कुञ्जा दुष्टाश्च कुन्वना ॥ ६६२ ॥
 वधिरा विकलागात्र्यपहा दामिद्र्यायका । कुरुषा दुष्प्रभोक्कार पुनपौनाद्विवर्जिताः ॥ ६६३ ॥
 सदा शोकधरा क्रूरा निर्गम्या मतिनिन्दता । नराश्चेदुग्बिधा भूः जानलेशविवर्जिता ॥ ६६४ ॥
 मुन्यादित्रजिता धर्ममार्गपराम्मुखा खलाः । गुणमानविहीनाग परसन्ननि सेवका ॥ ६६५ ॥

होना । १३ श्री जिनविबोका कुमनुयो के द्वारा अपमान होना । १४ और श्रावको के द्वारा ही सत्यमार्गपर जिनागमके अनुकूल चलने वाले सायमी पुरुषोही निंदाका हाना । १५ जैनमर्ममें भेदभानका होना । इत्यादि न-
 हुत से अनर्थ कालके प्रभाव से इस भारत क्षेत्र में होंगे ।

उपर्युक्त दिव्य ध्वनिके द्वारा सुनकर श्रेणिक महाराजने पूछा कि हे प्रभो श्रावकगण सच्चे धर्ममाओ की निंदा करेंगे उसका क्या फल है ? ६५६ । ६५७ । ६५८ । ६५९ । ६६० । ६६१ ॥

अर्थ--हे श्रेणिक महाराज जिनागम के अनुकूल चलने वाले भव्य जीवोकी निंदा करनेसे पर जन्ममें अधे-
 गूने-वधिर-रोगी-कूबडे-विकलाग-नपुसक-दरिद्र-कुरूपी-दुःखी-कुडुव परिवार रहित-भाग्यहीन शोकातुर और
 ज्ञान रहित होते हैं । वे बड़े भयकर दुखेको प्रत्यक्ष प्राप्त करते हैं । उनसे मुनियोका धर्मपालन नहीं होता । इतनाही
 नहीं बल्कि वे धर्ममार्ग से पराम्मुख-गुणविहीन-दूसरोके गुलाम होते हैं ।

हुंडासर्षिणि काले हि भवति नो कदाचन । जिनधर्मस्य हानिश्चान्यत्र भो माधेश्वर ॥ ६५३ ॥
 चेद्विभो ! दयावीश किभक्तारे गते सति । आयाच्येव तदा चाह त प्रति दिव्यभाषया ॥ ६५४ ॥
 वसुवेदेन्दुसह्याना चतुर्विंशतीना गते । हुंडको जायते ह्येको । तत्राणा मत्स्य स ॥ ६५५ ॥
 अस्मिन्नेव भवत्येव ह्यनर्थी चेलनापने । तीर्थकरस्य पुत्र्यौ चक्रेद्यस्यापमानता ॥ ६५६ ॥
 प्रभोगत्रिद्वयधिको दोषैरेभ्रुचता तनो । जेनार्थच अमता धराया वृषभस्य वै ॥ ६५७ ॥
 पदवीधारकाणा च हासोपसर्गमेव च । धार्मिकाणा कलत्राश्च मतीनापमानता ॥ ६५८ ॥

अर्थ:— हे राजन् ग्रह इतना धर्मका भेदभान्दका विप्लव हुंडावसर्षिणी कालमें ही होता है । अन्य कालोंमें नहीं । इसी लिये इस कालमें जेनधर्मकी हानि विशेष होगी ॥ ६५३ ॥

अर्थ:— महाराज श्रेणिकने हुंडावसर्षिणी कालको ऐसा दुष्ट सुनकर भगवानसे पूछा कि हे स्वामिन् ! हे वीर प्रभो ! कितने कालके बाद हुंडावसर्षिणी काल आता है ? तब दिव्य ध्वनिसे भगवानने कहा कि १४८ एकवौ अडतालीस चौबीसी व्यतीत होनेपर एक हुंडक काल आता है ॥

अर्थ:— हे श्रेणिक ! हुंडक कालके प्रभाव से बड़ी २ विपरीत बातें इस भरतक्षेत्रमें होगी । महान् अनर्थ होने शरीर बाहुगलि का होना । २ चक्रशरका जन्म होना । २ विपरीत बातें इस भरतक्षेत्रमें होगी । महान् अनर्थ होने शरीर बाहुगलि का होना । ४ श्रीवृषभदेवका आहारकोलिये पद्मास पर्यंत परिश्रमण होना । ५ पदवी धारक त्रेपठि मलाका पुरूपोका न्हास होना । ६ तीर्थकर देवको छत्रस्थ अन्धता में उपसर्ग होना । ७ धर्मात्मा पुण्यपुरूपोको कलंकका लगना । ८ सतियोंका अपमान होना । ९ सिद्ध क्षेत्रोकी अतिशय दूर स्थापना होना । १० जिनशासन यक्षगणोका अतिशय कम होना । ११ मिथ्या शासन देवोकी महिमा का बढना । १२ पाखंडियोंकी बढनारी

स्थापना सिद्धकेनाणा चातिदूरा शिवार्थदा । जिनशासनयज्ञाणाः तुच्छाश्चातिशया खलु ॥ ६५९ ॥
 मिथ्याशासनदेवाना पचार सघनो ननु । श्रीजिनाधिपविधानमपमान कुमानैः ॥ ६६० ॥
 साधर्मिपुरुषाणा च निंदा ते श्रावभ राला । करिष्यन्ति क्लेशे मृत्यु निंदाया किं फल भवेत् ॥ ६६१ ॥
 भवति परनिंदाया जाताया परजन्मनि । मृत्ता सदात्तऋग्ना युक्ता दुष्टाश्च कुन्वना ॥ ६६२ ॥
 वधिरा विकलागाश्च पडा दारिद्र्यकारका । पुरुषा दुःखभोक्ताः पुनपौनाद्विवर्जिताः ॥ ६६३ ॥
 सदा शोक्रधरा क्रूराः निर्भयश्चा गतिनिन्दिता । नराद्येदृशिया मूय जानलेशविवर्जिता ॥ ६६४ ॥
 गुन्याद्विवर्जिता धर्ममार्गव्यान्मुटाः खलाः । गुणगानविहीनाया परसञ्चन सेवका । ६६५ ॥

होना । १३ श्री जिननिंदाका कुमनुष्यो के द्वारा अपमान होना । १४ और श्रावको के द्वारा ही सत्यमार्गपर जिनागमके अनुकूल चलने वाले सार्थी पुरुषोही निंदायका होना । १५ जैनमर्ममें भेदभावका होना । इत्यादि व-
 हुत से अनर्थ कालके प्रभाव से डग भरत क्षेत्र में होगे ।

उपर्युक्त दिव्य ध्वनिके द्वारा मुनकर श्रेणिक महाराजने पूछा कि तं ग्रभो श्रानकगण मक्चे धर्मात्माओं की निंदा करेंगे उसका क्या फल है ? ६५६ । ६५७ । ६५८ । ६५९ । ६६० । ६६१ ॥

अर्थ--हे श्रेणिक महाराज जिनागम के अनुकूल चलने वाले भव्य जीवोकी निंदा करनेसे पर जन्ममें अर्धे-
 गुरो-गधिर-रोगी-कृण्डे-वितालांग-नपुसक-दरिद्र-कुरुपी-दुःखी-कुटुव परिवार रहित-भाग्यहीन शोकातुर और
 ज्ञान रहित होते हैं । वे बड़े भयकर दुखोंको प्रत्यक्ष प्राप्त करते हैं । उनसे मुनियोंका धर्मपालन नहीं होता । इतनाही
 नहीं बहिक वे धर्ममार्ग से परान्मुख-गुणविहीन-दूसरोंके गुलाम होते हैं ।

प्रतिपददर्शनीवाते प्रियते माघाधिनि । ऋष्यमैकादशे चैव हायने द्वादशे तथा ॥ ६६६ ॥
पोडशे यौवने काले अत्रामुत्र घवाश्रये । जानीहि परिनिदाया तच्च भो कारणं ललु ॥ ६६७ ॥

ससारभयभीतैश्च महादुःखप्रदायका । अतोहि परिनिदाच नो कर्तव्या ऋदाचन ॥ ६६८ ॥

परदोष न दातव्यं मा वक्तव्यमसत्यवाक् । प्रमादं नैव कर्तव्यं देवपूजादिकर्मसु ॥ ६६९ ॥

सोमशर्मद्विजस्येय सुता लक्ष्मीमती वरा । रूपयौवनसपत्न्या किञ्चिन्निदा यते कृता ॥ ६७० ॥

तेन पापेन तत्रैव तस्या गात्रेऽसुखाकारः । उदरमहाकुण्ड समुपशोतिटुम्सह ॥ ६७१ ॥

व्याधिना तेन संतप्ता महादुःखेन सा मृता । शुनी च गर्दभी पश्चारमुकरीत्यादिभ्योनिपु ॥ ६७२ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक ! धर्मात्मा भव्य जीशोकी निंदा करनेाले प्रतिपद चंद्रमाके समान शीघ्रही मरण को प्राप्त होते है । अथवा आठ-दश-ग्याह-वारह-और सोलवे वष जवानी अवस्थामें ही मरण कर जाते हैं । इस लोक में विधुर अथवा विधमा हो जाते है । ६६६ ॥ ६६७ ॥

अर्थ—इसलिये ससारके दुःसोसे भयभीत पुरुषोको चाहिये कि महान् दुःखकी देनेवाली दृसरोकी निंदा न करे । न किमी धर्मात्सामें मिथ्या द्रूपण लगावें । न झूठ वचन बोलकर गुणोका निन्दन करें । तथा देवपूजादि महान् पुण्यकार्यमें प्रमाद न करे । सच्चा धर्मात्मा वही है जो निंदाके भयसे सत्य धर्मका त्याग नहीं करता है । प्राणात् होनेपर भी जो अपने धर्मसे च्युत नहीं होता वही धर्मात्मा है ।

अर्थ:— हे श्रेणिक ! सोमशर्मा नामक एक ब्राह्मणकी लक्ष्मीमती नामकी पुत्रीने मुनियोकी किञ्चित् निंदा की थी । उस निंदाके फलसे उसको उसी भयमें भयकर कुपरोग होगया था । जिससे उसको महान् दुःख प्राप्त हुआ और परलोकमें-बह मर कर कुत्ती, गधी-दकरी आदि कुत्सित योनिमें प्रमण कर महान् दुःखको प्राप्त हुई । तथा

अभिव्या च खला तत्र प्राप्यातिदु ख्यततिम् । जनगमसुता पश्चाज्जाता च दुःखभोजका ॥ ६७३ ॥
 मत्वेति भो स्त्रिय माच नरा शर्मविनाशका । कदापि नैव कर्तव्या सर्वेषा स्वात्मशुद्धये ॥ ६७४ ॥
 कार्यात स्वस्य निंदा भो स्वस्यैव पापघातका । उच्चगोत्रकरा नानाशर्मसंहतिदायका ॥ ६७५ ॥
 परनिंदासमो लोकैके ह्यन्यत् पापहि प्राणिना । नास्येय तत्र कर्तव्य यदीच्छा शर्मसततः । ६७६ ॥
 यरसलक समर्पैव सीता शीलगुणान्मिता । तद्वि निंदाप्रभावेण मा कुर्वतु परस्य वै । ६७७ ॥
 खनना सज्जनानाच ह्यन भेद पदश्रुते । खलेच्छा चेत्तदा कार्या परनिंदा ह्यनर्थदा ॥ ६७८ ॥

पीछे यह अनेक दुःखोंको भोगनेवाली चांडालकी पुत्री हुई । और किंचित मुनिनिंदाका इतना महान कष्ट सहन करना पडा । इसलिये मन्व जीमो तथा स्त्रियों अपने आत्माको शुद्ध रखनेके लिय धर्म-धर्माथतन-साधर्मी साईं और मुनि आदिकी निंदा कभी भी नहीं करनी चाहिये ॥ ६७० ॥ ६७१ ॥ ६७२ ॥ ६७३ ॥ ६७४ ॥

अर्थ:— जो अपनेसे पापकर्म अज्ञान या प्रमादसे हो जावे तो उसको दूर करनेके लिये अपनी आत्माकी निंदा करनी चाहिये । जिससे मोक्ष सुखका प्रदान करनेवाला उच गोत्रका वध हो ॥ ६७५ ॥

अर्थ:— परनिंदाके समान अन्य कोई पाप नहीं है । इसलिये अपने आत्मकल्याणके लिये या समाज रूपसे भी किसीकी निंदा नहीं करनी चाहिये ॥ ६७६ ॥

अर्थ—सतो शिरोमणी सीताको कलकका योग प्राप्त हुआ इसका मूल कारण पूर्वभवमें गुरु-देव-और साधर्मीकी निंदा है ॥ ६७७ ॥

अर्थ—सज्जन और दुर्जन में मात्र यही एक भेद है कि सज्जन जन किसीकी निंदा नहीं करते हैं । और दुर्जन करते हैं । जो सज्जन बनना हो तो निंदा करना छोड देना चाहिए । ६७८ ॥

ये ये दुःखाश्च जायते प्राणिना दुःखदायका । ते ते ज्ञेया शरीरेषु परिनिदाया सो फलम् ॥ ६७६ ॥
दुर्जनाना स्मभावोय परिनिदन्तस्यरा । स्वात्मदोष न जानन्ति क्षानर्धारकाश्च ते ॥ ६८० ॥

प्रत्यक्ष येन मूढा वै निंदा कुर्वन्ति सर्वदा । ज्ञेया स्वभावसा तुल्या स्वमतस्य क्षयकरा ॥ ६८१ ॥
तेव सर्वे भविव्यंति कलौ मृप न संशय । स्वचित्ते मानयिष्यति वयं श्राद्धानिका खलु ॥ ६८२ ॥
अथलौकिक पापेन ते च श्राद्धानिका खलु । नकावनी च यास्यति सर्वेहि मगवेश्वर ॥ ६८३ ॥

अर्थ—जो जो दुःख शरीरमें प्राप्त होते हैं वे प्रायः परिनिदाके फलसे उत्पन्न होते हैं ॥ ६७९ ॥
अर्थ—दुर्जनोका स्वभाव ही निंदा करनेका होता है । परंतु वे अपने दोषोक्तो नहीं जानते हैं । वे केवल
अनर्थ धारण करनेवाले होते हैं । ६८० ॥

अर्थ—जो मनुष्य सर्वदा साधर्म्य भाइयोंकी निंदा ही करते रहते हैं, एक प्रकारसे वे अत्यक्ष ही चांडालके
समान हैं और अपने धर्मका नाश करनेवाले हैं । ६८१ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक कलियुगमें ऐसे निंदक मनुष्य बहुत उत्पन्न होंगे । जो जैन धर्म के धारकोंकी व जैन
धर्मकी निंदा करेंगे । और अपनेको अपने आपही श्रापक मानेंगे ॥ ६८२ ॥

अर्थ—हे मगवेश्वर ! श्रथोका लोप करनेके पापसे श्रावकरण अवश्यही नरक वा निगोदमें जायेंगे ॥ ६८३ ॥

१ श्रथोको असत्य ठहराना मानो श्रथोका लोप करना है । इसके समान संसारमें अन्य पाप नहीं है । आगमकी सत्यता
व प्रामाणिकता सर्वज्ञ प्रसुकी सत्यतापर निर्भर है । सर्वज्ञ प्रसु वीतराग, त्रिकालमें उनकी प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध है । जो मनुष्य
सर्वज्ञके वचनोंमें अपनी दुष्ट बुद्धिकी कल्पनासे असत्यता प्रकट कर प्रामाणिकता नष्ट करे तो वह आगमका या श्रथका लोपी

यद्वत् वै ब्रह्मदेवताख्य चकी धर्मस्य लोपनात् । गतो हि सप्तमे श्वश्रे नानादुःखमथाकिते ॥ ६८४ ॥
 न्यायोंयं लोकमान्य स्यात् यदुक्तं वचन वारम् । सर्वज्ञाजडविरुद्ध यन्महता पुरुषेण वै ॥ ६८५ ॥
 अर्थ—जैसे ब्रह्मदेव नामके चक्रमूर्ती ने जिनागम को असत्य ठहराकर जिनागमका लोप किया था तो वह पापके फलसे मरकर अनेक दुखोंसे परिपूर्ण ऐसे सातवें नरकमें प्राप्त हुआ ॥ ६८४ ॥

अर्थ—यह एक साधारण न्याय है कि संसारमें लोगोंको वैही वचन माननीय होते हैं जो किसी महापुरुषके द्वारा सर्वज्ञदेवकी आज्ञाके अविरुद्ध कहे जाते । सर्वज्ञदेवकी आज्ञाके निरुद्ध वचन कभी मान्य नहीं होते ॥ ६८५ ॥

हे । उसके न तो आगमकी श्रद्धा है और न सर्वज्ञप्रभुकी । ऐसी अस्थायीं वह अपनी इन्द्रियजनित बुद्धिको ही कुत्सित तर्क और अनुमान जनित विचारसे स्थिर रखकर शालोंकी मिथ्या समालोचना कर पापका भागी बनता है । कितनेही ठोंगी—जिनधर्मकी श्रद्धासे रहित जैनसुधारक मिथ्यात्वके उद्गमसे शान्त और गुरुओंकी मिथ्या समालोचना करते हैं, सत्य शास्त्रोंमें अर्णववाद लगाकर सर्वज्ञ प्रभुके आगमको असत्य ठहराना चाहते हैं । उनको संस्कृत प्राकृतका ज्ञान नहीं है, आगमका श्रद्धान नहीं है । अपने आप श्रावक बनकर ब्रह्मदेवके समान प्रत्यक्षमें पतित हो रहे हैं ।

१ धर्मरहस्य सुलोचना आदि ग्रंथ, आगम ग्रंथोंका लोप करनेके अभिप्रायसे बनाये जा रहे हैं । धर्मरहस्यके कर्ता तो मिथ्यादर्शनके प्रभावसे जैनधर्मसे बहिर्भूत हैं । उनके ज्ञानमें रजस्वला स्त्री जिनमंदिर जासक्ती है । हेड और भंगीके साथ खाना पीना आदि तथा विप्रवाचिवाह (व्यभिचार) आदि धर्मविरुद्ध आचरणोंको धर्मरूप कहलवानेके लिये महावीर स्वामी तथा गौतम गणधरका सनम जोडा गया है । यह भी आगममें अर्णववाद लगाकर आगमका लोप करना है ।

यदुक्त-तीतरागेण प्रोक्तं गणधरादिभिः । मर्यादायाश्च ग्रथेषु तदेव सधृताः खलु ॥ ६८६ ॥
 यत्याचारक्रिया सर्वाः श्रावकाणा क्रियास्तथा । पूजास्नानक्रियाश्चैव नानाशर्मप्रदायकाः । ६८७ ॥
 भद्रगर्भमघनदी पूर्वशिघारको यमी । महापुराणकर्ता च जिनसेन ऋषीश्वरः ॥ ६८८ ॥
 सुराचार्यो गुणभद्रो वै तत्पट्टाब्जदिवाकर । सकलागपेत्ता च मावधारणकेसरी ॥ ६८९ ॥
 सीमंधरजिनन्द्रस्य दर्शकः सयताग्रणी । नाम्ना श्रीकुदकुंदो वै जिनधर्मप्रकाशक ॥ ६९० ॥
 वसुनदी तथा धीरः सकरुकीर्तिधर्मभारुः । शुभचद्रो गुणैः पूर्णो मिथ्यामार्गविघातक ॥ ६९१ ॥
 इत्याद्यैर्वरयोगीन्द्रैः दिशावासोद्यैर्वरैः । पूज्यैश्च लेखसदोहैः फलादिगुणधारकैः ॥ ६९२ ॥
 जिनधर्मप्रकाशार्थं मानमाथाविवर्जितं । भो बुधाः जिनधर्मस्य वद्धनैककृतोद्यमैः ॥ ६९३ ॥
 तत्क्रियोत्थापका किन्न यास्यति ये च सप्तसु । श्रेष्ठेषु तु स्वर्गेषु नरा काण्डव्यपूरिता ॥ ६९४ ॥

अर्थः— जो सर्वज्ञ वीतराग अरहत भगवान्ते कहा हो और गणधरादि देवोंने प्रतिपादित किया हो तदनुकूल ही आचार्य परप्रासे उन सर्वज्ञदेवकी मर्यादाको कायम रखनेवाले ही ग्रथ भव्य जीवोको मान्य करना चाहिये ॥ ऐसे आचार्य भद्रबाहु जिनसेन कुंदकुंद सकलकीर्ति आदि अनेको हुए है । ये सर्व धर्मके प्रकाश करनेमें अत्यंत उद्यमी थे, इन्होंने मुनियोके आचरण निरूपण करनेवाले अनेक ग्रंथ बनाये हैं । तथा श्रावकों के आचरणोका निरूपण करनेवाले तथा कल्याण करनेवाले पूजा अभिषेक आदि की क्रियाएं बतलाई हैं । क्रियाओको जो कपटी मनुष्य उठा देना चाहते हैं उन क्रियाओंका लोप करना चाहते हैं वे अवश्य ही दुःखोंसे भरे हुए नरकोमें प्राप्त होंगे ॥ ६८७।६८८।६९०।६९१।६९२।६९३।६९४ ॥

अथापरं शृणु भुव पठनीयं विभोः पुरः । स्तवनं तद्रुणपाद्यै तद्रुणैर्मंडितं वरम् ॥ ६९९ ॥

प्रभोः स्तवनगठेन सर्वाङ्गा दुःखदायका । तच्छणात् प्रस्थं याति नागा खगेव्येक्षणात् ॥ ७०० ॥

विभोः गुणानुवादाद्द्वय नानाशर्मप्रदायकम् । पठतु मर्षदा भव्या, स्तवन त्वरोधकम् ॥ ७०१ ॥

कर्तव्या गानविद्या च मनोमोदामये खलु । प्रभोः पुरो बुधैर्नित्य दुःखदावाशिवारिदा ॥ ७०२ ॥

नृत्यं गान जिनस्थग्रे ये कुर्वन्ति नरोत्तमा । तेषां पुरो दिवि लेसा करिष्यति सदा मुदा ॥ ७०३ ॥

गानविद्याप्रभावेण चित्तरोषश्च जायते । चित्तरोवात शुभं ध्यान ध्यानाद्धि रस पदम् ॥ ७०४ ॥

अर्थ—हे राजन् अथ भगवानके समक्ष प्रशुके गुणानुवाद नामकी क्रियाको कहता हूँ । जो मनुष्य

भगवानके समक्ष प्रशुके गुणोका स्तवनो द्वारा गुणगान करता है वह प्रशुके गुणोको प्राप्त होता है ।

अर्थ—प्रशुके गुणोके स्तवन पठन पाठन आदि करनेसे समस्त पापोंका नाश होता है । तथा देव विद्याधर

आदि सब दुष्ट क्षणभरमें नष्ट हो जाते हैं ।

अर्थ—प्रशुके गुणानुवाद करनेसे अनेक सुख प्राप्त होते हैं इसलिये भव्य जीवोंको भगवानका स्तवन

अवश्य ही करना चाहिये ।

अर्थ—दुःखरूपी दावानल को बुझानेके लिये वादलोके समान प्रशुके गुणोका गान संगीत और वाद्यघोष

आदि सब नित्यही करना चाहिये जिससे मनको प्रसन्नता हो ।

अर्थ—जो भव्य जीव भगवानके सामने नृत्य गान और संगीत आदि भाव भक्तिसे करते हैं उनका गान

देवों से होता है ।

अर्थ—गान विद्यासे भगवानके गुणोंमें चित्त सलग होता है । गुणों में चित्त सलग होनेसे शुभ ध्यान होता

है और शुभ ध्यान से परम पद प्राप्त होता है ॥७०४॥

मत्सैव जिननाथाग्रे भो बुधा स्वात्मशुद्धये । स्तवन तदुगैर्युक्त नपठंतु त्रिशुद्धितः ॥ ७०५ ॥
 गात्राह पाठकाना क्षयमपि स्तवनस्यैव तस्य सुभक्त्या । दु खाना दानदक्ष सकलसुखहर श्रीजिनैश्च प्रहेयम् ॥७०६॥
 पापाना घातनार्थं नरखरगतं श्रीजिनस्य प्रवीरा । याल्लेवत सदा वै शिवसुखसदनप्राप्तये तत् पठतु ॥ ७०७ ॥
 जपाभिधा क्रिया वचिमा शिवशर्मकरा वराम् । अतस्थिताघवृदानां नाशका त्वं शृणु मुदा ॥ ७०८ ॥
 ॐ नमः अर्हद्भ्यो नमः ॐ सिद्धेभ्यो नमोस्तुवै । आचार्यैभ्य पाठकेभ्यः साधुभ्य सर्वदा नमः ॥ ७०९ ॥

ओ ँर्ही श्रीं ह्रीं मावति सरस्वतिदेव्यै नमः । श्रीजैनधर्माय सदा नमोस्तु सः । सदा मे हृदि तिष्ठतु ।
 इसलिये भव्य जीवोको अपनी स्वात्माकी विशुद्धि के लिये प्रभुके गुणोकाँ गान अनेक प्रकार के स्तोत्रो
 द्वारा मन वचन कायकी शुद्धि पूर्वक करना चाहिये ।

अर्थ—जो पुरुष भक्तिपूर्वक श्री अरहंत भगवान के स्तोत्रोका पाठ करते है उनके, दु ख देनेमें चतुर समस्त
 सुखोको नाश करनेवाले और श्रीजिनेन्द्र देव द्वारा सर्वथा त्याज्य ऐसे शरीरसंबंधी समस्त पाप, दूर हो जाते है । इस
 लिये भव्य जीवोको अपने समस्त पाप दूर करनेके लिये देव विद्याधरोके स्वामी भगवान जिनेंद्र देवका मोक्ष सुख
 देनेवाला स्तोत्र सदा पढते रहना चाहिये ।

अर्थ—अब आगे जप क्रिया को कहता हू । जिससे भव्यजीवोको सुख प्राप्त होता है और समस्त पापोका
 नाश होता है । उसको हे राजन् ! श्रवण कर ।

अर्थ— ॐ नमः अर्हद्भ्यः । ॐ नमः सिद्धेभ्यः । ॐ नमः आचार्यैभ्यः । ॐ नमः पाठकेभ्यः । ॐ नमः
 सर्वसाधुभ्यः । ये पंच परमेष्ठि के वाचक मंत्र है । ॐ ँर्ही श्रीं ह्रीं भगवति सरस्वति देव्यै नमः । श्रीजैनधर्माय
 सदा नमोस्तु सः । सदा मे हृदि तिष्ठतु । यह सरस्वती मंत्र है ।

ओ ङी श्रीशुभमादिबर्धमानातीर्थोभ्यो नमोऽस्तु निवृत्तस्वपदानये ।
ॐ ङी श्री मसर्द्धिमडितगाना दुर्धनानलंकुना प्रभूणा मन्त्रिभौ यौराज्यपदस्थां प्रभुसेनाद्रिगौतानगणपरा मरुतं-

होनागता श्रीवीतरागप्रकाशका स्वात्मनेपमा चित्रदियास्य भद्रामारुक्ता मंगलानगल्टीरयमदृशा प्रबन्धोऽनपपयितुःश ' इत्यादि
अनेकगुणवारुभ्यो नमोऽस्तु नमोऽस्तु नमोऽस्तु ।

जितभर्माकेभ्यो हृत्सर्मरुंस्सजोऽथ मदा नमोऽस्तु ।
श्री जैनर्मा जयतु । ॐ सत्यदर्शनाय नम । ॐ सम्यग्ज्ञानाय नम । ॐ सभ्य कृपारिनाय नम । तय जने मे ङि तिस्रस्तु ।

ॐ ङी श्रीशुभमादिबर्धमानातीर्थस्तेभ्यो नमोऽस्तु चित्तकल्पपदानये । श्रीशुभादि महातीर्थयंत चोमीन
तीर्थकरोको नमस्कार हा ।

अर्थ—जिनका शरीर मत्स्य ऋद्धियोंसे युगोभित है, जो चार जानके पारक है भगवान अग्रहृत देवके नसीप
जो यौराज्य अवस्थामें विराजमान है, जो समस्त पापोंको नाश करने पावे है, नीतराग भावस्थाको प्रकाशित करनेवाले
है, अपने आत्माके नेत्रमें सूर्यको भी जीतने वाले है, समारगमें मारभूत नीतरागता यदित है, कामदेवकी हाथीकलिये
जो केशरी सिंहके समान है, प्रचंड मोहनीय क्रमरूपी पर्यंतके लिये जो नरके समान है, इत्यादि और भी अनेक गुणों
से सुशोभित ऐसे शुभसेन में आदि लेकर गौतम पर्यंत गणधर देवोंके लिये मैं तीन चार नमस्कार करता हू ।

भगवान अरहत देवके कहे हुए धर्मके धारण करनेवाले और समस्तकी कलंक को नाश करनेवाले श्री अग्रहृत
श्री जैन धर्मकी जय । ॐ सम्यग्दर्शनको नमस्कार हो, ओ सम्यग्ज्ञानको नमस्कार हो, ओमम्यक् चारित्र को

नमस्कार हो । ये तीनों मेरे हृदयमें सदा विराजमान रहें ।

ओ न्ही आदिधर्मकाशकाय श्रीशुभनाथाय जिनेन्द्राय नमोस्तु । श्रीवीतरागाय नमः ।

समस्तकर्मरहिताय श्रीमते महावीरजिनेश्वराय सदा नम ।

ओ न्ही पंचपरमेष्ठिन्यो नम —

ओ न्ही सर्वसिद्धान्तेभ्यो नम —

ओ श्रीसीमन्मन्त्रसदृशनमासाय भव्याब्जगतसदृशाय मारवाणकेशरिख्याय नरामरपूज्ययादाब्जनाय मिथ्यास्वतमोविध -
स्वप्नस्थाय श्रीकुदकुदयतीश्वराय दिगाम्बरधारकाय सदा नमोस्तु नमोस्तु ।

श्रीवीतरागाय नम — श्री वीतराग परम देवको नमस्कार हो ।

उस अयमर्षिणी कालके प्रारंभमें समसै पहले धर्मका स्वरूप प्रकाशित करनेमाले श्रीशुभनाथ जिनेन्द्र देवको वाग वार नमस्कार हो ।

समस्त कर्मासै रहित अंतराग बहिराग लक्ष्मीसै मुशोभित एसै जिनेन्द्र श्री महावीर स्वामीको नमस्कार हो ।

ओ न्ही पंच परमर्षियोका नमस्कार हो ।

ओ न्ही संपन्न सिद्धान्तोको भै नमस्कार करता हू ।

जन्होच श्री रामर रमाभीका पत्यक्ष दर्शन किया है, जो भव्यरूपी कमलोकै लिए सूर्यके समान है, कामदेवकी आश्रीतो वक्त करनेके लिए केशरी सिंहके समान हैं । देव विराधार मनुष्य आदि सय जिनके चरणकमलोकी पूजा करता है, जो मिथ्यास्वामी अयकारको नाश करनेके लिए सूर्यके समान है और जो केवल दिशारूपी वस्त्रोको धारण करनेमाले अर्थात् दिगम्बर है एसै श्री मुनिराज कुदकुद स्वामीको भै वाग्धार नमस्कार करता हू ।

च्युच्छ्रामेन जपति ये मंत्रराज नरोत्तमाः । गजति ते चतुर्थेन षष्टोत्तराद्यनमनम् ॥ १ ॥
 अहो यथा मदाकाले दुःखेऽदुःखे इमे अरं । परमेष्ठिमराज जपंतु शुद्धभावंतः ॥ २ ॥
 बहुना कथनेनालं सर्वोद्दीवाने क्षमम् । मंत्रराजममं मत्र न स्याद्वि मन्त्रराजनी ॥ ३ ॥
 एका व्यपि शिवायैर्यं कालकला सुषोचमं । प्रभारे नैव नैकथा मंत्रराजादृते सन्तु ॥ ४ ॥
 अतो भव्या जपन्वं नै मन्त्रद्वं जिनोद्भव । मन्त्रमन्त्रयन्त्रयाना नानादुःखनिनाशकम् ॥ ५ ॥
 ये नग न जपत्येव मंत्रराज जगन्नुत्तम । पशुमपा मताभने हि विमुच्छ्रमतिवर्जिता ॥ ६ ॥
 कुलध्व मोक्षमाप्स्यर्थे जप मंत्रस्य भो वृग । शक्यनुमास्त शुद्धया मन्तंति शिपरायक ॥ ७ ॥
 मत्र दुर्गतिनाशकं गगनरं जनेन्द्रवक्रोद्भयम् । दुःखान्तं कृतिनाशक मुनिवृत्त म्गणपवर्गपदम् ॥
 संसारतपघ्नाने पथम नानद्विमारादकम् । त्यस्तान्य बुधमत्तपा गनुदिन चम तप्य गन्तु ॥ ८ ॥

अर्थ—जो भव्यजीव गमोऽग मंत्रको ३ श्रासमें जपता है तथा इमी प्रकार एकमी आठ बार जपता है वह सर्वोच्छ्रित मोक्ष फलको प्राप्त होता है । गमो अर्द्धताणं गमो सिद्धाण—यह प्रथम श्रासोच्छ्रासमें, गमो आयरीयाणं गमो उज्ज्वयाण—यह द्वितीय श्रासोच्छ्रासमें, गमो लोए मन्त्रमाहुणं—यह तृतीय श्रासोच्छ्रासमें जपना चाहिए । हे भव्यजीवो इस पंचपरमैषो वाचक मंत्रराजका जप दुःख मुल सत्र समयमें एकाग्र मनमें शुद्ध भावमें करो । उससे समस्त प्रकारके पाप सहजमें विलीन होजाते हैं और सर्व प्रकारकी सिद्धि स्वयमेव प्राप्त होजाती है । इसके बिना अपने जीवन्की एक बडो भी व्यर्थ कभी मत सोओ । इस मंत्रके समान सत्सारभरमें अन्य कोई मंत्र नहीं है ।

अर्थ—जप क्रियाको बतलाकर अब ध्यान क्रियाका स्वरूप बतलाते हैं । ध्यानके समान गमस्त प्रकार सुखो को प्राप्त करनेवाला और दुःखोका नाश करनेवाला अन्य कोई धर्म नहीं है ॥ ८ ॥

ध्यानकी विधी—

ध्यानाख्या वचिभ हे भव्य क्रिशा सकलदु खहाम् । यत्सम नापरं धर्म गृहस्थाना जिनागमे ॥ ९ ॥
 पद्मासनेन सस्थित्वा त्यक्त्वा सर्वविकल्पकम् । एकांते शुद्धसमौच सन्निवौ वा प्रभो मुदा ॥ १० ॥

मानस्तमादिस्तृपाता समाह्वदशमडिताम् । सर्वा समवसारस्य रचना देवजा खलु ॥ ११ ॥

अर्थ—इसलिये हे भव्य जीवो भगवान् जिनेंद्र देवके कहे हुए तथा समस्त दुःखोको दूर करनेवाले ऐसे मन्त्रोको हजारो लाखोकी सख्यामें जप करो । जो मनुष्य समस्त संसारद्वारा पूज्य ऐसे मन्त्रराजका-नमस्कार मन्त्रका जप नहीं करते है वे बुद्धिहीन तथा पृष्ठ रहित पशुओके समान है । हे विद्वानो यह नमस्कार मन्त्र का जप मोक्ष देने वाला है इसलिये मोक्षकी प्राप्तिके लिये अपनी शक्तिके अनुसार शुद्ध भावसे इसका जप अवश्य करो । यह भगवान् जिनेंद्र देवका कहा हुआ नमस्कार मन्त्र समस्त दुर्गतियोको दूर करने वाला है, पापोका नाश करनेवाला है, रोग और दुःखोको दूर करने वाला है, मुनिराज मी इसको नमस्कार करते है, यह स्वर्गमोक्षके सुख देनेवाला है, ससाररूपी अवि को शांत करनेके लिये मेघके समान है, और अनेक ऋद्धियोको देनेवाला है । इसलिये हे विद्वानो अन्य सब मन्त्रोको छोडकर प्रतिदिन इस मन्त्रका जप करो ॥ ९ ॥

अर्थ—सर्वांग शुद्ध होकर-मन वचन कायकी सर्व प्रकारकी शल्य मिटाकर-स्वस्थ चित्त होकर-समस्त प्रकार की चिंताओको छोडकर-और सकल्प विकल्पोका सर्वथा त्यागकर निराकुल होकर निराबाध स्थानमें पवित्रताके साथ पवित्र भावसे पत्रासनपूर्वक ध्यान करनेके लिये स्थिर चित्तसे बैठना चाहिये । अथवा अरहंत प्रभुके समक्ष ध्यान करना चाहिये ॥ १० ॥

चित्तनीय त्रिधा शुद्धया चित्तकृत्प्रगदानये । तत्र आत्मानुसारेण पश्चर सिद्धयदास्ये ॥ १२ ॥

गणकुटुम्बुगरिमस्ये तसहाइकनिर्मिते । सिद्धामने निर्गोस्ये सुगन्धममुत्तमे ॥ १३ ॥

तस्योपरि निरौपथ्यं मंत्रयाश्चाविवर्जिते । मन्त्रेयाधिदेव च उपपादित्तिश्रान् ॥ १४ ॥

तुशंगुलम्-वस्थत्र तस्मादपि प्रभात । निर्बेन्दोगेन्द्राच्ये वेदेषु चामार्थुतम् ॥ १५ ॥

वष्ट्रं प्रातिहार्यौक तुयार्थमृषुपित यश । मेवद् गजैवायुक्त मत्तत्रप्रकाशस्य ॥ १६ ॥

अनतमहिमोपेत यनीश्वरानमस्कृतम् । भद्रचद्रपदादोपवर्जिताण विबोधकम् ॥ १७ ॥

मोक्षरूप दयास्वरूप नामाभ्यणवर्जितम् । विभय निर्णिकर च मानवायाविवर्चितम् ॥ १८ ॥

अर्थः— मयमें पहले मानस्तथये लेकर स्तूपपर्यंत ममामरणकी देव रचित मय गोभाका चित्तन करे फिर सिद्धपद प्राप्त करने और मय पापोंको दूर करनेके लिये आत्मानुसार श्रीमङ्कपका चित्तन करे । मध्यमें एक गंधकूटी उमपर मेरु पर्यंतके समान उपमागदित सुवर्णमय मिहामन है । उपपर चार अंगुल ऊपर अधर मय उपमाजामे रहित तथा नाथाओसे रहित भगवान् गुणमदेव विराजमान है । देव विप्राधर इन्द्र नागेंद्र सब उनकी पूजा कर रहे हैं । चौसठ चर उनपर तुल रहे हैं । आठ प्रातिहार्य गोभागमान है । चारों ओर चार मुस गोभागमान है । मंत्रकी गर्जनाके समान जिनकी दिव्य ध्वनि फिर रही है । जो मातो तत्वोंको प्रकाशित कर रहे हैं । अन्त महिमा संयुक्त विराजमान है, सन छुनिराज जिनको नमस्कार करते हैं, जो अठारह दोषोंसे रहित है, पूर्ण ज्ञानरूप है, मोग्य है, दयामय है, स्वामरण रहित है, निर्भय है, निर्मिंकार है, मानवायासे रहित है, मोह रहित है, तीनों लोकोंके स्वामी है, पूज्यपाद है, वात्तिया कर्मासे रहित है, सब जीवोंको पार कर देनेवाले, सन जीवोंको निर्भय करनेवाले, समस्त कर्मरूपी अणिको शांत करनेके लिये मेवके समान, शुद्ध और मोक्षमार्गको प्राट करनेवाले भगवान् विराजमान है—ऐसा ध्यान प्रतिदिन

विमोहं सर्वलोकेशं पुञ्जपाद निरञ्जनं । तारकं सर्वजीवानां सर्वजीवाभयकरम् ॥ १९ ॥

ईदृशं ह्यारामनि भव्याः सर्वकर्माग्निमेघदम् । शिवमार्गंकरं शुद्धं चित्तंयत्तु दिनं प्रति ॥ २० ॥

अनेन ध्यानयोगेन सर्वाहो दुःखदायकम् । तत्क्षणात् प्रलयं याति ध्यायतिना वज्रतो नगाः ॥ २१ ॥

कुरुष्व सकलभव्या भावतश्चात्मशुद्धयै । परमसयुतानां ध्यानमानंदरूपम् ॥

शिवयुवतिविलासादायकं धीरध्वयेय (सकलकलुषवन्धे मेघपुष्पोपमं वै ॥ २२ ॥

पृष्ठीं च क्रिया वक्ष्येह महदानंदायकाम् । यत्प्रसादात्तरंथेव सर्वे जीवा भवात् खलु ॥ २३ ॥

वीतरागमुल्लोकीतान् ग्रथितान् मुनिनायकैः । रुथातपृञ्जाव्यतिक्रातचित्तेर्मायाविवर्जितैः ॥ २४ ॥

करना चाहिये । इस प्रकार ध्यान करनेसे जिसप्रकार वज्रसे पर्वत चूर चूर हो जाते हैं उसी प्रकार दुःख देनेवाले सब पाप क्षणभरमें नष्ट हो जाते हैं । यह ध्यान मोक्ष देनेमाला है । समस्त पापरूपी बन्धुके लिये मेवके समान है, धीर वीर पुरुष ही इसका चित्तवन कर सकते हैं और आत्मरसास्वादियोंके लिये यह आनंद देनेवाला है । ऐसे ध्यानको भी भव्य हो शुद्ध भावसे प्रतिदिन करो ।

अर्थ—गृहस्थोंकी पछी क्रिया स्वाध्याय है । भ्वाध्याय सब क्रियाओं से अधिक आनंद प्रदाता है । जिस स्वाध्यायके प्रसादसे भव्य जीव संसार समुद्रसे पार होते हैं ।

स्वाध्यायके ग्रंथ कैसे होने चाहिये ?

जो ग्रंथ—श्रीवीतराग सर्वज्ञ अरहंत भगवानकी दिव्य धनि के ही प्रतिरूप हो और जिनकी ग्वना मुनी-धरोने की हो और वह राग द्वेषके वश या अपनी पूजा प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिये नहीं की हो अथवा जो ग्रंथ स्वार्थ या किसी मतलबके कारण स्वकल्पित बातोंसे न बनाये गये हों जिनमें मात्र एक श्री जिनेन्द्र भगवानकी वाणी की ही

लत्कलोभैर्दिशावासोर्ध्वमार्गप्रभावकै । ग्रंथान् भव्या. गुरोरास्यात् शृणुध्वमीदृशान् वरान् ॥ २५ ॥

त्रिषष्टिपुरुषाणां च पुराणं वा चरित्रकम् । चान्येषां मनुजानां वै श्रोतव्यं वासरं प्रति ॥ २६ ॥

श्रावकाचारग्रन्थं वै सर्वाचारप्ररूपकम् । गृहस्थैः कर्मनागार्थं नित्यं पापविनाशकं ॥ २७ ॥

शास्त्राणां श्रवणासर्वाः क्रिया स्वर्माक्षमाधिका । जानात्येव ह्यथ प्राण्यभिप्रेकाद्यास्तथा बुधा ॥ २८ ॥

पात्रापात्रस्य भेदं च हेयोपादेयकं तथा । सुखासुखस्य भेदं वै मार्गामार्गस्य लक्षणम् ॥ २९. ॥

चतुर्धादानभेदश्च मुनिमार्गं च तत्क्रियाम् । सहेलनाविधिं सर्वं नाकमोक्षस्य लक्षणम् ॥ ३० ॥

रचना हो, मायाचार या लोभ से जिन ग्रंथों में दिव्यध्वनी से विपरीतता न हो, जो जैन धर्मके सत्य स्वरूपको प्रतिपादन करने वाले हो ऐसे ग्रंथोंका स्वाध्याय गुरुसुख से ही श्रवण करना चाहिये ।

जिन ग्रंथोंमें त्रिपटि शलाका पुरुषोंका पवित्र जीवन चरित्र हो । अथवा पुण्यपुरुषोंका आदर्श चरित्र हो । श्रावकाचार और यत्याचार के द्वारा जिनमें गृहस्थोंके समस्त आचरणोंकी आज्ञा प्रतिपादित की हो ।

शास्त्रों का स्वाध्याय करनेसे गृहस्थों की पवित्र क्रियाओं का ज्ञान होता है, जिससे विवाह विधि स्नानपान का आचरण और अपने समस्त कर्तव्यों को धार्मिक समझ कर भव्यजीन उनको आगमके अनुकूल ही रखने में अपनी पवित्रता मानते है पट् आवश्यक कर्मोंका परिज्ञान शास्त्र श्रवणसे ही होता है जिससे जिनेंद्र भगवानके पवित्र अभिप्रेक विधि पूजनविधि—जिनयज्ञ विधियोंका स्वरूप सत्य सत्य जाना जाता है । पात्र अपात्र—दान कुदान—पुण्य पाप—हित अहित—कर्तव्य अकर्तव्य सदाचार दुराचार—मार्ग कुमार्ग—नीति अनीति—सत्य असत्य आदि बातों का सम्यक् परिज्ञान शास्त्र स्वाध्याय से ही होता है । मुनियों का मार्ग सहेलना विधि क्रियाका ज्ञान भी स्वाध्याय से ही होता है । सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्र का स्वरूप स्वाध्यायसे जाना जाता है ।

सम्यद्गुणज्ञानत्रयस्वरूप शिवदायकम् । पुण्यापुण्यस्य भेदं हि देवादेवस्य लक्षणम् ॥ ३१ ॥

अथाग्रंथ तथा शीलस्वरूपं गात्रमंडनम् । परलोकस्वरूपच गुणस्थानादिवर्णनम् ॥ ३२ ॥

पट्टाजीवनिकायाना लक्षणं जीवरक्षणं । भक्ष्याभक्ष्यभेदं च ह्यात्मरूपं सदास्थिरम् ॥ ३३ ॥

विवेकमविवेकत्व ज्ञानज्ञानप्रलक्षणं । सततत्वस्य भेदं च कर्मप्रकृतिलक्षणम् ॥ ३४ ॥

बधाबंधस्वरूपं च चर्चाचर्चादि लक्षणम् । इत्याद्यन्यस्वरूपं च भव्याभव्यस्य लक्षणम् ॥ ३५ ॥

ब्रह्मचर्यका स्वरूप भी स्वाध्यायसे मालूम होता है और उसके विरुद्ध विधवा विवाह जैसा व्यभिचार तथा और भी प्रकारकी मलिनता स्वाध्यायसे जानी जाती है ।

गुणस्थान जीवस्वरूप जीवो की दया भक्षाभक्षविचार आदि समस्त बातें स्वाध्याय से जानी जाती है । विवेक और अविवेकका स्वरूप ज्ञान अज्ञानका स्वरूप बंध अवधका स्वरूप भी स्वाध्याय से जाना जाता है स्वाध्यायसे ही कुशिक्षा और आत्मज्ञान रहित शिक्षाको ज्ञान स्वरूप नहीं जानता और न उसको हितरूप समझता है । ये सब बातें शास्त्रोंके स्वाध्याय से सत्य २ जानी जाती हैं ।

इसलिये श्रीजिनेन्द्र देवके परम पवित्र आगमका ही स्वाध्याय पठन करना चाहिये जिससे पुण्यकी प्राप्ति हो और पाप क्रियाओं का परित्याग हो ।

ग्रंथों के स्वाध्याय करनेका एक गही अभिप्राय है कि स्वाध्यायके पवित्र ज्ञान से पापक्रिया और आगम-विरुद्ध विचारों का परित्याग कर आत्माकी वास्तविक उन्नतिका मार्ग शोधन कर आत्मकल्याण करें । न कि ससारको बढाने वाली क्रियाओं का विचार कर अपनेको मोक्षमार्ग से गिरावें । वही ज्ञानी है उसीने शास्त्र स्वाध्यायका लाभ लिया है कि जिसने शास्त्रके स्वाध्याय से अपने मलिन विचारों को छोड दिया है ।

पश्यत भो बुधा छेतत् प्रभावमागमस्य वै । कामधरेगामत्सर्वं ग्रंथानां श्रवणात् भवेत् ॥ ३६ ॥

शृणुष्व प्रतपन्नं वै भो भव्या कल्मषाणम् । श्रीनिन्दन्मुखोदरानं ग्रथ वेगाम्बुद्रायाम् ॥ ३७ ॥

ग्रंथान् श्रीजिनवक्त्रजानवहृगान् संगारवि वमजान् । धर्मानारम्भरूपकान् मुनिनुतान् यथाग मुग्ध्यादिभिः ।

मिथ्यार्थाविघातकान् नरवैरैः सेव्यान् शुभान् भो बुधाः । भगवतपगनये एतुदिन ग्रंथं शृणु म म्बु ३८ ॥

जिनमें केवल तमाशो भरे हैं, जो ब्रह्मचर्य का नाश करने वाले हैं, नीरमसे भरे हैं अशुद्ध ह. (३८) जिनमें जो बुद्धिको नाश करने वाले हैं, जो राग मोहज्ञो बढानेवाले हैं. जिनमें दयारहित जीवोंकी कथाएं सरी हो जिनमें उन्मत्तपुरुषके बचनोंके समानं संव्यंरहित कथन हो, जो समारका नढाने वाले हैं, क्रिया कर्मके उपदेशसे रहित हैं, क्रीध मानादिके बढाने वाले हैं, धर्मके स्वरूपसं रहित हैं, अर्थम की पुष्टि करने वाले हैं, दुर्गति के देनेवाले हैं, तत्त्वज्ञानी विद्वानोंके द्वारा त्याज्य हैं, जो सांक्षमार्गको रोकनेवाले हैं, लोभी पुरुषोंने अपनी कल्पनासे बनाये हो और कुमार्गको बढानेवाले हैं ऐसे ग्रंथ विद्वानोंको कभी नहीं सुनने चाहिये । जो ग्रंथ धर्मका नाश करनेवाले हैं, पापके कारण हैं, समस्त विद्वानोंके द्वारा निन्द्य हैं, सत्य रहित हैं, पापमय करनेवाले हैं, सब सुखोंको नाश करनेवाले हैं, सब दोषोंसे भरपूर है, जो निन्द्य है और आत्मज्ञानसे रहित, इन्द्रिय सुखोंमें लीन रहनेवाले धूर्त लोगोंके बनाये हुए है ऐसे ग्रंथ विद्वानोंको कभी नहीं पढना चाहिये ।

अर्थः—अरहंत भगवान् के मुख कमल से प्रतिपादित ग्रंथ ससारका नाश करनेवाले हैं, मिथ्यार्थागका नाश करनेवाले हैं, सुनियोंके द्वारा बंध हैं, इन्द्रादिकोंके द्वारा पूज्य हैं, समका कल्याण करनेवाले हैं और सर्वके द्वारा पूज्य है इसलिए मन्व्य जीवोंको संसारके समस्त दुःख दूर करनेके लिए ऐसे ग्रंथोंका स्वाध्याय प्रतिदिन करना चाहिए ॥ ३८ ॥

कौतूहलमृतं ग्रथ ब्रह्मचर्यविनाशकम् । वीररामभृताशुद्ध कुक्यावातमहितम् ॥ ३९ ॥
 आद्योगानविहीन वै रागमोहविवर्धनम् । निर्दयादिकथावृद्धकथकं बुद्धिनाशदम् ॥ ४० ॥
 कुदानकथक हेयोगाद्यमनुवर्जितम् । मत्सरकथक चैव ससारश्रमकारणम् ॥ ४१ ॥
 क्रियाकर्मविज्ञानं च मानतोयादिकारणम् । मद्धर्ममहोन च कुवर्मपथपोषकम् ॥ ४२ ॥
 दुर्गनदीक हय बुभ्रेत वदिवाम्बरं । स्वमनलपोक्तितमैश्च प्रणीत लोभधारकै ॥ ४३ ॥
 भो बुग चेट्टा निच्य जिममार्गकपाटद । कुमार्गवद्वैक त्याज्य मा शृणुथ कद्राप्यहो ॥ ४४ ॥
 धर्मज्ञं पापबीज सकलबुभजेने मषहीन विनिघ । पापाना वधहेतु मकलसुखरं मर्वदोषै मयुक्तम् ॥ ४५ ॥
 ब्रूतैँ यच्च प्रोक्त नरणसुखतेश्चात्मविद्याविहीनै । निघ वा मा पठन्व तुधजननिकाराश्चेदंशं वै कद्रापि ॥ ४६ ॥
 प्रतिघथ गृहस्थाना पुकृतेश्च पट्मा क्रिया । जिनागमेहि कगिता शुद्धा पापप्रणाशिका ॥ ४७ ॥
 पट्मा दुःखनशाशार्थं पट्क्रिया भो बुभोचना । कुर्वन् पूर्वकालेहि शिवगर्मकरा वराम् ॥ ४८ ॥
 पापकार्यं पकुं ते ये ता तेऽभा मना । सर्वदुःखप्रद हेय धर्मस्य सलु न क्रिया ॥ ४९ ॥

अर्थ—मलेक दिमस गृहस्थोंको ज्ञाने योग्य ने पट्क्रियायें जिनागममें कही है, ये पापको नाश करनेवाली और परमपवित्र है ॥ ४६ ॥

अर्थ—गृहस्थोंका आरंभ और पचखाना पापसे छह प्रकार के पाप नित्य प्रति लगते हैं । उनकी निवृत्तिके लिये समस्त प्रकारके धुरांको प्राप्त करनेवाली आनश्यक पट्क्रियाएँ अनश्य ही करनी चाहिये ॥ ४७ ॥

अर्थ—जो मनुष्य पाप कार्गके धर्मे रत है वे अपम है । यह पापकर्म सब तरहके दुःख देनेवाला है इसलिये त्याज्य है । परतु धर्मको क्रिया कोई भी त्याज्य नहीं है । ४९ ॥

पट्टकार्येण भवेत् पापं तथा धर्मोपि भो वृथा । समत्वता गृहस्थाना भवेता द्वौ यदा खलु ॥ ५० ॥

यदहो धर्मकार्योहि वर्द्धयेम तदा भवेत् । नाकलोकस्य संप्राप्तिं पार्ष्ण्यति शिवस्य वै ॥ ५१ ॥

यदहो वर्द्धता यति तदा प्राप्तिं भवेत् खलु । अयोगतेरहो भव्या निकोतस्य खलुकमात् ॥ ५२ ॥

अतो द्वयो फलं ज्ञात्वा प्रातःकाले बुधोत्तमाः । प्रतिवृथाहोनाशाय कुरु-वं पट्टक्रिया वराम् ॥ ५३ ॥

पट्टक्रिया ये प्रकुर्वन्ति मत्तान्ते गृहनायका । आगमं जिननाथेन ते च धर्मप्रभावका ॥ ५४ ॥

अहो श्राद्धानिका यूय कुरुथ पट्टक्रिया वरा । भवता यदि श्रद्धां स्यात् ग्रथाना वै दृगस्ये ॥ ५५ ॥

अर्थ—कृत्यादिकार्यमें पाप ही होता है । धर्म कार्य में धर्म होता है । तथा गृहस्थोंमें दोनों ही सकते हैं इसलिये गृहस्थोंको पापोंको दूर करनेके लिये धर्मकार्य अवश्य ही करना चाहिये ॥ ५० ॥

अर्थ—जन्म धर्मक्रियाएँ बढती हैं तन् ही स्वर्ग सुख प्राप्त होते हैं और परपरासे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ५१ ॥

अर्थ—जन्म पापकर्म बढ जाते हैं तन् यह जीम अधोगतिको प्राप्त होता है । और अनुक्रमसे निगोद पर्यायको प्राप्त होता है ॥ ५२ ॥

अर्थ— पाप कर्मोंका फल दुःखकी प्राप्ति और धर्मक्रियाका फल सुखोंकी प्राप्ति है । इम लिये पाप क्रिया-ओका परित्याग कर निरन्ध हो पट्ट-आवश्यक क्रियाओंको भावपूर्वक करना चाहिये ॥ ५३ ॥

अर्थ— जो भव्य जीम पट्ट-आवश्यक क्रियाओंका पालन भावभक्तिसे नित्य प्रति करते हैं वे सद्वृहस्थ माने गये हैं । जिनेन्द्र भगवानने उनको भव्य माना है । और उनसे ही धमकी प्रशानना होगी ॥ ५४ ॥

अर्थ— हे भव्य श्रावक हो ! इमलिये आप पट्ट-आवश्यक क्रियाओंका पालन नित्य ही अपनी शक्तिको न छुगाकर भावभक्तिसे करो जिससे जिनागममें श्रद्धा हो । तथा सम्प्रदर्शनकी प्राप्ति हो ॥ ५५ ॥

प्रत्यक्ष पश्यथ यूयं सर्वग्रथेषु निश्चयात् । महापुराणचरितश्रावकाचारसुल्लयेषु ॥ ५६ ॥

सर्वत्र वर्णिताः श्रीमज्जिनसेनादियोगिभि । दिशावार्धैर् धीरैः मिथ्यामार्गविघातकैः ॥ ५७ ॥

सर्वत्र वर्णिता शुद्धा गृहस्थाना क्रिया वरा । पालनार्थं प्रतिदिनं व्यागमे शिवदायका ॥ ५८ ॥

स्नानाद्या कथिता शुद्धा गृहस्थाना क्रिया वरा । पालनार्थं प्रतिदिनं व्यागमे शिवदायका ॥ ५९ ॥

भवद्भि केन ग्रथेन वक्तव्य खलु लोपिता । पट्क्रिया जिननाथेन इमा प्रोक्ताश्च मेहिना ॥ ६० ॥

अर्थः— हे भव्य जीवो ! यह तात ममको प्रत्यक्ष है और ग्रंथोसे भी सबको निश्चय है । महापुराण और श्रामकाचार आदि मुख्य ग्रंथों में ये क्रियाएँ स्पष्ट बतलाई हैं ॥ ५६ ॥

अर्थ—ये क्रियाएँ आगममें सर्वत्र कही हैं । और मिथ्यामार्ग को नाश करनेवाले श्रीमज्जिनसेनाचार्य आदि दिग्वराचार्यों ने कही हैं ॥ ५७ ॥

अर्थ—गृहस्थों केलिये आगममें प्रति दिवस करने केलिये आनश्यक पट क्रियाएँ प्रतिपादन की हैं । उनसे इस लोकमें सुख और परलोकमें सद्गति प्राप्त होती है और क्रमसे मोक्ष भी होती है ॥ ५८ ॥

श्रीमज्जिनेन्द्र भगवानको पचासूत रसोंसे अभिषेक पूर्वक पूजा आदि उत्तम क्रियाएँ गृहस्थों को नित्यही करनी चाहिये जिससे मोक्षके सुखकी प्राप्ति हो ॥ ५९ ॥

अर्थ—जो लोग स्नानादि क्रियाओंका निषेध करते हैं उनसे पूछना है कि आपने किन ग्रंथोंमें स्नानादि क्रियाओं का निषेध देखा है ? आगममें तो किसी भी ग्रंथमें निषेध नहीं है । बल्कि समस्त ग्रंथोंमें इसका विधान ही मिलता है । जम समस्त ग्रंथोंमें विधान है तो फिर लोप क्यों करते हो । भगवान जिनदेवने बतलाई हुई क्रियाओंका लोप करना ठीक नहीं है ॥ ६० ॥

स्यात् यदि दृढश्रद्धा वै भवतानागमस्य च । कुरुष्वं जिननाथस्य पट्क्रिया वासर प्रति ॥ ६१ ॥
 त्यजध्व दृढयोक्तिं च वसुसूर्यत्वत् खलु । ग्रथाना लोपन मुढा भा कुरुध्व मतापइम् ॥ ६२ ॥
 मतिश्रुतावधिनेत्र गारकाणाच योगिनाम् । गृहस्थधर्मव्याख्यान कुर्वता च विभानिनाम् ॥ ६३ ॥
 तेषा नैव ह्यहो मूर्खा दोषो दृष्ट किमप्यहो । अभिषेकादिसर्वासु क्रियासु विदितेषु वै ॥ ६४ ॥
 भवता नैव भो मुढा मतिज्ञानादिसद्गुणा । चाल्पभात्रापि दृश्यते सर्वद्वेषरनाशकाः ॥ ६५ ॥
 वक्तव्य केन ज्ञानेन भवद्भि मतिवर्जितै । किं दृष्टश्च प्रदोषो वै अभिषेकादिषु खलु ॥ ६६ ॥

अर्थ—यदि आपके जैन आगममें दृढ श्रद्धान है तो जिनवर देव प्रतिपादित पट्क्रियाओंको नित्य प्रति माघ भक्ति से करना चाहिये ॥ ६१ ॥

अर्थ—अपने कल्पित विधिको ही सत्य मानकर जिनागम का लोप करना वसु राजाके समान दुःख को प्रदान करने वाला है । इस लिये भव्य जीवो को ग्रथका लोप नहीं करना चाहिये ॥ ६२ ॥

अर्थ—मति श्रुत और अग्रधिज्ञानके धारक सुनीश्वरोने गृहस्थधर्मका व्याख्यान करते समय पट्क्रियाओ का वर्णन किया है । इन पट्क्रियाओंमें उन्हे कोई दोष दिखाई नहीं दिया । इसलिये जो भव्यजीव इन क्रियाओंको नहीं करते है—श्रीजिनद्व भगवान का अभिषेक नहीं करते वे मूर्ख है ।

अर्थ—हे भोले जीवो आप लोगमें समस्त संदेहोंको दूर करनेवाले मतिज्ञान आदि सद्गुण थोडी मात्रामें भो नहीं है फिर आप किस आधार पर अभिषेक आदि क्रियाओंका निषेध करते है ।

अर्थ—आप लोग शास्त्रके ज्ञानसे रहित है फिर आप किस ज्ञानसे अभिषेकदि क्रियाओंका निषेध करते है । क्या किसी शास्त्रमें इन क्रिया सवंधी दूषण आपने देखा है ? जो निषेध करते है ।

दोषः किं स्यात् प्रभोः पादलेपने चदनादिभिः । दीपस्योद्योतने किंच जिनाकयक्षपूजने ॥ ६७ ॥

धूपोत्करस्य दहने निशायाः पूजने तथा । जिनात्तपुरुषाणा च वारसरुये मार्गवर्द्धकः ॥ ६८ ॥

पुष्पोत्करैः जिनेन्द्रस्य पादाब्जपूजने खलु । केलाभ्रगोस्तनी चान्यःफलोत्करैः प्रपूजने ॥ ६९ ॥

इत्याद्या या क्रिया सर्वा जिननाथेन वर्णिता । आगमे तत् भवद्भिश्च त्यक्ता भो मूढबुद्धितः ॥ ७० ॥

अतो यूय जिनेन्द्रस्य आज्ञाभ्राश्च कुमार्गाणा । न श्रद्धा नि फला जाता जिनाजालोपत खलु ॥ ७१ ॥

यत्राज्ञा न च तत्रापि धर्मलेशोपि नःस्ति वै । अतो यूय कुश्रद्धया पालकाश्च न सशय ॥ ७२ ॥

यदि स्यात् दृढश्रद्धा वै भवतां तत वचनस्य च । तदा खंगीकुरुष्व भो स्वप्नानादिकसस्त्रिकथा ॥ ७३ ॥

अर्थ—प्रभुके चरण कमलोपर चदन का लेप करना, दीपको चढाना, और जिनशासन देवोंकी पूजा करना ये सब धार्मिक क्रियायें हैं जिनेन्द्र भगवानने कही हैं निर्दोष है ।

अर्थ—रात्रिमें धूपका चढाना, पूजन करना, और जिन मुद्राधारक पुरुषोक्ता मोक्षमार्ग बढानेवाला वात्सल्य करना यह सब क्रिया उत्तम हैं निर्दोष है और शास्त्रविहित हैं ।

अर्थ—इसी प्रकार पुष्पोसे भगवानके चरणकमलोंकी पूजा करनी चाहिये । केला, आम द्राक्ष आदि उत्तम फलोंसे पूजा करनी चाहिये । इत्यादि समस्त विधि जिनेन्दने बतलाई हैं उसका लोप करना भगवानकी आज्ञाका लोप करना है । जो मनुष्य भगवानकी आज्ञाका लोप करता है उसके सम्यग्दर्शन नहीं रहता है ॥ ६७।६८।६९ ॥

अर्थ—जहाँपर अज्ञान है वहाँ धर्मका लेश मात्र भी पालन नहीं है । इसलिये जो लोग इन क्रियाओंको छोड़ देते हैं वे मिथ्या श्रद्धानके पालन करनेवाले समझे जाते हैं ॥ ७० ॥

अर्थ—जो आपको आगमकी श्रद्धा है तो अभिषेक आदि षट् क्रियाओंको स्वीकार करो ॥ ७१ ॥

आम्नापयय मूढा कस्याज्ञाया स्मनादिका । यूय त्यक्ता क्रिया मुक्त्या ग्रयपक्षं प्रदश्यत ॥ ७४ ॥
 ग्रंथानुसारत त्यक्ता वदध्वं च क्रिया लला । इमे यूय तथा किं च स्वप्नं सारत खलु ॥ ७५ ॥
 जिताननसमुत्पन्नग्रंथाजा सुवने त्रये । देवेन्द्रा वा नरेन्द्राश्च नागेन्द्रा तत्ररथ्या ॥ ७॥६
 सर्वे ते मानयत्येव नि शका निरिन्त्यर्थिद्राम् । मतिश्रुतावधिल्लिष्टशुद्धाधारका खलु ॥ ७७ ॥
 कचिदपि जिनेन्द्रस्य चाजा कर्त्ते सुरेश्वरा । न कुर्वन्पर कार्ये नानाभयप्रदायकम् ॥ ७८ ॥
 यूयं वदथ भो मर्त्या परंपर्यासमागता । यमद्विगभियंकाषा, स-भृत्यापिना खलु ॥ ७९ ॥
 सुरेन्द्राणामपि नैव मामर्थ्यं स्यात्कदाचन । जिताजालोपने मूढा यत्रिद्रि लोपिता कथं ॥ ८० ॥

अर्थः— यह तो बतलाइये कि स्वप्न, आदि क्रियायें किमकी आज्ञामें आपने छोड़ गयी हैं? ऐसा कोई ग्रंथ है कि जिसमें उनका निषेध हो, यदि है तो वह ग्रंथ दिखाइये ॥ ७४ ॥

अर्थः— जो आपने किसी ग्रंथके आधारमें मगस्त क्रियाओंका परित्याग किया है या अपने ही मनसे ?

अर्थः— श्रीजिनेन्द्र भगवानके सुसकलमें प्रकाशित आगम ग्रंथोंकी आज्ञा सन तरहकी शकाओसे रहित है और समस्त तत्त्वोंका बोध करनेवाली है इसलिए तीनों लोकों के देवेन्द्र नरेन्द्र जिनाथर और विद्वान मभी इसे मानते हैं तथा मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधि ज्ञानको धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टी जीव भी इसे स्वीकार करते हैं न श्रद्धान करते हैं ।

अर्थः— श्रीजिनेन्द्रकी आज्ञाको सुरेश्वर भी उत्थापन नहीं करते हैं वे भी जिनेन्द्रकी आज्ञानुसार अपनी समस्त क्रिया करते हैं । परंतु आप लोग परंपरासे प्राप्त और जिनेन्द्र देव द्वारा प्रतियादित क्रियाओंका लोप क्यों करते हैं ? जो जिनेन्द्रकी आज्ञाको लोप करनेकी शक्ति देवोंमें नहीं है । मालूम पडता है कि आपका ज्ञान देवेन्द्रो से भी अधिक

यूयं तदधिकाः किं वै अत उत्यापित प्रभो । वाक्यं सर्वेन्द्रपूज्यं च सर्वत्रापि निरुत्तमम् ॥ ८१ ॥
 वदध्वं पुनः भो मूर्खा ह्यसत्या स्युरिमा क्रिया । सर्वे ग्रथा असत्या स्यु सर्वसिद्धेहनाशका ॥ ८२ ॥
 युष्माक यदि श्रद्धा स्यात् दृढा जिनागमस्य वै । तदा किं न कुरुध्व भो तत् वाक्यं शिवदायकम् ॥ ८३ ॥
 पक्षपातं त्यज्व च ग्रथपक्षं जानुत्तम । यूय श्रद्धानिका नित्य कुरुध्व धर्मसिद्धये ॥ ८४ ॥
 बहुना पचमे काले नो संति भो बुधोत्तमा । तीर्थकरा सुरे पूज्या केवलज्ञानमडिता ॥ ८५ ॥

है ! इसीलिये देवेंद्रोसे पूज्य जिनागम के लोप करने मे आपकी बुद्धि होरही है । इस प्रकार की निरंकुश बुद्धि विवेकको नष्ट कर मिथ्यात्वको प्रकाशित करेगी ।

अर्थ—क्या शास्त्रोंमें बतलाई हुई क्रियाएँ असत्य है । जो असत्य है तो समस्त शास्त्र भी असत्य ठहरेंगे । जिन शास्त्रोंके पढनेसे सर्व सिद्धेह नाश होता है । और सर्वज्ञ प्रभुकी आज्ञा निरावाध प्राप्त होती है उनको असत्य किस प्रकार माना जाय ।

जो आपकी जिनागमसे श्रद्धा है तो उन अभिषेकादि समस्त क्रियाओंको स्वीकार करना चाहिये जिससे शिवसुख हो ।

अर्थ—इसलिये पूजा और अभिषेक आदि क्रियाओं के करनेमें पक्षपातका परित्याग कर देना चाहिये । जगतमान्य ग्रथोंका पक्ष करना चाहिये । यदि आप आगमके अनुकूल चलना चाहते हैं तो धर्मकी सिद्धिके लिये क्रियाओंको पालन करो ।

अर्थ—इस पचम कालमें इस समय देवों से पूज्य केवलज्ञान मंडित समोसरण युक्त चौतीस अतिशय युक्त अष्टादश दोष रहित—परस वीतराग—एसे तीर्थकर प्रभु तो साक्षात् विद्यमान नहीं है । वे तो चतुर्थकालमें ही मोक्षमें जा

सभनसगणशोभामण्डिता भव्यबोधका । मित्रामन्यतिशयैयुक्ता पुण्पदतप्रभाधिका ॥ ८६ ॥
 तेषि सर्वे शिवस्थाने गता शर्मादिभोजया । प्रयक्ष नैव दृश्यते जिनाश्च केनलेक्षणा ॥ ८७ ॥
 चिन्तनार्थं च तथा वै स्थापना पंचमे बुधा । धातुपापणद्रव्येषु मुनिभिः स्थापिता शुभाः ॥ ८८ ॥
 शिलास्फोटसुहस्तेन घटिताः तत्समाश्च वै । पश्चाद्धि तन्मतिष्ठाच संभवेद्धि यथाविवि ॥ ८९ ॥
 स्यात्तदा पूजया योग्या तन्मूर्ति सकलापनौ । सर्वे भव्य प्रतिपत्त तद्धिवस्व तदास्ये ॥ ९० ॥
 उदकेक्षुष्टैर्दुर्गैर्दधिसवौषगादिभिः । अभिपेक प्रकुर्मति शुद्धैर्यकनदैकैः ॥ ९१ ॥
 ततश्चैव सुवासनेन तत्तनोर्जलजान् कणान् । रीकृत्य प्रयत्नेन स्यात्परिधिं वा वरासने ॥ ९२ ॥

विराजे है । इसलिये तीर्थकर प्रभुकी प्रत्यक्ष पूजा इय समय नहीं होती है । किंतु उनके गुणोकी प्राप्तिके लिये प्ररोक्ष पूजा इस समय की जाती है । भगवानका स्वरूप चिन्तन करनेके लिये तदाकार धातु पापण आदि की सुंदर मूर्ति निर्माण कर और आगमकी विधिसे उसकी प्रतिष्ठा करा कर पूजा की जाती है ॥

अर्थः-- भगवानकी मूर्तिकी प्ररोक्ष पूजा प्रत्यक्ष पूजासे भिन्न होती है । उसलिये प्ररोक्षपूजा उस मूर्तिकी जल, इक्षुरस, घी, दूध, दही, सर्वौषधी आदि उत्तम और पवित्र द्रव्योसे की जाती है । यह सनातन विवि श्रंजिनेन्द्रदेवने प्रतिपादन की है और इन्द्रादिक देव इसी विधिसे नदीश्वरादि द्वीपमें अकृत्रिम जिनविद्योका अभिषेक करते हैं । ९१ ॥

फिर भगवानकी उस दिव्य मूर्तिको एक उत्तम सिंहासनपर विराजमान कर मूर्तिके जलकणोको बसके द्वार पोंछ लेवे ॥ ९२ ॥

तदग्रेहि त्रिधारा च पातयति नराश्च ये । जन्ममृत्युजगानाश कुर्वति ते हि निश्चयात् ॥ ९३ ॥

काश्मीरगुरुचन्द्र च ह्यन्यद्बोक्त्वा शुभम् । संष्टय्य जितपादाब्जौ लेपनीयौ मनोहरौ ॥ ९४ ॥

भवातापि नाशार्थं केवलजानधारिभि । कथितं भिन्नपुजाया चन्दनस्य प्रलेपनम् ॥ ९५ ॥

जिनभादारविदाग्रे कर्तव्या भो बुधोत्तमा । पुंजाश्चाक्षतवारस्य चाक्षयपुरप्राप्तये ॥ ९६ ॥

कुन्दावजमालतीपुष्पत्रजाश्च मारहाभये । जिनपादोपरि भव्या धर्तव्या कीटवजिता ॥ ९७ ॥

शालग्र्यन्न मोटकं भक्ष्य सर्वं च व्यजनोत्करं । क्षुवातकविनाशार्थं स्थापनीय प्रभो गुर ॥ ९८ ॥

अर्थ—जो भव्य जीम अरहत प्रभुके समक्ष भुंगार नालसे तीन धाराको छोडते है वे जन्म जग और मरण तीन पापोको नाश करते हैं । ९२ ॥

अर्थ—कैंगर—कर्पर—अगर—तगर आदि सुगंधी द्रव्योको उत्तम प्रकार से घिसकर श्री जिनदेवके पवित्र चरण कमलोका प्रलेपन करना चाहिये । जिससे ससार तापका नाश हो । यह जिनविवपूजाकी विधि ससार ताप विनाश करनेकेलिये कैवलज्ञान धारक श्री जिनदेवने बतलाई है ।

अर्थ—अरहंतप्रभुके समक्ष उत्तम अक्षतोके मनोहर पुंज बनाकर चढाना चाहिये । जिससे अक्षयपुर (मोक्ष स्थान) की प्राप्ति हो ।

अर्थ—मोगरा कमल—मालती आदि उत्तम और सुवासित शुद्ध निर्जीव फूलोको प्रभुके चरण कमलो पर चढाना चाहिये ।

अर्थ—अगदतप्रभुके समक्ष भात लाहू आदि व्यजन बडी भक्तिसे शुद्धता पूर्वक चढाना चाहिये जिससे क्षुधारोगकी शांति हो ।

आरातिका प्रकृत्या जिनैन्द्रपद्मयो । मोहमपविषातार्थं दीपव्यूहं वृत्तौ क्वै ॥ ९९ ॥
पावके घृग्वृन्दस्य कर्तव्यो दहनो बुधै । जिनपादाब्जमृग्यत्रे कर्मन्धनविनाशक ॥ १०० ॥
नारिणाप्रक्राणित्याद्यै पूजनीयो जिनेश्वरः । मोक्षफलस्य प्राप्त्यर्थं शर्मसतसिदायकम् ॥ १०१ ॥
भो भव्या विंशतपूजाया विधिरेव प्रकीर्तितः । जिनागमे यतीन्द्रौ वै यूय सर्वत्र पश्यथ ॥ १०२ ॥
प्रत्यक्ष केवली नासिन् अतस्तस्थापना मता । म्थापनाया मता मर्वा क्रिया वै क्षानादिका ॥ १०३ ॥
पश्यथ सर्वग्रथेषु विंशतपूजाविधिं पृथक् । केवलज्ञानपूजाया सुरेन्द्राद्यैश्च निर्मितं ॥ १०४ ॥
व्यवहारनयापेक्षो गृहस्थाना जिनेश्वरैः । विंशतपूजाविधिश्चैव कथित केवलक्षणे ॥ १०५ ॥
अर्थ—अरहतप्रभुके सामने शुद्ध सुगंधित द्योके सुंदर दीपक जलाकर आरती करनी चाहिये ।
अर्थ—प्रभुके सामने उत्तम सुगंधित द्रूप अष्टकमौके नाश करनेकेलिये अग्निमें प्रक्षेपण करना चाहिये ।
अर्थ—प्रभुके चरणकमलोकी पूजा नारंगी-आम-ऋषित्य आदि उत्तम फलों से विधि पूर्वक करनी चाहिये ।

जिससे मोक्षसुखकी प्राप्ति हो ।
हे भव्य अरहत भगवान के जिनप्रतिमा की परोक्ष पूजाकी विधि मक्षेप मे ऊपर कही है वह जिनागममें सर्व ग्रथो में सुनीश्वरने वतलाई है ।

अर्थ:— इस पंचमकालमें माक्षत्र केवली भगवान विराजमान नहीं है किंतु केवली भगवान तीर्थकर प्रभुकी प्रतिकृति (स्थापनावद्द्र जिनमूर्तिको ही साक्षात् जिनैन्द्र भगवान मानकर) में ही समस्त क्रियायें की जाती हैं । यह स्तपनादि विधि समस्त ग्रथोंमें कही है । परोक्ष पूजा की विधि यही परमागममें मानी है । देवेन्द्रोंने जिनमूर्तिकी पूजा विधि इमी प्रकार की है । यह विधि व्यवहार नयकी अपेक्षासे आचार्याने वतलाई है और जिनेश्वर देवने प्रतिपादित

निश्चयनयतो भव्या चिद्रूपाणा मता खलु । इज्या च मारसिद्धात् प्रोक्ता सकल्बदशिशिभिः ॥ १०६ ॥
 अत साक्षात् जिनाः पूज्याः सुगधीशैश्च तारकाः । नो सति सत्समायुक्ता किं विदध्मो वदथ वै ॥ १०७ ॥
 अस्मिन् काले महाभीमे तद्वते कथिता क्रिया । मुनीशैश्च भिन्नेषु स्नानाद्या मो बुधोत्तमा ॥ १०८ ॥
 दिव्यध्वनिमयी वाणी वीतरागमुखोद्भवा । साध्यस्मिन् नास्ति भो भव्या सर्वद्वारापरसङ्का ॥ १०९ ॥

की है। निश्चयनय से एक चिद्रूपमें ही लवलीन होजाना यही पूजा विधि है। ऐसा ही अभिप्राय सारसिद्धांत नामके ग्रंथ में कहा है। इसलिये जिन भव्य जीवोंने जिनप्रतिमाकी पूजा की उनने साक्षात् जिनेन्द्र भगवान की पूजा की। देव-गणोंमें शक्ति होनेसे वे साक्षात् पूजा करते हैं और संसारसमुद्रसे पार होते हैं ऐसी ही अचिंत्य शक्ति अरहत भगवान में है। यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है। परंतु इस समय साक्षात् अरहत नहीं हैं। फिर हम लोग सिवाय उनकी परोक्ष पूजा के और क्या कर सकते हैं।

इस पंचमकालमें साक्षात् अरहत केवलीका अभाव होनेसे जिनविषयमें ही खानादि विधि कर पट आवश्यक करनी चाहिये। ऐसा आचार्योंने कहा है।

अर्थ—साक्षात् तीर्थंकर केवली का अभाव होनेसे साक्षात् दिव्यध्वनिका भी अभाव है जिससे सर्व संदेह दूर होता था। परंतु पंचम कालमें जिनागम ग्रंथोंमें वह दिव्य ध्वनि आचार्योंकी परंपरासे ग्रथित की है। जिनागम ग्रंथोंमें केवली भगवानकी दिव्य ध्वनिके सिवाय एक अक्षर मात्र भी स्वकल्पित नहीं है। न रागद्वेष या प्रतिष्ठा कीति आदिके गौरवसे वीतराग योगियों ने उस दिव्य ध्वनिमें व्यक्तिकम किया है। इसलिये परमागमके शास्त्र सब दिव्यध्वनि रूप ही हैं। जो प्रामाणिकता-सत्यता-और निर्दोषता दिव्यध्वनी की है वही प्रामाणिकता-सत्यता-निर्दोषता-और अबाधता ग्रंथोंकी है।

पण्डितु जिनसेनाद्यैर्योगीन्द्रे सद्युता खलु । परपर्या समायाता साच सर्वत्र विभुता ॥ ११०
 तदा सर्वं गृहस्थाश्च क्रियाकर्मता परम् । शान्तादि मन्त्रप्रसङ्गं पठयति सकला क्रिया ॥ १११ ॥
 अहो श्राद्धानिका यूय कुरुष्व मरुत्या क्रिया । मायुभिर्यैर्वयोगीन्द्रे श्रेणु स्यापिता नतु ॥ ११२
 कालेस्मिंश्चलनित्तकरे मिःयात्त्वपूरिति । नैव दृश्यते योगीन्द्रा महाव्रतधरा वरा ॥ ११३ ॥
 मतिज्ञानयुता केचित् शुभोपविमडिता । अत्रधिज्ञानान्वितादि तुर्मोयान्विता खलु ॥ ११४ ॥
 मन्त्रस्मिन् नैव त धीग मुतय मुरपूजिता । ईदृशा ज्ञानेनैत्राख्या दिशानामोधरा वराः ॥ ११५ ॥

अर्थ—यही दिव्यधनी आचार्य परपरामे चली आगही है और उमीको भगवान जिनसेनाचार्य आदि महर्षि-
 योने ग्रंथोंमें लिखी है ।

अर्थ—इसलिये मद्गृहस्थोंको चाहिये कि शास्त्रोक्त स्तवन आदि क्रियाओंको करें । क्योंकि वे मन्त्रोंमें
 शास्त्रोंमें प्रत्यक्ष हैं ।

अर्थ—हे भव्यजीवो आत्मविचार करो और योगीन्द्रोंके द्वाग वतलाई हुई शुभ क्रिया (भगवानका पचा-
 मुतादि) को प्रेमपूर्वक करो ।

अर्थ—इस पंचमकालमें मनुष्योंके मन स्वभावमेंही चपल होरहे हैं । मिथ्यात्वसे पूरित होरहे हैं । ऐसे समय में महा-
 व्रतके धारण करनेवाले बिरलेही मिलते हैं । जिनको मतिज्ञान श्रुतज्ञान अग्रधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान है ऐसे महामना
 मुनीश्वरोंका तो प्राय अभाव है । जिनसे संसारका कल्याण होता था । वे मुनीश्वर कुमार्गपर चलनेवालोंको सुमार्गपर
 लाते थे । जिनराजकी आज्ञाभंग करनेवालोंको सन्मार्गपर लाते थे । और मनमानी करनेवालोंको योग्य व्यवस्थाकर
 सन्मार्गपर लाते थे । संवसें बिना दडके कभी भी व्यवस्था नहीं होती है । राजदडसे जैसे अन्याय रूक जाता है इसी प्रकार

कालेस्मिन् किं करिव्यामः गुरूणा तद्वहे नरा । लोपं वदथ ग्रथेषु कथित यदि कापिच ॥ ११६ ॥
 ईदृश न श्रुत कापि गुरुर्लोपः च पंचमे । कुरुच मानयध्व च द्वयो श्रीजिनशास्त्रयो ॥ ११७ ॥
 त्रिकारसर्ववस्तुना वर्णना च कृता जिनै । भो भर्त्या न श्रुतं चैव गुरुर्लोप च तत्र वै ॥ ११८ ॥

पचायती दृडसे धर्मविरुद्ध चलनेवालोंकी अनीति मिट जाती है ।

अर्थ—यह हुंडक पंचमकाल है । इसमें जैन कहलाने गाले न जाने कैसे २ पापी भी उत्पन्न होगे जो स्वयं धर्मवर्हिभूत होंगे और समस्त प्रजाको ग्रंथोंका लोप कर धर्मगर्हिभूत मनयेंगे । कुमार्ग—अन्याय और अत्याचार बढ़ायेंगे । यद्यपि ग्रंथोंमें सदाचारका विधान होगा तो भी वे पापी उसको नहीं मानेंगे और लोगों में भिव्या प्रसिद्धि कर सन्मार्गका लोप करेंगे । ऐसे मनुष्यों से सन्मार्ग प्रताशरु ग्रंथोंकी रचना नहीं होगी किंतु व्यभिचार अन्याय फैलाने वाले ग्रंथोंकी रचना होगी । इसके सिवाय वे लोग गुरुओंका भी लोप करेंगे—गुरुओंको भी नहीं मानेंगे ।

अर्थ—पंचम कालमें मुनिधर्मका लोप होगा ऐसा कहनेवाले मायावी है क्योंकि पंचम कालके अततक शुद्ध मुनि-आर्थिका श्रावक श्राविका रहेंगे ऐसा जिनगम स्पष्ट रूपसे बतलाता है । इस लिये शास्त्र और गुरु दोनोंका श्रद्धान करना चाहिये—दोनोंको मानना चाहिये ।

अर्थ—त्रिकालज्ञानी सर्वज्ञ भंगवानने समस्त पदार्थोंका वर्णन किया है उसमें यह भी बतलाया है कि पंचमकालके अंततक चतुर्विध सध निर्दोष रहेगा, परंतु ऐसा कहीं भी नहीं सुना न जिनगम में कहा है कि पंचमकालके प्रारम्भके बाद ही मुनीश्वरोंका अभाव होगा । परंतु मतलबी कितनेही पापी मनुष्य गुरुओंका लोप करते हैं । अर्थात् वे पापी निर्ग्रथ गुरुओंको भी नहीं मानते ।

श्रद्धास्माकमपि चैषा जानीष्व हृदि भो नरा । निश्चयस्य नयस्यैव लक्षण तच्च निश्चयात् ॥ ११९ ॥
 बर्हते नापरो देवो निर्घ्रयाणापरो गुरु । दयातो नापरो धर्मो हेतच्छ्रद्धानलक्षणम् ॥ १२० ॥
 भो मूढा भवतां नैव शुद्धसम्यक्त्वकारका । दुर्लभा सापि विज्ञेया कर्मवारा विमजका ॥ १२१ ॥
 निश्चयव्यवहारस्य नयस्य यत्न स्यात् खलु । श्रद्धा तस्यैव चोत्पत्ति सम्यक्त्वस्य न संशय ॥ १२२ ॥
 स्याद्यदि भवता श्रद्धा निश्चयस्यैव निश्चयात् । तर्हि नमथ पूर्णस्थान् किमर्थं वचनापहा ॥ १२३ ॥

अर्थ—जो सर्वज्ञ कथित आगम-और निर्ग्रथ गुरुका प्रलोपकर केवल मनोक्त कल्पना से शुद्ध सम्यग्दृष्टी वनते हैं उनकेलिये विचार किया जाता है कि देव शास्त्र गुरुके श्रद्धान विना केवल स्वानुभवसे सम्यग्दर्शन होता है या नहीं ? व्यवहार नयको अतिक्रम कर जो मनुष्य निश्चयनयका अवलंबन लेता है और व्यवहार नयको सर्वथा मानता ही नहीं है उसके निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं है किंतु तीव्र मिथ्यात्व है—क्यों कि अरहंतके सिवाय अन्य कोई देव नहीं । निर्ग्रथ दिगंबर गुरु सिवाय अन्य कोई गुरु नहीं, और अहिंसाधर्म सिवाय अन्य कोई धर्म नहीं है, ऐसे दृढ श्रद्धानको सम्यग्दर्शनका लक्षण परमागममें वतलाया है । जिसके इस प्रकार श्रद्धान नहीं है वह सम्यग्दृष्टी नहीं है मिथ्यादृष्टी है । क्यों कि यह परमागमका सुदृढ नियम है कि जिसके देव शास्त्र गुरुका दृढ श्रद्धान होता है उसीके निश्चय सम्यग्दर्शन होता है । व्यवहार सम्यग्दर्शनके विना निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता है । जो मनुष्य देव शास्त्र गुरुकी श्रद्धा करने नहीं आगमको सर्वांग माने नहीं आगमोक्त आचरण और क्रियाओको स्वीकार करे नहीं आगमप्रतिपादित धार्मिक विवाहादि क्रियाओंको धर्मक्रिया नहीं माने, और धर्ममें संशक श्रुति रक्त्वे वह अपनेको भले ही निश्चय सम्यग्दृष्टी कहे परंतु वह घोर पापी और अनतंसंसारी मिथ्यादृष्टी है । +

अर्थ:— जो हमारे एक आत्माका ही निश्चय श्रद्धान है और उसीका पूर्ण निश्चय है तो फिर मुनिदीक्षा

पूज्यथ किमर्थं च मूर्तिं पाषाणनिर्मिताम् । निश्चयपालका यूयं व्यवहारपरामुखा ॥ १२४ ॥

लेकर वनमें रहो । व्यर्थ ही भगवान् अरहंत देवके कहे हुए वचनोका लोप क्यों करते हो । तथा फिर ग्रंथोको क्यों नमस्कार, पूजन और भक्ति करते हो ? जो ग्रंथोंकी उपासना है तो फिर एक निश्चय सम्यग्दर्शन कहाँ रहा ? और एक आत्मीय श्रद्धान् कहाँ रहा ? जब ग्रंथोंकी उपासना है तब ग्रंथोंमें प्रतिपादित मूर्तिपूजा-रूपन-अष्टद्वयसे पूजन आदि विधान भी मानना पड़ेगा । अन्यथा ग्रंथोंकी उपासना भी नहीं वनेगी । और जो एक आत्माका ही निश्चय श्रद्धान् सारभूत है । व्यवहार क्रियाओसे क्या प्रयोजन ? इस विचारसे व्यवहार नयका उत्थापन करते हो तो फिर पापाण निर्मित अरहत भगवानकी मूर्ति क्यों पूजन करते हो ? मूर्तिकी पूजन करनेसे आत्माकी पूजन नहीं होती है । निश्चय अनुभवको माननेवालोको मूर्ति पूजनेकी जरूरत क्या ? परंतु मूर्तिपूजा परमागममें सर्वत्र बतलाई है । विना मूर्ति पूजाके आत्मस्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती है । इसलिये केवल आत्माके श्रद्धानको मानकर देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान नहीं करना सो मिथ्यात्व है ।

१ कितने ही आत्माका अनुभव और निश्चयके गीत गाकर व्यवहार आचरणको पुद्गलका धर्म मानकर परित्याग कर देते हैं । वे न तो देवकी सेवा ही करते हैं, न गुरुकी उपासना करते हैं, न सदाचारको मानते हैं । उनके देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान नहीं होता । प्राय व समस्त प्रकारके व्यसनोमें फसे हुए सदाचारसे भी पराङ्मुख होते हैं । अपनेको जैन कह करके भी जैनमार्गानुसार कभी नहीं चलते हैं । निश्चय सम्यग्दर्शिके भी व्यवहार सम्यक्त्व होता है । देव, शास्त्र, गुरुकी श्रद्धाके विना कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं होता है । जब सम्यग्दर्शन नहीं है तब उनके निश्चय सम्यग्दर्शन कैसे होगा ? ऐसे जीवोंको परमागममें मिथ्यात्वी बतलाया है ।

सिद्धांते जिननाथेन भाषितं चैव लक्षणम् । निश्चयव्यवहारस्य केवलज्ञानिना खलु ॥ १२५ ॥
 नयेन व्यवहारेण कार्यसिद्धिर्भवेदहो । मुनीनांच गृहस्थाना यूय सर्वत्र पश्यथ ॥ १२६ ॥
 व्यवहारनयेनैव मानुजा भो इमे मता । गुख शृणुथ यूय वक्ष्यमाण मया खलु ॥ १२७ ॥
 हेकर्णप्रदातापि श्लोकदाता पदम्य वा । अथस्य मन्त्रदाताच ज्ञानोपदेशकश्च वा ॥ १२८ ॥
 यज्ञोपवीतदाताच इत्याद्या श्रीजिनागमे । इमे सर्वे मता शास्त्रे गुणो गुणदानत ॥ १२९ ॥

अर्थः—जिनेन्द्र देवनें सिद्धांत ग्रंथोंमें सम्यग्दृष्टीका उपर्युक्त लक्षण कहा है। व्यवहारनयके विना निश्चयन भी कार्यकारी नहीं है। शास्त्रकारोंने यही बतलाया है कि व्यवहार नयसे ही कार्यसिद्धि होती है। गृहस्थधर्म और मुनि-धर्मका स्वरूप इसी नयसे प्रकट होता है। व्यवहारनयसे मनुष्य गुरु होते हैं और गुणस्थानोका आरोहण कर मोक्षको प्राप्त होते हैं।

अर्थ—जो एक अक्षर—एक श्लोक—एक पद और एक ग्रंथका पढानेवाला है वह भी गुरु होता है। मन्त्र का प्रदान करनेवाला भी गुरु है। ज्ञान (देशना) का उपदेश देनेवाला गुरु माना है। यज्ञोपवीत विधि-विग्रह विधि प्रत्तिष्ठाविधि-आदि विधि और सस्कारोंको करानेवाला गुरु होता है। जिनयज्ञ-जिनपूजन-आदि विधियोंको कराने वाला गुरु है। जैन परमागममें गुरुसंज्ञा गुणोका प्रदान करनेसे अनेक प्रकारसे मानी है।

१ धर्मगुरु — विद्यागुरु-मातापितागुरु-राजगुरु-संस्कारकर्ता गुरु-आदि भेदसे गुरुओंके अनेक भेद माने हैं। धर्मगुरु सर्वथा निर्ग्रन्थ और परम दिग्गंबर ही होते हैं। संसार समुद्रसे तारक और आत्महितके करनेवाले धर्मगुरु हैं। उनकी व्यवहार आचरणोंके द्वारा क्रमसे आत्महित करनेवाले हैं।

येऽग्रा नैव मन्थेते गुरुं जानस्य दायकम् । ते यास्यंति न सदेहः ससमे श्वश्रुकूपके ॥ १३० ॥

यथा वै जितराजस्य यथा दिव्यध्वनेः वृषा । स्थापना दृश्यते लोके गुरुणा च तथा मता ॥ १३१ ॥

जैनात्सूराणां हेते जिनधर्मप्रभावका । धर्मोपदेशनादौ च पश्यथ च तदोपमा ॥ १३२ ॥

अहो मूढाः च प्रत्यक्ष कुलोन्नतविराजिता । बुद्ध्यादिगुणसपन्ना मिथ्यात्वपथनाशका ॥ १३३ ॥

कलौ च जैनधर्मव्योद्धारणेऽतीव चातुरा । अस्माद्धि जैनमार्गीय प्रत्यक्ष दृश्यते खलु ॥ १३४ ॥

एषा वै नैव सामर्थ्यमस्माकं कालदोषत । एतेषामपि सा न स्यात् प्रत्यक्ष पश्यथ खलु ॥ १३५ ॥

अर्थ-जो अधम मनुष्य गुरुको ज्ञान दायक नहीं मानते है वे नि सदेह नररुके पात्र है । गुरु बिना ज्ञान नही होता है यह कहावत भी सर्वत्र प्रसिद्ध है ।

अर्थ-जैसे जिनराजकी स्थापना वृत्तिमें होती है । जैसे दिव्यध्वनिकी स्थापना ग्रथोंमें होती है । वैसे ही पूर्व कालके निग्रंथ मुनीश्वरोकी स्थापना भी वर्तमान कालके मुनियोंमें होती है । १३१ ॥

अर्थ-ये वर्तमानकालके मुनि भी जैन धर्मके प्रभावक होते है । और इनके द्वारा धर्मोपदेश प्रत्यक्ष सबको मिलता है । १३२ ॥

अर्थ-इन वर्तमानकालके गुरुओंसे ही जैन धर्मकी रक्षा कितने ही वार हुई है । बुद्धि तप शक्ति आदि गुणोंमें प्रवीण मिथ्या मार्गीके खंडन करनेमाले और जैन धर्मका उद्धार करनेमाले ये गुरु होते है । इन लोगोंके कारण ही अब भी धर्मकी स्थिति प्रत्यक्ष दीख रही है ॥ १३३ ॥ १३४ ॥

कदाचित् यह कहो कि काल दोषस हस लोगोंमें शक्ति कम होगई है । तो यह भी मानना चाहिए कि उनमें भी शक्ति कम होगई है तथापि उनमें शक्ति प्रत्यक्ष दिखाई देती है ॥

जिनाचपुरा खेने जिनधर्मोदेशका । अत मर्वे प्रमान्या स्तु जिनाचं कौन मानयेत् ॥ १३६ ॥
 यथा पाषाणत्रिचाना शोथो वै पृजनादिक । कार्यं तथैव भो मर्या प्रतेषा नमनादिकम् ॥ १३७ ॥
 मा कुरुन्व गुरुद्वान् वै प्रतेषु विनय खलु । अयं स्तु धर्ममार्गस्य घातकाः नात्र सशयः ॥ १३८ ॥
 ह्येतत् सिद्धातवाय्य म्यात् यं कुरुत्री नार्गघातक । लोपयति जिनात्त वै सच धर्मात्परामुख । १३९ ॥
 शुभाकामिति भद्रार्थं ह्युपदेश प्रजल्पित । अस्माभि श्रथबोयेन अहकारसदात्तच ॥ १४० ॥
 नागोश्रथ सुरस्वराः त्रिषु खलु सन्मानयति सदा । योगीन्द्रा खचरेस्वरा गुणप्रसजानेन सशोभिताः ॥ १४१ ॥
 वेदज्ञानविमंडिता सुरनुता विधादिसपद्युताः । कुर्वन्नेव प्रलोपनं नरवरा नैव भवतापह ॥ १४२ ॥
 वचनाडंवरै किंच अतो मां मज्जता खलु । यदुक्तं विनयेथपु तत् लोप मा विधीयता ॥ १४३ ॥
 अर्थ—ये वर्तमानकालके धर्मगुरु जैन धर्मके उपदेशक है इसलिये सबको ही मान्य है । जिनने जिनेंद्र शरण ग्रहण की है उनको कौन नहीं मानेगा / समही मानेगे ।

जिस प्रकार अरहत भगवानकी मूर्तिकी पूजा करते हैं वैसे ही इनका भी सन्मान नमस्कार आदि करना चाहिये ।
 अर्थ—गुरुध्नता प्रकट करना ठीक नहीं है । इसलिये उनका भी विनय करना चाहिये । जो मनुष्य मार्गका घात करता है वह धर्म से परान्मुख है । यह बात हमने ग्रंथोसे लिखी है । न किसी दूसरे अभिप्रायसे ।
 अर्थ—मसार में सबसे भयकर पाप ग्रंथोका प्रलोपन करने का है । जो मनुष्य ग्रंथों की आज्ञाका भंग करता है उस ग्रंथमें (परमागममें) तलाये हुए मार्गको स्वीकार नहीं करता है—परमागमका अनुयायी अपनेको प्रकट करता हुआ भी उसको नहीं मानता या पूर्ण श्रद्धा नहीं रखता , अथवा कुछ भागको मानता है और कुछ भागमें अपने मनोक्त ज्ञान द्वारा सदेह करता है वह ग्रंथका प्रलोपन करता है । अथवा उत्तम सदाचारके ग्रंथोको न मानकर

ये कुर्वन्ति प्रलोपन च ऋथमा अंशस्य भो सद्वृथा । ते यास्यन्ति निकीर्तिषु सुबचनालोपाच्च ससारद ॥ १४४ ॥
याता याति तथाच दुःसन्तिकर ससावनिषु भदा । यास्यत्येव कदापि भो बुषजना लोपं कुरुध्वच मा ॥ १४५ ॥

अथ ढूढक मतोत्पत्ति

अथापरं शृण्वन् भो स्वेतवासोमते लुलु । लुंक्रामिध कुधीरासीत् सर्वधर्मविनाशकः ॥ १४६ ॥
रिपुरानीन्दुसयुक्तमसेऽश्वत्वेतवाससाम् । द्वापरेषु प्रमग्नाना यतोहि कालदोषत ॥ १४७ ॥

एक अध्यात्म ग्रथोको ही आगम समझता है वह भी ग्रथका प्रलोपन है ।

इमप्रकार जो ग्रथोका प्रलोपन करेगा वह अवश्य नरऋकुडमें गिरेगा । और अनंत ससारको प्राप्त होगा ।
अथवा निगोद आदि कुयोर्नियामें अनत दुःखको प्राप्त होगा । इसलिये ग्रथोका प्रलोप नहीं करना चाहिये ।

इद्र, नागेंद्र, मुनि, अग्रधि ज्ञानी, मनःपर्यय ज्ञानी, विद्वान आदि किसीने भी आगमोका लोप नहीं किया है इमलिये तुम भी ग्रथोका लोप कभी मत करो । जिन ग्रथोंमें जो क्रियाएँ कही हैं उनका लोप कभी मत करो । जो पुरुष ग्रंथोंमें कहे कुछ वचनोंका लोप करता है वह अशुभ ही नरक निर्गोदमें पडता है इसलिये ग्रंथोका लोप कभी नहीं करना चाहिये ।

अर्थ --स्वेतांशरोमसे लुका नामक मत धर्मका नाश करनेवाला प्रकट हुआ है अब आगे उसकी उत्पत्ति आदिका खुलासा बतलाते हैं वह श्रृणव करना चाहिये ।

अर्थ--संशय मिथ्यात्वको धारण करनेवाले (इदोविय संसद्दयो) ऐसा गोमटसारमें स्वेतांशर मतको संशय मिथ्यास्वी जैनाभास माना है) स्वेतांशर (भगवान भद्रशाहके समयमें) सं १३६ में उत्पन्न हुए । ये सब संदेह

मुनिहस्ते तथा पचसोमयुक्ते ह्यसु समे । गते लुका क्रियाहीनो नाम्नाहि सर्वलोपकृत्व ॥ १४८ ॥
तन्मते च घना ज ता भेदा स्वपथ्योषका । निर्विचारा क्रियाहीना धर्मलोपकाः खलाः ॥ १४९ ॥
जिनेन्द्रानिन्दका केचित् जिनिर्भवरान्मुखा । निन्दका तीर्थयात्राणा म्ळेच्छाचारप्रपालका ॥ १५० ॥
जैमद्विप्रतिष्ठावारका कुकुलान्मिता । इत्याद्या जिनिर्भागम्य बभूवुर्नीशका खलु ॥ १५१ ॥
नाम्ना हृद्व्याथ्य विख्याता क्रियाकर्मविवर्जिता । सर्वत्र विस्तृता, ते च ह्यधुना भो बुधोत्तमा ॥ १५२ ॥

में निमग्न रहनेवाले तीव्र मिथ्यास्वी है । इस प्रकार मिथ्यारत्नको धारण करनेवाले और अपनेको जैन माननेवाले जैनाभाम भी कालदोषसे पचमहालमें उत्पन्न होते हैं ॥

हे राजन् लुक मत स. १५२७ में उत्पन्न हुआ । यह मत समस्त पवित्र आचरणो का लोप करनेवाला प्रसिद्ध हुआ ।

अर्थ—उस लुक मतमेंसे भी अनेक मत प्रकट हुए । जो उसी मार्गको पुष्टि करनेवाले थे । जिनमें विचार नहीं था । जिनके आचरण पवित्र नहीं थे । और जो पवित्र धर्मका लोप करनेवाले थे ।

अर्थ— ये लुक मतके अनुयायी जैनाभाम अरहंत भगवानकी मूर्तिसे परान्मुख रहेंगे—श्रीजिनेन्द्र भगवानकी मूर्तिकी निन्दा करेंगे । तीर्थ यात्रा आदि धार्मिक आचरणो को रोकेंगे । प्रतिष्ठा जैनमंदिर आदि प्रवृत्तिकी रोकेंगे । म्ळेच्छाचार को फैलायेंगे । और नीच कुलके मनुष्योको साधु बनाकर मक्को अष्ट करेंगे । १३६ ॥

अर्थ—लुक मतको इडिया कहते हैं । और वे इडिया के नाम से प्रसिद्ध हैं । इन लोगमें सदाचार की एक भी उच्च क्रिया नहीं है (इनकी स्थानकवासी भी कहते हैं)

कस्यापि नैत्र दोषोस्ति कालद्वयोपमावत् । सर्वे मतातरा ह्यस्मिन् भवंति नात्र संशयः ॥ १५३ ॥

युष्माक सर्वभ्रंशेषु भो लुक्रुतधारकाः । किं न स्यात् कथन मूढाः पूजायाः श्रीप्रभोः खलु ॥ १५४ ॥

ग्रथसाक्षमह वच्मि शृणुत मतिवर्जिताः । यदि ग्रंथाः प्रसत्या स्यु युष्माक शर्ममासये ॥ १५५ ॥

पैतालीसामिधे ग्रथे प्रतिमाया बहु विस्तारतः पूजनस्य वर्णना कृता वा किं न कृता । भो लुक्रुतधारका तस्मिन् प्रत्यक्ष भश्यतु - भवन्तः । प्रभोः पूजन कथमुत्थापित । यदि युष्माक ग्रंथोय सत्यः स्यात् तर्हि ता जिनपूजा किं न कुर्यु । यदि भवतामेप पूजाविधि नैव रोचते तदा ग्रथस्य लोपन कुरुन्व । अतः कारणत् ग्रथमपि स्वमतघ्ना न आगमघ्नाः स्युः नात्र संदेह ।

अर्थ—इसमें किसीका कुछ भी दोष नहीं है क्योंकि काल दोष से ये सब बातें स्वयमेव बन जाती हैं । हुडक समयमें मतांतरोंकी वृद्धि होगी यह निःसंदेह है ।

अर्थ—हैं लुक्रुतधारकालो श्रीजिनेद्वयकी पूजाका विधान तुमारे मतके ग्रंथों में क्या नहीं है मो तो कहो । अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि तुमारे मतके मुख्य २ ग्रंथों (जो सर्वमान्य हैं) में जिनेन्द्रपूजा खुलासा से लिखी है । यदि तुमारे मतके ग्रंथ सत्य है ग्रामाणीक आप मानते हो तो जिनेन्द्र पूजाका निषेध तुम से नहीं होसक्ता । क्योंकि ग्रंथोंमें विधान स्पष्ट रूप से है । जो ग्रंथ अमान्य है तो फिर तुमारा मत ही क्या ?

अर्थ—हैं लुक्रुत धारको तुमारे पैतालीसा नामके मुख्य आगम ग्रंथोंमें अतिशय विस्तार पूर्वक भी जिनेन्द्रदेवकी पूजाका विधान बतलाया है या नहीं ? एकबार तुमने अपने आगम ग्रंथोंको खोलकर देखा है या नहीं ? प्रथम तो अपने ग्रंथोंको देखकर निषेध करना चाहिये । उन ग्रंथोंमें जब खुलासा वर्णन है तब तुमारा निषेध मनोक्त करपनासे पक्षपात पूर्ण ही समझा जायगा । कदाचित्त तुमको पूजन करना अच्छा नहीं मालूम होता तो तुम सबसे प्रथम अपने आगम ग्रंथोंको मत मानो । जो ऐसा करोगे तो आगमलोपी कहलाओगे । इसमें कुछभी संदेह नहीं

भो लुंकरतपालका पुन णुणुच्चं जीवाभिगमग्रथे पूजाया विधि गहुविस्तारतः वर्णितः । ब्रवीध्व, तत्सत्यं कि-
मसत्य स्यात् २ भो लुंका ! ज्ञाताभिधकथाया सतीनामध्ये शिरोमण्या द्रोपद्या जिनेन्द्रस्य इड्या कृता पुन उपासकदशाभिध-
ग्रथे यूयं पश्यत । जिनेन्द्रसिद्धयात्राकारणं जिनर्षिकस्य पूजाकरणं गहुविस्तारेण अतयो द्वयो कथनं कृत । पुनः सूत्रकृतागमे श्रेणिक
भूपत्य अभयकुमाराभिधकुमारेण जिनर्षिकस्य बहुभक्त्या च वसुद्रव्यविधिना पूजा कृता । तदैव पूजाप्रभावात् सोऽपि सम्यग्ज्ञान-

अर्थः—हे ब्रूडियो ! जरा तो सुनो । जीवाभिगम नामक ग्रथ में भगवानकी मूर्तिकी पूजा का वर्णन खूब
विस्तार से किया है । अब बतलाइये कि उस ग्रथका लिखना मत्स्य है या असत्स्य २ यदि ग्रथका लिखना सत्य है तो
पूजा करना तुमारे मतमें सबको मान्य है फिर तुम लोग अपना वर (ग्रंथ) देखे विना ही किम सत्रूत (प्रमाण)
पर निषेध करते हो । यदि उस ग्रथ का लिखना असत्य है तो जीवाभिगम ग्रथको मानना छोड देना चाहिये । क्यों
मानते हो ?

ज्ञाताभिध नामक सूत्रमें सती शिरोमणी द्रोपदी आदि बहुतमी सतिओंके द्वारा श्री जिनेन्द्र भगवानकी
मूर्तिकी पूजा करना बतलाया है । सो सत्य है या असत्य २ उपामकाध्ययन नामक ग्रंथमें देखो—जिनेन्द्र भगवानकी
मूर्तिकी पूजा सिद्ध भगवानकी पूजा यात्रा करनेकी आज्ञा है और जिनर्षिककी पूजा बहुत ही विस्तारसे स्पष्ट बतलाई
है । वह सत्य है तो स्वीकार करना चाहिये और असत्य है तो उस ग्रंथमें क्यों लिया है ? इससे तो वह ग्रथ ही मान्य
नहीं समझे ?

सूत्र कृतांग नामक ग्रंथमें श्रेणिक महाराजके पुत्र राजकुंवर अभयकुमारने श्रीजिनेन्द्र भगवानकी मूर्ति की
अष्टद्वयसे पूजा की और उससे सम्पन्नानकी प्राप्ति हुई ऐसा लिखा है सो यह लिखना असत्य है ? तुम लोग सूत्र-

मासवान् पुनः सूत्रभावत्यभिधे अथे जिननिबस्य च तन्मदिरस्य तत्पूजाविधेः बहुविस्तारतो वर्णना कृता । नो चेत्तर्हि भवदागमस्य लोपं कुरुष्व । इत्याद्या ये ये अथा भवता सति सर्वेषां तेषां मध्ये यूयं पश्यत युष्माकं केषु अथेषु जिनमंदिरस्य जिननिबस्य जिनपूजाया जिनक्षेत्रभूमि इत्यादिकार्यस्य यदि निषेधनं न स्यात् तर्हि कुर्वीध्व । कुपक्ष त्यजत । एतदेव निकोत् कारणं तत् दुःखान्निर्भया मा भवत स्वकल्पोक्त्या मा ब्रवीध्वं । हृदि विवेक मज्जध्व ॥

कृतान्पुं ग्रथको मानते हो या नहीं ? जो मानते हो तो मूर्तिपूजा करना स्वीकार करना चाहिये । जो नहीं मानते तो ग्रथ अप्रमाण ठहरा ।

भगवती सूत्रमें—जिनबिंब और जिनमंदिर की पूजा करना लिखा है । वह भी अतिशय विस्तारके साथ बतलाया है सो क्या मान्य है या नहीं ? यदि मान्य नहीं है तो भगवती सूत्र अप्रमाण ठहरेगा ? या तो ग्रथको अमान्य करो या मूर्ति पूजा करना स्वीकार करो ।

तुमारे मतके आगमग्रंथोंमें सर्वत्र जिन बिंब पूजा करनेका विधान लिखा है । सो तुमको करना चाहिये । अपने ग्रथको देखकर निषेध करना चाहिये ।

आपके कौन कौनसे ग्रंथोंमें जिनबिंब और जिनमंदिर तीर्थयात्रा आदिका निषेध है ? या मनःकल्पना एवं पक्षपातसे ही निषेध कर रहे हो । विनाग्रमाण के निषेध करना अज्ञान है । इसलिये पक्षपातको छोड़ो और विवेकसे काम लो ।

मिथ्या हठग्रह पकडकर अज्ञान व्यक्त करना मूर्ख लोगोंका कार्य है ? इसलिए कुपक्षको छोड़ देना चाहिये । अन्यथा निगोदादि दुर्गतिका कारण यह मिथ्या प्रलोप होगा । मनकी कल्पनासे देव जिनमंदिर आदिका अवर्णवाद करना अपने विवेकको सोकर अज्ञान मदमाते होना है । सो यह ठीक नहीं है ।

भो दुःखन्वपरात्तं जिनपूजादानम् गृहस्थान्तरो धर्मो निकाहये नास्ति । ये जिनविश्वस्य धारणः के
जिनदत्त-जिनागन्तव्यजिनन्मगदका बहुमन्नेतरु के स्वयं-स्य ।

भो दृष्ट्वा नान्धापनाद्व्यमवधुधुर्धो जिनैन्द्रग मन्ने च पूजने स्वार्युं आगम्य-धर्मि परत्त । ६४

अरे ! दृष्टिया हो . गृहस्थोंका धर्म जिनपूजन, दानके सिवाय अन्य दूसरा निकाहमें भो श्रेष्ठ नहीं है । मुख्य धर्म तो जिनपूजन और दान देना ही है । इसपर भी आप जिनधर्मकी पूजा करनेका निषेध कर जो नव्य धर्मका निन्दव करते हो वह जिनधर्मका निन्दव नहीं है किंतु बीलितेन्द्र देवका नीनिःता ? एषणिण आप अवश्य जिनमत्त हो । और अपने आगमको नहीं माननेसे आगममत्त हो-जा आपके आगममें जिनधर्मपूजन—जिनमदिरपूजन सिद्धयात्रागमन आदि विधान रुले रूपमें लिखा है तब उरहो नहीं मानना यही आग-मञ्जना है । और जिनवाक्य तथा मन्त्रराज (गणोकार) को भी नहीं माननेगले हो । अधिक क्या आप सब शास्त्रोंकी सत्यताका लोप करनेवाले मिथ्या कदाग्रही हो ।

अर्थः—अरे दृष्टिया हो ' नाम-स्थापना-द्रव्य-भावसे जिनैन्द्रदेवका आराधन पूजन स्मरण आदि चार प्रकार किया जाता है । प्रत्येक वस्तुमें यह चारो निक्षेप नियममें होते हैं । परतु आप लोगोंने तीन निक्षेप [नाम-रत्न्य भाव] तो स्वीकार किये और बीचमें स्थापना निक्षेपको छोड दिया सो क्यों ? स्थापना निक्षेप प्रत्यक्ष रूपसे प्रत्येककी मानना ही पडता है । प्रतिनिधि विना एक क्षण निर्वाह होना अशक्य है । सेठ मुनीमको अपना प्रतिनिधि (स्थापना) बनाता है । वकील वैरिष्टर को भी सब कोई अपना प्रतिनिधि बनाता है । वार्डसरायको राजाने अपना प्रतिनिधि बनाही रखा है । फिर प्रतिनिधिरूप स्थापना का निषेध किस प्रकार किया जा सका है । स्थापनाके माने विना

सदुणा नश्यति । यत्रारम तत्र किमपि धर्मोत्तिवोत्सयेव । निरारभेण शिवस्थानभाषितनमा भवति । आरभेण अनंनया जीवाराशयो
 भ्रियंते । तत्पापात् यथाव्यो अयं प्राणी दुःखी भुजति वा निःशुद्धिः वचनागोचर मननकालपर्यन्तं दुःखं भुंजयेव । इत्येव
 कस्योक्तं श्रुत्वा नुरुन्नेमघातने केनचित्प्रत्यय जैनागम मार्गवर्धनकं द्विगारु अमत्यपक्ष विभजक भव्याब्जमार्तडोपम श्रीवीतराप्रति-
 पालक सिद्धांतादि ग्रथवाचने मासर्थ्यधारन पूर्वाचार्यं चात्रय प्रतिपालकः नमनतोत्थापनार्थमिच्छाह भो नुक्ता ---आरंभ-
 निराकरण यूयं श्रुयुथ चित्तसमाधिना करोम्यहं । जिनेन्द्रार्थममये प्राक् इन्द्रश्रगाजया, कुरे पुनःपुनःपुनःपुनः पंचाश्रयंम-
 न्नोत् । दिक्कुमार्यं तस्य मातु गर्भशोभनानुर्वचं । दीपवत्वात्तादि बनेकषया परिचर्यो च । पुन गर्भस्थाने आगते सति तद्वैव नमये

हं तो ग्रंथ अप्रमाण ठहरते हैं । इमलिये मम प्रहारमे लाचार होकर दृढिया लोग बोले--यद्यपि हमारे शास्त्रोमें जिनपूजन
 विधान लिखा है वे सब ग्रंथ भी मान्य हैं परंतु पूजा करनेमें बहुत मा आरंभ होता है । धार्मिक कार्योंमें आरंभ करनेसे
 नडा भारी दोष होता है । आरंभमें अंतत जीपराशि मर जाती है । जिसमे प्राणी नरकादि दुर्गति का पात्र होता है । आरंभसे
 जप तप सयम ज्ञान आदि उत्तम मनुष्य नष्ट हो जाते हैं । इस लिये हम जिनचि व का पूजन आरंभ दोषके भयसे निषेध
 करते हैं । ऐसा श्रवणकर लुंकरुमतरूपी गजोंको नाश करनेके लिये सिंह समान, जिनागम मार्गको दुर्द्विगत करनेके लिये
 एक ही दिव्य सूर्य समान, श्रीवीतराग आज्ञाके प्रतिपालक, सिद्धांतादि ग्रथोके वेत्ता, पूर्वाचार्य मार्गका अनुसरण करने
 वाले दिगंबराचार्य ने कहा कि हे दृढिया हो पूजा करनेमें आरंभका दोष बतलाते हो सो सुनो । यह दोष तुमारे ग्रथोंमें
 श्री जिनेन्द्र देवके पंचकल्याण के अवसर लिखा है सो सत्य है या असत्य । जो सत्य है तो फिर आरंभका दोष देना
 सर्वथा अनुचित है । तथाहि--जिनेन्द्र भगवान के गर्भकल्याण समय-इन्द्रकी आज्ञासे कुवेरने बडे समूह और उत्साहसे
 पुष्प वृष्टि आदि पंचाश्रयं वृष्टि की । दिक्कुमारी देवियोंने भगवानकी माता की गर्भशोधना की । अगणित दीप जलाये ।

चतुर्निकायदेवनिकराः आगत्य तस्मिन्तौ हरिविष्टरे संस्थाप्य क्षीरोदकेन सहाप्य गर्भगतं प्रभुं नत्वा त्रि पदक्षिणा दत्त्वा वल्गाभरणमा-
 लैभिः तौ प्रपूज्य तस्योरो जयनदादिशब्दोक्तान् घोषयित्वा पश्चात्स्वस्थानं ययुः तथाहि गर्भजातवालकजितं स्वावधिनेत्रेण ज्ञात्वा सर्वे
 सुरेश्वरा महताडम्बरेण सह तदुर आगत्य जितं नीत्वा त्वर्णाचले गत्वा सिंहबिष्ट्रे स्थापयित्वा सहस्रत्रलशै दुग्धसमुद्रदागणै वा
 वसंत्यै प्रभोरभिषेकं कृत्वा पश्चात्तसुरे जिनं स्थापयित्वा महदानेन स्वस्थानं जायुः पुन तप कल्याणेऽपि ते सुरेन्द्रा आगत्य तप क-
 ल्याणं कृत्वा वव्रजु । तद्देव केवलज्ञानोत्पत्तिप्रथेऽपि समवसरणरचनामुकुर्वन्नेव । तद्देव निर्वाणकल्याणसमये त निर्जिन्द्रा आ-
 ननेक प्रकारकी परिचर्या की । और गर्भ समय देवेन्द्रोने श्रीजिनेन्द्रदेव के मातापिताओंको सुवर्ण सिंहासनपर नैठाल
 क्षीरोदधि के कलशो से अभिषेक कराया । फिर नमस्कार की और प्रदक्षिणा दी नत्वाभरण माला पहनाये और पूजा
 की । पश्चात् नृत्य किया जब नंद आदि शब्दोंकी घोषणा की । फिर अपने स्थान गये ।

जन्म कल्याणम्:—श्रीजिनेन्द्रभगवानका जन्म अवधिज्ञानसे जानकर देवेन्द्रोने बड़े ही ठाठबाटके साथ और
 अपार समारंभके साथ बत्काल बालकको-पेरावत हाथी पर विराजमानकर मेरु पर्वतपर एक हजार आठ क्षीर समुद्र
 के दुग्धसे भरे हुए कलशोसे अभिषेक किया । पूजा की, गीत नृत्य-वादित्र आदिके द्वारा महान महोत्सव किया और
 भगवानको नगल्ले काकर माता पिताको सोपकर आनन्द माना ।

तप कल्याणम्:—देवगणोने भगवानका अभिषेक करा कर शिविकामें प्रभुको बैठालकर वनमें दीक्षा कल्याण
 महान उत्सव और अपूर्व समारंभसे किया । ज्ञानकल्याणम्—समाप्तसरणकी रचना कर जगतमें महान समारंभका ठाठ
 सबको आश्चर्यकारी बतलाया । और भगवानकी पूजा आठ द्बयसे की ।

निर्वाण कल्याणम्:—देवोने भगवानके दिव्य शरीरको दहन किया जिसमें कास्मीर अगर तगर चंदन
 कपूर आदि सुगंधी पदार्थोंके द्वारा अपूर्व ठाठबाट से उत्सव मनाया ।

गद्य. प्रभो अगीरदहनक्रिया काष्ठमीगुणरूपैर्गंगामागादिति द्रव्यौर्ध क्रत्वा स्वभ्यो क उरुः । भो नृकाः इदम दृचेतमस्य क्रिमस्य
स्यात् ? पचमपि क्रत्वाणेषु मउदारयोत्सि ।

इति शुभापि पुनः लुंरुप्रतारका दद्यात् इत्यारः सा तु गोतमा मुरद्राणामाग्ने पापोत्पत्तिनिन्दियेव । यागसोत्सति
पुन्यकर्त्तव्येषु भवेत् नात्र सशय । इति कन्योक श्रुत्वा जिनागमायज्ञायक आद भो नृका अभ्योत्तर यमं श्रुणुय । भान्तःशः मया मेनवा
मह भावदादिनायदनाभमानर्षयान् तरकाणो किं ध्यात् । प्रत्यक्षे ण्यो दर्शनात् तदा देवायमे प्राप्तिगसीत् । नो नृका आरभकल्ले
प्रत्यक्षे षडयथ यस्मासि नायतः कथितम् ॥

हे इडिया हो नह आरभ (महदारभ) भगवानकी पूजा और पचकल्याण निमित्त किया जो तुमारे गयोमें
लिराना हे वह सत्य हे या मिथ्या ? सो कहो । जो सत्य हे तो पूजा करनेमें आरभका दोष नतलाना व्यर्थ हे । कयो
कि जिनंद्र पचकल्याणांम देवोने पूजा की हं ।

अर्थ:— उपपुक्त पचकल्याणांम देवोके द्वारा महान समारभ भगवानकी पूजाका श्रमण कर इडियाने कहा
कि भगवानके पचकल्याणांम देवोने आरभ किया हे । नह भिक्रियाजन्य होनेसे हिंमारूप नहीं हे । मनुष्योंके आरभमें
ही पापोत्पत्ति होती हे । देवोके आरभमें पापोत्पत्ति नहीं हं । इमलिये मनुष्योको पूजा करनेका निषेध हम लोग करते
हे । यह सुनकर जिनागमके ज्ञाता आचार्य महाराजने कहा कि हे इडियाहो ! भरत महाराजने श्री आदिनाथ भगवान-
की यात्रा और पूजा ससैन्य-सकडुन-सपरियार महा विश्रुतिके साथ की और उस पूजाके फलसे अविद्वानकी प्राप्ति
हुई । आपके शास्त्रोंमें ऐसा लिखा हे सो सत्य हे या असत्य ? जो सत्य हे तो फिर मनुष्यके आरभसे पूजाका निषेध
नहीं होता हे बल्कि उत्तम गुणोंकी प्राप्ति होती हे । जैसे कि भरत महाराजको अविद्वानकी प्राप्ति हुई । इसलिये आरंभ

पुनरारमफल शृणुथ—श्रीवर्द्धमानवदनार्थं श्रेणिकाभिधो भूपेन्द्रः सकलसेनया सह किमगामत् ? वा एक एवागामत् तत्कथयत भो मतिवर्जिता । प्रभो दर्शनात् नमस्कारकरणात्तदुणोत्करकथनादेव तेन श्रेणिकभूपालेन पूर्वोपाजित सकलाहः तदैव नाशयित्वा भाविकांले महापद्माभिधतीर्थकारस्य गोत्र ववधे । ह्येतत् आरमफल पश्यथ । पुनरपि ह्यनेकवार बह्वारंभेण सह श्रेणिको भूपालो महावीरप्रभो दर्शनार्थं पूजनार्थं गत ॥

के दोपसे पूजाका निषेध करना केवल कपोलकल्पित बात है । शास्त्रपद्धतिसे निषेध नहीं हुआ । सो यह केवल अज्ञानसे कदाग्रह ही है ॥

अर्थः— भगवानकी पूजामें आरमका दोप नहीं होता है—फिर भी ऐसा बतलाते हैं—देखो श्रेणिक महाराजने सैन्य-सपरिवार महान आरम और पूर्ण वैभवेके साथ भगवानकी पूजा की और उससे समस्त पापकर्मोंका नाश कर तीर्थकर गोत्रका बंध किया ।

अर्थात्—महापद्म नामके भविष्य तीर्थकरका गोत्रबंध किया । यह सप्त आरंभसहित पूजा करनेका ही महान फल है । फिर भी श्रेणिक महाराजने राजगृहीसे सैन्य विपुलाचल पर्वतपर नीर ग्रथुके दर्शन वार वार किये । सो यह लिरना सत्य है कि मिथ्या ? महाराज श्रेणिकने महान आरंभसे भगवानकी पूजा की और तीर्थकर गोत्र बाधा तो अन्य मनुष्य भावभक्ति से महान उत्सवके साथ पूजा करें तो क्यों नहीं अनन्त पुण्यको संपादन करेंगे अवश्य ही करेंगे । इसलिए हे दुंडिया हो भगवानकी पूजा करनेमें आरमका दोप प्राप्त होता है ऐसा कहना व्यर्थ और स्वकपोल कल्पित है ।

भो लुंकाः प्रभो- पूजने सिद्धक्षेत्रत्राकरणे जिनमदिरनिर्माणे जैनमंदिरस्य नीर्णोद्धारणे जिनस्य स्वप्ने इत्याद्यन्य-
शुभे कार्ये हि महदारंभस्योत्पत्ति स्यात् तथापि तदारभ कृतोपि संख्यातगुणपुण्योत्पत्तिरुद्भवति । गृहस्थानां पुण्यारंभे महत्पुण्योत्पत्ति
कथिता जिनागमे जिनेश्वरैः सर्वत्रैव युष्माक ग्रन्थेषु यूय वश्यथ । गृहमेधिना पुण्यारंभे यमोत्पत्ति मुनीश्वराणा निरारंभेण यमोत्पत्ति ।
नात्र संवेह । किंच श्रूयताम् ॥

पूजाकार्ये बहो मूढा जिनखाने जिनगृहे । निर्माणे महत्पुण्यं कीर्तितं च जिनेश्वरैः ॥
किंच श्रूयताम्—

सन्निभे भवता सर्वे लोकाश्च या स्त्रियोऽपि च । आयात्येव प्रतिघ्न पदत्राणेन सयुता ॥ २ ॥
यस्मान्मार्गो मृतानंता जीवा भो मृढमानसा । तस्थाप भवता एन किं न वदथ मेत्विच (१) ॥ ३ ॥

अर्थ—हे दृढिया हो, श्रीजिनेन्द्र भगवानकी पूजा सिद्धक्षेत्रकी यात्रा—जिनमंदिरका जीर्णोद्धार करना
जिनरक्षण करना आदि कार्यमें महान पुण्यकी उत्पत्ति होती है । यद्यपि इन कार्यमें महान् आरंभ है तो आरंभ की
अपेक्षा महान पुण्य असंख्यात गुण उत्पन्न होता है । गृहस्थोको पुण्यकी उत्पत्ति आरंभ के बिना नहीं होती है इसीलिये
गृहस्थोका धर्म आरंभ सहित ही होता है । और मुनीश्वरोका धर्म निरारंभ है । ऐसा जिनागममें जिनदेवने वतलाया है ।
अर्थः—हे दृढिया हो तुमारे (साधुलोगोंके) दर्शन और पूजन करनेके लिये बहुतसे मनुष्य और स्त्रियां
नित्य जूता पहन कर आती है सो उनके मार्गमें जूताके आरंभ से अनंत जीम मर जाते है उसका पाप भी तुमको
लगेगा । और दर्शनार्थ आये हुए पुरुष स्त्रियोको आरंभ जनित दोष लगेगा । सो तुम ऐसा आरंभ क्यों करते
हो । और लोगोको बयो उपदेश देते हो^२ क्या तुमको पापका कुछ भी भय नहीं है ? या आरंभ करनेमें पाप नहीं है ।

प्रातः मध्याह्नकालेवा चातुर्मासि दिवात्यये । मदां आश्रात्यहो लोकाः तस्याप भवतां भवेत् ॥ ४ ॥
 बहो मूर्खाश्च प्राप्तिः स्यात् भवता दर्शने खलु । पुण्यस्य जिनविभवस्य तत्रास्त्येव विजातिनां ॥ ५ ॥
 त्रयीध्वं पूजनासे पुण्य किं पापसम्भव । पुण्यं स्याद्यदि कुर्याद्वि कुर्वीध्वं जिनपूजनम् ॥ ६ ॥
 पापं स्याद्यदि युष्माकं ग्रथाना मो महोद्धताः । कुरुध्व लेपनं यूयं कथयिष्याम किं पुनः ॥ ७ ॥
 पुनर्वचिम् शृणुध्वं मो युष्माकच मते खलु । आरंभाज्जायते पाप एतस्य कथनं ननु ॥ ८ ॥
 भवद्भिश्च गृहस्थाना पूजाया श्रीजिनस्यैव । त्यागं च कारिता किंवा अन्यांरंमपि खलाः ॥ ९ ॥

अर्थः—प्रातःकाल-मध्याह्नकाल-चातुर्मासि-रात्रि-और अंधेरेमें बहुतसे मनुष्य तुमारे (साधुलोगिके) दर्शनको जूता पहनकर आते हैं और उनको पूण्यकी उत्पत्ति होती है ऐसा तुम लोग नतलाते हो तो जिनपूजनके पवित्र आरंभसे पुण्यकी उत्पत्ति क्यों नही होगी ? तुमारे दर्शनमें पापारंभ करनेपर भी पुण्यलाभ और भगवानकी पूजन में पवित्र आरंभ से पुण्य लाभ न हो यह कैसी बात ? अपने मतलबके लिये तो पापारंभमें पुण्य लाभ ब्रतादिया ! ।

अर्थः—हे दृढिया हो भगवानकी पूजा करनेसे पुण्य होता है या पाप ? जो पुण्य उत्पन्न होता है तो तुम भी पूजन करना स्वीकार करो । यदि भगवानकी पूजा करनेमें पाप होता है तो तुमारे ग्रंथोंमें पूजन करनेकी आज्ञा लिखी है वह मिथ्या ठहरेगी । जिससे तुमारे ग्रंथ ही झूठे हैं ऐसा मानना पडेगा ।

अर्थ—हे दृढिया हो ! तुमारे मतसे गृहस्थोको आरंभ करने में पाप लगता है ऐसा मानते हो और इसी लिये (आरंभ के भयसे) भगवानकी पूजा करनेका निषेध करते हो तो वह बतलाओ कि आरंभके पाप के भयसे भगवानकी पूजाका आरंभ का त्याग करना चाहिये या गृहस्थोकी अनेक पाप प्रवृत्तिके द्वारा होनेवाला अशुभ आरंभ उसका भी त्याग करना चाहिये ? फिर भी तुमारे मतके प्रतिपालक गृहस्थ प्रतिदिवस कामसेवन करते हैं । वरके महान

गृहस्था प्रतिषेद्धि कामसेवा गृहोद्भव । कुर्बन्नेवापर कार्यं धान्यस्य विक्रय तथा ॥ १० ॥
वैवाह प्रतिभर्षे वा एनेककण्टक्रियाप । अगालितजन्त्रे स्नान्य वसाणा घोवन सदा ॥ ११ ॥

भो मुर्वा मर्वकार्येषु आरभो जायते ललु । भनता सेवकानाच तदारभस्य किं कृतम् ॥ १२ ॥
कारयन्व च तत्तयाप भो दृष्ट्वा तूर्णमेवहि । वय न जानयिष्याम निरारभा इमे तदा ॥ १३ ॥

यद्यारभस्य त्याग म्यात त्यज व मर्वमेवहि । आरभ सर्वकार्येषु कयविक्रयकेषुच ॥ १४ ॥ -
कार्य करते है । धान्य सरीदते और बेचते है, निवाह करते है, अनेक कण्ट क्रिया और मलिनाचार का आरभ करते है । विना छाने (अगालित) पानीमें अपने कण्डे धोते है । अपना मकान बनवाते है । और तुमारे (साधु-

लोगोंके रहनेकेलिये) रहनेके पोसारा उपाय (धर्मशाला या मन्दिर) बनवाते है । आदि अनेक प्रकार का महान आरभ करते है । हे दृष्टिया हो गृहस्थोंको प्रत्येक कार्यमें आरभ तो होगा ही । विना आरभके गृहस्थ अपना जीवन एक क्षण मात्र भी स्थिर नहीं रखसके तो तुमारे मेयकोंको उपर्युक्त पापजन्य क्रियाओंके महान आरभ का पाप लगना है या नहीं । जो पाप लगता है तो सबसे प्रथम अपने सेयकोंसे गृहस्थसवधी आरभ का त्याग करना चाहिये । जो तुम गृहस्थोंके समस्त प्रकार का आरभ का त्याग करा सको तो अवश्य ही यह माना जासक्ता है कि आरभसे पाप होता है । परतु वह आरभ तो गृहस्थो से छुड़ाया जा नहीं सक्ता । और न गृहस्थ अपने गृहस्थसवधी आरभको त्यागहो कर सक्ता है । तो फिर भगवानकी पूजामें होनेवाला स्वल्पारंभ जो महान पुण्य का प्रदान करनेवाला है उसका त्याग करना या आरभभयसे भगवानकी पूजा का निवेध करना कितने अन्याय और पक्षपातकी अज्ञान भरी हुई बात है ? जो आरंभ ही छोडना है तो सर्व प्रकार का आरभ छोड देना चाहिये-यह नहीं कि गृहस्थ अपने गृहसंवंधी समस्त प्रकार का पापारंभ तो करें और पुण्योत्पादक भगवानकी पूजा का आरभ का परित्याग करें ।

पूजने जिनविषय दशने मन्दिरम्यवै । करणे च गृहस्थाना महत्पुण्यफल भवेत् ॥ १५ ॥
 सिद्धक्षेत्रस्य यात्राया जिनविषयस्य पूजने । जिनमन्दिरसत्कार्ये प्रतिष्ठाया च ये बुधाः ॥ १६ ॥
 पापारसस्य उत्सर्गि दुग्धे तेऽधमा मता । तदघाते निकोत्पेपु यास्यति नात्र संशय ॥ १७ ॥
 ते दृष्ट्वा पुन इत्याहु त्रयो दोषा बुभोक्षणा । जिनविषे षतो नैव म्यादस्माकं रुचि खलु ॥ १८ ॥
 आधामचेतसव च द्वितीयव च कृत्रिमम् । तृतीयमेकन्द्रियव एभिर्दोषैश्च वर्जिता ॥ १९ ॥
 श्रोमज्जिनेन्द्रविबेदि भो लुक्कमतधारका । अचेतनत्वाभिध नोपे भवद्भि गदितं खलु ॥ २० ॥
 तदोपस्य निराकरण ग्रंथमोघेन मो बला । कगेम्यहं समापेन युयु शृणुथ निश्चयात् ॥ २१ ॥

अर्थ—हे दृढिया हो ! जिनेन्द्र भगवानकी पूजन करनेमें—जिनमन्दिर चनवानेमें गृहस्थोको महान पुण्य लाभ होता है । इसी प्रकार सिद्धक्षेत्रकी यात्रा करनेमें जिनेन्द्र भगवानकी प्रतिष्ठा करनेमें, रथोत्सव निकलवानेमें महान पुण्य है । जो उस पुण्यकर्ममें पापका आरम बतलाते हैं वे नीच है । वे अवश्य ही निगोद आदि दुर्गतिमें जायगे इसमें सदेह नहीं है ।

अर्थ—यह सुनकर दूढियोने कहा कि भगवानकी पूजन करनेमें हमे तीन दोष मालूम देते है । इसलिये हम निषेध करते है । प्रथम तो प्रतिमा अचेतन है । दूसरे जिन प्रतिमा कृत्रिम है । तीसरे जिन प्रतिमा एकेन्द्रिय है । चम उन तीन दोषो के कारण ही निषेध है ।

अर्थ—हे दृढिया हो तुमने भगवानकी पूजा करनेमें जो अचेतनत्व नामका दूषण बतलाया श्रीजिनेन्द्र भगवानकी प्रतिमा अचेतन है अचेतनकी पूजा क्यों करना उससे क्या लाभ होता है ?

कृत्रिमस्य निराकरण भो लुंका शृणुथ खलु । करोमि शास्त्रबोधेन ब्रह्मकारवशात्त च ॥ ३८ ॥
 जिनेन्द्रपतिमायाश्च भवद्द्र मूढमानसै । दत्तो हि कृत्रिमो दोष सर्वपापस्य कारक ॥ ३९ ॥
 स्तवम वर्दन गानविद्या सामायिक तथा । पठथ भो किमर्थं च पूकाररवत सदा ॥ ४० ॥
 यथा तेषा हि पठनात् उत्पत्ति जायते सदा । शुद्धभावस्य भो लुंका तथा हि तस्य दर्शनात् ॥ ४१ ॥
 कृत्रिमा स्तवनाद्याश्च प्रत्यक्षं नैव सशय । इमे यथा हि मान्या स्यु तथा तेषि बुधैर्मता ॥ ४२ ॥
 कृत्रिमस्य ब्रह्मो मूर्खा जिनविवेकस्य स्वनात् जीवोयं लभते सौख्य शिवपुरमकृत्रिमम् ॥ ४३ ॥
 इत्थ ज्ञाना बुग ये हि जिनविवेकस्य दर्शनम् । कुर्वन्ति तेहि तत्तुल्य लभते शाश्वत पदम् ॥ ४४ ॥

मूर्तिकी निंदा करते हैं वे निगोद आदि दुर्गतिके पात्र हैं ।
 अर्थ:— हे दृढिया हो भगवानकी प्रतिमा कृत्रिम है इसलिये नही पूजना चाहिये । ऐसा कृत्रिमपनेका

दोष देते हो तो यह दोष देना ठीक नहीं है । क्योंकि जिस प्रकार स्तवन वदन पाठ सामायिक-गानविद्या और
 शास्त्र पाठ आदि जितने कार्य हैं वे भी सग किसी न किसी मनुष्यके बनाये हुए होनेसे कृत्रिम ही है । फिर कृत्रिम
 स्तोत्रादि पाठोंको पढ़ते ही उमसे तुमको लाभ होता है या नहीं ? कृत्रिम पाठादिकोके पढ़नेसे लाभ मानकर भी
 कृत्रिम जिन प्रतिमासे लाभ नहीं मानना कदाग्रह है । स्तोत्रादिक प्रत्यक्ष ही कृत्रिम है । साधारण मनुष्य गीत भजन
 पढ उनाते हुए देखे जाते हैं । जब कृत्रिम स्तोत्रोंके पढ़नेमें लाभ है तो कृत्रिम जिन प्रतिमा भी भव्य जीवोंको
 नकृत्रिम मोक्षसुख प्रदान करे तो क्या आश्चर्य ? इसलिये जो भव्य जिन प्रतिमाके दर्शन करते हैं वे अवश्य ही शाश्वत
 सुख प्राप्त करते हैं ।

हे दृढिया हो जो तुम कृत्रिम पाठोंका पढ़नेका त्याग करो तो जिनविवेकके दर्शन पूजन और उपासनाका

भो लुका कृत्रिम पाठ किमर्थे पठय खलु । त्यजन्व तदपि मूर्खाः दोषस्तैव स्याच्च किम् ॥ ४५ ॥
गच्छन्व दुर्गतिं या च जिनत्रिसस्य निदनात् । अस्माकं मानयध्वं च वास्य यूयं हितार्थदम् ॥ ४६ ॥

इति कृत्रिम दोष निराकरण ।

एकेंद्रियाभिधो दोषो भवद्भिः स्थापितः प्रभो । त्रिवे तस्य निराकरणं शृणुन्व भो यरोम्बह ॥ ४७ ॥
भो दृढ्याः काण्डेलेख्या वनस्पतिसमुद्भवे । पत्रे च मसिनाऽशुद्धे रदितान् वैवभो खला ॥ ४८ ॥
जिनाज्ञा विमुक्ताऽशुद्धा सुगोषलववर्जिता । नमथ तान् कथं शथान् खलु एत्रेन्द्रियोपमान् ॥ ४९ ॥
बदथ सकलाश्रमे शया एकेंद्रिया स्फुटं । किं स्यु पचेन्द्रिया मूढा यूयं मे तूर्णतो ननु ॥ ५० ॥

त्याग करो । अन्यथा मिथ्या द्रूपण लगाकर अज्ञानी क्यों बनते हो और दुर्गतिके पात्र बनते हो । इसलिए कदाग्रह का परित्याग करो और सद्बुद्धि धारण कर जिनपूजन करो जिससे लाभ हो ।

अर्थ—हे दृढिया हो जिनेंद्र भगवानकी प्रतिमा एकेंद्रिय है क्योंकि पत्थर एकेंद्रिय होता है और उस पत्थरकी प्रतिमा बनाई जाती है सो प्रतिमा भी एकेंद्रिय कहलाई । एकेंद्रियकी पूजा करना अयोग्य है । इस प्रकार जो एकेंद्रियद्रूपण जिनप्रतिमा पूजन करनेमें दिया जाता है वह मिथ्या है । ठीक नहीं है । क्योंकि जिस प्रकार जिन प्रतिमा पत्थर आदिकी होनेसे एकेंद्रिय है उसी प्रकार शास्र भी एकेंद्रिय है । शास्रके लिखनेकी कलम वनस्पति में बनती है इसलिये एकेंद्रिय है । कागज या ताडपत्र भी एकेंद्रिय है । वनस्पतिकों दूधर कागज वनाये जाते हैं हे इसलिये एकेंद्रिय है । और ताडपत्र तो प्रत्यक्ष ही एकेंद्रिय है । उसपर मर्ब लेस अशुद्ध स्याही से लिखे हुए है । फिर उन ग्रथोंको क्यों माना जाता है—पूजा की जाती है—नमस्कार किया जाता है । हे दृढिया हो ! तुम तो पचेन्द्रिय हो और एकेंद्रिय शास्रको क्यों पूजते हो । शास्रसे तो तुमारे में इन्द्रिया अधिक है ।

निश्चयाद्यदि युष्माकं नास्त्येव भो कुमार्गगा । एकैन्द्रियाणा मान्यत्वं पत्रे च रदितान् खलु ॥ ५१ ॥
 सर्वानपि त्यजध्वं च ग्रंथान् यूय सनातनान् । वय हि जानयिष्याम इमे सत्या न संशय ॥ ५२ ॥
 एकैन्द्रिय च प्रत्यक्ष शास्त्र भो मुढमानसा । यूय नमथ भावेन जिनात्रिव कथ नहि ॥ ५३ ॥
 त्रवीध्व भवता ग्रथे जिनविनिषेधनम् ॥ कस्मिन् कृतं खलो मूर्खा तच्च भा भो खला स्फुट ॥ ५४ ॥
 ग्रथेषु वाहि सर्वेषु जिनविब्रस्य पूजनान् । सप्राप्ता बहवो मृता शर्भसततिमजसा ॥ ५५ ॥
 पश्यथ नात्र संदेहो भो लुकमतधारका । स्याद्यदि कथन यत्र कुर्वीध्वं जिनपूजनम् ॥ ५६ ॥
 युष्माकं सर्वग्रथाना भवन्ति खलु लोपनम् । कुरुध्व यद्यसत्या स्यु कुरुध्वं न विलंबनम् ॥ ५७ ॥

यदि तुम शास्त्रोको एकैन्द्रिय नहीं मानते हो तो श्रीजिनप्रतिमाको एकैन्द्रिय किस प्रकार मानते हो । क्योंकि शास्त्रोमें एकैन्द्रियपना ताडपत्र पर कलमसे लिखे होनेसे प्रत्यक्ष दीस रहा है । जो एकैन्द्रिय दोपसे समस्त शास्त्रोकी मान्यता को छोड देते हो तो हम समझेंगे कि आप बराबर एकैन्द्रिय को जानते हो और आपका कहना सत्य है । जो एकैन्द्रिय शास्त्रोको छोड नहीं सक्ते तो समझना चाहिये कि तुम एकैन्द्रियकी पूजा करते हो ।

अर्थ—शास्त्र एकैन्द्रिय प्रत्यक्ष है । जो तुम एकैन्द्रिय शास्त्र को पूजते हो तो जिनप्रतिमाकी क्या नहीं पूजा करते ? तुमारे कौन कौन से शास्त्रों प्रतिमाकी पूजा का निषेध किया है । तुमारे बहुत से ग्रथोंमें जिन प्रतिमा पूजना लिखा है । जिनपूजन करनेसे बहुतसे लोगोंने अपना आत्मकल्याण किया है । फिर भी तुम निषेध करते हो । यह क्यों ? यदि ग्रथोंमें जिन पूजन करना लिखा हो और तुम उस को मान्य करते हो तो फिर जिनपूजन भी मान्य करो अन्यथा ग्रंथका लोप करो ।

इति श्रुत्वाहु ते लुंका अथेच लिखित ननु । अतोऽस्माक च मान्यत्व यथाना नात्र संशय ॥ ५८ ॥

जिनबिम्बमपि मूर्त्वा नहि घटति सुदरं । यद्दर्शनात् क्षय याति पापमृदा, कुटु खदा ॥ ५९ ॥

इत्याहु. पुन अर्थेच पठति बोधधारक । जायते पठनात्तच्च सुबोधश्च तत शिव. ॥ ६० ॥

जिनबिम्बस्य भो लुंका यो त्रती शुद्धधीर्वशी । करोत्येव प्रपूजा स लभते परमं पदम् ॥ ६१ ॥

भो लुंका जिनबिम्बस्य पूजनात् वंदनात् खलु । आतौरौद्रकृद्धानस्य नाशो यात्येव तस्यैव ॥ ६२ ॥

रक्ताक्षा क्रोधपूर्णाया यथा काकोदरोत्करा । चातितददूरं याति वैनतेयस्य दर्शनात् ॥ ६३ ॥

तद्वदेव जिनेन्द्रस्य दर्शनात्पापपञ्जा । नराणाच प्रयात्येव ह्यनुकमाद्भवेत् शिव ॥ ६४ ॥

अर्थः—यह सुनकर लुका (दूढिया) ने कहा कि हमें ग्रथ मान्य है जो ग्रथोंमें लिखा है सो भी मान्य है ।
हे दूढिया जिन प्रतिमा यद्यपि सुदरता नहीं देती है तो भी जिनेन्द्र भगवानकी मूर्त्तिमें वह अर्चित्य शक्ति है कि जिससे भव्योंके भयकर पाप दर्शनमात्रसे तत्काल ही पलायमान हो जाते हैं ।

अर्थः—दूढियाने यह सुनकर कहा कि देखो ग्रथोंके पढ़नेसे तत्काल ही बोध होता है और उससे मोक्ष होती है तो उसी प्रकार हे दूढिया हो जिनेन्द्र भगवानकी पूजासे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति और ज्ञानकी विशुद्धि होती है । जिससे मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

अर्थः—हे दूढिया जिनेन्द्र भगवानकी परमशांत दिव्य मूर्त्तिको देखने से अति रौद्र ध्यान नष्ट होजाते हैं । और परम शांतता प्राप्त होती है । जिनके नेत्र लाल हैं क्रोधसे शरीर कंपित हो रहा है ऐसी अवस्था शीघ्रही नष्ट हो जाती है । जैसे गरुडको देखकर सर्प भाग जाते हैं । इसी प्रकार पाप भी तत्काल विलीन हो जाते हैं । और क्रमसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

भवद्भिः जितविषय कृताच यदि भो खल । निंदा किमर्थं त चैव मानय जिनेश्वरम् ॥ ६५ ॥
 जपथ तं हि भो तुका प्रतिषन् जगत्पत्तिम् । तमेव निदयथोच्चैः अस्योत्तर वदथ मे ॥ ६६ ॥
 एव वदथ मा मूढा मॅडना वंध्यापि स्यात् खलु । गदोन्मत्ता दुर्बल्येव सुदियो नो क्रचिदपि ॥ ६७ ॥
 अधोलोकच सर्वेन कृत्रिमाकृत्रिमा अपि । जितविंवा सुरैः पूज्या सति वै शिप्रदायका ॥ ६८ ॥
 ऊर्ध्वलोकै च सर्वेव विमानेषु पृथक् पृथक् । जितविंवा विभातिम् निर्लिंयापि वंदिता ॥ ६९ ॥
 पृच्छामि भवता ऋस्य ग्रयानुसारत कृता । उरथापना हि विषय यूयं वदथ तच्च मे ॥ ७० ॥
 कुपक्ष च त्यजध्व भो मे वाच शिवकारण । कुर्वीध्व शिववाद्या चेत् मा स्युथ जैनघातका ॥ ७१ ॥

अर्थ-हे दृढियाहो आप जिनेश्वर देवकी यति की तो निंदा करते हो फिर भी जिनेश्वर देवको ही पूजते हो
 मान्य करते हो स्तवन पढ़ते हो ! यह आश्चर्य । यह बात तो अपनी माताको याज नतलानके समान है । इम प्रकार
 की क्रियाएँ मूर्ख तथा उन्मत्त पुरुष ही करते हैं ।

अर्थ-अधोलोक में कृत्रिम और अकृत्रिम जिन प्रतिमा देवोसे पूजित मोक्षको प्रदान करने वाली साध्वती
 विराजमान है । इसी प्रकार ऊर्ध्व लोकमें भी अकृत्रिम जिन प्रतिमायें मदा विराजमान हैं । और उनको विमानवासी देवगण
 पूजते हैं । फिर आपने जिनप्रतिमाको पूजन नहीं करना ऐसा कौनसे ग्रथसे निषेध किया है । जब कोई भी ग्रथ जिन
 प्रतिमाकी पूजन करनेके निषेधका नहीं मिलता है तब फिर पक्षपात क्यों करना चाहिये । यदि मोक्षकी इच्छा है तो
 कुपक्ष छोड़कर भगवानकी पूजन करो । जिनन्द्र देवके घातक मत बनो ।

भो हृद्व्या पुन एव च वय हि साधवो भुवि । त्र्यु वै मुढलोकानामग्रे यूय खला स्फुट ॥ ७२ ॥
 साधूनामेकलक्ष्मार्प भवता नैव दृश्यते । साधुजनस्य चिन्ह वै शृणुध्व कथयाम्यह ॥ ७३ ॥
 व ह्याभ्यतरद्वेदेन वर्जित शीलभृषित । सकलश्रुतवेत्ता च जिनमार्गप्रकाशक ॥ ७४ ॥
 परनिद्रातिगो वीरो देहे निर्ममता वशी । ऋतुनिकायजीवाना रक्षको मन्धुवर्जित ॥ ७५ ॥
 शुद्धाचारत सद्दी मायामानविखडक । मुनिश्रावकधर्मस्य देशक सयमी दमी ॥ ७६ ॥
 आत्मजो, लोभनिर्मुक्त सर्वजनप्रिय शुचि । सस्कृतमाकृतवेत्ता मनोक्तियथवर्जितः ॥ ७७ ॥
 शुद्धदृष्टज्ञानव्रतस्य धारको निर्मदो गूणी । कृती पूज्यो बुधैर्विध्व मित्यात्वपथमजक ॥ ७८ ॥
 अनेकातनैर्युक्त ध्यानी मौनी सुवीर्यवान् । पचाक्षवारमातगनाशने हरिसदृश ॥ ७९ ॥

इस प्रकार सर्व दोष निराकरण किया । अत्र दृढकोके दोषः—

अर्थ—हे दृढिया हो एक चात तुमसे पूछते है । वह यह कि तुम अपनको मूढ लोगोंमें साधुके नामसे प्रसिद्ध करते हो । तुमारा ऐसा करना ठीक नहीं है । क्योंकि—

अर्थ—हे इन्द्रिया हो तुममें साधुपनेका एक भी लक्षण नहीं है । न कोई ऐसा चिन्ह तुम्हारेमें दीसता है कि जिससे यह माना जाय कि तुम साधु हो । माधुका लक्षण—जिसके वाद्य और आभ्यतर परिग्रहका परित्याग हो । शीलसंपन्न सकल ज्ञानोके पारगत जिनमार्गके प्रकाशक, परनिद्रासे रहित, धीर, वीर, देहभोग और शरीरसे निर्ममत्व, मन और इन्द्रियोंके विजय करनेवाले, शात, पद कायके जीवोकी दया पालनेवाले, क्रोधरहित, शुद्ध आचरणको पालनेवाले, मान माया लोभ और कामादि विकार रहित, धर्मके उपदेशक, परम संयमी, आत्माको जाननेवाले, परम पवित्र,

जिनाज्ञापालक सौम्यो भयमप्रविवर्जित । अष्टाविंशतिमूलादिगुणाना पालने क्षम ॥ ८० ॥
 इत्याद्यन्यमनोज्ञैश्च गुणैर्युक्तो भवेत्सखलु । य कश्चिदकथ्यते सहि साधु साधुजनैश्च भो ॥ ८१ ॥
 गुणाना चैव पनेपा मध्ये खेकोपि नास्ति वै । भवता मूढचित्ताना यूय पश्यथ निश्चयात् ॥ ८२ ॥
 हंसा हंसा हि भो मूर्खा वक्रा वक्राश्च सुदरा । यूयं च वक्रतुल्यापि नो सति ध्यानभावसा ॥ ८३ ॥
 क्रियालेशोऽपि नारयेव भवता च खलत्सनाम् । यत्र नास्ति क्रियाशुद्धिर्धर्मोऽपि तत्र नास्ति वै ॥ ८४ ॥

समस्त तत्त्वके वेत्ता, शुद्ध ज्ञानदर्शन और चारित्रिकी धारण करनेवाले, निर्मद, गुणी, फगम ध्यानी, तपस्वी, समस्त प्रकारके मयोंमें रहित, फगम मौन्य, जिनाज्ञा प्रतिपालक और अष्टावीस मूल गुणके धारक, गुणी पुरुषको माधु कहते हैं ।

ह दूढियाहो तुममें उपयुक्त गुणोंसे एक भी गुण नहीं है । अतएव तुम किसी प्रकार भी साधू कहलाने योग्य नहीं हो । जा गुण मन्डित होता है वही माधू ह । जिसमें गुण नहीं है वह साधू भी नहीं है ।

हे दूढियाहो हम हम ही होते हैं । वगुला वगुला ही है । यद्यपि वगुला भी देखनेमें सुदर है तथापि वगुला हस नहीं हो सके । और तुममें तो वगुलाके समान भी ध्यान नहीं है ।

अथ:-- हे दूढियाहो तुममें चारित्रिका लवलेश मात्र भी पालन नहीं है न तुममें पवित्र क्रियायें हैं । जहापर क्रियाशुद्धि नहीं है जहापर धर्म कर्म रह सक्ता है ?

भावार्थ— क्रियाकी शुद्धि पालन करनेपर ही धर्मका पालन करना समझा जाता है । जो क्रियाओका पालन नहीं करता है वह धर्मकर्म विहीन है ।

प्रत्यक्ष भवता मुढा म्लेच्छाचारो हि दृश्यते । अतः स्युः तसमा यूय अष्टाचारस्य पालनात् ॥ ८५ ॥

जिन्दास्वादेन युष्माभिर् मर्वाचार सुशोभन । त्यम्नवात सर्वधर्मोपि मुनिगृहस्थगोचर ॥ ८६ ॥

प्रासुक प्रासुकं कुरुना सर्ववस्तुकद्वयक । भवद्विश्च क्रियाहीनैः सर्वे द्यगीकृत ननु ॥ ८७ ॥

भदयाभक्षयविवेकोपि युष्माक नास्ति किञ्चन । दृश्यते श्वाचो यद्भ्रू तद्भ्रू यूयं न सशय ॥ ८८ ॥

जातिहीना क्रियाहीना जितविविधस्य निन्दकाः । यूयं च सर्वहीना म्युर्यथा म्लेच्छा तथा खलु ॥ ८९ ॥

लावाखाद्यस्य भेदो न म्लेच्छानां च खलात्मना । यथा न्याहिकवचनो लुका युष्माकनमि सो नहि ॥ ९० ॥

स्नस्वधर्म रता सर्वे स्वस्वदेयस्य पूजका । यूय हि जितधर्मस्य नागका स्यु न सशय ॥ ९१ ॥

अर्थः— इ दूढियाहो तुम लोग प्रत्यक्षमें ही गन्दे हो म्लेक्षाचार सपन्न हो । तुमारे आचरण एकदम गंदे और मलीन है इमलिये म्लेक्षोंके समान ही अष्टाचारी हो ।

अर्थः—हे दूढिया हो तुमने जिन्दाके स्वादमें सपस्त उत्तम आचरणको छोड दिया । और जो शुद्धाशुद्ध मिला सबको प्राशुरुक है प्राशुरुक है ऐसा कह कर सेप्त किया । क्रियाहीन होने के कारण तुम लोगों ने मलिन मनुके मेमन करने में भी विचार नहीं किया इम लिये तुम प्रत्यक्ष ही म्लेक्षके समान हो ।

अर्थः—हे दूढिया हा ! तुमारे में भक्षामश्रु सामेका जरा भी विवेक नहीं है । जैसे चाडाल के आचरण जैसे ही तुमारे है । तुमारी न जाति है न क्रिया है । जितप्रतिमाकी निंदा करनेसे तुम और भी पापी हो रहे हो । मच पूछो तो तुम सामाखाद्यका विचार नहीं रहनेसे तुमको क्या कहें सो समझमें नहीं आता है ।

अर्थः—हे दूढिया हो जो जो मनुष्य जित धर्मका पालन करता है वह अपने देवकी पूजन अवश्य करता है । परतु तुम तो अपने आप ही अपने ही धर्मका नाश करते हो ।

पुन पृच्छामि युष्माक किमर्थं मुखमथन । अङ्कुरतेति सश्रुत्वा आहुश्च सावरीयुता ॥ ९२ ॥
 सज्जना जीवरक्षार्थं वामसा वक्रंमथन । कृतं च सर्वजीवस्य पालकाश्च वयं खलु ॥ ९५ ॥
 तनो हि नवद्वाग स्यु भो लुका तान् कथं खला । वयथ मुचेलेन जीवाना रक्षणाग नो ॥ ९४ ॥
 वयथ नवद्वागान् लुका स्वजय भो गला । वक्रम्य वंघन नृनं ग्र्यं मत्या यदि खलु ॥ ९५ ॥
 वासोयोगात्ममीरस्य कीलरस्य च निश्चयात् । जीवोक्ताश्च आस्य वै उत्पद्येनं सलाशया ॥ ९६ ॥
 तत्रैव तेव प्रिभते मदा कालेन सगाय । नो यूय पश्यथ लुका ग्रथेषु सकलेषु च ॥ ९७ ॥
 अतो यूय च प्रत्यक्ष निशाचरसमा खला । जीवाना भक्षणान् स्यु हि ते हि जीवस्य भक्षका ॥ ९८ ॥

अर्थ—हे इडिया हो तुम मुखपर पाटी क्यों चावते हो । उत्तर—जीवोकी रक्षाके लिए मुखपर पाटी बांधी जाती है । हम लोग ममत्त प्रकारके जीवोकी रथाके करनेवाले हैं । मुखसे जीव नहीं मरे इसलिये मुखपर पाटी बांधते हैं । हे इडिया नो तुम्हारे शरीरमें नव द्वारोके द्वारा निरतर जीव हिंसा होती है तो तुम अपने नव द्वारोको बधो नही बांधत हो । मञ्चे जीमशरू तन ही तो हो सके हो जब कि तुम अपने शरीरके नव द्वारोको बांधकर सम प्रकारकी वायुशोका सरोध करो । अन्यथा एक मुखपर पाटी बाधकर विशेष म्लेक्षाचार क्यों फैलाते हो और जैनधर्मको वृणापूर्ण बनाकर निदाके पात्र होते हो ।

अर्थ—हे इडिया हो मुखपर पाटी बांधनेसे पाटीमें श्रूकके संयोगसे और वायुके वेगसे अगणित जीव निरतर मुखमें उत्पन्न होते हैं तथा पाटीमें उत्पन्न होते हैं । वे बहापर ही मरते हैं । यह बात प्रत्यक्ष दीखती है । मुखपर पाटी रात्रि दिनस निरतर बंधी रहनेसे रात्रिमें भी जीवभक्षणका पाप उत्पन्न होता है । दूसरे जीवोका भक्षण करनेसे तुमको निशाचर क्यों नही कहा जाय ?

रस्यथ नैव रात्रौ च प्राशुक चोदक खलु । यदि स्थान्मलमूत्रादेरुत्पत्ति मा खला स्फुट ॥ १९ ॥
 वदथ कुरुथ कि च तत्र तत्पशुद्वये तदा । कि न कुलथ भो लुका यदि श्यपचसोपमा ॥ १०० ॥
 कथ जपथ नोकारं सामाधिकं पठथ च । अशुद्धे सर्वं व्यर्थं स्यात् शुचि सर्वत्र समता । १०१ ॥
 ईदृश्य निवधकर्म च नो कुर्वति खला स्फुट । मातगापि क्रियाहीना व्रतकर्मविवर्जिता ॥ १०२ ॥
 जनगमोपमा यूय किं स्यु भो जिननिदका । नो सति तत्समाप्येव तद्वीनान्नात्र श्रथय ॥ १०३ ॥
 भो श्लेच्छा ईदृश किं स्यात् साधुजनस्य लक्षणम् । वय हि साधवो लोक इत्यमत्य वदथ मा ॥ १०४ ॥
 अतो भो कुक्रिया त्यक्त्वा क्रिया शुद्धा सुखास्पदा । पालयत प्रथलेन जितवक्रसमुद्भवाम् ॥ १०५ ॥

अर्थः— है दृढिया हो रात्रिमें जिस समय तुमको मल मूत्र होता है तब क्या करते हो ? क्योंकि तुम लोग रात्रिमें प्राशुक (गर्म) पानी भी अपने पास नहीं रखते हो । और बिना पानीके मलमूत्रकी शुद्धि किस प्रकार करते हो ?

रात्रिमें मलमूत्रकी शुद्धि करते हो या नहीं ? जो करते हो तो पानी बिना किससे ? (क्या मूत्रसे मलविष्टाकी शुद्धि करते हो ?) यदि मलमूत्रकी शुद्धि नहीं करते हो तो अशुद्ध मल मूत्र सहित शरीरसे सामाधिक किस प्रकार करते हो ? जय किस प्रकार करते हो ? अशुद्ध शरीरसे जय तप सामायिक आदि क्रियायें की जाय तो सब व्यर्थ है । अरे ! चाडाल भी तो अपने मूत्रसे अपनी शरीरकी शुद्धि (मल त्यागकी शुद्धि) नहीं करता है तो फिर तुम किस प्रकार करते हो ? यह तो प्रत्यक्षमें चांडालकर्मसे भी निवध कर्म है । ऐसे कर्मको करनेवालेको साधू किस प्रकार मानना ? भला यही साधुके लक्षण है ? सत्य सत्य कहना । इसलिये कुत्सित आचरणोको छोडकर सत्य और पवित्र आचरणोका पालन करना सीखो ।

यायाथ कुण्ठति मूढा यूयमाचारखनिनात् । मा भजयाद्विप्रेकं च
 जिनविभवं जिनागारं जिनमिद्वान्तपुस्तकम् । जिनवत्तस्य दयाभाव
 जिनगथा जिनोत्सवं ॥ १०६ ॥
 जिनधर्मं प्रभोर्वाच वमोडिसोममदृशम् । इत्याद्यात् येन लोकाश्च
 निदयत्येव त मना ॥ १०७ ॥
 म्लेच्छाश्च जिनधर्मस्य नाशकाश्च जनागमे । इति जनागं न
 कृतेष्वना निदा विम्य भो मला ॥ १०८ ॥
 इत्युपदेशस्माभिर्यद्वचो भवता मलु । अहंकारमदावेप
 तद्वि भद्रार्थमेव च ॥ १०९ ॥

निकोते यदि वाछांचेत् युष्माकं म्यात् मला स्फुट । तदा दुरुच
 विमस्य निदा धर्मस्य नाजिनो ॥ १११ ॥

अर्थः—हे दृढिया हो सायाचार कपायगे दुर्गतिके पान म्यां नन रहे हो ? विपेरुता परित्याग कर जन्सा-

न्धके समान धर्ममार्गका लोपकर अपने जीवनकां पतित क्यों मनाते हो ?

अर्थः—हे दृढिया हो जिनविप (जिनप्रतिमा) जिनसदिर-जिनवाणी-जिनधर्म-जिनगथा-जिनमहोत्सव-

जिनगथ महोत्सव-जिनप्रतिष्ठा इत्यादि श्री जिनधर्मके अग उपागोकी जो निदा करने हे वे नीच हे । जिनागममें मलाया हे कि जिनधर्मके नाशक म्लेच्छ होगे । परतु तुम लोग ता म्लेच्छजन्मा नहीं होकर भी म्लेच्छसं नीचे कार्य करते हो इसलिये जो तुमको अपनी भलाई करनेही इच्छा है तो निदा करना छोट देना चाहिये । और त्रिवेक पूर्वक धर्मा-चरणका पालन करना चाहिये । यह उपदेश आपके हितके लिये लिया है । अभिमान या किसी स्वार्थ से नहीं दिया है । यदि आपको निगोद पर्यायमें नहीं जाना है, तो जिनधर्मकी निदा करना छोड़कर भगवानकी पूजा करो ।

अर्थ—हे मव्यजीवो ! जो मनुष्य श्रीजिनदेवके दर्शन किया कर भोजन करते हे वे आगमानुसार मनुष्य हे । तथा जो बिना दर्शन भोजन करते हे वे पशुके समान हे ।

दर्शन जिनविषय समर्हस्यैव नाशदम् । दर्शनाज्जायते मोक्षो तद्वत्ते सर्वं नि फलम् ॥ ११३ ॥
 सर्वात्कविनाशो वै जायते जिनदर्शनात् । सर्वे शोका प्रयायेव नाशताच तदीक्षणात् ॥ ११४ ॥
 जिनक्षणासम धर्म लोके नास्येव चापर । अतः पूर्वं कुरुध्व वै जिनविनस्य दर्शनम् ॥ ११५ ॥
 लोकेऽस्मिन् जिनदर्शनोपफल नेमावर सञ्जना । जीवा ये तरिता तरंतिच तथा वाहि तरियति भो ॥
 ते सर्वे जिनदर्शनेन सुखदं सर्वात्सिंहागिणा । जालैत्यं मनुजोत्तमा प्रतिदिन त हि कुरुच मुदा ॥ ११६ ॥

अर्थ—श्रीजिनराजके पवित्र दर्शन करने से गमस्त पापोंका नाश होजाता है । और क्रमसे मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है । भगवानके दर्शनके बिना ममस्न व्रतपालन जप तप व्यर्थ है ।

अर्थ—श्रीजिनेन्द्र भगवानके दर्शन करने से मर्न प्रकारके रोग नष्ट होजाते हैं । समस्त प्रकारके शोक नष्ट होजाते हैं । मनु के दर्शन सित्राय अन्य कोई धर्म ही नहीं है । इसलिये नित्य प्रति भगवान का दर्शन कर अपने जन्म-को पवित्र और पुण्यरूप बनाओ ।

अर्थ—संसारमें श्रीजिनेन्द्र भगवानके पवित्र दर्शनके सित्राय अन्य कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं है, दुर्लभ नहीं है सुखद नहीं है, हितकर नहीं है । इसलिये जिनद्र भगवानके दर्शन में भव्य जीव ममार समुद्र में पार होते हैं, होगये हैं और होगे । भगवानके दर्शन सित्राय समाग में पार होनेका दृसग मार्ग ही नहीं है ।

समस्त प्रकार की पीडाका नाश करनेवाला यह प्रभुका दर्शन समस्त जीवों को सुखकारी है ऐसा जानकर हे भव्यजीवो ! नित्य प्रति भगवानका दर्शन-पूजन ध्यान और अभिषेकादि विधान करो ।

प्रमोक्षेव बुधोत्तमाः जिनपतेः सदर्शनात् मानवा । मोक्ष शर्मनिकेतन मुनिवैरेवैद्य सदास्थ वरम् ॥
 भय्योऽय शुभ-ध्यानधर्मनिरत पाण्डित्यज्ञानात् । कुर्वीन्व प्रतिवासरं सुखं तदर्शन भो मत ॥ ११७ ॥
 ये कुर्वन्त्यस्य सुगविगणैः पूज्यस्य विग्रह्य वै । याता याति निकोत्तिषु खलु मदा याम्यति भो सज्जना ॥
 निंदा तु सप्रदायिका मुनिवैरेहया न कुमानजैः । कुर्वी-वं च ह्यन मदा मुक्क्य भक्ति च महीक्षण ॥ ११८ ॥
 इत्य वै परपक्षस्य भय्या किञ्चित् प्रिया मया । निराकरण कृत चैव जिनागमानुमारतः ॥ ११९ ॥
 यत्प्रोक्ता वीरनाथेन श्रेणिकं प्रति भो बुधाः । भाविकालभवा वार्ता त्रैय कथथाशुभा ॥ १२० ॥
 ईदृशा घर्षमार्गस्य नाशकाश्च सलाशया । जानलेशोद्धिता क्रूरा भविष्यति न सशयः ॥ १२१ ॥
 भव्यभावयुता स्वल्पसंख्याद्या मण्येश्वर । वमलयाद्या नराः तस्मिन् भविष्यत्येव नेतव्यः ॥ १२२ ॥

अर्थ—जो भव्य जीव भगवानके दर्शन करते है उनको मोक्षके सुख शीघ्रही प्राप्त होते है । न ममन्
 पापसे मुक्त होकर मुनियोसे वंदनीय होता है । इसलिये भगवानका दर्शन नित्य प्रतिदिन करना चाहिये ।

अर्थ—देवोसे पूजित ऐसी जिनराजकी प्रतिमाकी निंदा करनेसे जीव निगोदमें जाते है, जायंगे और
 जा रहे है । इसलिये निंदाको छोडकर भगवान की भक्ति करो जिससे सर्व सुसकी प्राप्ति हो ।

अर्थ—इस प्रकार इडिया मतका निराकरण जिनागमके अनुसार किया ।

अर्थ—वीर भगवान्ने श्रेणिक महाराज से कहा है कि पंचम कालमें धर्मको नष्ट करनेवाले बहुतेसे मनुष्य
 उत्पन्न होंगे । परन्तु भव्य भावोको धारण करनेवाले कम होंगे । यह कालका माहात्म्य है ।

अथ व्रतप्रकरणम् ।

पुनराह ऽणु रूप तेषा भावियुखासये । दर्शयामि शुभं मार्गं शिवो यस्माद्विजायते ॥ १२३ ॥
 अष्टान्द्रिकाविधिं चैव सप्ततिं जितनामजाम् । शिवदा मेघमालारुया सद्गतं पल्यसज्ञकम् ॥ १२४ ॥
 आतद् पार्थनाशंक्रमादित्यारुयं च सद्गतम् । सर्वपापेभसिहाभं सर्वातकविनाशकम् ॥ १२५ ॥
 ज्येष्ठजिनरनामानं दशरक्षणसंज्ञकम् । षोडशकारुणास्यं च जिनोत्रोत्रप्रदायकम् ॥ १२६ ॥
 मेरुपक्तिं क्रियाव्रतं सर्वतोभद्रसंज्ञकम् । विमानपक्तिसन्नामं आतकुभं द्विकारुणीं ॥ १२७ ॥
 सिंहादिविक्रमं वृत्तं त्रयं समारनाशकम् । नक्षत्रमालावृत्तं च रत्नावलीं युशातदाम् ॥ १२८ ॥
 वृत्तं कनकावलीं चैव मोक्षपदम्यं दायकम् । उल्लीनोल्लीनसद्गतं जिनैकं प्रतिप्रोपम् ॥ १२९ ॥
 पंचकल्याणवृत्तं च कूर्मदावाधिनारिदं । शिवकुमारवृत्तं च पुण्याजलित्रतोत्तमम् ॥ १३० ॥
 रत्नत्रयाभिधं वृत्तं सर्वकर्मारिनाशकम् । यस्यैव पालनाद्राजा महिनाथोभवज्जिन ॥ १३१ ॥

अर्थः— हे राजेन्द्र भव्य जीवोके हितके लिये शुभ मार्गं बतलाते हैं । जिससे शिवमुपकी प्राप्ति हो । अब उन व्रतोंके कुछ नाम बतलाते हैं जिनके पालन करनेमें भव्य जीवोको स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

अष्टान्द्रिकव्रत १ जिनगुणसप्तत्रित्त २ मेघमालाव्रत ३ पल्यविधानव्रत ४ रविधाव्रत ५ ज्येष्ठजिनव्रत ६ दशलाक्षिणीव्रत ७ षोडशकारुणव्रत ८ मेघपक्ति ९ त्रिपचागत क्रियाव्रत १० सर्वतोभद्रव्रत ११ विमानपक्तिव्रत १२ शान्तकुम्भव्रत १३ द्विकारुणीव्रत १४ सिंहविक्रमक्रीडनव्रत १५ रत्नत्रयव्रत १६ कनकावली १७ नक्षत्रमाला व्रत १८ रत्नावली १९ बृहत्कनकावली २० उल्लीनोल्लीनव्रत २१ जिनप्रोपधवत । पंचकल्याणव्रत २२ पुण्याजलि-

इत्याद्या गहन मति चिन्तागमे जिनैर्धरं । प्रोक्ताश्च चेतनाकात नैतच्च शिष्यत्रयकाः ॥ १३२ ॥
 शास्त्रोक्तविधिना भूय ये करिष्यति मानवा । द्वित्रिभवे हि दाम्यति निर्विष्ययाद्विवर्जिते ॥ १३३ ॥
 एषां मन्त्रेण गजेन्द्र कर्मोद्दिदृहमानिनः । ततोहि सर्वैरुत्तमैश्चि दानेन पापक्षोपमः ॥ १३४ ॥
 तत्कथ चास्य सर्वे हि निधिमाह चित्तश्च यः । समाधिना श्रूयु त्स्व न मर्ममन्यद्वितासरे ॥ १३५ ॥
 कर्माणिश्रौं महादुःखदायकानि गत्यानिच । अष्टाडिाचद्वयंन्यास्या ज्ञेया प्रकृतयः सन्तु ॥ १३६ ॥
 सर्वे पिंडीकृता खेत सर्वशर्मप्रदायका । तत्पुत्रैदुसंन्याता संजाता नाशेधर ॥ १३७ ॥
 एषा कर्मप्रकृतीनामेकैकोपविश्रीषया । शतैरुप षट्संन्यासना कार्या शिवासये ॥ १३८ ॥
 प्ते सर्वे मथान्याता प्रोषयाः कर्मनाशकाः । एकातरेण कर्तव्या मनोमलविभञ्जका ॥ १३९ ॥

व्रत २३ इत्यादि गह्रुत्से उत्तमोत्तर व्रत श्री जिनदेवने भव्य जीवोके कल्याणके लिये व्रतलोये हैं । इन व्रतोंमें कितने ही ऐसे उत्कृष्ट व्रत हैं कि जिनका मेयन करनेसे दोगे तोन भयमें ही मोक्षका सुख प्राप्त होता है ।

अर्थः— उपर्युक्त व्रतोंमें एक कर्मदहन नामका सर्वोत्तम व्रत है । जो भव्य जीवोको सर्व प्रकारकी संपत्तिका प्रदान करनेवाला और मोक्षके सुखको देनेवाला है । कर्मदहन व्रत कर्मोंका समूल नाश करनेवाला होनेमें शीघ्र ही सिद्धपदको प्रदान करता है ।

कर्मोंकी समस्त उत्तर प्रकृति १४८ है । उनमें आठ कर्मोंकी मूलप्रकृति मिला देनेसे कुल १५६ एकमौ छप्पन भेद हो जाते हैं । उस जितने भेद कर्मोंके होते हैं उतने ही भेद इस कर्मदहन व्रतके होते हैं ।

भावार्थः— १५६ प्रोषधोपवास उम व्रतमें किये जाते हैं । एक एक कर्मप्रकृतिके नाश करनेके लिये एक एक प्रोषधोपवास करना चाहिये ।

प्रोषधानां विधिं वक्ष्ये त्वं शृणु शर्मदायक । विधिना क्रियमाणोय शिवशर्मप्रदायक ॥ १४० ॥
 पूर्वसिंभश्च दिने सेव व्रती चोत्थाय शुद्धधी । तत्पत्त साभार्थिकं कुरुना मंत्र जप्तवा जागन्तुत्तम ॥ १४१ ॥
 पश्चाच्छुद्धोदकैर्नैव स्नान्वा यत्नेन सिद्धये । वीतवस्त्रानि शुक्लानि सभार्थं जित्तमदिरे ॥ १४२ ॥
 गत्वा दन्वा जिनैन्द्रस्य त्रिपमाहि प्रदक्षिणा । नत्वा चाष्टागविधिना तत्पादाब्जौ मुहुर्मुहु ॥ १४३ ॥
 ततो जिनैन्द्रत्रिं च स्थापयित्वा वरासने । छत्रचाभसच्छोभा कर्तव्या तत्पुरो मुदा ॥ १४४ ॥
 शुद्धोदकेक्षुसदाज्यद्वयदधिरसोत्करैः । स्वगनीय च त पश्चात्सर्वोपधिरसैर्वैः ॥ १४५ ॥

१५६ प्रोषधोपवास इस व्रतसे किये जाते है । और इसीलिये इस व्रतका सार्थक नाम कर्मदहन व्रत है । ये प्रोषधोपवाम एकातर (धारणा-धारणा) से करना चाहिये ।

अर्थ—कर्मदहनव्रतकी विधि-व्रतके धारणाके दिवससे ही मनकी सब प्रकारकी शल्यको निकालकर शुरूके समीप व्रतको ग्रहण करे । धारणाके दिवस एकाशन करे । परिणामोको शांत रखकर यथासाध्य विषय कपायोका त्याग करे । ब्रह्मचर्य धारण करे । शुद्ध आहार निरंतराय ग्रहण करे ।

उपवासके दिवस प्रातःकाल उठकर सामार्थिक करे । पश्चात् शीघ्र क्रियासे निवृत्त होकर शुद्ध प्राशुक जलसे स्नान करे । धुले हुए सफेद वस्त्रोको धारण करे । और अपने घरमे उत्तमोत्तम भगवानके पूजनकी सामग्री तथा अभिषेककी सामग्री (इक्षुरस-दूध-दही-घृत-सर्वाँपधि-शर्करा-फल-फूल-केशर-कण्ठूर—दीपक आदि) ले जावे । मंदिरसे जाकर भगवानके चैत्यालयकी पूजा भक्तिसे कर पश्चात् श्री जिनराजके विवोकी तीन प्रदक्षिणा जय जयकार पढता हुवा देवे । पश्चात् स्तोत्र पढकर प्रभुका गुणानुवाद कर नमस्कार करे । विधिपूर्वक वेदीकी स्थापना करे । शासन देवोंको यथास्थान विराजमान करे । पश्चात् गधकुटीपर भगवानको विराजमान कर चमर छत्र आदिसे दिव्य शोभा

जलस्थानान् कणान् सर्वान् दूरीकृत्य प्रयत्नत । स्निग्धेन शुभ्रवस्त्रेण प्रभोगत्रिस्य वा तत ॥ १४६ ॥

चन्माल्यचरणान् न नागार्थं श्रीपत पुर । दातव्याश्च त्रयो धारा स्वर्णभृगारनाम्बुकात ॥ १४७ ॥

समागतपद्मार्थं काठमीरागुण्डै रसै । लेपनीयं जिनेन्द्रस्य पादयोर्लेपनपूजयौ ॥ १४८ ॥

जिनपादारविदाग्रे कर्णीया मनोदग्ग । पुत्राश्चाशनमन्त्रैरेखडभ्यानन्दत्रये ॥ १४९ ॥

पद्मसदाग्मकुन्दबहुज्याश्च मुद्ग । पुषोररुग्ग जिनेन्द्रस्य पादोपरि मुमोदत्ता ॥ १५० ॥

सवरागिनिनाशाय धर्तन्या जीवमजिता । यशुद्वयश्च कुम्भलंघ्य निद्रिच्छा पतिता न कौ ॥ १५१ ॥

व्यजनैर्मौदिकै सुजै रसैर्नानाविधैरैः । गाल्कन्नेजिनपादाब्ज ह्यैस्नीय मुत्तामये ॥ १५२ ॥

दीर्घैर्घृणै फलौघैश्च पूजनार्थो जिनेम्ब । महायोग तसम्भन अनभ्यपदपातये ॥ १५३ ॥

करे । पश्चात् इशुग्म-धृत-दूध-दही-मर्वापथी रसमे मंत्रपूर्वक अभिषेक कर । पश्चात् पूर्ण कुलज (कुम्भकुलजो से) अभिषेक करे । ग्रलेपन कर पुष्पवृष्टि करे । भगवानकी आरती करे । फिर गंधोदक मे जातिधारा मर्मर्षण करे ।

अभिषेक हो जानेके पश्चात् उत्तम त्रयमे प्रशुंरु गरीगको पांठ लेवे । फिर मंत्रपूर्वक आठ द्रव्योंमे पूजन करे । पूजनमें भी आठहानादि विधिहो भूल न जावे ।

जलपूजा भृगारकी नालीमे तीन धारा चढानेसे ही होती है । चदनपूजा अनामिका अंगुलीके द्वाग सुगन्धित केशर प्रशुके चरण कमलके अगुणोपर चढानेमे होती है । अक्षतपूजा पुज चढानेसे होती है । पुष्पपूजा— सुगन्धित पुष्प प्रशुके चरण कमलोपर चढानेमे होती है । नैवेद्य पूजा सुदर नैवेद्य मात पूड़ी पक्वान थालमे चढाकर उतारनेसे होती है । दीपपूजा—दीपकको जलाकर आरती रूप करनेमे होती है । धूपपूजा रूपका अग्निमे खेनेसे होती है । केला वदाम आदि फलोकी भेट प्रशुके समथ चढानेसे फलपूजा होती है । जल फलादि अष्ट द्रव्य स्मस्तित

कृत्वैर्बिं जिनसप्तपूजा पश्चात्पुष्पाजलिमुदा । द्वाहव्या शान्तिपाठच करणीय प्रभो ॥ १५४ ॥
 शक्तयनुसारत पश्चात् जिनैन्द्राग्ने सुमोदतः । कायोत्सर्गं च अतिहि कर्तव्य मोक्षपाप्तये ॥ १५५ ॥
 पश्चात्स्तोत्र जिनैन्द्रस्य पठनीय तत खलु । कर्तव्य मंत्राजान्य जाप्य न्याच सिद्धये ॥ १५६ ॥
 कर्तव्य शास्त्रस्वाध्याय मनोरोधाय केवल । म्वाध्यायसम धर्म हि न पर गुहमेधिनाम् ॥ १५७ ॥
 इत्यादिशुभकर्मणि कर्तव्यानि जिनास्पदे । नदद्वातोद्यमयुक्ते भग्नराशिपभृते ॥ १५८ ॥
 गृहे गत्वा च पश्चाद्धि मध्यान्हे समये वरे । कर्तव्य भोजन शुद्ध त्रिशुद्ध्या दोषवर्जितम् ॥ १५९ ॥

सरसो आदि मगलीक द्रव्योंके साथ अर्घको उतारना चाहिए । फिर पुष्पाजलि चढाकर शान्ति धारा चढाना चाहिए । यह पूजाविधिका क्रम है ।

अर्थ—फिर शक्तिके अनुसार कायोत्सर्ग करना चाहिये क्यों कि कायोत्सर्ग ही आन्भा के ध्यान का और मोक्ष का साधन है ।

अर्थ—फिर श्रीजिनेन्द्र भगवानके गुणो का स्तोत्रपाठ करे और मंत्राजकी जाप देवे ।

अर्थ—पीछे पूजा करने के बाद शास्त्रो का स्वाध्याय आत्मकल्याण के लिये करना चाहिये । स्वाध्यायसे मनका निरोध होता है इस लिये स्वाध्याय के समान अन्य कोई उत्तम धर्म नहीं है ।

अर्थ—इत्यादिक शुभ क्रियाओ को जिनमदिरजी में करे तथा वाजे गाजेके साथ करे ।

अर्थ—फिर घर पर जाकर पात्रको भोजन कराकर मध्यान्ह समयमें शुद्ध भोजन एकवार ही (ठाम आहार पानी) मन वचन काय की शुद्धि से करना चाहिये ।

शुद्धस्वस्थ जलं चूर्णं घृतं ग्राह्यं ब्रतासथे । नैव गृह्णति ये मूर्खास्तरसास्ते बुधैर्मता ॥ १६० ॥

कृत्वैव शोभनं न्यादमतसायविवर्जितम् । एकवारच तत्रैव स्थाने मोक्षपदासथे ॥ १६१ ॥

प्रत्याख्यासथ विधिना वेदाहारसथ तत्र हि । प्रत्याख्यान च कर्तव्यं कर्मसैतानहानथे ॥ १६२ ॥

निरारंभ प्रकर्तव्य प्रोषध मदवर्जितम् । एवच क्रियमाणेहि प्रोषध कर्मनाशक ॥ १६३ ॥

अनेन विधिना कार्या प्रोषधा कर्मघातना । एवं सर्वेषु कर्तव्य पुजनादिविधि खलु ॥ १६४ ॥

सर्वे च प्रोषधा मूप शैतकपचषट्प्रसा । अस्य स्तु कर्मनाशार्थं कर्तव्या शुद्धितत्त्विका ॥ १६५ ॥

प्रोषधैकं प्रति जाप्यं तत्कर्मैव नामतः खलु । करणीय तद्विनाशार्थं वाष्टोत्तरशतप्रभम् ॥ १६६ ॥

भोजनशुद्धि-भोजन उच्छुक्लीन का ही हो । स्नानादि पवित्र विधिसे समस्त द्रव्योंकी शुद्धतासे ही उत्पन्न हुआ हो । चौकाकी विधि और पाद्य पदार्थोंकी मर्यादा आगम विधिसे की हो । शुद्धके हाथका जल घृत और आटा आदि नहीं हो । क्योंकि शुद्ध सस्कार और क्रिया विहीन होनेसे उसके हाथका जलादिक ग्रहण करने योग्य नहीं है फिर भी कोई ग्रहण करे तो व्रतभंग समझना चाहिये । या वह स्वयं शुद्धके समान ही है । भोजन अंतराय रहित करना चाहिये । भोजन होनेके पश्चात् चारप्रकारके आहारका परित्याग करे । इस प्रकार भोजन का प्रत्याख्यान कर्मोंका नाश करने वाला है ।

अर्थ-प्रोषधके दिवस आरंभ नहीं करना चाहिये । आठ प्रकारके अभिमानोका त्याग करना चाहिये । इस प्रकारकी विधि जो भव्यजीव प्रत्येक प्रोषधोपनास में करता है उसके कर्मोंका नाश होता है । प्रत्येक प्रोषधोपवास के दिवस (जिस कर्म प्रकृतिका प्रोषधोपवास हो उस प्रकृतिके नाशके लिये) प्रकृति के अनुसार जाप देवे ॐ न्ही मतिज्ञानावरण कर्म नाशाय नमः ॐ न्ही श्रुत ज्ञानावरण कर्मनाशाय नमः इत्यादि प्रकारसे जाप देवे । एक पात्रको

दत्त्वा लोक्याय पात्राय न्यादे च भर्मिणे शुभम् । पूर्वं पश्चाद्वि क्तव्य मर्वम्बेव विधि लुप्तु ॥ १६७ ॥
 विक्रथा च गुह्यसं वामात्याग स्वमहनम् । तल्पे च शयन शोक वृथाटन मटाष्टकम् ॥ १६८ ॥
 वैशुन्यं परनिदा च परनामेक्षण तथा । रागेद्विका हास्य वा रति चैवारति तथा ॥ १६९ ॥
 कुभाव चैव दुःखानि भोगाभिलाषमेव च । पत्र शाकमशुद्ध च दधिदुग्धं च वा वृत्तम् ॥ १७० ॥
 व्रतिभिर्मोचनीयाश्च वने चास्मिन् वनास्रये । इत्याद्या दोषनिक्त्रा सप्सार्दु खदायका ॥ १७१ ॥
 केशरिमयतो यद्भूत् गजबुन्दा महोन्नता । पलाययेव तद्द्वि कर्मभा व्रतसिंहत ॥ १७२ ॥
 कर्मदहनव्रतो भो मत सकलव्रतैषु पुण्योय । जिनसिद्धाते हत स्यात् सार्थनामत ॥ १७३ ॥

आहार देकर फिर आप आहार करें । विक्रथा और आरमका परिस्थान करें । स्त्रीसेवनका परिस्थान करें, शरीर सस्कार का परिस्थान करें, खाटपर शयनका परिस्थान करें, शोक-अभिमान और व्यर्थका पर्यटनका परिस्थान करें । दूसरोंकी निदा करना, हसना, दूसरोंकी स्त्रीके मनोहर अगोको देसना, दुर्भाव, मात्सर्य, द्वेष आदि दुःपरिणामोका त्याग करना । अशुद्ध दूध, दही, घृत आदि पदार्थ का त्याग करना । इत्यादि उत्तम आचरणोंके साथ इस व्रतका पालन करें ।

अर्थ:— व्रती पुरुषोको व्रतकी शुद्धिके लिये उपर्युक्त दोषोका परिस्थान करना चाहिये ।

अर्थ:— जिन प्रकार सिंहको देखते गज पलायमान हो जाते हैं वैसे ही इस व्रतसे कर्म रूपी गज पलायमान हो जाते हैं । यह व्रत समस्त व्रतोंमें मुन्य है । जिन सिद्धातमें इसको मुख्य व्रत बतलाया है । उसी लिये इसका नाम भी सार्थक है ।

पूर्वघस्य मद्यान्हे कर्तव्य भोजन सदा । द्वितीये वासरे चैवानशनं करणीयकम् ॥ १७४ ॥
 तृतीयस्य दिनस्यैव मद्यान्तसमये वरे । पारण करणीय च कर्मसतानहानये ॥ १७५ ॥
 सर्वोत्कृष्टविधिश्चायं पर्वकर्मारिधातक । कश्चितश्चागमे शुद्धे भूप नैयात्र सशय ॥ १७६ ॥
 सर्वोत्कृष्टफलं वटये भाविज चेलनाप्रिय । करिव्यति व्रत शुद्ध प्रापयिष्यति स शिवं ॥ १७७ ॥
 कर्मदहनव्रतस्य फलं शृणु समाधिना । श्रवणाच्च यस्मर्वाहा प्रलय याति देहिनाम् ॥ १७८ ॥
 अनेन विधिना कृत्वा य कश्चिद्विह जन्मनि । समाधिना पुन स्मस्य मरण शल्यवर्जितम् ॥ १७९ ॥
 प्राप्यति का गतिं सैव तत्सर्वं कथयाम्यह । द्वाग्शाना गणाना तु दृढश्रद्धाय केवलम् ॥ १८० ॥
 विदेहे शाश्वते क्षेत्रे तुर्यकालेन भुषिते । हासवृद्धिविनिर्मुक्त इतिभीत्यादिवर्जिते ॥ १८१ ॥
 वैदेहा मुनयो यत्र भवत्सनेकशोनिश । रत्नत्रयतपोध्यानै स सार्धनामभूत् ह्यत ॥ १८२ ॥
 जिनेन्द्रा जितमार्तडा चक्राका पुरुषोत्तमा । पट्टलडपालने दक्षा कामरूपधरा वरा ॥ १८३ ॥
 विष्णवो बलदेवाद्या तत्तद्विष शर्ममंडिता । इत्याद्या यत्र भातिस्म सदा सर्वत्र विभ्रुता ॥ १८४ ॥

व्रतके धारणा पारणके दिवस एकवार भोजन करे । वहभी म यान्ह समयमें ही करे । यह व्रत की सर्वोत्कृष्ट विधि व्रतलाई मध्यम और जघन्यविधिसे भी यह व्रत किया जाता है । इस व्रतका सर्वोत्कृष्ट फल मोक्षकी प्राप्ति है । जो मनुष्य इस व्रतको पालनकर समाधिमरण पूर्वक देहका विसर्जन करे तो उत्तम सुखको प्राप्त होता है । इस व्रतका ऐसाही माहात्म्य है ।

जो भव्य जीव इस व्रतको भावसे करते है वे विदेह क्षेत्रमें उत्पन्न होते हैं । विदेह क्षेत्रमें सदैव चौथा कालही रहता है । कालका परिवर्तन नही होता है । विदेहमें इति भीति इत्यादि किसी प्रकार का उपद्रव नहीं है । जहांपर

प्रवर्तते सदा यत्र धर्मो जैनेति नामतः । त्रयो वर्णाश्च विद्यते मिथ्यामांसापामुलाः ॥ १८५ ॥

सदा याल्येव मोक्षेहि तस्माद्भव्या नरेधरा । रत्नत्रयतपोयोगात् शर्मवृद्धाकितेऽक्षये ॥ १८६ ॥

पाखडा तत्र नो संति कुदेवा दोषमंडिता । तन्मदिरा हि नो संति तेषाच सेमकास्तथा ॥ १८७ ॥

नो सति द्रव्यतस्तत्र मिथ्याह्यगरका नृप । भावत केचन सति नरा तद्धारकाः खलु ॥ १८८ ॥

यत्र नगाश्च शोभंते रचितेज सभा शुभाः । शीलरत्नधरा वृद्धा कलाकलापमडिताः ॥ १८९ ॥

सदैव दिगंबर जैन मुनियो का निरंतर दर्शन होता है । जहां तीर्थंकर प्रभु सदैव अवतार लेते हैं व साधते बने रहते हैं । चक्रवर्ती नारायण प्रतिनारायण आदि पुण्य पररूप भी सदैव होते रहते हैं ।

विदेह मे जैनधर्म पिपाय अन्य धर्म मर्वथा नहीं है—जैन मत मिपाय अन्य कोई भी मत किमी कालमें कभी भी मर्ग पर उदय नहीं होता है न अन्यमतके धारक मनुष्य ही वहापर उत्पन्न होते हैं । वहा पर समको व्यवहार रत्नत्रयकी प्राप्ति सम्भारूप मे होती है । इसीलिये सर्वत्र जिनायतन—जिन चेत्य जिन चेत्यालय—और जिनरूप धारक गुरु सर्वत्र सर्वदा मिलत है ।

वहा पर मिथ्यामतके मदिर-चैत्य और पाखंडी गुरु भी नहीं है, न कुशासनोंका मद्भान वहा पर है । कोई भी मनुष्य कुदेव-कुगुरु-कुशास्र-और कुधर्मको नहीं जानता है । न पट अनायतन वहां पर है । उमी प्रकार मिथ्यामार्ग रूप-गगादिनदी प्रगाह में स्नान कर लोग धर्म नहीं मानते हैं । तथा अग्निमें जलरूप मती वहा पर नही होती है । वहा पर कुतीर्थ नही है । वहां पर द्रव्य मिथ्यान्त्र का मर्मथा अभावा है । इसीलिये वहां पर त्रास्रहण नहीं होते हैं । हा भाव मिथ्यान्त्रक धारक किनने ही जीव उत्पन्न होते हैं ।

चंद्रकोटिमामासुक्का चापचशतोक्तता पुत्रपौत्रादिसंपत्ता धनचंद्रभरा वराः ॥ १९० ॥
 आमृत्यु शर्मभद्राश्च दुखशोकविवर्जिता । दानपूजादिकार्येषु सदा तत्परमानसाः ॥ १९१ ॥
 ईदृशा यत्र राजते नार्योपि मगधंश्वर । शीलव्रतधरा शुभ्रा जिनिल्ल्यात्मानसा ॥ १९२ ॥
 देशे देशे पुरे ग्रामे भूदे द्रोणे च कर्वेदे । पत्तने विपित्ने खेदे नद्या कूले मनोहरे ॥ १९३ ॥
 इत्याद्यन्यशुभे स्थाने सति सर्वत्र सुदरा । जिनालया ह्यनेकाश्च यत्र नेत्रमनोहरा ॥ १९४ ॥
 स्मशानादिगुहाया च दिशानामोविर्मंदिता । मुनीन्द्रा यत्र कुर्वति स्वात्मध्यान शिवात्मये ॥ १९५ ॥
 यत्र ये शानका नार्थं मास्मृहेषु भावतः । जिनविवस्य नित्य हि सर्वपापपणात्तये ॥ १९६ ॥
 पचासुतसै शुद्धैरभिषेकं तत परम् । कुर्वति पूजन द्रव्यैर्वसुभैर्दैनोदरै ॥ १९७ ॥

बहा पर शीलमान धर्मके प्रतिपालरु मन्व्यभावोसे सपन्न सुखमें निमग्न पुत्र पौत्रादिसहित परम सुखी मनुष्य होते ह । एक कोटि पूर्वसी आयु और पाच सौ धनुषका शरीर होता है ।

अथः— बहापर स्त्रिया भी शीलमण्डित-भगवानकी घृजामें लखलीन होती हैं । जहांपर देश २ ग्राम २ पर्वत २ नदीतीर-खेद, द्रोण, शहर, जगल आदि सभी प्रदेशोंमें सुदर जिनालय होते हैं ।

अर्थः— जिस क्षेत्रमें दिगांग्र जैन ऋषि गुहा, कंदर, स्मशान भूमि और सर्वत्र अपने अपने ध्यानमें लखलीन दृष्टिगत होते हैं ।

अर्थ-विदेहक्षेत्रमें सर्व स्त्री पुरुष (थावक श्राविका) अपने अपने घरमें (गृह चैत्यालयमें) स्थित जिन-पुत्रोंमें भावभक्ति से श्रीजिनेंद्र भगवानके मनोहर विचका शुद्ध पचामृत रस्से अभियेक करते हैं । फिर अष्ट

नृत्यं गानं जितान्नेत्रं च रात्रौ जागरणं तथा । वाद्यघोषं प्रकुर्वति तत्रत्या मगधेश्वर ॥ १९८ ॥
 मन्थाहसमये नित्यं द्वारस्थानेषु च पुनः । तिष्ठति पात्रदानार्थं मन्त्रतपालने रता ॥ १९९ ॥
 सुनीन्द्रापि तदागत्य तेषां सद्मनि भोजनं । कृत्वा मुविधिना पश्चात्तपोवने प्रयाति च ॥ २०० ॥
 तत्समावाप्तमकुर्वति तेषां गेहे सुगधिपाः । पचाश्चर्यं सुदानस्य द्रभावात् किन्न जायते ॥ २०१ ॥
 आहारदानतो जीवा भोगसुप्तौ ब्रजस्यहो । द्वित्रिचन्द्राव्ययति मुजस्येव वरं सुखम् ॥ २०२ ॥
 यस्माद्यात्येव भो मूप तिर्यचोपि सुखास्पदे । दानानुमोदनाद् भद्रा मनुष्याणां च का कथा ॥ २०३ ॥
 अपरं दानसदृशं नो पुण्यं गृह्येधिना । अतः पात्राय दातव्यो गृहस्थैर्जपनं खलु ॥ २०४ ॥
 पात्रदानं न कुर्वति ये गृहस्था मताश्च त । विमुच्छृणुना तुल्या स्वोदरभाणे रता ॥ २०५ ॥

द्रव्यसे पूजन करते हैं नृत्य गान वाद्यघोष आदि उत्तमोत्तम भक्तिभावनाओंके द्वारा रात्रिमें जागरण कर धर्म लाभ उत्पन्न करते हैं ।

अर्थ—सब दानोंमें आहार मुख्य और सर्वोत्कृष्ट है ; मोक्षमार्गकी स्थिरता इस दान में ही होती है । आहारदानका फल भी उत्तम है । इस दानके फलमें जीव भोगभूमिसँ उत्पन्न होते हैं । जहाँपर एक दो तीन पल्यके उत्तम सुखको प्राप्त करते हैं । यदि तिर्यक भी पात्र दानकी अनुमोदना करे तो भोगभूमिके उत्तम सुखको प्राप्त होता है फिर मनुष्यकी क्या बात है ? वह तो प्राप्त होगा ही । गृहस्थको पात्रदानका पुण्य महान होता है । इस लिये पात्रमें आहार दान अवश्यही देना चाहिये ।

श्रावक श्राविका भी जबन्य पात्र हैं उनको भी आहार देना चाहिये । जो शक्तिशाली होकर पात्रमें आहार दान नहीं देते हैं वे मनुष्य जन्मको व्यर्थ खो देते हैं । जिन मनुष्योंका धन पात्रदानमें भगवानकी पूजामें और

पात्रार्थं न च पूजार्थं दानार्थं नापि लख । स्वापतेयो गृहस्थानां तेषां तन्निःफलं मतम् ॥ २०६ ॥
 प्रातर्जिनेन्द्रदेवस्य पचश्चिश्चोत्तमै रसै । हृत्वाभिषेकं पश्चाद्धि करणीयं च पूजनं ॥ २०७ ॥
 प्रातर्जिनेन्द्रपूजा च पात्रार्थं भोजनं तथा । न करोति तद्वान्येन गृहस्थे सन् स्वयं पुनः ॥ २०८ ॥
 सुजयेव मुनिश्चैत्रे सदा दुःखं न सञ्चय । अतो द्वौ सर्वदा कार्यो इत्यादानौ सुखासये ॥ २०९ ॥
 यत्र वर्षे गृहस्थास्तं नित्यं कुर्वति पट्टक्रिया । नित्याहस्यं शास्त्रं पुण्यवृत्तस्य प्राप्तये ॥ २१० ॥
 मूलधर्मो गृहस्थानां पूजादानौ जिनागमे । कथितौ वीतरोगेण सर्वसपत्तिकारकौ ॥ २११ ॥
 ईदृशं शोभनं क्षेत्रं नानर्द्धिमडितं च त । स व्रती व्रतपुण्येन लभ्येव नरेधरः ॥ २१२ ॥
 तीर्थनाथकुञ्जे तत्र चक्रनाथकुले तथा । विष्णोर्नानर्द्धिसयुक्ते सुरवृद्धनिषेविते ॥ २१३ ॥

जिनायतनो की रक्षा करनेमें व्यय नहीं होता है उस धनका प्राप्त करना निःफल है ।

अर्थ—प्रातः काल पचासृत रसोंसे श्रीजिनेन्द्र भगवानकी प्रतिमा का अभिषेक और अष्ट द्रव्यसे पूजन करना चाहिये । मध्याह्न समयमें पात्र को आहार दान करना चाहिये जो इस प्रकार पूजा और दान नहीं करता है वह अधोगतिको जानेवाला है । पूजा और दान ये दोनों कर्म गृहस्थोंके मुख्य कर्म हैं ।

अर्थ—जिस विदेह क्षेत्रमें गृहस्थ नित्यही आवश्यक पट्टक्रियाओंका पालन करते हैं । जिससे पापोंकी शांति होती है । और पुण्य की वृद्धि होती है । गृहस्थों के दो धर्म मुख्य हैं । क्योंकि इनमें ही अभ्यतर पट्ट कर्मोंका समावेश हो जाता है । दान-पूजा ही ये दो मुख्य हैं । अरहत भगवान ने इन दोनोंको ही धर्मका मूल बतलाया है । इस प्रकार समस्त क्रियाओंको पालनेवाले गृहस्थ विदेह क्षेत्रमें उत्पन्न होते हैं । जहांपर अनेक ऋद्धियां स्वयमेव प्रकट होती हैं ।

तेषां सद्रूपशोभाद्यै स्त्रीरत्ने च गुणोज्वले । सम्यक्स्वेज्याव्रतोपेते स्वर्गोद्भवच्युतोपमे ॥ २१४ ॥
 ईदृशो मूप तद्दर्शे अस्मान्मुखाच सो व्रती स्थास्यत्येव शुभे घले सुसुहर्ते शुभोदयात् ॥ २१५ ॥
 सा वामा त च गर्भस्थ घरिव्यत्यपि पुण्यभा । नो भक्तिव्यति तत् दुःस गर्भस्थैव प्रभावत ॥ २१६ ॥
 दानाभिषेकपूजा च जीवानामभय तथा । इत्यादि शुभकर्म च तदान्हो वै करिष्यति ॥ २१७ ॥
 सुखेन रथमासाते सुतरलं मनोहरम् । जनिष्यत्येव सा नारी शुभयोगे शुभे दिने ॥ २१८ ॥
 तद्वैव जन्मकाले च तस्य तात प्रमोदत । करिष्यत्येव आतोद्य जन्मोत्सव च मगलैः ॥ २१९ ॥
 नि.स्वेभ्य. रत्नस्वर्णं च वस्त्रामृणमेव च । दास्यति चाभय दान कारागारस्थदेहिनाम् ॥ २२० ॥
 जिनेन्द्राणा निशातेषु पंचामृतसैर्वै । अभिषेक जिनाना च कारयिष्यति वार्चना ॥ २२१ ॥

पश्चान्मुद्रमुखाब्जं च दृष्ट्वा स मोदमाप्स्यति । सोऽपि वल्लं प्रति वालो वल्लिष्यत्येव सुदर ॥ २२२ ॥

अर्थ—विदेह क्षेत्रमें व्रती पुरुष तीर्थंकर कुलमें चक्रवर्ती कुलमें उत्पन्न होते हैं । नारायण होते हैं । देवोंके द्वारा पूजित कुलमें उत्पन्न होते हैं । वे पुण्यपुरुष उत्तम स्त्रियोंके गर्भसे शुभ सुहर्तमें उत्पन्न होते हैं । वहांपर उनको बिलकुल पीडा नहीं होती है । गर्भमें भी वे सुखरों रहते हैं ।

अर्थ— गर्भमें प्राप्त होनेके समय माता जीवोंको अभयदान करायेंगी । नवमास सुखसे व्यतीत होनेपर वह माता सुतरत्नको उत्पन्न करेगी । पुत्रके जन्मकालमें पिता याचक, दीन और दुःखी मनुष्योंको धन, वस्त्र, भूषण प्रदान कर जगतको सुखी बनायेंगे) कारागृहसे बदिजनको छोडकर जीवोंको मतोप देंगे । और पुत्रजन्मकी सुश्रीमें श्री जिनेन्द्र भगवानके मंदिरमें पंचामृतसे अभिषेक व आठ द्रव्यसे पूजन नित्य महोत्सवके साथ करायेंगे । पश्चात् बालक (पुण्यात्मा—क्योंकि उस जीवने कर्मदहन व्रत किया है ।) के पुण्य सुखका दर्शन कर पिता हर्षित होगा । बालक क्रमसे

कौमारकालमुहूर्त्तय पयपानै सुभोजनै । क्रमेण यौवन रूप लक्ष्यते च सुशोभनम् ॥ २२३ ॥
 दीप्त्या तर्जितमार्तंड काव्या निर्जितदीपिति । गभीरण महतेन निर्जित मरितापति ॥ २२४ ॥
 भिकृथेन निर्जित श्रीट मारण निर्जितो हरि । रूपेण शत्रुगमिश्च पुण्यनाम्ना विभृषित ॥ २२५ ॥
 इत्यादिगुणमार च नेत्यनेव शुभोत्थात् । यौवने नदनोद्दीप्ते विरिद्ध व्रतफल इदम् ॥ २२६ ॥
 तस्मिता यौवनाद्य च दृष्ट्वा मनु गुणोज्ज्वल । गुणेन म्याल्लतुल्य वा मुदमाप्स्यति भुविगट ॥ २२७ ॥
 तदात्मजविवाहार्थं याचयिष्या नृपागजा । महकुलोद्भवा शुद्धा रूपाचरितमपसा ॥ २२८ ॥
 ईदृशा मृत्युकारा युस्वनाश प्रदापत । सुतो यौवनाट्याय नैत्रानदत्तगय वै ॥ २२९ ॥
 नेत्यत वायवोपौषान् दानोत्करमुंगानान । कुर्मन् वं मालाप्यर्थं मञ्जाननदशायमाम् ॥ २३० ॥
 मोक्ष्यति सोपि पश्चाद्धि शर्मणा सतति सदा । मिकार्यं पुरस्तरय त्तप्तेन गो नृप ॥ २३१ ॥
 तस्मिन्ना स्वस्य पेटे हि तं पुं विधपूर्वक । म्यापयिष्यति म्यप्रचाणालनार्थं सुरोपम ॥ २३२ ॥
 कुमार अवस्थाको प्राप्त होगा । यमस्त प्रकारकं मुसाको प्राप्त होकर अपने तेजसे सूर्यको, ऋतिसे चंद्रको, गभीरतासे समुद्रको, लक्ष्मीसे कुवेरको, शक्तिसे सिंहको, रूपसे कामदेवको जीतेनेमाला अनेक उत्तम गुणोंसे भूषित वह पुण्यात्मा बालक होगा । यह मन कर्मदहन नतका ही माहात्म्य है ।

अर्थ—उमका पिता बालकको यौवन अवस्थामें देसकर अपनी जानिही उत्तम गुणवाली अपने ममान कद्रिकी धारक राजाओकी कन्याओंकी याचना कर विधीपूर्वक विवाह (पाददान) स्वीकार करेगा । पश्चात् कुलाभ्नाय और धर्मशास्त्रकी विधीसे विवाह करेगा । वह बालक सधर्मिणीको प्राप्त कर पूर्व व्रतका पुण्यफल भोगेगा । पिता पुत्रको यहका ममस्त भार समर्पण कर मगवती दीक्षा धारण कर केलज्ञानको प्राप्त कर माथमें अब्यय सुरको प्राप्त करेगा

पुरो नाहवनेऽगत्वा तत सोपि शिवासेये । गृहीत्वा सयमं शुद्धं पुरोः पाश्र्वं मुनेर्मतम् ॥ २३३ ॥
 हत्वा सकलकर्माग्नीन् ध्यानाशुगेन स मुनिः । संप्राप्य केवलज्ञान तदैवेत्या सुरैः कृता ॥ २३४ ॥
 पश्चात् संबोध्य भव्यौघान् यास्यति चाव्यये पदे । सुखासुखविनिःक्राते तृपात्किं दुर्लभं नृणा ॥ २३५ ॥
 सोमि तातपदे स्थित्वा न्यायमार्गेण धर्मधीः । पालयन् स्वप्रजा सर्वीं स्थास्यत्येव निरुक्षः ॥ २३६ ॥
 शुद्धहृद्धारको वाग्मी दाता भोक्ताच सत्रतः । त्रिवर्गपालकः सैव पूर्वव्रतफलोदयात् ॥ २३७ ॥
 करिष्यति जिनैद्रस्य रानेज्या शुद्धभावत । पत्नाय विधिना दान दास्यति वासर प्रति ॥ २३८ ॥

वह राजकुमार राजा होकर प्रजाका न्यायमार्गसे पालन करेगा । वह शुद्ध सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला
 विवर्गको परस्पर अविरोधपूर्वक पालन करता हुआ व्रतके पुण्य फलसे सर्वोत्तम सुखोक्तो शान्ति और निराकुलताके
 साथ निर्विघ्न भोगेगा ।

अर्थ—वह पुण्यात्मा भव्यजीव विदेहमें—भगवानकी पूजा-भक्ति-स्त्वन-गुणस्मरण आदिके द्वारा धर्मके

१ इस प्रकरणमें विवाह विधि विदेहक्षेत्रमें भी आगमकी मर्यादा से बतलाई है । यह नहीं है कि कन्या स्वयं वरण करे
 या बालक अपने आप ही अपनी इच्छानुसार जिम तिस (जाति कुजाति योग्य-अयोग्य नीच उच आदि सबको) को
 स्वीकार कर विवाह कर लेवे । ऐसा करना मर्यादाके वाहर है ।

विवाह धर्मका अंग है उसकी पूर्ति गुरुजन ही योग्य रीतिसे मपादन करते है । इसमें बालक बालिकाओंको
 स्वतन्त्रता नहीं है ।

नित्यपापविनाशाय निर्णाय चिदान । भिदात्तान जिनाप्यर्थं त्रयण मुनिवृत्त ॥ २३९ ॥

वर्मकामं नृप सोपि पूं कृत्वाघरागरो । उन्म्यन् इयं गुहोदन्त पश्चात् त्रियति ॥ २४० ॥

स्थितेषु जिनभे न वास्वक्य धर्मसिद्धये । क्रूरिव्ययेव नृपदो नु न्यादाद्विभि सदा ॥ २४१ ॥

चिनयर्मस्त्रिभेषु वै यो नानेन प्रकृते । वास्वै नं स मन शस्त्रे जिनधर्मपराम्मुत्र ॥ २४२ ॥

माहात्म्यको बड़ायोग । अपने कृतव्यको राजा होकर भी परम भक्तिमाना में करेगा । नित्य मुपायमें दान देगा जिनवाणीका पठन पाठन करेगा और गुरुके सुयेम शास्त्रोंका श्रवण करेगा । शास्त्र गुरुके मुखमें ही श्रवण करना चाहिये । वह राजा मनसे प्रथम दिनमसयधी अपने धार्मिक कृत्योंका कर लेगा । पीछे में गव्यताय और काये करेगा । यही धर्म की महिमा है ।

१ धर्मके अग अनेक होते है । उनमेंसे गृहस्थोंके लिए वात्सल्य अग विजोग उपयोगी और परमाश्रयक है । वात्सल्य अंगका अर्थ—अपने साधर्मि भाइयोंको भक्ति भावनासे भोजन कराना पचायतको निमंत्रण कर धीति भोजन देना साधर्मि भाइयों को भेला प्रतिष्ठा आदि अवसरके निमित्त स भक्ति पूर्वक भोजनादिकके द्वारा सत्कार करना । समय समयपर साधर्मि भाइयोंको भोजना कराना । विवाह नाम सत्कार—उपनयन सत्कार (जनेऊ) और व्रत अनुष्ठानके समय साधर्मि भाइयोंको (पचायत) भोजन कराना वात्सल्य अंग है । परस्पर प्रेमभावना और धर्ममें अनुगा इस आसे ही होता है । सर्व श्रावकाचारोंमें भी इसीको वात्सल्य अंग माना है । जो मनुष्य पचायत भोजनको या भेला प्रतिष्ठामें आहार दानका नियेन करते हैं—फिजूल खर्च बतलाते हैं वे धर्मके माहात्म्य को जानते ही नहीं हैं । वे स्वय दरिद्र है । कभी भी उनको वात्सल्य अंग पालन करनेका सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ है इसलिये ऐसे सुधारक ही जषन्य पात्रदानकी महिमा को नहीं जानते हैं । परंतु आचार्योंने भेला प्रतिष्ठादिमें आहारदान देने से तीर्थकर गौत्रका पुष्य बतलाया है ।

मो बुगः सर्वदा श्रीमज्जिग्घर्मस्थितेषु वै । कुर्वीध्व सर्वजीवेषु वात्सल्य जेमनादिभि ॥ २४३ ॥

वात्सल्येन व मय्येव तीर्थकारस्य कायमान् गोत्र शिवप्रद नूनं सर्माधिपनमस्कृतम् ॥ २४४ ॥

मभामध्ये वरं सिंहपाठे स्थिता च म नृम । स्वम्याज्जापालकान् म्यान् दास्यत्येव सदा खलु ॥ २४५ ॥

धर्मोपदेश भो भूपाः शृणु-व कथयाम्यह । यम्येन श्रणत्सर्वं यात्येव नाशता खलु ॥ २४६ ॥

धर्म-अर्थ-और काम इन तीनों पुरुषार्थोंमें से सबसे प्रथम धर्म पुरुषार्थ को निराकुल भावोंसे निर्बिघ्न करना चाहिये । पीछेसे काम और अर्थ पुरुषार्थ को माध्य करना चाहिये । तो ही नीतिपूर्वक कर्तव्य पूर्ण होते हैं । जो मनुष्य अर्थ और काम पुरुषार्थ की सिद्धिके लिये धर्म पुरुषार्थ को छोड़ देते हैं वे नीतीका परित्याग कर देते हैं ।

वह राजा साधर्म्य भाइयोंको भोजन पानके द्वारा वात्सल्य अगती वृद्धि कर जिनधर्मके प्रतिपालक साधर्म्य भाइयों का भोजन पान आदिके द्वारा मत्कार करेगा । जो भाई अपनी शक्तिको छिपाकर साधर्म्य भाइयोंका आडर सन्तार नहीं करता है वह जिन धर्मके तत्वों की जानकारी से वृद्धिश्चैत है ।

जिनधर्मका एक मुख्य अंग यह भी है कि साधर्म्य भाइयों का भोजन पान आदि मत्र प्रकार से आडर मत्कार कर । जो डम प्रकार का मिश्रद्र वात्सल्य अणका पालन करता है वह निश्चय से तीर्थकर गोत्रका वध करता है-उसके पुण्य की महिमा अन्त है ।

अर्थ-—वह राजा समझे दिव्य सिंहासनपर विराजमान होकर अपनी आज्ञाके प्रतिपालक राजाओंको धर्मोपदेश करेगा । हे राजन् ! गृहस्थों का कर्तव्य और धर्मचरण का स्वरूप मैं जिनागम से कहता हूँ सो उसको सा-
वधान मन से सुनिये । भगवान् के मल्लज्ञानी मकल चाराग को प्रत्यक्ष जाननेवाले अरहत प्रभुने वतलाया है कि गृह-

गृहस्थाना च विद्वान्ते जितेन्द्रै केवलेश्वरैः । प्रथम शुद्धसम्यग्भवो मतो हि नात्र सशय । २४७ ॥
 सर्वदोषविनिष्कालो देवो जितैव निश्चयात् । सर्वद्वंद्वविहीनो य गुरु सैव जिनागमे ॥ २४८ ॥
 जिनाननसमुद्भूता वाणी मसारतापहा । सा स्यात् गणेन्द्रलेखीधैः सदा वंचा च तारका ॥ २४९ ॥
 एतेषा यत्र श्रद्धान भवेत्तत्रैव भूमिषा । सम्यक्त्वस्यैत्र शुद्धस्य प्राप्तिसौस्वत्र सशय ॥ २५० ॥
 आत्मनो गुणव्युहस्य निश्चयो यत्र सभवे । तत्रैवोत्पत्तिः भूपाला जायत तस्य निश्चयात् ॥ २५१ ॥

स्थोको सबसे प्रथम सम्यग्दर्शन की विशुद्धि करने चाहिये । निर्मल सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि करनी चाहिये । निर्मल सम्यग्दर्शनके पालन करनेमें गृहस्थोंका धर्माचरण सांगोपाग पालन होता है । ममस्त प्रकार के दोष रहित परमवीतराग सर्वज्ञ अग्रहन प्रभुको देय मानना । ममस्त प्रकार परस्मिन्ने रहित परम दिग्बर और राग द्वेषसे विनिर्मुक्त गुरुओंको गुरु मानना, तथा श्री सर्वज्ञ अरहत भगवानके मुखकमलमें प्रकाशित जिनवाणीको तत्प्रका उपदेश करनेवाली समार समुद्रसे तारनेवाली मानना । इस प्रकार देव गुरु और जिनवाणीका अविचल श्रद्धान करना । किमी प्रकार भय आशा और लोभके बशसे भी अन्यथा नहीं मानना, सो सम्यग्दर्शन है ।

जिन गृहस्थोंको ऐसा सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है उनको धर्मकी प्राप्ति हो जाती है । सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके बिना धर्मरत्नकी प्राप्ति नहीं होती है ।

अर्थ-हे राजन् ! अथवा आत्मोंके ममस्त गुणोंका जिन भव्य जीवको दृढ निश्चय हो जाता है वहांपर ही सम्यग्दर्शन प्रकट होता है ।

हृदि यस्यैव सर्वेषु भूतेषु स्वात्मतुल्यता । तस्य सजायते भृगु शुद्ध स कर्मनाशद । २५२ ॥

सम्यक्त्वस्य हि चोत्पत्तिर्देशथा कथिता जिनैः । सिद्धाते दोषनिर्मुक्ते सर्वेषामविवर्जिते ॥ २५३ ॥

इत्याद्याः कथिता भेदा ये ते हि कर्मभजकाः । व्यवहारनयस्यैव लक्षणा नो जिनागमे ॥ २५४ ॥

अर्थ—हे राजन् जिन भव्य जीवके निर्ऋपट भावो से-स्वार्थ-इच्छा और किसी भी प्रयोजनके बिना स्वाभाविक आत्म परिणामोकी विशुद्धिस समस्त जीवोंमें अपनी आत्माके समान जीमात्माओका शत्रुान होता है उनके शुद्ध सम्यग्दर्शन प्रकट होता है । जो समस्त जीवोंमें समता भावको आत्मिक परिणाम द्वारा प्रकट करता है । जो परलोककी सत्ताको स्वीकार कर जीवोका अस्तित्व परिणामन आदिका शत्रुान कर अपने स्वरूपके समान ममस्त छोटे बड़े निर्वल और शक्तिशाली पापी और पुण्यात्मा जीवो तो मानता है उनके सम्यग्दर्शन प्रकट होता है ।

अर्थ:— सम्यग्दर्शनके आज्ञा मार्गमशुद्ध,मादि दण भेद ममस्त प्रकारके दोष रहित जिनागममें नतलाये है । सम्यग्दर्शनके मुख्य दो भेद हैं । निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन । आज्ञादिक दश भेद भी सम्यग्दर्शनके नतलाये हैं ।

अर्थ:— उपर्युक्त भेद प्रभेद मम निश्चय सम्यग्दर्शनके है और वे निश्चय नयके अवलम्बनसे नतलाये हैं । अम व्यवहार नयसे सम्यग्दर्शनके लक्षण नतलाते हैं ।

यद्यपि जीवोको निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्ति हो जाना ही मोक्षमार्गमें कार्यकारी है । जिन जीवोके निश्चय मम्यग्दर्शन है उनके व्यवहार मम्यग्दर्शन है ही । परंतु व्यवहार सम्यग्दर्शनकी प्रतीति बिना गालमें नात्सल्य-उपग्रहन-स्थितिकरण आदि अगोका पालन नहीं हो सक्ता । इसलिये जिसके देव, शास्त्र, गुरुका दृढ श्रद्धान है और जिसके बाह्य आचरण जिनागमकी मर्यादाके अनुकूल है जिसके विचार जिनागमसे विरुद्ध नहीं है और जो जिनागमके अनुकूल

ज्ञेया होने च भेदा भो निश्चयस्यैव चागमात् । वच्यह लक्षणात् तस्य व्यवहारव्यस्य वै ॥ २५५ ॥
 अष्टौ भदा भया सप्तमा नानार्थनाशका । गत्यानि व्यसगान्येव दोषाष्टौ भासजा भदा ॥ २५६ ॥
 सर्वदोषप्रदा हेया दोषहीनाष्ट नामत । मूलमुना गृह्णाना यतो मूलगुणा मता ॥ २५७ ॥

तर्कको रखकर पदार्थों का स्वरूप जानता है उसी भव्य जीवके निश्चय और व्यवहार सम्पददर्शन होता है । ऐसे भव्य जीव जिनागमविरुद्ध एक अक्षर भी सुननेको गजी नहीं होते है । और न जिनागमके विरुद्ध अपने ज्ञानवैभवका उपयोग करते हैं ।

भव्यको जिनागममें न शका है न जिनागम ही परीक्षा अपने मनोनीत भावोंसे कुत्सित तर्कके द्वारा वह करता है किंतु पदार्थोंका निर्णय आगमको सत्य और प्राभाणिक समझकर शुद्ध बुद्धिसे करता है ।

अर्थ—आठ भद (ज्ञानभद-पूर्व्यपनेका भद-हुँला भद-जातिका भद-बलका भद-ऐश्वर्यका भद-तपका) और शरीरकी सुदरताका भद) का त्याग करना । सात भयोका परित्याग करना ।

तीन प्रकारकी शल्य-(माया मिथ्या निदान) का परित्याग करना । सात व्यसनो का परित्याग करना (जूआ खेलना मासका भक्षण-मदिरापान-वैश्यागमन करना-शिकार खेलना-चोरी करना-और परस्त्रीसेवन करना) ये मात व्यसन है । इनका सेवन करनेमें सम्पददर्शन नष्ट होता है ।) और आठ मांसके दोषोका त्याग करना ।

उक्त समस्त दोषोको छोड देनेसे सम्पददर्शन निर्मल प्रकार से पालन होता है । सम्पददर्शन की विद्युद्धि के लिये पचीस दोषोका परित्याग करना चाहिये ।

संवागाद्या गुणा छष्टौ अतीवाराश्च पच वै । त्रयो मृढाः सदा हेया कपात्रा वेदना मत्ता ॥ २५८ ॥
 पचदश प्रमादाश्चानर्थदृडाश्च पच वै । द्वादजाश्चाधित्तय भवसत्तिदायका । २५९ ॥
 रागद्वेषादिमोहाश्च तथा निंदा परम्य च । मिथ्यात्वरक्तसेवाच तद्धनन्यैव भक्षण ॥ २६० ॥
 भयेन स्नेहयोगेन विमार्गस्थाय सन्नति । आशया वा तथा तेषा सगम दोषवर्द्धक ॥ २६१ ॥
 इमे दोषा सदा त्याज्याः सम्पद्गृह्यारिभि खलु । व्यवहारनयस्यैव पालकै तद्धि पास्ये ॥ २६२ ॥
 आगमे जिननेयेन स मतो व्यग्रहात । प्ततेषा म्दुणुणाना च पालको यो न सशय ॥ २६३ ॥

मध-मांस-मद्यु और पाच उद्वार फलोका परित्याग करना सो श्रावणके आठ मूल गुण है । इन मूलगुणोका परिपालन नहीं करने से सम्यक्त में घात होता है । सवेग—अनुरूप प्रशम आदि गुणोका पालन करने से भी सम्य-दर्शन की व्यक्तता होती है । तीन मृढता—पट अनायतन—कपाय-वेदना-प्रमाद—अनर्थदृढ—अविरति रागद्वेष मोह का परित्याग यथाशक्ति से करना चाहिये । दूसरो की निंदा करना छोड देना चाहिये । मिथ्यात्व मार्ग तथा मिथ्यात्वके सेवन करनेवालो की प्रशसा आदि का त्याग करना भी उचित है । इम प्रकार दोषोका परिस्थाग कर देनेसे अतिशय विशुद्ध सम्यग्दर्शन का पालन होता है ।

भय—स्नेह—और आशसे कुमार्गका सेवन नहीं करना चाहिये । तथा कुमार्ग सेवन करनेवालो की रुभी भी प्रशसा नहीं करना चाहिये । मिथ्यात्वके सेवन करने से आत्माका हित होगा ऐसा नहीं मानना चाहिये । मिथ्यामार्ग गामी पुरुषो को प्रणाम—विनय—नही करना चाहिये ।

व्यवहार सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले भव्य प्राणी उपर्युक्त विधिसे अपने कर्तव्योंकी पूर्ति करते है ।
 जिनेन्द्रभगवानके परमागम में इसको व्यवहार सम्यग्दर्शन माना है ।

अस्यापि भो नृन् भेदा कथिताश्च जिनेश्वरैः शृणुथ होकचित्तेन तान् भेदान् कथयाम्यह ॥ २६४ ॥
 उक्तदोषान् न्यजेत् योवै स लभेत् व्यवहारत । सम्यक्तोऽकृष्टसपत्तिं तुर्यजन्मनि वै शिवम् ॥ २६५ ॥
 अस्थैव पालको मर्त्यं चामोति निश्चयाच्च सः । भवे च दशमे चापि द्वादशे वा त्रयोदशे ॥ २६६ ॥
 ससैव व्यवसनान्येव मदाष्टौ वा गुणा वरा । प्लेषा त्वजनेनैव मध्यम सोत्र कथ्यते । २६७ ॥
 अष्टौ मूलगुणान् शुद्धान् पालयति तदाप्तये । मुचति व्यवसनान्येव ससैव यो नरोत्तम । २६८ ॥
 लभते सैव भो भव्याः कर्मसतानाशङ्कम् । जघन्याख्यं च सम्यक्त्वं ह्यनुकृमात् शिगास्पद । २६९ ॥

अर्थ—हे राजन् व्यवहार सम्यग्दर्शनके भेदोका और भी विशेष खुलासा कहता हूँ सो सुनो ।

जो भव्य उपर्युक्त दोषोका परित्याग करता है उसके व्यवहार नगसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है । परन्तु उस व्यवहार सम्यग्दर्शनसे चौथे ही भद्रमं मोक्ष सुखको प्राप्त होता है । अथवा जैसे जैसे व्यवहार सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि होती जाती है और जैसे जैसे उपर्युक्त दोषोका परित्याग बढ़ता जाता है वैसे ही भवावलिका अंत होता जाता है । अधिक से अधिक दश वारह भयं वह जीव मोक्षपदको प्राप्त कर लेता है ।

अर्थ—सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य भेदसे मानी है । उत्कृष्ट विशुद्धिका स्वरूप ऊपर बतला दिया है ।

मध्यम सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि—जो भव्य जीव पृथ्वीस दोष रहित आठ मूलगुण सहित सप्त व्यसनोका त्याग कर सम्यग्दर्शनका पालन करता है उसके मध्यम सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि होती है ।

जघन्य सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि—जो भव्य जीव आठ मूल गुणोके साथ सप्त व्यसनोका परित्याग कर सम्यग्दर्शनका पालन करता है उसके जघन्य विशुद्धि होती है । इस प्रकार जो भव्य जीव सम्यग्दर्शनका पालन करता है

सम्यक्त्वेन विना सर्वे दानेज्यात्रतसक्तिया । नि फला जिननथेन कथिता ह्यागमे बुधा ॥ २७० ॥

सम्यक्त्वेन सम वालो श्वश्रेऽपि भो बुधोत्तमा । वर मंतं बुधै किंच वधयेह तस्य कारणे ॥ २७१ ॥

शुद्धहृत्कारका तेहि अत्रागत्यैव तत्रत । तीर्थकारा भवत्येव कल्याणै पंचभिर्युता ॥ २७२ ॥

निल्पिपाधिपसंभेव्या ह्यनतसारमाडिता । त्रिज्ञानान्वितसद्दात्रा अनौपमविराजिता ॥ २७३ ॥

तद्वत्ते नो वर नाकवासोपि सपदायुतः । अनेकमहिमोपेतः सदा शोभेण संभृतः ॥ २७४ ॥

तेऽसा तद्धनीना तस्मात् श्यावायादिकुयोनिषु । च्युत्वा श्रमत्यहो नाकात् कालानतप्रम खलु ॥ २७५ ॥

उसको मोक्षपद शीघ्रही प्राप्त होता है । परंतु उत्कृष्ट सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिसे तद्भवमें ही मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है ।

अर्थ—सम्यग्दर्शन विना ज्ञान पूजा आदि समस्त क्रियाएँ व्यर्थ हैं । योग्य फलको प्रदान नहीं कर सकती । ऐसा जिनागममें परम भङ्गाटक अरहंत देवने कहा है ।

सम्यग्दर्शनके सहित नरकमें रहना भी अच्छा है परंतु सम्यग्दर्शनके विना स्वर्गमें वास भी अतिशय दुःखदायी है । इसका कारण यह है सो सुनिधे ।

अर्थ—नरकसे निकलकर सम्श्रद्धी जीव पच कल्याणकी महिमा को धारण करनेवाले तीर्थकर परमदेव होते हैं । इसलिये भवावल्लिका नाश विना सम्यग्दर्शनके नहीं होता है ।

अर्थ— तीर्थकर परमदेव देवगणोंसे पूजित अनंत गुणोंसे विधुषित और जन्मसे तीन ज्ञानकर मंडित सुदर शरीरवाले होते हैं । यह सम्यग्दर्शनका ही माहात्म्य है ।

अर्थ—सम्यग्दर्शनके विना विविध ऋद्धियोंसे सुसपन्न, अनेक महिमा सहित और सर्व प्रकारके सुखोंके मोक्ता होनेपर भी ऐसे स्वर्गमें वास करना अच्छा नहीं है । क्योंकि आयुके पूर्ण होनेपर यह जीव मिथ्यात्व कर्मके उदयसे देव

निमेषमात्रकालेपि यस्यैव चित्तशुद्धिता । जायते तस्य प्राप्तिश्च तत्रैव समयेत् बुधा ॥ २७६ ॥

मतिहीनाश्च ये मर्त्या शुद्धश्रद्धाप्रपालका । तेष्याशु ग्राप्य सबोध गताश्च परं पद ॥ २७७ ॥

तिर्थचयोनियु चैव कुदेवेषु कुर्ममिषु । कुमल्येषु तथा नैवोत्पद्यते तस्य धारक ॥ २७८ ॥

अधो भवति नो कुब्जः क्लीबो दारिद्रमलितः । विपुत्रः शोफसंयुक्तो भोगोभोगवर्जितः ॥ २७९ ॥

परसेवाकारः क्रूरो निर्दयः शीलवर्जित । दानेज्याव्रतमहीन परवचनचातुरः ॥ २८० ॥

जानीथ भूमिषा भो वै सम्यक्त्वस्यैव शर्मदा । महिमा च इना वया गृहस्थैर्वा मुनीश्वर ॥ २८१ ॥

पर्यायका परित्याग त् आत्रर कायमें उत्पन्न होता है । इसलिये सम्यग्दर्शनके विना जोनको देवपर्यायके वाद अनत ससार ही है ।

अर्थः— जिन भव्य जीवोंको अपनी पर्यायमें एक निमेष मात्र परिणामोंकी विशुद्धि हो जावे तो उसी समय सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है ।

अर्थः— सम्यग्दृष्टी जीव यद्यपि कुछ भी पढा लिया न होवे तो देव, शास्त्र और गुरुकी दृढ श्रद्धासे शीघ्र ही बोधको प्राप्त होकर परमपदको प्राप्त होता है ।

भावार्थः— पढ लिखे मनुष्योंको ही सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती हो ऐसा नहीं है । किंतु जिन भव्य जीवोंके आचरण शुद्ध है चित्तवृत्ति विशुद्ध है उनके परिणाम विशुद्ध है उनको ही सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है ।

अर्थः— सम्यग्दृष्टी जीव तिर्यच योनिमें कुदेव-कुभूमिमें कुत्सित मनुष्य पर्यायमें उत्पन्न नहीं होते हैं । तथा सम्यग्दृष्टी जीव अथे-कुब्जे-नपुंसक-दक्षिणी पुत्रविहीन-शोकसहित-भोगोपभोग रहित-दूसरोकी सेना करनेवाले-क्रूर निर्दय-शीलरहित दान पूजा व्रतविहीन-दूसरे जीवोंको ठगनेमें चतुर और निध नहीं होते हैं । यह सब कुछ महिमा

(२२३)

कुर्वीध्व धारण चित्त आढौ सद्हनसिद्धये । सम्भक्तस्वैव शुद्धस्य विधिदावाश्लोयद् ॥ २८२ ॥

नित्याह्वैव नाशार्थं पट्क्रिया वासर प्राप्ते । कुरुव शिवशर्माय अभिषेकादिनामत ॥ २८३ ॥

पट्क्रिया चैव कुर्वति ये गृहस्था मता न ते । पशुतुल्या बुधै भूषाश्चामे पापकार्यत ॥ २८४ ॥

अतो भो वृषिपा पूर्व कृत्वा वै नर्ममान । अन्यत् पश्चाद्दि कुर्वीध्व गृहकार्य सुखाप्तये ॥ २८५ ॥

सम्भ्रदर्शन की है । जगत में जितने सुख के माधन हैं वे सब सम्भ्रष्टही जीवको स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं ।

अर्थ—हे भव्यजीवो सम्भ्रदर्शन को सर्वमे प्रथम अपने चित्तमें धारण करिये । क्यो कि उसमे ही उत्तम व्रतोही भिद्वि प्राप्त होगी । शुद्ध सम्भ्रदर्शन कर्मरूपी दानार्थि को नाश करने के लिये मेघके समान है ।

अर्थ-दैनिक होनेवाले ममस्त पापोकी निवृत्तिके लिये पट् क्रियाओं को नित प्रतिदिन करना चाहिये । अभिषेक पुजन आदि क्रियाओसे मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है ।

अर्थ—हे राजन् ! जो गृहस्थ अपने पट् आश्रय कर्मोको (देव—पूजा गुरुकी उपासना स्वाध्याय मयम तप दान) नित्य नही करते है वे अपने कर्तव्य से रहित है । मनुष्य नही है जिसे अपने कर्तव्यो की सिद्धि की हे कर्तव्यो की सिद्धिके बिना मनुष्य पशुके समान है । पट् आश्रयक कर्मोसे पापोका नाश होता है । और जिनके केवल पापकी ही प्रवृत्ति है वे पशु ही ह ।

अर्थ—इसलिये हे नृपतिगण ! मयसे प्रथम अपने धर्म साधनों को नियम पूर्वक साधन करना चाहिये । पीछे आजीविकादिसमधी आरम करना चाहिये । जा अपनी पट् आश्रयक क्रियाओको पालन कर अन्य कार्य करता है वही त्रिवर्गका माधन संपादन करता है ।

स्वाप्तयस्य भो मुपाः क्षेत्रेषु सप्तसु सदा । व्यय कुरुत शर्माल्यै माऽन्याकार्यं कदाप्यहो ॥ २८६ ॥
 गृहस्था धर्मकार्येषु व्ययं कुर्वति नो हि ये । स्वयं द्रव्यस्य ते नूनं दैवतो वंचिता खला ॥ २८७ ॥
 धर्ममर्थव कामं च त्रिवर्गं य पुमान् खलु । साधयत्येव म याति क्रमात् शिवपुरे वरे ॥ २८८ ॥ ०
 भविराध्य धर्मकार्यं कर्तव्या गृहमेधिभिः । सर्वे कार्याः मद्राकाले शर्मसंततिदायकम् ॥ २८९ ॥

हे राजगण हो । अपना धन सात क्षेत्रोंमें लगाओ । क्यों कि पापकार्यसे उपलब्ध हुआ धन यदि सप्तक्षेत्रोंमें लगाया जाय तो वह धन पुण्योदयका कारण है । अन्य कार्यमें व्यय करनेसे केवल पापका ही कारण होता है । मात क्षेत्रोंके नाम—जिनधर्म—जिनागम—जिनमव जिनचैत्य—जिनचैत्यालय—जिनक्षेत्र—और जिन आगतन)

अर्थ—जो गृहस्थ धर्मकार्य में अपना धन नहीं खर्च करते हैं वे भविष्यके लिये ठगाये जाते हैं । उनको शुभ कर्मकी प्राप्ति नहीं होती है । और न उनको महान पुण्य संपादन करनेका अवसर ही प्राप्त होता है ।

अर्थ—जो मनुष्य धर्म—अर्थ—और काम पुरुषार्थको परस्पर अविरोद्ध भावसे संपादन करता है वही क्रमसे मोक्षपुरका प्राप्त करता है । केवल अर्थ पुरुषार्थ या काम पुरुषार्थके सिद्ध कर लेनेसे मनुष्योंके कर्तव्य पूर्ण नहीं होते हैं न त्रिवर्ग ही सिद्ध होता है । त्रिवर्गमें धर्मपुरुषार्थ मुख्य है । क्योंकि काम और अर्थ पुरुषार्थ ये दोनों ही धर्म पुरुषार्थ के फल हैं । चीजके विना फलकी प्राप्ति नहीं होती है । इसलिये चीजकी रक्षा कर फल प्राप्तिका उद्योग करना चाहिये ; क्योंकि,

अर्थ— गृहस्थको अपने समस्त कार्य धर्मकी रक्षा करते हुये ही करने चाहिये । धर्मकी हानि कर नहीं करने चाहिये । जो मनुष्य धार्मिक क्रियाओंको भूलकर अन्य कार्य करता है वह सबको प्राप्त नहीं होता है । सुखकी प्राप्ति धर्मक्रियाओंके करनेसे ही होती है ।

दानेन दृश्यते पुण्य दयाभावेन सत्प । आत्मध्यानेन मोक्षस्य स्वरूपे नात्र सशय ॥ २९० ॥

मृतये विधिना भृषा मध्यान्हे समये वरे । दत्त्वा न्याद रसाढ्य च करणीय ततश्च तं ॥ २९१ ॥

रोगग्रस्ताय संदेया भेषजा नित्यमेव हि । तस्यातंकविनाशार्थं दयाव्रतविशुद्धये ॥ २९२ ॥

भयकपितजीवाय दातव्यमभयाभिधं । दान सग्नकत्वशुद्धयर्थं सदैव भो नरेधरा' ॥ २९३ ॥

पाठकाय सुग्रन्थय कर्तव्य बहुमोदतः । दान सतज्ञानप्राप्त्यर्थं अज्ञानध्वातसद्रविं ॥ २९४ ॥

अर्थः— दान देनेसे ही पुण्यकी महिमा प्रकट होती है । दयाका कार्य करनेसे ही श्रेष्ठ तपका फल प्राप्त होता है । आत्मध्यानसे ही मोक्षका स्वरूप प्रकट होता है ।

अर्थः— मुनिगण, आर्थिका आदि पात्रोंको मध्यान्ह समय आहारदान देना चाहिये । अपनी शक्ति और भक्तिके अनुसार विधिपूर्वक प्राशुक आहार देना चाहिये । सरस, मनोहर और शुद्ध आहार दान देवे ।

अर्थ—चतुःसवमें जो रोगसे पीडित हो उसको उत्तम प्राशुक शुद्ध औषधि का दान करे । और साधारण जीवोंको भी औषधीका दान देवे । जिममे रोग का नाश हो और दया व्रतकी विशुद्धि हो ।

अर्थ—भयशुक्त जीवोंको अभय दान देना चाहिये । जीवोंको मरते हुए वचाना चाहिये । प्राणोंकी रक्षा कर अभय दान देना चाहिये । अन्य शस्त्रोंमें अभयदानका अर्थ यह बतलाया है कि—पात्र-मुनि आर्थिकादि उत्तम पात्र को वसतिकादिक देना अभयदान है । अभयदान से सम्यग्दर्शन की विशुद्धि होती है ।

अर्थ—मुनि-आचार्य-उपाध्याय आदि पात्रको जैनागमके शास्त्रोंका दान करना चाहिये । चतुःसवको जैन ग्रंथोंका दान देना चाहिये । जिससे ज्ञानकी वृद्धि होती है और अज्ञान का नाश होता है । जैनागमके ग्रंथोंका ही दान ज्ञानदान कहलाता है । अन्य मतके ग्रंथोंका दान मिथ्यात्व है ।

आर्थिकार्थ सुवस्त्राणि सदेयानि मुनीजिनं । शौचरुमर्थिममहो सदेयौ विच्छिद्यकुडिकौ ॥ २९५ ॥

श्रावकाय प्रदेयाश्च वस्त्राभरणमनया । श्राविकायै महीपाला देशान्ते च मनोन्मग ॥ २९६ ॥

दयाभावेन सर्वस्मै अतमानादि वस्तुच । दातव्यं सर्वकात्रेहि दयाभावपसिद्धये ॥ २९७ ॥

इत्याद्या या क्रिया प्रोक्ताः जिननाथेन तागमे । व्यग्ररज्राश्च ता सर्वा ज्ञेया सम्यक्वधारिभि ॥२९८॥

अर्थ—इसी प्रकार आर्थिकार्थके लिये साडी आदि वस्त्रोका दान देना चाहिये । मुनिगणोंके लिये शौचकी शुद्धिके अर्थ एवं जीमशकके लिये पीछी कूमडल देना चाहिये ।

अर्थ—हे राजगण श्रावकोंका भोजन पान और वस्त्राभरण देना चाहिये । उनको आजीविका का साधन लगा देना चाहिये । और श्राविकाओंके लिये भी स्त्राभरण अन्नपानादिक दाना चाहिये ।

अर्थ—दयाभावसे अपात्र कुपात्र और सर्वपाधारण दुःखी रोगी-अनाथ-पगु-दरिद्री पापी-नीच-पशु आदि समस्त जीवोंको यथायोग्य अन्नपानादिक वस्तुओंका दान मदें देना चाहिये । जिससे दयाभावकी प्रसिद्धि हो ।

अर्थ—श्रीजिनेन्द्र भगवानने परमागममें दान पूजा विवाह-उपनय-सस्कार-आदि जितनी क्रियाएँ उललाई हैं और वे क्रियायें व्यवहार रूप दीसही हैं परंतु उनको केवल व्यवहार नहीं समझना चाहिये । वे सब धार्मिक क्रियायें हैं । धर्मकी अपभूत है । आनश्य ह कर्तव्य है । व्यवहारमें जितने साधन कर्तव्य हैं वे भी सब धर्मकार्य हैं । उनको व्यवहार धर्मकी संज्ञा शास्त्रों में बतलाई है । परंतु सम्यग्दृष्टी जीवोंको नित्यही करना चाहिये । ये व्यवहार क्रिया हैं ऐसा समझकर भव्य सम्यग्दृष्टी जीवोंको इनसे उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । जो सम्यग्दृष्टी गृहस्थ जीव इनको व्यवहार क्रिया समझकर उपेक्षा करता है वह मिथ्यात्वी है ।

न्यायमार्गेण सर्वाश्च प्रजा सर्वार्थदायिका । पालनीया सदाकाले भवद्भिर्न्यायेवेदिभि ॥ २९९ ॥
 इति स्वस्वामिना प्रोक्त धर्मार्थफल शुभ । सभात म्थाश्च ते भृथा मृदुभावाऽन्विता व्यथु ॥ ३०० ॥
 शुत्वा संसारतो भीत्वा मन्वेति स्वहृदि तदा । जिनधर्मसम नैवापर वै सुवनत्रये ॥ १ ॥
 केचिच्च शुद्धसन्त्यक्त्वं व्यग्रहारनयान्वितं । दयाव्रतच केचिद्दि केचिदणुव्रतान् वरान् ॥ २ ॥
 दान दत्त्वा सुपात्राय करिष्यामि सुभोजन । कृत्वाभिषेकसलुजा जिनविनस्य निश्चयात् ॥ ३ ॥
 जिनपादौ धुगबोधै काश्मीरगुण्मयुतै । प्रातः सलेपयित्वा वै पश्चाल्लेपो मयाम्बु भो ॥ ४ ॥
 अरविदोऽक्रान् इत्या जिनपादाब्जयो परि । त्रिषि पश्चात् करिष्यामि मदैव मारहानत्रे ॥ ५ ॥

अर्थ—हे नृपती गणहो न्यायमार्ग से नीति पूर्वक प्रजाका पालन करना चाहिये । न्याय और मदाचार का उल्लंघन कर प्रजाका पालन करना योग्य नहीं है ।

अर्थ—वह धर्मात्मा राजा अपने अधीन राजाओको इस प्रकार धर्म-क्रिया नीति और पुण्य पापका फल निरूपण करेगा जिसको सुन कर मयामें विराजे हुए राजा अपने परिणाममें अतिशय मृदुता धारण करेंगे । परिणामोकी मरलता से उनके पापमय मलिन विचार उनके हृदयसे पर्वथा दूर होंगे । कितने ही राजा तो संसारसे भयभीत होंगे । कितने पापकर्मी से भयभीत होंगे । समस्त समाके समामद निश्चय करेंगे कि जैनधर्मके समान सुसंस्कारी तीन लोक में अन्य कोई भी पदार्थ नहीं है । इस लिये व्यग्रहार राक्षसदेशनके साथ शुद्ध सम्प्रदर्शनको बहुत से राजा धारण करेंगे । कितने ही राजा अहिंसा व्रत ग्रहण करेंगे । कितने ही राजा पाच अणुव्रत ग्रहण करेंगे ।

अर्थ—कितने ही भव्यजीव यह प्रतिज्ञा करेंगे कि इस नित्य प्रति पात्रोको दान देकर ही भोजन करेंगे । कितने ही भव्य भगवानका प्रति दिवस अभिषेक कर भोजन ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेंगे, पूजा करनेकी प्रतिज्ञा लेंगे ।

पादाग्रं जिनर्धिवस्य सद्याड्यवर्तिजे. शुभै । इंद्यैः दीपसदोहै सख्यामि. सहस्रश सदा ॥ ६ ॥
 मोदक व्यजन चैव शाल्यन्नमलिसंयुत । इत्यादिनिवसथृत्वा जिनेन्द्रपदसन्निधे ॥ ७ ॥
 जेमन शोभनं पश्चात् स्वर्णभाजनसस्थितं । पश्चादेव करिष्यामि वासरं वासरं प्रति ॥ ८ ॥
 समाभ्यर्च्य करिष्यामि लेपं पश्चात् सुखाप्तये । धूप दत्वा सुगंधाब्ज शिवसुखप्रदायक ॥ ९ ॥
 त्रिपुटा चद्रवाला च क्षीरकाया मनोहरा । पटोलिका सुशोभाब्जा नाम्ना वै मातुलिका ॥ १० ॥
 कपित्थ कटकीफलः कामाणो नेनन्ददः । दाडिमश्चैव हिंसालोलागलीनिवृक्तथा ॥ ११ ॥
 रभाद्या ये फला संति मनोवक्रहरा वरा । प्रभो पादाब्जक्षोण्यग्रे ध्रुवैतान् मेस्तु स पुन ॥ १२ ॥
 अष्टम्या वा चतुर्दश्या पालयिष्यामि सद्गतं । ब्रह्मचर्याभिध शुद्धं शिवशर्मप्रदायकम् ॥ १३ ॥

कितने भव्यात्सा पुरुष भगवानके पवित्र चरणकमलों पर सुगंधित पदार्थोंका लेप करने और अवशेष सुगंधी द्रव्यका मस्तकमें तिलक लगाने, उत्तम सुगंधित और शुद्ध पुष्पोंको भगवानके पवित्र चरणों पर कामदेवको नाश करनेकेलिये चढाने, भगवानकी पूजाके समय सुगंधित घीरु मनोहर दीप जलाकर मोहनी कर्मका नाश होनेकेलिये आरती करने, भगवानके पवित्र चरणोंके अग्रभाग में उत्तम नैवेद्य चढाने, सर्णके थालोंमें उत्तम नैवेद्य रखकर शुधावेदनीय को नाश करने के लिये चढाने, भगवानके चरणकमलके समक्ष सुगंधित धूपको अग्निमें प्रक्षेपण करने, इलायची-दाडिम-खिन्नी-जामुन-विजोरा पटोलिका-कपित्थ-फणस-नीबू-केला-श्रीफल आदि सुंदर फल चढाकर अपनेको धन्य मानने, अर्घ चढाकर कृतकृत्य मानने आदि की प्रतिज्ञाए लेंगे ।

अर्थ-अष्टमी और चतुर्दशके दिवस श्रेष्ठ व्रतको (प्रोपधोपवास) पालन करूंगा । और उस दिवस परमशुद्ध

इत्यादीन् साधाधीश तस्मीपे व्रतोत्क्रान् । भूमिपाला. सुभावाब्धा गृह्ण्यथेव निश्चयात् । १४ ॥

भूयो हि यत्र धर्मस्य पालको नात्र सशय । तदाज्ञावर्तिन सर्वे भूषा किं न भवंत्यहो ॥ १५ ॥

राज्ञ धर्मस्य मार्गो हि चलन्त्येवावनौ नृप । तदृते धर्मलेशोऽपि जायते नो कदाचन ॥ १६ ॥

तत्र क्षेत्रे प्रजा सर्वा पालयत्येव त्रिप्रभा. । जिनधर्म जिनेन्द्रेक्त दयाजलधिंसंभृतम् ॥ १७ ॥

शीलव्रतको धारण करूंगा । जिससे शिवसुखकी प्राप्ति हो । हे राजन् श्रेणिक ! इस प्रकार अनेक राजागण उस भव्यो-
त्तम महाराजके समीप व्रतोंको ग्रहण करेंगे ।

अर्थ:— जो बड़े २ मांडलीक राजा जैनधर्मके पालन करनेवाले हो तो उनकी आज्ञामें चलनेवाले अन्य
राजागण क्यों नहीं जैनधर्मका पालन करेंगे ? अवश्य ही करेंगे । राजा यदि धर्मका प्रतिपालक है तो ममस्त प्रजा
धर्मका पालन करनेवाली हो जायगी । प्रजा राजाका अनुकरण करती है । इतना ही नहीं बल्कि ममस्त देश ही जैन
धर्मका पालन करनेवाला हो जाता है ।

अर्थ:— राजा जिस धर्मको पालन करता है वहाका देश उसी धर्मका प्रतिपालक हो जाता है । क्योंकि
राजाओंके चलानेसे ममस्त प्रजा उसीकी स्वीकार कर लेती है । राजाके विना धर्मका प्रतिपालन यथार्थ रूपसे सर्वत्र
नहीं हो सक्ता । धर्म पगु है, उसको चलानेवाले चाहिये । तब ही वह सर्वत्र प्रचारमें आता है, बढ़ता है । आश्रय
विना धर्म नहीं बढ़ता है ।

अथा— वहाँकी प्रजा (क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) श्री जिनेन्द्र भगवानके द्वारा प्रकाशित जिनधर्मका ही पालन
करती है ।

व्रतपाकात् समापन्वान् भोगोपभोगसखुखान् । भोक्षश्रेयैव सदा सोपि तत्र पंचेन्द्रियोद्भवान् ॥ १८ ॥
 अस्मार्त्तिकं दुर्लभं लोके राजसैरथं नराधिभ । सुलभा र्जविणा सर्वा इन्द्रमूल्यादिसपदा ॥ १९ ॥
 संन्याय्य पुत्रपौत्रादीन् मम महीप शुभोदयात् । स्थास्यति भावितीर्थेश म्वराज्ये भूय देते ॥ २० ॥
 स्वपुरे पत्तने द्रोणे महीध्रे वाहने तथा । द्वीपव्याप्तैस्ते चैव याद पतेश्च सत्ते ॥ २१ ॥
 आगमे विपिने चापि ग्रामे खेते मटवंकं । वृक्षादिवाटिकाया न कर्षते कटरे तथा ॥ २२ ॥
 इत्यादिशोभने स्थाने कारयिष्यति स नरेट् । उदवासितानि सौम्यानि रत्नहाटकजानि च ॥ २३ ॥
 तन्मध्ये स्थापयिष्यति विमानि श्रीजिनेशिनान् । प्रतिष्ठापाठपर्यादात् चतुर्विधार्ण सह ॥ २४ ॥

अर्थ—उस राजाने ब्रतके शुभ फलसे अनेक भोगोपभोग सपदा को प्राप्त किया और मनोहर सुख भोगने लगा ।

अर्थ—हे राजन् इस कर्म दहनव्रतके फलसे राज्यके सुख प्राप्त होते हैं और इन्द्रकी विधृति प्राप्त होती है ।

अर्थ—इस प्रकार वह महाराजा ब्रतके पुण्यसे पुत्रपौत्रादि की की शुभ शोभाको प्राप्त होगा । हे भावि तीर्थेश श्रेणिक ! वह महाराजा ब्रतके पुण्यसे राज्यसपदाको चिरकाल पर्यन्त निर्विघ्न पालन करेगा ।

अर्थ—वह राजा अपने नगरमें श्रीजिनेन्द्र भगवान् के रत्नोके दिव्य सदिरोकानि निर्माण करेगा । इयी प्रकार अन्य शहरोंमें ग्राम-पर्वत-नदीतट-उगीचा-वन-द्रोण-कदरा पर्वतकी शिखर आदि स्थानोंमें भी मनोहर जिनालय निर्माण करावेगा । जो बड़े ही भव्य और सुंदर होंगे । जिनमें मनोहर जिन प्रतिमायें प्रतिष्ठा करार विराजमान करेगा । प्रतिष्ठाके समय चतुर्विध सवका आमत्रण करेगा और सबको भोजन पान आदि सामग्रीके द्वारा मतोप

क्रिमिच्छकाभिषदानं सदा दास्यति स नृप । निर्द्वेषाय शार्थं दृष्टिाभिषेकर्मणः ॥ २५ ॥
 गर्भभ्रमो गत काल नैव जास्यति स कदा । धर्मकार्यं पुर कृवा मोक्षय येन स्वप्नदासु ॥ २६ ॥
 एव स भुवभानोहि शर्मणा संतति नृप । काललया प्रयोगेण वैराय्यं प्रापयिष्यति ॥ २७ ॥
 धिरूपपायस्यार च राज्यशर्म रजोभसु । हेय पापप्रदं धीरै नून जानादिपारैः ॥ २८ ॥
 इन्द्रियोद्धुनशर्मेषु शर्मोत्पत्तिश्च किंचन । नास्तेन महवो नष्टा मृगाद्याः भक्षवो यन ॥ २९ ॥
 स्त्रोकार्ययथोद्भूता मइ तस्मदायका । अतृभिवजनका भूढरुपादेया इमे मुखा ॥ ३० ॥

करेगा । ममको उनकी इच्छानुसार दान देगा । ममके मनोरथ पूर्ण करेगा । ममकी भावनाको मफल करेगा । जिसमे दरिद्रता का समूल नाश हो जायगा ।

अर्थ—यह राजा मम प्रकारके सुखोहा सेमन करता हुआ अपने समयको नहीं जानेगा और धर्म कार्यको फिर भी मममे प्रथम कर अपनी पुण्योद्भूतमे प्राप्त सवत्तिका भोगेगा ।

अर्थ—इस प्रकार यह राजा धर्मके फलमे ममस्व प्राप्तोका भोगेगा । काललक्षिमे वैराग्यको प्राप्त होगा । वह धिक्कारने लगेगा । इन्द्रियोहा सुख पापप्रद है । उस कुठ भी पुत्र न मार नहीं है । इन्द्रियोकी आशीनतासे बहुतेसे मनुय नष्ट नापये । स्त्रोहा शरीर कामका घर है—यह महान रोग और आपत्तिका घर है । इसमे जरा भी लसि नही है, न इन्द्रियोके सुखमे कोई तृप्त हुआ इमलिये छोडने योग्य है । ज्ञानी पुरुष कपायोके आशीन नहीं होते है । इस प्रकार वह विचार करेगा ।

इन्द्रादीनां च सौन्दर्येषु यत्रास्मिन् नो किमप्यदो । अहं वै तपि तस्मादि प्तथेष यतो मय ॥ ३१ ॥
 अस्माद्गुणां च आत्मन् वै क्रियन्मानं च मन्मथ । येन लुब्धेन विष्टान अष्ट देवमनि न्यागन्तु ॥ ३२ ॥
 त्वयापि नटु मुञ्चानि अमुक्ता शर्मैवति । त्वयापि वै च नृसिन्धु राज्याभावापि नो भोज ॥ ३३ ॥
 विन्तरेण विचारेण गन्तव्यं भव शिवाश्रये । अतृपितं ह्यन शर्मन् तत्त्वन्व नानुनाशय ॥ ३४ ॥
 तथा वेत्स्वमा वर्गं मे हृदये पत्नया यग । विना प्रीतीनयगन्व्य मन्मथेन शुभेन च ॥ ३५ ॥
 अथैव गद्यधारच षारोप्य मुनमूर्त्तिनि । कश्चिथाप्यार्थं गार्ं तव शिवाश्रयत्तर ॥ ३६ ॥

अर्थ—इन्द्रादिको जो जो मुझ यक्ष्मी पर्यायमें प्राप्त होता है वह भी उनमें नष्ट होजाता है । इनलिये समारंभ कहीं पर सुख नहीं है ।

अर्थ—हे आत्मन् ! हम लोगोंकी आत्माको समारंभ क्या सुख है ? जिसके लोभमें धर्म रहनेकी अभिलाषा करू ? धर्ममें रहनेमें क्या सुख है ?

अर्थ—हे आत्मन् ! समारंभ उत्तममें उत्तम सुख तने भोगे तबभी तेरी जग भी वृत्ति नहीं हुई । अन्त काल सुख भोगते हुए तुझे अल्प मात्रभी वृत्ति नहीं हुई ।

अर्थ—अधिक क्या कह ? ओर है आत्मन् अधिक क्या समझाया जाय ! यदि मोक्षसुखके प्राप्त करनेकी तेरी इच्छा है तो समार ओर इन्द्रियोंके तुच्छ सुयोगका परित्याग कर ॥ और इस समय दुःखप्रदायक तुच्छ समारीक सुखोको छोड । आज तक भोग इतना समय इन तुच्छ भोगोंके सुखोकी लालममें व्यर्थ ही गया । और अपना यह अमूल्य जीवन सयमके विना व्यर्थ ही चला गया । इसलिए आज ही में अपने ज्येष्ठ पुत्रके शिरपर यह राज्यधार मर्षण कर मोक्षका अतुल्य सुख प्रदान करनेवाला यह मुनिसयम ग्रहण करूगा । इस प्रकार मनमें विचार कर और

इति च्यात्वा हृदि पुत्रमाहूय हरिविष्टर । स्थापयित्वा प्रज्ञानाच पाल्नायै स्वकीयके ॥ ३७ ॥
 अन्यान् पुत्रान् तथा बंधून् सतोष्य वृत्तिर्जनै सह । पृथक् पृथक् नराधीण स नृपो नृपसेवित ॥ ३८ ॥
 नि स्वैभ्य रत्नभर्मादीन् दत्त्वा कानंदचेतसा । कृत्वा जिनेन्द्रमण्डजां चाभिषेकपुरस्सरा ॥ ३९ ॥
 सर्वेषु रजकुट्टेषु सकार्यं ह्यात्मभाववित् । क्षमा च लखु सर्वेषु वस्तुषु निर्ममत्वता ॥ ४० ॥
 स्वय भुवा नि शल्यो वै स्वस्मिन् नाज्ञाय सिद्धये । स्वात्मनः शातभावाब्जः शिविका च मनोहरा ॥ ४१ ॥
 समालम्ब्य तूर्णभेव स्वात्तनुगणे सह । पुरवाह्यमने चैव यास्त्ययेव सुशोभने ॥ ४२ ॥
 सीमधरादितीर्थाना संक्षेपे वा गणेशिना । अवतीर्य म्वय यानात् शातभावात्तमानसः ॥ ४३ ॥

अपने ज्येष्ठ पुत्रको बुलाकर स्वर्णसिंहासनपर विराजमान कर अपनी प्रजाको पालन करनेके लिये पट्टाभिषेक करेगा । और छोटे पुत्रको यथाशक्ति मंपत्तिका भाग कर प्रदान करेगा । अन्य वधु जनोको उनकी योग्यता प्रमाण आदर सत्कार करेगा । अन्य परिवार कुटुन तथा भृत्यमर्गको यथायोग्य सतोषित करेगा । अपने आधीन राजाओंको पुत्रके स्वाधीन कर राज्यभार पुत्रको समर्पण करदेगा ।

अर्थ—गरीब और अनाथ जनोको धन रत्न आदि द्रव्य देकर सतोषित कर अपने भावोको सफल करनेके लिये आनंद भावसे श्रीजिनेन्द्र भगवानकी अभिषेकपूर्वक पूजा करेगा । अपने कुटुंधी जनो से क्षमा कराकर और स्वयं सचसे क्षमाकर समस्त वस्तुओ से निर्ममत्व भावको धारण कर समस्त प्रकारसे निःशल्य होगा । अपने मनकी शुद्धिको धारण कर राजा भगवती जिनदीक्षाको धारण करनेके लिये विषय और कर्पायोंको जीतनेके लिये अपने भावोंको शांत करेगा, सर्वोत्तम शिविका (पालखी) में बैठकर अनेक राजाओंके साथ बाह्य उद्यान में जायगा ।

नत्वा तत्पादपद्माब्ज (१) नारक निर्जैर्नुतम् । स्वकरो कुड्मलीकृत्य याचिष्यत्येव सप्रसम् ॥ ४४ ॥

निर्दार दयावीग शरणागतमसल । वीराधिप मुने स्नामिन् अथभूतपतारक ॥ ४५ ॥

आत्मगुणविचारज मा देहि शरणागत । दीक्षा जैनेश्वरी पूज्या इन्द्रनागेन्द्रमुषिपि । ४६ ॥

तदा गुरुभेदेन त्यमत्वा मृपणसङ्गतीम् । ब्रह्मादीन् शोभनान् चैव महामोहादायिकान् ॥ ४७ ॥

शिरस्थान सकलान् केशान् गुल्मान् वा मोहभूते । लुच यत्ना तदात्राले पंचमुष्टे मनासधी ॥ ४८ ॥

बाह्यस्थान् निखिलान् द्दज्ञान अंत स्थानपि दुस्त्यजान् । मूढश्च तत्समीपेहि त्यस्त्वा मुक्त्वा मुनेः समः ॥ ४९ ॥

गृहीत्वा मोक्षप्राप्त्यर्थं अष्टाविंशतिसम्बन्धान् । मूलभूतान् मुने सर्वांश्च मूलगुणान् दयासये ॥ ५० ॥

चतुरशीतिरक्षान् वै उत्तमदिवान् गुणान् । सर्वशुद्धिप्रदान वद्यान् मुने देवाधिपै मदा ॥

अष्टादशमहत्त्वाणि शोल्भेदानि भूते । धृत्वा वै ब्रह्मचर्येभ्य शुद्धमनि यते खलु ॥ ५२ ॥

अर्थ—राजा भीमधर स्वामीके निरुद्ध या गणधर स्वामीके समीप शात भावोसे पालखीसे उतरकर जायगा ।

अर्थ—देवगणोसे पूजित संभार समुद्रसे तारक ऐसे गुरुके पवित्र चरण कमलोको नमस्कार कर और हाथो

को कमलाकार बनाकर (हाथ जोडकर) भगवती जिनदीक्षाकी याचना करेगा ।

अर्थ—हे दिगम्बर महाव्रतधारक ! हे दयावीश ! हे शरणागत वत्सल ! हे मुने ! हे भव्यजीवोके तारक ।

आत्मगुणोके विचारक ! मुझ दीन शरणागतको भगवती जिनदीक्षा प्रदान कीजिये ॥

अर्थ—उस समय राजा आचार्य गुरुकी आज्ञासे मोहको वदानेवाले ऐसे बहुमूल्य ब्रह्माभूषण अपने शरीरसे

उतार कर फेंक देंगे । जैसे कोई मोहराजाको ही समूल उखाडकर फेंक देता है वैसे ही अपने मस्तक, दाढी, मूछके

केश पंच मुष्टीके द्वारा उखाड कर फेंक देंगे । और अत्यंत दुस्त्याव्य अतरंग एव बाह्य परिग्रहको छोडकर अपने गुल्से

इत्थ गुह्या गृहीत्वा वै सयम स मुनिर्वारम् । करिष्यति वने भीमे दुर्धर तपसग्रह ॥ ५३ ॥
 तदाधीना नरेन्द्राश्च दृष्ट्वा भ्वस्यामिनो मुदा । सहस्र भो नराधीश भव्यभावा सहस्रशः ॥ ५४ ॥
 ता दीक्षा तेषि साकं च स्वप्रहिलाभिरादरात् । गृह्णिव्यति परित्यज्य सपदा स्वर्गसन्निभा ॥ ५५ ॥
 आर्थिका आर्थिकासघे करिष्यत्यनघ तप । मुनयस्तेपि साक च तनैव मुनिना वरा ॥ ५६ ॥
 अतीचारविनिर्मुक्तान् मूलोत्तरगुणान् मुनि । मोक्षार्थं धीरभावाब्ज पालयिष्यति स खलु ॥ ५७ ॥
 महासाहसधैर्येण स यति कर्मपर्वतान् । तपोवज्रेण भो भू खड्गिव्यति दुर्जयान् ॥ ५८ ॥
 इमशाने मृषरे भीमे विजने दुर्गमे वने । कन्दरे निर्भयो धीरो महीरुहस्य कोटरे ॥ ५९ ॥

अष्टाविंशति मूल गुणोको धारण करेंगे । नवीन दीक्षित मुनिराज चौरासी लाख उत्तर गुण और अठारह हजार शीलव्रतको धारण करेंगे ।

इस प्रकार शुद्ध संयमको धारण कर वह राजा भयानक अरण्यमें घोर तपको धारण करेगा ।

अर्थ—उस समय अपने स्वामी राजाका इस प्रकार का महान अद्भुत साहस देखकर हजारो आधीनस्थ राजगण भव्यभावो से भगवती लिन दीक्षा की याचना करेंगे ।

अर्थ—वे राजगण भी अपनी २ गनियो के साथ भगवती लिन दीक्षाको ग्रहण करेंगे । आर्थिकायें आर्थिकाओंके सघमें रहेंगी और मुनिगण मुनिसघमें रहेंगे ।

अर्थ—सर्व प्रकारके अतीचारो से रहित मूलगुणोका वह मुनिराज पालन करेगा । धीर-गंभीर भावोसे और परम साहसके साथ वह मुनिराज तपके द्वारा कर्मरूपी पर्वतोको खंडकर समूल नाश करेगा । वन निर्जन स्थान इमशान-कंदरा-नदीतट आदि उपद्रव रहित एकांत स्थानमें वह घोर तपश्चरण करेगा ।

श्रवत्याश्च तटे शालमूले वा रविसन्धिषे । ध्यानं न्युत्सर्गसङ्घं च करिष्यार्येव सिद्धये ॥ ६० ॥

भासमात्रं द्विभासांतं रसमासातमेवच । मध्मोच्छुसुभेदेन हायनांतं च्युतोपम ॥ ६१ ॥

पचर्तुपक्षघनाते वा मासे वा रसाभिधे । सर्वदोषविनिष्कान्त निवसहिभञ्जियति ॥ ६२ ॥

उदन्त्याश्च समुद्रात्ता ता वाधा दुर्धरा नृप । सोद्ध्यते स यतीन्द्रो हि कर्मनाशाय केवलम् ॥ ६३ ॥

ध्यानं वाध्ययनं नित्यं मनोरोषाय सयमी । पालयिष्यति भो भूप कर्मसताननाशकम् ॥ ६४ ॥

आचार्यान् दशसंख्याख्यान् जिनधर्मपकाशकान् । तद्दूर्वादिषु ऋद्धद्याख्यान् महासासमन्वितान् ॥ ६५ ॥

जिनाज्ञापालकान् बुद्धान् नानातप करान् वरान् । निर्लिपाधिपसदोर्हैर्वद्यान् सुजीवताम्कान् । ६६ ॥

वदयन् मगधाधीशं गृह्णित्येव स मुनि । एकाविहारजा वृत्तिं घोरवीरैः प्रपूजिता ॥ ६७ ॥

ततः सोऽपि मुनीन्द्रो वै सिंहवर्त्मिभ्योऽवली । गिरिकदरदुर्गेषु संवसन् ध्यानसिद्धये ॥ ६८ ॥

और एकांतमें ध्यान धारण करेगा । एक दिनम, दो दिवस, पंद्रह दिवस, महीना, दो महीना, चार महीना, छह महीना, बारह महीना (वर्ष) आदि समयकी मर्यादासे वह मुनि घोर तपश्चरण कर अपनी आत्मासे समस्त दोषोका निराकरण करेगा ।

अर्थः— वह मुनि तृपा परीपहको सहन करेगा । अन्य परीपहको भी सहन करता हुआ वह मुनि आत्म-वलको प्रकट करेगा । कर्मका नाश करनेवाला ऐसा ध्यान-शास्त्रोका अन्ययन मन और इन्द्रियोका निरोध करेगा ।

अर्थः— आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैश्य आदि दशभेद धारक आचार्य परमेष्ठी, जिनसूत्रके उपदेशक, उपाध्याय परमेष्ठी अनेक ऋद्धियोसे विश्वपित साधु परमेष्ठीको और जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको पालनेवाले अनेक प्रकारके तपसे विश्वपित-भयजिवीको तारक ऐसे सामान्य मुनीश्वरोकी वदना करनेके लिये, एव तीर्थ यात्रा आदि करनेके लिये

करियस्येव भो भूप द्वादशाभिधससप । अतीचारविनिष्कात कर्मदावाग्निवार्धुचम् ॥ ६९ ॥
 एवं च दुर्धरं कृत्वा त्रिशुद्ध्या एतर्धं तपः । षष्ठं च गुणस्थानमुल्लेख्य ध्यानयोगत ॥ ७० ॥
 सात्रपचाद्रिगौ प्रमितात् खलु दुर्जयान् । प्रमादान् तत्र संसुक्त्वा चारुय सप्तमे पुन ॥ ७१ ॥
 रत्रे च दशमे पश्चात् क्षपकश्रेणिमहित । द्वादशमे गुणस्थानं हन्वावरणपच वै ॥ ७२ ॥
 त्रयोदशम सपाप्य गुणस्थानं च्युतोपम । कैवल्य रच्यति बोध पचमं मागधिप ॥ ७३ ॥
 तस्यभावाधुरा सर्वे ह्यागम्य नाथसयुता । गंधकुट्वादिस्तशोभा करिष्यति मनोहरा ॥ ७४ ॥

वह मुनीश्वर एका विहारी होकर निर्मल चारित्रको निर्भयताके साथ पालन करेगा । पतौकी गुफामें रह कर ध्यान करेगा ।

अर्थ—वह मुनीश्वर गिरिकदराओंमें बारह प्रकार का तप निरतीचार धारण करगा । इस प्रकार दुर्द्धर तपका धारण कर वह मुनीश्वर उचम ध्यानके प्रभावसे षष्ठम गुणस्थानहो उल्लेखन कर मातवें गुणस्थानमें पदापण करेगा ।

अर्थ—ये मुनिराज पंद्रह प्रकारके प्रमादोका त्यागकर सातवें अग्रमत्त गुणस्थानमें जा विराजमान होंगे । मातवें गुणस्थानसे फिर वे क्षपक श्रेणी माडकर क्रमसे आठवें नौवें दशवें बारहवें गुणस्थानमें जा विराजमान होंगे । अतमें मोहनीय क्रमका नाश कर तथा बारहवें गुणस्थानमें ज्ञानावगण दर्शनावगण अंतराय क्रमोंका ममूल नाशकर तेरहवें गुणस्थानमें जा विराजमान होंगे ।

अर्थ—हे मगधेश्वर वह मुनीश्वर तेरहवा गुणस्थान को प्राप्त करेगा ।
 अर्थ—कैवल्यज्ञानके प्रभावसे समस्त देव गण अपने २ परिवार व स्वामियों के मणित वहां पर आयोगे ।

स्वर्गोद्भवै शुभैर्द्रव्यै पुत्रयिवा ७ त जिन । नमः गार्दारविंद तत् स्थायति तस्य सन्निधे ॥ ७५ ॥
 स्थित्वा भिहासने सोपि धर्माभूतनःसोत्करे । तत्सर्धति चैव भयौवान् मिथ्याभ्रत-सं इनन् ॥ ७६ ॥
 शिवदं मुनिमार्गं च गृहिणा नाकटाशकं । प्रख्यापयन् जटान् सर्वान् बोधयन् बोधनोद्यतः ॥ ७७ ॥
 एवं संवोच्य भन्यौवान् दिव्येन अनिता स च । आ योगनिरोधं च कृत्वा मोक्षसंये नृप ॥ ७८ ॥
 हत्वा लघातिकर्मासीन् गुणस्थाने त्रियोज्ज्वल । अत्ये शुभलासिता तत्र यास्यति चाव्यये पदे ॥ ७९ ॥
 अव्ययस्य पदस्यैव किं स्वरूपं किञ्चिदयमम् । इति प्रश्नस्थ व्याख्यानं शृणुथ भव्यसत्तमा ॥ ८० ॥

और मनोहर गधमुटीकी रचना को करेंगे ।

अर्थ—हे माधेश्वर ! देवाण स्वर्गसे उत्पन्न हुई परम पवित्र दिव्य अष्टविध सामग्रीसे प्रभुकी पूजा करेंगे और प्रभुके पवित्र चरणकमलको नमस्कार कर प्रभुके समीप ही बैठेंगे ।

अर्थ—वे प्रभु स्वर्णके दिव्य देवोपनीत सिंहासन पर विराजमान होकर धर्माभूतसे भव्यजीवों को वृत्त करेंगे । और उनका चिरकाल सवधी मिथ्यान्यकार का नाश करेंगे ।

अर्थ—वे प्रभु मोक्षको प्रदान करनेवाले मुनिमार्ग तथा स्वर्गका प्रदान करनेवाला श्रावक धर्म का निरूपण करेंगे ।

अर्थ—इस प्रकार भव्य जीवोंको दिव्यध्वनिके द्वारा सवीधन कर वे प्रभु अतमें योगनिरोधकी क्रिया करेंगे ।
 अर्थ—अयोग नामक चौदहवें गुणस्थानमें अघातिया कर्मीका नाश अन्तिम शुक्ल ध्यानके द्वारा कर मोक्ष स्थानको प्राप्त होंगे जो साश्रुता [अव्यय] स्थान है जिममें किसी भी कारणसे पुनः दुख उत्पन्न होनेकी संभावना नहीं होती है । अव्ययस्थान किसको कहते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर यह है सो सुनिये ।

* न वा सिद्धव्रजान् महासुखवप्रदान् ससारविच्छेदकान् । मन्थयत्वादिगुणाल्यान् सुनिवृत्तान् लोकप्रसूद्धिं स्थितान् ॥ ८१ ॥

कायाकर्मविवर्जितान् सुगुप्तान् समारण्यगतान् । किञ्चित् बुद्धिलेन भयमचसा तेषां च कुर्वे स्तवं ॥ ८२ ॥

पृथ्व्याद्या नारकाणां च द्वितीया भवनेशिना । मर्त्यानां तृतीया मोक्षा चतुर्थी ज्योतिषा च सा ॥ ८३ ॥

पचमी नाकदेवानां श्रैवेयकी च पृथ्वी । नाम्ना सर्वार्थिसिद्धिश्च सप्तमी भूमिका वरा ॥ ८४ ॥

अथ्योपरि पुनर्गत्वा योजन द्वादशगमं । तिष्ठते षष्टमी पृथ्वी मिद्ववारविमन्तिता ॥ ८५ ॥

इमेच भो बुधा ह्यस्मिन् लोकाकाजोष्टनापत । संत्येव सुदराकारा स्थिग नानार्थमभूता ॥ ८६ ॥

दक्षिणोत्तरदिग्भागे रज्जुमसपमा मता । पूर्वच पश्चिमे व्यासर्ध्वंकरज्जुप्रभो बुधे ॥ ८७ ॥

दोर्वर्णसदृशच्छाया दिव्या मोक्षाधिग शिला । तन्मध्ये क्रातिसदीप्ता स्याद्वीनक्रमवर्जिता ॥ ८८ ॥

उत्तानगोलक्राष्टेन गमाना सिद्धपूरिता । नक्षत्रप्रमाकारा छत्राकारा विभाव्यहो ॥ ८९ ॥

अर्थ—महान् सुखोको प्रदान करनेवाले मंमारका नाश करनेवाले सम्यक्त्वादि आठ गुणोंमें श्रुत, सुनिधोसे पूज्य लोकके अग्रभागमें निर्गलमान, शरीर रहित, कर्मरहित समारमें पारगत ऐसे सिद्ध गगवानके गुणोंका किञ्चित् स्वरूप बतलाते हैं । पहिली पृथ्वी नरकभूमि, दूसरी भवनवाभियोकी, तीसरी मनुष्य लोककी, चौथी ज्योतिष्मन्की, पांचवीं स्वर्गकी, छठी श्रैवेयकी, मातवी सर्वार्थिसिद्धिवाली है और आठवीं भूमि सिद्धशिला है ।

अर्थ - लोकाकाशमें आठवीं पृथ्वी में एक मिद्ध शिला नामका क्षेत्र है । वह शिलोके आकार का होने से शिवा कहलाता है । यह स्थान दक्षिण और उत्तर दिशोंमें मात रज्जु प्रमाण विस्तार वाला है । पूर्व और पश्चिम में एक रज्जु प्रमाण है । स्वर्ण की दिव्यरूप मोक्षशिला है जो अपनी दीप्तिसे अतिशय चमत्कारिक है । मोक्षशिला

स्थूला सा जिननाथेन समोक्ता सर्ववेदिना । योजनैर्युभि ह्येता दुर्लभा चान्यलिङ्गिना ॥ ९० ॥
 मन्थेष्टयोजनै स्थूला कृशाते कामहान्ति, । इति सिद्धशिलायाश्च वर्णना कीर्तिता जिनैः ॥ ९१ ॥
 तस्या मन्थेच तिष्ठति नित्याष्टगुणमुपिता । निकुरुवाश्च सिद्धानां तनुवातातमस्तका ॥ ९२ ॥
 केचिदुर्ध्वासनाकाराः केचित् पद्मासना वरा । केचिच्च विविधाकारा ह्यमूर्त्ता नाशवर्जिता ॥ ९३ ॥
 निभात्येव हि केषांचित् पचेपुपचवापत । शरीराणा इय संस्था उत्कृष्टेनहि समता ॥ ९४ ॥
 लघुमन्थाच केषांचित् राट्वाते ऋथिता जिते । अपन्थै इस्तन्त्रैश्चै केपलात्रकधारिभि ॥ ९५ ॥
 बहव सते संभेदा मन्थसंख्याभिरागमे । केवाचिदोपनिमुक्ते सर्वदोषविवर्जिता ॥ ९६ ॥
 किञ्चिद्दनाश्च ने मिद्धा नाक् शरीराट्वाणहा । अनतपुखसंलीना द्वेषाणादिवर्जिता ॥ ९७ ॥

अर्ध चद्रमा के समान है । ममस्त मिद्ध उममें एक समान निवास करते हैं । मनुष्यके श्वेत्के समान जिसका विस्तार है । छात्राकार है । इस प्रकार महान विशाल शिला है । आठ योजनकी ऊँची है । जिन लिंगको धारण करनेवालों को ही वह प्राप्त होती है । अन्य लिंगको धारण करनेवालोंको मन्था प्राप्त नहीं होती है । इस प्रकार यह शिला श्री जिनन्द्र देवने बतलाई है ।

अर्थ—उम सिद्धशिलापर आठ गुणोंसे विशुद्धित, सिद्ध गणोंके समूह तनुवात बलय के अतमें विराजमान है । नहाँ पर कितने ही सिद्ध प्रभु ऊँचांसन विराजमान है कितने पद्मासन विराजमान हैं कितने ही अन्य आसनो से भी विराजमान हैं । सिद्ध भगवान शरीर रहित अमूर्त्तिक है । द्रव्य कर्म नोकम भाव कर्मसे सर्वथा रहित है । इसलिये मिर्दोंका न ना कोई रूप ही है और न कोई आकार है । अतएव सिद्धोंको नित्य निरजन निराकार कहते हैं । सिद्ध अजर हैं अमर हैं । मिर्दोंकी उत्कृष्ट अवगाहना मना पांच सी धनुषकी है और जवन्य अवगाहना ३॥ हाथकी है ।

निरजना निराकारा सदाकालेषु संस्थिता । विश्वमांग्रह्यकर्तारः सर्वोच्छ्रष्टा निरालसा ॥ ९८ ॥
 लोकोत्तमाः शरण्याश्च शुद्धा सिद्धा निरामया । अनंतकालमाप्ता तिष्ठत्यादिगा सदा ॥ ९९ ॥
 निष्कलंका निराधारा धामरूपाश्च चिन्मया । निर्भया गतनिद्राश्च निरावाघाश्च्युतोपमा ॥ १०० ॥
 नाथहीनाश्च निर्भाना पचवर्णविराजिताः । हावभावविनिस्तुक्ता ललनाभाववर्जिता ॥ १ ॥
 कामहीनाश्च निर्गंधा निर्विकल्पा निरगमा । निर्विहाराश्च निर्दशा निष्पणा भववर्जिता ॥ २ ॥
 वितृष्णा निर्विकाराश्च नि स्वना सकलार्थदा । निर्विचिन्त्याः सदाधारा कृतार्था कृत्यवर्जिता ॥ ३ ॥
 लेश्यावेदविहीनाणां शातभावेन मडिता । सर्वेवामीश्वराणां च ईश्वराः सर्वदर्शका ॥ ४ ॥

मध्यम अवगाहनाके अनेक भेद हैं । सिद्ध भगवान् चरम शरीरसे किंचित् न्यून अनंत सुखमें निमग्न हैं ।

समस्त मगलोंका प्रदान करनेवाले, सर्वोच्छ्रष्ट-लोकोत्तम-शरणभूत-परमशुद्ध-तेजरूप-चिन्मय सिद्ध भगवान् हैं ।
 सिद्ध भगवान्-निर्भय-निष्कलंक-निर्गंधाश्च-निरामय-निर्मद-निराधार-स्त्रीरहित-हावभावविलासादिरहित-
 कामविकार चेष्टा रहित-चित्तारहित-विकल्प रहित-गंध रहित-कुचेष्टा रहित-कुभाव रहित-रोग रहित-उपद्रव रहित-
 विहार रहित-छल कपट भाव रहित-क्रोधादि विकाररहित-मान मायादिरहित-पाप रहित-तृष्णा रहित-मोह-द्वेष-
 और राग रहित-परम शांत विराजमान हैं ।

सिद्धोंके वेद नहीं हैं । शरीर नहीं है । लेश्या नहीं है । कर्म नहीं है । जन्म जरा आधि व्याधि नहीं है ।
 क्षुधादि पीडा नहीं है । वे सिद्ध भगवान् ईश्वरों के ईश्वर हैं तीन जगत के स्वामी हैं । समस्त पदार्थोंके वेत्ता हैं-समस्त
 जीवोंको सत्तार समुद्रसे पार करनेवाले हैं । समस्त पदार्थको जानने वाले अनंत सुखमें संलीन हैं ।

अर्थ-उस सिद्ध शिला पर समस्त कर्म समूहको समूल नाश करनेवाले ऐसे सिद्ध परमात्मा अपनी आत्मासे

कर्मपक्वसिहीना तारका भवदेहिना । जन्मात्यजरातकवर्जिता निर्मला सदा ॥ ५ ॥

तस्मिन् शिखाया हतकर्मव्यूहा भुजति शर्म शुभमात्मभृतं । अतातिगा स्वात्मनि संस्थितास्ते निर्वाधरूपा मनसाविचिंत्वा ॥ ६ ॥

चक्रयादिराजेन्द्रयाधिपाना । करपेन्द्र ऊर्ध्वेन्द्रसमद्रुवाना ॥ भोगादिसूर्यसमवार्थकाना । तथान्यलोकद्रव्यसम्भवाना ॥ ७ ॥

जत्तये यत् क्रियते मुसैक । त्रिकालजे हि विषयोत्थयोत्थं ॥ नन्मात्सुगादक्षसमुद्रवाच्च । क्षणे हि एकैव विकारहीनं ॥ ८ ॥

भुजति मौन्य हृतकर्मजाला । सागरपक्षमस्तुलविहीन (२) ॥ अन्येन द्रव्येण विवर्जिते हि । चासेन दृढेन तथा विमुक्तम् ॥ ९ ॥

इत्वा कर्मगिरिषु पूर्वं महाध्यानमुपनिहना । येऽनंतसुखंभुक्त त्रैलोक्यशिवरं गद्यु ॥ १० ॥

ने गया परतुता सर्वे विषया कायवर्जिता । मे समाधि सुवोधि च यच्छंखु नो परा इह ॥ ११ ॥

उत्पन्न हूए सुखका भोगते है । दे मिद्व परमात्मा मन प्रकारकी नाधाओमे रहित और अत रहित मदैव अपनी आत्मामे ही निमग्न रहते है । उनका मनमे चित्तमन रुम्ना चाहिये ।

अर्थ—मगारमें इन्द्रिय और विषयोंके सेान रुम्नेमे जो सुख जीवोंको प्राप्त होता है वह तुच्छ है । विनाशोक्त है । चकर्तार्थ-विषाधर देवेन्द्र अहर्निद्र भोगशुभोके जीप तथा अन्य उत्तम जीव जो सुख तीन जगन् में भोग कर रहे है वह इन्द्रियोंका सुख तीनों तालोंका एहर्निद्र न्हिया जाय तो भी वह सुख सिद्धो के एरु क्षण मात्र सुखके समान नहीं हो सकता है । मिद्व परमात्मा आत्मधीय-अतीन्द्रिय—न्यूनान्धिररहित विकार रहित-अविनाशीक-अचिंत्य-नित्य अनंत सुखको भोगते है ।

अर्थ— जो मिद्व परमात्मा अपनी मगार पर्यायमें समस्त प्रकारके कर्मरूपी शत्रुओंको ध्यानरूपी अग्निसे भस्म कर अनंत सुख महित तीन लोककी शिखरपर विराजे है ।

अर्थ— शरीर रहित चैतन्य स्वरूप परम विशुद्ध ऐसे मिद्व परमात्मा जिनकी भेने सस्तुति की है, मुझे समाधि और रत्नत्रयकी प्राप्ति प्रदान करे ।

सिद्धवारा इमे नित्य धीश्वरीरुंनीश्वरे । वंधा ममापि संभूयात् सिद्धवृदाय वदना ॥ १२ ॥
 ईदृजे मांघावीश मोक्षस्थाने मत्तोहरे । गत्वा निराग्रं शर्म शाश्रुत चाक्षवर्जित ॥ १३ ॥
 कर्मकायविनिर्मुक्तमांभज नाशवर्जित । निर्लेप वृद्धिहीन च सर्वेषा हि सम वरं ॥ १४ ॥
 स त्रती व्रतपुण्येन ह्यंतातीत मदा खलु । मोक्षरथेऽत्र विचारज्ञ गतागमवर्जित ॥ १५ ॥
 अनेन विधिना ये हि करिष्यति कलौ नरा । यास्यति शाश्वते स्थाने विदेहात्, नात्र सशय ॥ १६ ॥
 कर्मदहनसद्भूत सोऽय कर्मविनाशक । सार्थनामयुत सम्यक् वधो भव्योत्करै मदा ॥ १७ ॥

अर्थः— वे सिद्ध परमात्मा धीर वीर मुनीश्वरोसे सदैव पुजित है वदनीक है, उनको मैं भी भाव भक्तिसे वदना करता हूँ ।

अर्थः— हे राजन् ! इस प्रकार सर्वोत्कृष्ट मदा मनोहर-मोक्षस्थानमें जाकर निरामय-साधत अतीन्द्रिय-कर्म और शरीरकी पराधीनतासे रहित, आत्मीय, अविनाशीक, निर्मल अंतत सुखको वे सिद्ध परमात्मा प्राप्त होते हैं ।

अर्थः— हे राजन् ! वह कर्मदहन व्रतको धारण करनेवाला भव्य जीव व्रतके पुण्यके प्रमानसे सासारिक समस्त सुखोंको भोगकर क्रमसे आदि, मध्य और अंत रहित-जन्ममरणादि विकार रहित मोक्षके सुखको भोगता है ।

अर्थ— इस प्रकार विधिपूर्वक इस कर्म दहन व्रतको पचम काल में जो भव्य जीव पालन करेंगे वे अवश्यही अविनाशीक मोक्षसुखको प्राप्त होंगे । इसमें कुछभी संदेह नहीं है ।

अर्थ— यह कर्मदहन व्रत सार्थक नामवाला है । जो कोई भव्यजीव इस व्रतको विधिपूर्वक धारण करता है उसके समस्त कर्मोंका दहन (भस्मीभाव) हो जाता है इसी लिये यह व्रत सर्वोत्कृष्ट है । भव्यजीवोंसे सदैव पूज्य है ।

सर्वोच्छ्रितविश्विद्याय नमोऽथ । बुद्धस्व त्व हृदि शुद्धे मया त्वपशत खलु ॥ १८ ॥
 आजन्म पापममा हि नरा यास्यन्ति निश्चयात् । अस्मैव कारणात् भूप । शिवास्वदेव शश्वते ॥ १९ ॥
 भस्य शृणु पुन त्वंच अपरमपि ये नराः । करिव्यन्ति विधिश्चाप तरिव्यन्ति भवाच्च ते ॥ २० ॥
 पूजनस्य विधिः सैव भोजनस्यापि स विधि । कर्तव्यश्च व्रते चास्मिन् व्रतिभि शिवप्राप्तये । २१ ॥
 शक्त्यनुसारतो मासे करणीयाः सुभावतः । प्रोपथा पच वा पंक्तिपमा एव सर्वैव वै ॥ २२ ॥
 वा मासे प्रति चत्वार प्रोपथा शुद्धित त्रिधा । कर्तव्या कर्मनाशार्थे सजाप्या सक्तिमान्विता ॥ २३ ॥

अर्थ—हे मगधाधीश कर्मदहनव्रतकी जो विधी वतलाई है वह सर्वोच्छ्रित विधि है । जघन्य और मध्यम विधि भी इस व्रतकी है ।

अर्थ—व्रतके प्रभाव से आजन्म पापी जीव भी समस्त कर्मोंका नाश कर मोक्ष सुखको प्राप्त होंगे ऐसा हे गजन्तु निश्चय समझ ।

अर्थ—हे राजन् इस कर्मदहन व्रतकी अन्य विधि भी बहुत हैं । जिनको पालन करनेसे भव्य जीव सत्तार समुद्रसे अवश्य ही तिर जायेंगे ।

अन्य विधियोंमें भगवानके अभियेक और पूजनकी विधि जो प्रथम वतलाई है वह बेसी ही करनी चाहिए । भोजनकी शुद्धि और प्रोपबकी विधि भी जो प्रथम वतलाई है वह भी बेसी ही करनी चाहिए । परन्तु प्रोपबोपवास प्रथम एकांतर रूपसे वतलाये ये वे अपनी शक्तिके अनुसार एकांतर रूपसे न कर पृथक् २ रूप भी कर सके हैं । परन्तु मन वचन कायकी शुद्धिसे करना चाहिए । एक मासमें पांच या दस प्रोपबोपवास करने चाहिए । अथवा

प्रोषणस्य प्रभावेण देहेस्मिन् कर्मसंभृते । भवत्यघाश्च तुर्णेन शिथिली हि दुराशया ॥ २४ ॥
 खगेश्वरेक्षणैव यथा क्रूराश्च पन्नगा । शिथिलता प्रयात्येव तथैव व्रततो ह्यघा ॥ २५ ॥
 ये ये मया नरावीश आख्याताः शिवदायका । व्रताना निकराः सर्वे ते ते स्यु नात्र सशत्रु ॥ २६ ॥
 पवमात्येषुमे काले मर्त्या या स्त्रियोपि च । मयोक्तविधिना भूप भव्यराशिसमुद्भवाः ॥ २७ ॥
 करिष्यति शिवस्थाने जरात्ययविवर्जिते । ह्यनुक्रमेण यास्यति द्वापरो नात्र चाक्षये ॥ २८ ॥
 श्रुत्वेत्य मगधाधीश स ध्वनिं च प्रभोर्मुदा । तं प्रत्याह तदा स्वामिन् वीर वीरेश पावन ॥ २९ ॥

एक मासमें चार प्रोषधोपवास करना चाहिए । प्रोषधोपवासके दिवस जाय्य अवश्य देना चाहिये और पूर्वोक्त बतलाई हुई समस्त क्रियायें करना चाहिए ।

इस कर्मदहन व्रतके प्रभावसे कर्मोंका चूर्ण अवश्य ही होगा ।

अर्थ—जैसे गरुडके दर्शनमात्र से सर्प भाग जाते हैं वैसे व्रतके प्रभावसे समस्त पाप नष्ट होजाते हैं ।

अर्थ—हे राजन् जो जो व्रत इस ग्रथमें भव्य जीवोंके उपकारार्थ बतलाये है वे सब मोक्षके प्रदान करने-वाले हैं ।

अर्थ—हे राजन् इस पंचम कालमें जो स्त्री या पुरुष भव्य जीव इस कर्म दहन व्रतको पालन करेंगे वे नियम से जरा जन्म मरण रहित मोक्ष सुखको प्राप्त होंगे ।

अर्थ—इस प्रकार कर्मदहन व्रतका महान माहारम्य श्रीवीर प्रभुकी दिव्यध्वनि द्वारा श्रवण कर हर्षको प्राप्त हुआ । फिर भी राजा श्रेणिक ने वीर प्रभुसे प्रश्न किया ।

भ्रमिष्ठि कथिता मर्या निम्ना ऽि पचमोद्भवा । ऋरिति कथं त्रुं तद्वृते नाम्नि नक्तल ॥ ३० ॥

गृहे यदि दरिद्र स्यात् पूर्वपापोद्भवात् नृ । सायेन द्विगुण कार्यं न न प्रोपा ममुत ॥ ३१ ॥

द्रव्यहीना नरा तस्मिन् करिष्यन्ति नना ऽगान् । द्रव्यात्ताश्च करिष्यति उद्यापना व्रतस्य वै ॥ ३२ ॥

मुतापुत्रविवाहेषु द्रव्योत्सर्गस्य व न्गा । ऋरिष्यति व्यय भुप मुनकादि क्रियासु वै ॥ ३३ ॥

पचमाभिरसालस्य मानवा पापमडिता । धर्ममार्गत्रहिर्भूता धर्मकार्यगान्मुला ॥ ३४ ॥

अर्थ—ह प्रमो पचम कालके मनुष्य दरिद्री ंगे । और दरिद्री मनुष्य उम तततो किय प्रकार संपादन कर सकेंगे । क्योंकि धनके बिना धर्म किम प्रकार हो सक्ता है ।

अर्थ—हे राजन् यदि दरिद्रता के कारण व्रतका उद्यापन करने की शक्ति न हो तो शरीरमे द्विगुणा व्रत करे तो भी वही फल प्राप्त होगा ।

अर्थ—द्रव्यहीन दरिद्री मनुष्य इस व्रतका उडे त्रिगुद्र भावसे और भक्तिमे करेंगे । परंतु श्रीमत (धनिक) लोग इस व्रतकी उद्यापना करेंगे । अर्थात् धनके लोभसे वे व्रत के पालन तरनम अपनी असमर्थता प्रकट करते रहेंगे । यह उनका लोभ परिणाम धर्मभावना की कमजोरी प्रकट करेगा ।

अर्थ—वे धनिक अपनी पुत्रपुत्री आदि के विवाह में ऊभी २ अपनी मान बढाईके लिये शक्तिसे अधिक धनका व्यय करेंगे । या मृतकादि पुरुषोंकी क्रिया में शक्ति के उपगत धनव्यय करेंगे । परंतु धर्मकार्यमे उनको रुचि नहीं होगी ।

अर्थ—हे राजन् पचमकालका माहात्म्य ही अद्भुत है उसमे प्रायः धर्म मार्ग से विपरीत ही कार्य होंगे । क्योंकि पचमकालके मनुष्य प्रायः पापोंसे लिप्त होंगे । धर्म मार्गमे त्रिहित—धर्मकार्य से परामुस होंगे । पचमकालके

हर्याह्लासेन त मूढा पापकार्येषु नित्यश । द्रव्यौघस्य व्यय भृष करिष्यति न संशय ॥ ३५ ॥

कृपणा द्रव्यभोक्तारो निद्रुपणाः तद्रजिता । कलौ एव भविष्यति मिथ्याभारगता खला ॥ ३६ ॥

एकम प व्रत शुद्ध य करिष्यति स शिवे । यास्यति नात्र सदेह कायात् द्विगुणं च ना ॥ ३७ ॥

गजस्नानसमा ज्ञेया विधिहीना व्रता इमे । स्वर्गसौख्यकरा चैव (नैव) शिवशर्मकरा षडु ॥ २८ ॥

मनुष्य हर्ष और उल्लासके साथ पापकार्य नित्य ही करेंगे । ऐसे कार्योंमें ही अपना धनका उपयोग कर अपने को कृतकृत्य मानेंगे । कृष्ण धनके स्वामी बनेंगे और उदार मनुष्योंके पाम धनका अभाव होगा । इस प्रकार कलिकाल पचमकालमें सर्वत्र अधर्मकी प्रवृत्ति बढ़ेगी ।

अर्थ—इस पचमकालमें भावभक्ति स हर्ष और उल्लास के साथ जो मनुष्य एक भी व्रत शुद्धता पूर्वक करता है वह मोक्षके सुखको अग्र्य ही प्राप्त होता है । इसमें सदेह नहीं है । उद्यापनशक्ति विहीन पुरुषोंको इना व्रत कर अपने भावों की विशुद्धि करनी चाहिये ।

अर्थ—जो मनुष्य व्रतोंको विधि विना ही अपने मनसं करते है उनका श्रम करना हाथीके स्नान समान निष्फल है । अत एव जो कोई भी व्रत किया जाय विधिपूर्वक ही करना चाहिये । बिना विधिके व्रत स्वर्ग मोक्षका साधक नहीं है । जिनके पास दुःख नहीं है उनको शरीरसे ही व्रत करनेमें श्रम अधिक करना चाहिये ।

भावार्थ—व्रतकी विधी उद्यापन आदि करनेकी परमागममें सर्वत्र बतलाई है सो धनवान और पुण्य पुरुषोंको तो व्रतकी उद्यापन आदि समस्त विधि करनीही चाहिये । यदि धनमान और पुण्यमान ही ऐसी विधि न करें तो उनने अपनी शक्तिको छपाकर भावना कम की । परिणामोंकी विशुद्धि पूर्ण रूप से नहीं की

अतः कायाच्च भो मर्त्याः कुर्वीच द्विगुणं व्रत । इम नैव गृहे द्रव्यो यद्यस्ति शिवशर्मणं ॥ ३९ ॥

भो बुभुज जिनकार्येषु इत्यापात्रादिषु सदा । कृपणत्व भजन्च मा ह्यनेकदु खदायकम् ॥ ४० ॥

कुर्मोः सदा य्य कृपणत्व बुधोत्तमा । भजन्च धर्मकार्येषु मा कदापि सुखासये ॥ ४१ ॥

नागराणा व्रतेदच काराण्य सुशर्मद । अस्माद्धि सकला भव्या । शिवे यास्यति निश्चयात् ॥ ४२ ॥

कर्मदहनव्रतस्य विधिश्च कथितो मया । करिष्ये त सुभावेन इद यास्यति सोल्यये ॥ ४३ ॥

इस लिये उनको धर्मका फल स्वर्ग माक्ष किस प्रकार प्राप्त हो सक्ता है । इसी प्रकार निर्धन यदि व्रतको दूना द्विगुणित न करें तो आपसकी आज्ञानुसार मर्त्य क्रिया न करनेमें परिणामोंकी विशुद्धि किस प्रकार रह सक्ती है । इस लिये प्रत्येक प्राणीको अपनी २ शक्तिको नही छुपाकर व्रत विशुद्ध परिणामोंसे करना चाहिये ।

अर्थ—हे विचारशील बुद्धिमान भव्यजीवो जिनधर्म संबंधी-पुण्यकार्यमें-पूजा और पात्रदानमें कभी भी कृपणता मत करो । क्योंकि पूजा और दानमें कृपणता करना महान दुखोंको प्रदान करनेवाला है । हां यदि कृपणता ही करनी है तो कुर्मार्गमें व्यर्थ धनको व्यय मत करो । कुर्मार्गमें कृपणता धारण करो । परंतु सुखकी इच्छा करनेवालेको धर्मकार्यमें कृपणता महान हानि पहुंचाने वाली है ।

अर्थ—शहरके विचारशील मनुष्योंको तो यह व्रत अवश्यही करना चाहिये । इस व्रतके माहात्म्यसे भव्यजीव नियमसे मोक्षके पात्र होंगे ।

अर्थ—कर्मदहन व्रतकी विधि जो वहांपर बतलाई है तदनुसार जो कोई भव्य जीव अपने विशुद्ध मार्गसे करेंगे वे अवश्य ही मोक्ष सुखको प्राप्त होंगे ।

पूर्ण याते हि व्रतस्थ प्रतिष्ठा श्रीजिनेश्विना । करणीया सुमोदेन व्रतस्थ फलसिद्धये ॥ ४४ ॥
 बहुविधाय सधाय यथायोग्यानि मोदत । सदेयानि शिवायर्थं दानानि व्रतिभि खल्ले ॥ ४५ ॥
 पुरेणु नगरेषु वै स्थापनीया मनोहरा । छत्राश्च नामा घटा ध्वजाश्च जिनसद्वसु ॥ ४६ ॥
 उच्छृणोय निधिर्मय । शिवशर्मपदायत । व्रतस्योद्यागस्यस्य स्यात्कलु आगमे मतः ॥ ४७ ॥
 यथा शान्त्या करणीयो व्रतस्योद्यापनो नृप । पताहृद्यपि चाभ्येव शक्तिद्विरियोगत ॥ ४८ ॥
 अतो हि कायतो भव्या कुरुव द्विगुणमिद । तत्सम हि फलासिश्च भवतामपि संभवेत् ॥ ४९ ॥
 अनेन केवलैवैव तरिष्यति त्रोरुत्तरा । भजिष्यति शिवशर्म सर्वाभ्येव नाशनात् ॥ ५० ॥

अर्थ—पूर्ण व्रत होने पर व्रतकी फलकी सिद्धि के लिये भव्य जीवो को व्रतका उद्यापन अवश्य ही करना चाहिये । व्रतके उद्यापन की विधि—व्रती पुरुषोक्तो शुभ भाग्ये श्रीजिनेन्द्र भगवानके उत्तमोत्तम जिनशिव निर्माण कराकर प्रतिष्ठा करानी चाहिये । चार प्रकार के संघको अपनी शक्तिके अनुसार दान भी देना चाहिये । भवको भोजन पानके द्वारा सतोषित करना चाहिये । नगरमें अथवा ग्राममें उत्तम जिनालय गनगार उममें छत्र-चमर घटा आदि उपकरण अपनी शक्तिके अनुसार प्रदान करना चाहिये । यह उच्छृणु विधि है । मन्थम भी की जाती है । इस प्रकार विधिपूर्वक व्रत करनेसे अभ्युदयकी सिद्धि होती है ।

अर्थ—हे राजन् यथाशक्ति व्रतका उद्यापन करना ही चाहिए । व्रतकी सिद्धि उद्यापन किये बिना नहीं होती है । जो इस प्रकार उद्यापन करनेकी शक्ति नही हो तो व्रतको द्विगुणित करना चाहिये । इस प्रकार द्विगुणित व्रत करनेवालोंको भी वही फल प्राप्त होता है ।

हे राजन् ! एक इसी व्रतके माहात्म्यसे भव्यजीव समारसपुत्र से तरकर मोक्षसुखको अवश्यही प्राप्त होगा ।

चंद्रपक्षप्रसस्तस्य विस्तारो लघुयोजनैः । तत्रा ज्यो नाराधीय सिद्धवारयुतस्य वै ॥ १८ ॥

खेकमालाग्रमात्रापि सिद्धादेनेस्ति न सा धरा । एवं च गता वातयोगीन्द्राथ शिवास्पदे ॥ १९ ॥

अस्मिन् काले प्रयारयेव तन्मोद्धि कालदीपत । द्विदशमतीर्थशा द्विदशकूटतो नृप ॥ २० ॥

सिद्धस्थानं च भव्यता तारका निर्भलाशयाः । दिव्यदंढधरा पूज्याः सुरैर्द्रं वा मुनीश्वरैः ॥ २१ ॥

इस तीर्थराजपर में अमंख्य तीर्थकर मोक्षधामको प्राप्त होगये और होये । अतत मुनीश्वर भी इस पवित्र मोक्षको प्राप्त होगए और होये ।

इस सम्मेलनशिवरका १२ योजन प्रमाणता विस्तार है और इसको परमागममें मित्र भूमि मानी है । मित्राचल भी इसीको कहते हैं ।

हे राजन् इस पर्वतपर ऐसा कोई गाल (केश) उगम क्षेत्र नहीं है कि जहासे कोई न कोई मुनीश्वर निर्वाणको प्राप्त न हुआ हो । गाल गालपर सिद्ध हुए हैं । इस पर्वत राजके केकर ककर परसे सिद्ध हुए हैं । समस्त पर्वत ही सिद्धभूमि है ।

हे राजन् इस वर्तमान युगमें कालके दोपसे तो वीम तीर्थकर और असख्य मुनीश्वर मोक्षको गए । चौबीस नहीं ।

अर्थ—तीर्थराजसे दिव्यदेहके धारक देवोसे पूजित मुनीश्वरों में बदनीय जगतको तारन करनेवाले परम दिगंबर परम पवित्र ऐसे श्री तीर्थकर प्रभु मोक्षधामको पधारते हैं ।

नामानि किंच कूटाना अस्मिन् काले किश्रव्याः । मुक्तिं गता मुनीन्द्राश्च तस्माद्दे सिद्धमथात् ॥ २२ ॥

एकस्यैव सुकूटस्य दर्शनात् किं फलं भवेत् । कदा मुक्तिश्च तत्सर्वं कथयस्व दयापते ॥ २३ ॥

तदनुसारतो भव्या भव्याना शिवसिद्धये । व्याख्यान तस्य कुर्वह सर्वससागतापह ॥ २४ ॥

नरा श्रीजिननायकान् गणधरात् देवेन्द्रवृद्धान्तिताम् । मौनीन्द्रान् संकलात् तथाच सुखदा जैनेन्द्रवक्रोद्भवाम् ।

वार्णां पापप्रणाशका मुनिमुता सद्बुद्धिदा पावर्णा । सम्भेदाभिधर्षतस्य शिवदं स्तोत्र करोमि शुभम् ॥ २५ ॥

कूटस्य सख्या सकलाह्वान्यैः नामानि तेषा फलम्दुमुत च । सख्या मुनीना बुधसत्तमास्ते, शृण्वतु येकाग्रहृदाच वल्मि ॥ २६ ॥

यन्मस्तके संति सुराधिगर्च्याः पापादिनाशे वरवज्जबुध्या । कूटा मनोज्ञा वरसिद्धयुक्ता शून्यद्विसंख्या कथिता जिनैन्द्रे ॥

अर्थ—इस प्रकार श्रेणिक महाराजने नी वीर प्रभुसे तीर्थराज श्री सम्भेद शिखरजीका अद्भुत रहस्य सुनकर प्रश्न किया कि हे प्रभो ! हे दयानिधे ! कृपाकर यह मतलाइये कि इस उचमान युगमें उन कूटोसे कितनी सख्यामें मुनीश्वर मोक्षको प्राप्त हुए हैं ? एक एक कूटके दर्शनसे क्या फल प्राप्त होता है ? यह सर्व वृत्तात में आपके मुखकमल से श्रवण करना चाहताहूँ । श्रेणिक महाराजके प्रश्नमें श्री नीर प्रभुने जो सिद्धराज श्री सम्भेद शिखरका स्वरूप बतलाया है तदनुसार ही भव्यजीविके कल्याणके लिये और समारके दुःखोको दूर करनेके लिये मैं उर्णन करता हूँ ।

अर्थ—श्रीजिनेन्द्र भगवान् अरहत परमात्मा तथा समस्त गणधर देवोंको नमस्कार कर पापको नाश करनेवाली—सुबुद्धिको प्रदान करनेवाली भगवती जिनवाणी माताको नमस्कार कर श्री सम्भेद शिखर (सिद्धाचल) का परम सुखदायी स्तोत्र कहता हूँ ।

अर्थ—हे राजन् सगधाधीश ! समस्त प्रकारके पापोंका सहार करनेवाले ऐसे कूटो की सख्या उनके नाम,

अर्कप्रभा पूर्वदिशिहि कूटाः । वसुप्रभा पश्चिमसहिशिच । एवं च ज्ञेयाः शिवदाः सुरार्याः तत्त्वार्थयुक्तैः बुधसत्त्वमश्च । २७ ।
 वेदेन्द्रिलक्षाश्च ननुतराश्च । ह्यशीतिकोद्यः प्रमितारुदेकैः । मुनीश्वरा श्रीध्वजितस्य काले । मुक्तिगताः सिद्धवराच्च कूटात् । २८ ।
 कुर्याच्च अश्वैव सुभावशुद्ध्या । यो भव्यमर्त्यः शृणुथ फल तत् । सदर्शनं सैव लभेःफलं च । पक्षाधिकोटिप्रमप्रोषधानाम् । २९ ।
 एतान् मुनीन्द्रान् वरभावतो वै । काले त्रिके तत्पदसिद्धयेऽहं । नमामि संसारपयोधिनस्ते । उद्धर्तुमीशाः सुरनाथवंचाः । ३० ।
 नेत्राब्धिपचैव शतानि यस्मात् जाया सहस्राणि मुनीर्द्रवथा । द्विसप्ततिलक्षप्रमाश्च कोटिकोद्यो न च सर्वमुनीश्वराश्च ॥ ३१ ॥
 धवलादिदत्तात् शुभनामकूटात् गलाहनाशात् चरसिद्धता च । संसारदावानलमेघपुण्याः स्वदेहात्तजितपुष्पदंताः । ३२ ।
 उनके दर्शन करनेका फल, और उन कूटो से मोक्षपद को प्राप्त हुए मुनीश्वरोकी संख्या आदि अद्भुत वृत्तांत कहता हूँ । सो एकाग्र मनसे सावधान होकर श्रवण कर ।

अर्थ—हे राजन् (इस वर्तमान युगमें सिद्धाचल श्रीसम्मद शिखर पर देवोंसे पूजित पापोको नाश करने वाले अतिशय मनोह्र और तीर्थकर प्रभुके निर्वाण स्थानसूत ऐसे वीष कूट श्रीजिनेन्द्र देवने बतलाये हैं । जिनमें से बारह कूट तो पूर्व दिशामें विराजमान हैं और आठ कूट पश्चिम दिशामें सुशोभित हैं । इस प्रकार शुभ कूट वीस हैं ।

अर्थ—हे मगधाधिप श्रीसम्मदशिखर पर्वत पर सिद्ध वर नामक कूट से श्री अजितनाथ भगवान चौरासी अरव चौरासी करोड चौअन लाख मुनीश्वर सहित मोक्ष पदको प्राप्त हुए । जो भव्य जीव इस कूटका दर्शन मन वचन कार्य की शुद्धिसे और विशुद्ध एरिणामो से करता है उसको वचीस कोटि उपवास का फल प्राप्त होता है । जो इस कूटसे मुझे दिगंबर मुनीश्वर कर्मीको नाशकर निर्वाण पदको प्राप्त हुए हैं उनको मैं भावभक्तिसे नमस्कार करता हूँ । वे प्रभु नय संसार से पार करें ।

अर्थ—धवलदत्तकूटसे नौ कोटाकोडि बहतर लाख दो हजार पांचसौ ग्यालीस मुनि भीमगवान पुष्पदंतके समयमें

यस्येक्षणाऋणनृणां च प्राप्तिं कराडिचलक्षप्रमप्रोषधानां । भवेच्च नो संशय चात्र भव्या ह्यनुक्रमात् मोक्षपदस्य प्राप्तिं । ३३ ।
 आनंदकृटाच्च गता सुनीन्द्रा पचप्रसा ह्यष्टशतानि चैव ॥ मित्रेक्षमहैवससतिहिं । लक्षास्तथा सप्ततिकोटयो वै ॥ ३४ ॥
 गुणाश्च कोट्युत्थ पुनश्च कोटि । एते च यस्मात् सकलाहनाशात् ॥ यद्वदनात् भव्यनरो लभेत वै । द्वयष्टप्रमल्लक्षसुभोषं च ॥ ३५ ॥
 एकाशीतिसप्तशतानि नेत्राद्रिप्रमल्ला यस्मात् । चतुशीतिकोटिततो वै अयुद्धैको ह्यविकल्कृटात् ॥ ३६ ॥

पुरेक्ष्ये सयमपालनाद्धि सुनीश्वरा केवलज्ञानयुक्ता । गता सुरेन्द्रादिगणे प्रपृज्या कर्मादिमातंगविघातसिंहात् ॥ ३७ ॥
 एकैव कोटिप्रमप्रोषधाना फलं च प्राप्नोति करोति यस्य । सद्बदना य शुभभावशुद्ध्या स वै वाविलवेन तथा शिवं च ॥ ३८ ॥
 पापको नाश कर मोक्षपदको प्राप्त हुए हैं । जो भव्य जीव इस कृटका दर्शन भावमक्तिसे करे वह व्यालीस लाख उपवासका फल प्राप्त करता है । इसमें संदेह नहीं है ।

अर्थः— आनंदकृटसे अभिनन्दन तीर्थकर तथा निहचर कोडाकोडि सत्तरकोडि सत्तरलाय चौपन हजार आठसौ पाच मुनि समस्त पापको नाश कर मोक्ष पद प्राप्त हुए । इस कृटके दर्शनका फल सोलह लाख उपवासका है । सनत्कुमार चक्रवर्तीने चतुर्विध सब महित यात्रा की । यह सब समयसे भारी निकाला गया था । लाखोंकी संख्यामें यात्री थे । मन्की चर्या समयमें होती थी ।

अर्थः— अविचल कृट से सुमतिनाथ भगवान और एक अरु चौरासी करोड ग्रामठ लाख सातसौ इक्यासी मुनि संयमको धारण कर मोक्षपदको प्राप्त हुए हे । जो भव्य इम कृटका दर्शन भावमक्तिसे त्रिशुद्धिपूर्वक करता हे वह एक करोड उपवासका फल प्राप्त करता हे । इम कृटकी चतुर्विध सब सहित यात्रा श्री आनंदसेन महागजने की थी जिममें मुनिगण आदि सर्व ही सब भारी संख्यामें था । सुमति भगवानके समयमें एक हजार मुनि मोक्ष गये । बाकी उनके शामन समयमें मोक्षको प्राप्त हुये ।

सप्ताहिका विंशतित्रा च सप्त । शतप्रभा मोहनकूटतो वै ॥ यस्मात्सुन पक्षमुच्युत्तुका । घीरा. सहस्रासुरनाथवधा । ३९ ॥
 लक्षाब्धयशीति पुनर्धर्मतीर्था । शतैकप्रभये खलु एकहीन ॥ कोट्यो गता मोक्षपुरे मनोज्ञे । अननशर्मार्णवमग्नेदेहा । ४० ॥
 यद्द्वन्द्वनाद् भव्यपुमान् लभेद्वै । कोट्येकस.प्रोणयज फल च ॥ अहं नमामि शिरसा त्रिशुद्धया । त तीर्थराजं शिवदायक च ॥ ४१ ॥
 प्रभासकूटात् करमिवसल्था सप्तशतानिच सहस्रमप्त । द्विमपञ्चतिलक्षप्रभा यतोन्द्रा कोट्यशीति चतुरस्रत्रा च ॥
 रंश्रेववधुप्रमकोटिकोट्य गताश्च मोक्षे सुरराजपुञ्ज्या । यद्दर्शनात्प्राप्तिर्भवेच्च भव्या द्विव्येवकोटिप्रमप्रोषधाना ॥
 घटाच्च अते ललितैवकूटात् द्विपवपंचत्र शतानि यस्मात् । पुनरेव मित्राष्ट सहस्रयुक्ता अशीतिलक्षा हि यतीश्वराश्च ॥

अर्थ—मोहनकूटसे पञ्चप्रभ तीर्थकर श्रीर निन्यानवे करोड चौरासी लाख व्यालीस हजार सातसो सात मुनि मोक्षको प्राप्त हुए । पञ्चप्रभ भगवानके समयमें एक हजार युनि मोक्षको गए । बाकी मुनिगण उनके शासन समय में मोक्षको गए । इस कूटके दर्शन भाव भक्तिसे त्रिशुद्धिपूर्वक करता है वह एक करोड उपवासका फल प्राप्त करता है । इसकी यात्रा चतुर्विध सवसहित सुप्रभ राजाने की ।

अर्थ—प्रभासकूटसे मुपार्व्वनाथ भगवान और नवासी कोडाकोडि चौरासी करोड वहत्तर लाख सात हजार सात सौ व्यालीय मुनिगण मोक्षको पधारे । इसके दर्शनका फल वचीस करोड उपवास का है । इसकी यात्रा उद्योत नामके राजाने एक बडे भारी चतु सवके साथ की थी जिममें मुनिगणकी हजारोसे भी अधिक सख्या थी । इस कूटकी रज लगानेसे ऊट रोग दूर होता है । विशेष एक बात यह भी है कि वीस कूटोकी यात्राके समान इसका फल है ।

अर्थ—ललितघट कूटसे श्रीचन्द्रप्रभ जिनेंद्र और चौरासी कोडाकोडि वहत्तर करोड अस्सी लाख चौरासी

द्विसप्ततिकोटिकोटिकोटीका शिवं च । यद्ददनात् षोडशलक्षकानां स प्रोपधना च फलं लभेत् वै ॥
 अशीति वा वेदशतानि यस्मात् पुन सहस्रेन्दुनगैवलक्षा । मुनीश्वरा सुप्रभनामकृटात् एकोनमध्ये शतकोटयश्च ॥
 यद्ददनात् भव्यजनः सुभक्त्या फलच कोटिप्रमोपधाना । आप्तोति नो संशय भो बुधोवा मोक्षाप्तये तच सदा प्रवदे ॥
 शतैक पचैव यतीश्वराश्च यस्मात्सहस्रा करसिंधुसन्ध्या । कराशिलक्षा पुन पक्षवेद अष्टादशैव सलु कोटिकोद्य ॥
 विधुद्धरात्मोक्षपुरे मुनीन्द्रा गताश्च कृटात् सकलाधनाशात् । यद्ददनात् षोडशलक्षकानां चतुर्कानांच फल भवेद्धि ॥
 द्विवेदयुक्ताश्च शतानि पच द्विप्रलक्षाश्च सहस्रकाश्च । ऋतुनदकोटिप्रभवैर्मुनीन्द्रा । यस्माच्च कृटात् वरसंकुलाच्च ॥

हजार पांचसौ वाचन मुनिगण मोक्ष पथारे । इस कूटके दर्शन व संघराहित यात्रा ललितदत्त राजाने की सोलह उपवासका फल इसके दर्शनसे होता है ।

अर्थ—सुप्रभकूट से पुष्पदंत भगवान तथा निन्यानवे करोड निन्यानवे लाख छासट हजार चारसौ अस्सी मुनिगण मोक्षको पथारे । जिसकी भाव विशुद्धिसे वंदना करनेका फल एक करोड उपवासका होता है । इसकी वंदना उस समय सोमप्रभ राजाने चतुर्विध संघ सहित की थी ।

अर्थ—विधुद्धर नामक कूटसे श्री शीतलनाथ भगवान तथा अष्टाग्रह कोडाकोडि व्यालीस करोड वत्तीस लाख व्यालीस हजार पांचसौ मुनिगण मोक्षको पथारे । इस कूटके दर्शन का फल सोलह लाख उपवासका है । अविचल नामके राजाने संघ सहित यात्रा की ।

अर्थ—सकुलकूटसे श्री श्रेयांसनाथ भगवान तथा छानवे कोडाकोडि छानवे करोड छानवे लाख वानवे हजार पांचसौ व्यालीस मुनिगण मोक्ष पथारे ।

नवादि अंते ऋतुकोटिकोऽथ सद्भवका मोक्षपुरे गताश्च । प्राप्तिभवेद्यस्य सुवदनाच्च फलच कोट्येकसुप्रोषधाना ॥
 द्विवेद्युक्ताश्च शतानि सप्त सहस्राणि षट्षष्टिसूक्तरक्षाः । अत्रारिकोट्योहि गताश्च यस्मात् सुनीश्वरा मोक्षपुरे सुलोके ॥५२॥
 वीरादिभते शुभसंकुलाच्च यो भव्यजीव कुरुतेच यस्मै । सद्दर्शनेन सैव त्भेत् फलच कोट्येकसख्यायुनप्रोषधाना ॥५३॥
 स्वयम्कूटात् शिवपत्तनेच शतानि सप्तैव त्रीश्वराश्च । सुरेन्द्रवधा पुन सप्तसिर्हि रक्षा. सहस्राश्च तथैव ज्ञेया ॥ ५४ ॥
 गता पुनः सप्ततिकोट्यश्च यो वदयत्येव सुभावतो वै । प्राप्तोति सैव खलु प्रोषधाना कोट्येक भव्योत्तम सफलच ॥५५॥
 पचोत्तरा रंद्रममा सुनीन्द्रा शतानि पंचैव तथा नवैव । लक्षा सहस्राणि नवैव ज्ञेया एकोनविंशत्यूनकोट्यश्च ॥ ५६ ॥
 कोट्युक्तकोट्यश्च गताश्च यस्मात् एकोनविंशतिसख्यकाख्या । मोक्षे पुरे शर्मनिकेतने च सुदत्त आदिवर अंत कूटात् ॥५७॥
 यस्यैव कूटस्य सुवंदनाच्च कोटिप्रमप्रोषणज फलं च । भव्यो त्भेत् संशय नोत्र भव्या बंदे च ते शर्मभद्रं सदा हि ॥५८॥

इस कूटके दर्शनका फल एक कोटी उपवासका है । इसकी यात्रा आनदसेन राजाने चतुर्विध संघ सहित की ।

अर्थ—सुवीर नामके कूट से विमलनाथ भगवान तथा सत्तर कोडि साठ लाख छह हजार सातसौ व्यालीस मुनिगण मोक्ष पथारे । इस कूटका दर्शन करनेसे एक करोड उपवासका फल प्राप्त होता है । इसकी यात्रा चतुर्विध संघ सहित सुप्रभनामके राजाने की थी ।

अर्थ—स्वयंभु नामक कूटसे अनतनाथ तीर्थंकर तथा सत्तर करोड सत्तर लाख सत्तर हजार सात सौ मुनि गण मोक्ष पथारे । इसके दर्शन का फल एक करोड उपवासका है । इस कूटका दर्शन चारसेन राजाने किया ।

अर्थः—सुदत्त नामक कूटसे श्रीधर्मनाथ भगवान तथा 'उर्नईस [उगनीस] कोडाकोडि उगनीस करोड नवलाख नवहजार पांचसौ पिचानवे मुनिगण मोक्ष पथारे । इस कूटका दर्शन करनेका फल एक करोड उपवासका

प्रभासकूटात् सुरनाश्वद्या सद्ग्यानवर्षेण विघूतपापा । शतमध्य एकोन शतानि रंश सहस्राणि नंदैवतैवलगा ॥५९॥
 नवैव कोटयुक्त पुनश्च कोटिरेते शिवे धर्मधरा गताश्च । श्रीशातिनाथस्य सुकालमध्ये संसारसिधोः मथका मुनीन्द्रा ६०
 कुर्याच्च यथैव सुभावशुद्ध्या यो दर्शन सैव लभेत् फलं च । एकस्य कोटिप्रमप्रोषस्य ऋषाद्धि मोक्षं सकलाहनाशनात् ॥६१॥
 द्विवेदयुक्ताश्च शतानि सम यस्मान्मुनीन्द्रा शिवप्राप्तिरेव । सहस्रोपमा षट् पुन नंदकाश्च करात्रिलक्षा हतकर्मबुंदा ॥६२॥
 ऋतुस्त्थारंप्रथमाश्च कोट्यो र्सात्स्वन्दोपमकोटिकोत्थ । गता मन-पापविभंजकाश्च श्रीज्ञान आदिधरकूटतो वै ॥६३॥
 अस्यैव कूटस्य च दर्शनाच्च कोट्योपमप्रोषधज फलं च । लभेच्च भव्यो बुधसत्तमाश्च नमामि तं चैव सदा त्रिकाले ॥६४॥

नवतिनवसहस्रा वाच लक्षास्तैश्च । नवतिनवसुकोट्यो नाटिकाद्यंतकूटात् ॥

सकलविधिविनाशास्तपुरे मोक्षसंज्ञे । कमलगुणनिधाना सगता लेखपूज्या ॥ ६५ ॥

हे । इस कूटकी यात्रा विभीवसेन राजाने चतुर्विध सघ सहित की ।

अर्थः— प्रभास कूटसे श्री शांतिनाथ भगवान तथा एक कोडाकोडि नव करोड नव लाख नव हजार नौसी निन्यानवे मुनिगण मोक्ष पधारें । इस कूटके दर्शनका फल एक करोड उपवासका है । इसकी यात्रा सुदर्शन राजाने चतुर्विध सघ सहित की थी ।

अर्थ-श्रीज्ञानधर कूटसे कुथुनाथ भगवान तथा ड्य्यानवे करोड बत्तीस लाख ड्य्यानवे हजार सातसौ व्यालीस मुनिगण सिद्ध पदकी प्राप्त हुए । इस कूटके दर्शनका फल एक करोड उपवासका फल है । इसकी चतुर्विध सघ सहित यात्रा सोमधर राजाने की थी ।

अर्थः— नाटक नाम कूटसे श्री भगवान अरहनाथ स्वामी तथा व्यानवे लाख व्यानवे हजार मुनिगण

प्राप्तिर्भवेत्तस्य चतु हि भव्या । षट् रंघ कोटि प्रमप्रोपधाना ॥

यस्येक्षणान्मुक्तिपदस्य सिद्धि । बभुक्रमात्रात्र हि संशयश्च ॥ ६६ ॥

षट्पदकोट्योवसंबलाच्च कूटान्मुनीन्द्रा शिवससुरे च । गताश्च स्वकर्मविधातनाच्च श्रीमल्लिनाथस्य मुकालभष्टये ॥ ६७ ॥

षट्पदकोटिप्रमप्रोपधाना फलस्य प्राप्ति खलु सभवेच्च । तद्दर्शनादनुक्रमत शिवस्य शिवाप्तये त च सदा प्रवदे ॥ ६८ ॥

नवैवयुक्ता वरनिर्जराच्च एकोनशतयुक्तशतानि कूटात् । लक्षा नवैव सुरवाग्पञ्चया त्रिन्यूनशतकोटियुक्तीश्वराश्च ॥

एकोनशतकोटि तथैव कोटि गता शिवे षपविधातनाच्च । यद्दर्शनात्कोटिसुप्रोपधाना फलं भवेत् भो बुधसत्तमस्य ॥ ७० ॥

अत्राग्निवयुक्ताश्च शतानिरग्रगणमित्त आदिखुनामकूटात् । मुनीश्वरा सप्तसहस्रयुक्ता पञ्चाग्निवयुक्ता सकलविद्वरा ॥ ७१ ॥

एकार्बुद सयमपालनाच्च कोट्युक्तकोट्यो नवसत्स्युक्ता । गताश्च मोक्षे शुभभावशुद्धा सच्छर्मयुक्ते खलु निर्व्ययेच ॥ ७२ ॥

सिद्धपदको प्राप्त ह्ये । इस कूटके दर्शनका फल छयानवे ऋगेड उपवासका है । इसकी चतुर्विध सघ सहित यात्रो सुप्रम राजाने की ।

अर्थ—सवलनाम कूट से श्री मल्लिनाथ भगवान तथा छयानवे करोड मुनिगण सिद्ध पदको प्राप्त हुए । इस कूटके दर्शनसे छयानवे करोड उपवासका फल प्राप्त होता है । इस कूटकी वंदना-चतुर्विध सघसहित सत्यसेन राजाने की थी । इस सघमें मुनिगणोंकी सख्या बहुत थी ।

अर्थ—निर्जर नामके कूटसे मुनिसुव्रत भगवान तथा निन्यानेवे कोडाकोडि सत्तानवे करोड नउ लाख नो सी निन्यानेवे मुनिगण सिद्ध पदको प्राप्त हुए । इस कूटके दर्शनका फल एक करोड उपवास का फल है । इस कूटकी वंदना चतुर्विध सघ सहित और अतिशय विश्वतिके साथ श्रीरामचद्र नामके बलभद्रने की ।

अर्थ:—श्री मित्रधर नाम कूटसे श्री नमिनाथ भगवान तथा एक अरब नन करोड पेंतालीस लाख सात

शिने यास्यति ते भूप स विधिः कथय प्रभो । येनैव विधिना वीर करोमि तस्य दर्शनम् ॥ ८८ ॥

भव्यजीवाहि तस्यैव चाहर्षि नान्ये कदाचन । तेषा मध्येपि भेदोस्ति तच्छृणु कथयाम्यहं ॥ ८९ ॥

नरकायुर्बर्षजीवाना तिर्यगायुर्नुतारगना । त्रिकाले नास्ति तेषाहि तदाघ्नितर्नात्र सशयः ॥ ९० ॥

ते तस्य नैव प्राप्तिश्च मा कुरु त्व मलीमर्ष । शुद्धदृष्टे नराधीश भाविकाले जिनस्य ते ॥ ९१ ॥

नरकायु तव बंधोमृत मुने । मारणपापत । अतस्त्वं नास्ति योग्यो हि तस्य भो भावित्तीर्थ्याद् । ९२ ॥

त्रयत्रिंशत्समुद्रायु पूर्वबधे बवधच । सप्तमस्यैव शत्रस्य त्वया तत्र सुपापिना ॥ ९३ ॥

राज्ञीसंयोगतो तेहि प्रलयं स गतो नृप । वेदाष्टसहस्रपानो सोमधन्नायु तेस्ति वै ॥ ९४ ॥

किस विधिसे करना चाहिये ? आप दर्शन करनेकी जो विधी बतलायेंगे उसी विधीसे हे बीदेश मेरी भावना दर्शन करनेकी है ।

अर्थ—हे श्रेणिक! श्रीतीर्थराज श्री संसेद शिखरकी यात्रा भव्यजीवोको ही होती है । अभव्योको सर्वथा नहीं होती है । भव्यजीवोंमें से भी जिन जीवोंके नरक तथा तिर्यच आयुका वध नहीं हुआ है उनको ही यात्रा होगी । हे श्रेणिक महाराज ! तुझको उस पवित्र तीर्थराजके दर्शन होने दुर्लभ है क्यों कि तू इसके योग्य नहीं है । तूने सुनी-श्वरको मारनेके भावोसे नरककी आयुका वध किया है । यद्यपि तू भावि तीर्थेश है तो भी नरकायुका वध होनेसे तुझको दर्शन होना दुर्लभ है । इसलिये मनमें इसका खेदभाव न कर ।

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज मुनिके मारणके समय तरे ऐमे अशुभभाव उत्पन्न हुए कि जिससे तैरी नरककी गति और उसमें तैतीस सागर की आयु का वध हुआ । परतु चलना रानीके संयोग से फिर भी मुनिके दर्शन कर पुण्य संपादन करनेके भाव तरे हुए । और तूने जो पाप किया था उसकी निंदा गर्हा आदि होजाने से तूने अपनी

एकैवकोट्युपप्रोषधानां फलं लभेद्यः कुरुते सुभावात् । यन्येक्षण भव्यनरोत्तमो वै वंदे सदा शर्मप्रदं शिवाय ॥ ७३ ॥
 सुवर्णभद्रात् वरकूटतो वै लक्षा ह्यशीति चतुरत्तराश्च । मोक्षं गता सर्वसुनीश्वराश्च सर्वाहिनाशास्त्रनाथं द्याः ॥७४॥
 यत्यैव कूटस्य सुदर्शनेन भव्यो लभत्येव फलं वरं च । मित्राष्टलक्षप्रमोपधानामीडे सदा त शिवदायक च ॥ ७५ ॥

एकस्य कूटस्य सुदर्शनेन भव्योत्करा मुक्तिपदे गताश्च । सप्राप्य शर्म परमं ततोवै जरादिदु कर्मविवर्जिताश्च ॥ ७६ ॥
 य सर्वकूटस्य सुभावशुद्ध्या करोति तस्यैव सुदर्शनं च । वस्तु फलं तस्य क्षमो न कोपि विना जिनेन्द्रैर्हृत्कर्मव्यूहै ॥७७॥
 चपापुरबहिर्भागंदराभिधम्भरात् । वासुपूज्यजिनाबीश शिवस्थाने गतो नृप ॥ ७८ ॥

हजार नव सौ चालीस मुनिगण मोक्षपदको प्राप्त हुये । इस कूटके दर्शनका फल एक करोड उपवासका है । इस कूटका दर्शन चतुर्विध सघ सहित भेवदत्त राजाने किया था ।

अर्थः— श्री सुवर्णभद्र कूटसे श्री पार्श्वनाथ भगवान तथा चौरासी लाख मुनिगण मोक्षपदको प्राप्त हुये । इस कूटके दर्शन करनेका फल चौरासी लाख उपवासका है । इस कूटकी चतुर्विध सघ सहित यात्रा सुप्रभावासेन राजाने की ।

अर्थ—एकही कूटके दर्शन करनेके फलसे अनेक भव्यजीव मोक्षपदको प्राप्त हो चुके है । कितनेही भव्यजीवों ने जन्म जरा आदि क्लेशोंका नाशकर परमसुख प्राप्त किया है, तो जो कोई भव्य अपने भावोंकी विशुद्धिसे मन वचन काय शुद्धतापूर्वक समस्त कूटोंका दर्शन करे उसकी महिमाका वर्णन क्या कहा जाता है । उसकी महिमा श्री अरहत भगवान ही कहनेमें समर्थ हैं ।

हे राजन् हे श्रेणिक चंपापुर नगरके बहिर्भागमें एक मद्राद्रि नामके पर्वतसे श्री वासुपूज्य भगवान मोक्ष-

स्थितिवधस्य हानिर्हि गतिवधस्य नो भवेत् । अतो भो मगधाधीश त्व तद् भोक्ष्यसि तत्र हि ॥ ९५ ॥

नरकाल्यानुयुक्ताना तदासिर्नास्ति निश्चयात् । मा दु खं कुरु तस्यैव त्व भावित्तीर्थनायक ॥ ९६ ॥

सर्वविधाधिपो भूप दशाननसमाब्धय । भुञ्चै स्वैर्चैर्विधाः त्रिखडावनिपालक ॥ ९७ ॥

ईदृशोपि गतो यन वने सिद्धाचलस्य वै । दर्शनं नोऽभजत् तृणभाजगम स्वमाशुदं ॥ ९८ ॥

अनेकाश्च महीणला नो प्रापु तस्य दर्शन । मध्यभागात् समाजसु स्याद्य मगधाधिप ॥ ९९ ॥

सगरो मघना चक्री सनरुमारसजक । आनदाब्धयभूषेन्द्रो प्रभाश्रेणिकनाममाक् ॥ १०० ॥

नरककी स्थिति वधको क्रम कर दिया-अर्थात् तेतीस सागरसे घटाकर ८४००० हजार की स्वल्यायु होगई । परतु नरक आयुका वंध नही छुटा । आयुवध नही छुटता है परन्तु स्थितिवंध कम होजाता है । इसलिए हे श्रेणिक तुझको श्री तीर्थराजका दर्शन होना दुर्लभ है । परन्तु हे भावि तीर्थराट् इसका तू अव विचार मत कर । इसका एक उदाहरण मैं बतलाता हूं उसको श्रवण कर जिससे सन्तोष होगा ।

अर्थ-सर्व विद्याका स्वामी भुचर और विद्याधर राजाओसे पूजित महासत्ताधारी तीन खडका स्वामी ऐसा रावण कार्य प्रसंग से संमेदशिखरके वन समीप जानेपर भी उसको तीर्थराजका दर्शन नहीं हुआ । क्योंकि रावणने इसके प्रथम नरकायुका वंध किया था । इसलिये इस उदाहरणसे हे श्रेणिक महाराज ! नरक गतिका वंध करनेवाले जीवोको श्री तीर्थराजका दर्शन नहीं होता है । ऐसे अनेक राजगणोको इसी कारणसे इस तीर्थराजके दर्शन नहीं हुए । तीर्थराजके जानेके पहले पहले ही उनको जबरन पीछे वापिस आना पडा । इसलिये हे मगधाधीश तू भी इसका प्रयत्न मत कर ।

अर्थः-- हे श्रेणिक महाराज निम्न लिखित राजाओंने श्री संमेद शिखरकी चतुर्विध संघ सहित और निधि

द्योतकाभिधराजेन्द्रो ललितदत्तसंज्ञक । कुन्दप्रभसमाख्यातो नाम्नाहि शुभश्रेणिक । १०१ ॥
 वरदत्तो भूपतिश्च सोमप्रभो नृपोत्तम । पुनरविचलभूपाल आनदश्रेणिको नृप ॥ १०२ ॥
 सुप्रभो नृपतिश्चैव चारुश्रेणिकसंज्ञक । भावदत्तकभूपाल सुदरो नरनायक ॥ १०३ ॥
 रामचद्राभिषो भूपस्तथा अमरश्रेणिक । सुवसतो महीपाल पुण्यवान् तेजोवान् गुणी ॥ १०४ ॥
 इमे विख्याता जाता भग्या संवाधिपा नृपा । यात्राया करणात्तस्य त्वया ज्ञेया न सशय ॥ १०५ ॥
 सिद्धवरादिकूटाना प्रतिष्ठाकारका इमे । अन्येषा नोहि सख्याच ज्ञेया भो चेलनापते ॥ १०६ ॥

पूर्वक यात्रा की । अर्थात्-वहाँपर अपने २ तीर्थकरके समयमें उनने सव । सुनि, आर्थिका, श्रावक, श्राविका) सहित कूटोकी स्थापना की-कूटोकी प्रतिष्ठायें कराई-इस कूटसे अमुक तीर्थकर मोक्षको पधारें है-और इस कूटका आजसे यह नाम है ऐसी प्रसिद्धि सर्वत्र की । उन राजाओके शुभ नामः--

सगर १ मधवा २ सनत्कुमार ३ आनदकुमार ४ प्रभासेन ५ द्योतक ६ ललितदत्त ७ कुन्दप्रभ ८ शुभसेन ९ वादत्त १० सोमप्रभ ११ अविचल १२ आनंदसेन १३ सुप्रभ १४ चारुसेन १५ भावदत्त १६ सुंदरसेन १७ रामचद्र १८ अमरसेन १९ सुवसंत २० ।

उपरोक्त राजगण संवाधिप [सवपति] के पदसे प्रसिद्ध हुए । समस्त प्रजाने इन राजगणोंको श्री संभेद शिखरकी चतुर्विध सव सहित और प्रतिष्ठा करनेके लिये ही सवपति पद प्रदान किया ।

हे मगधाधिप उपरोक्त सवपति राजाओने विधिपूर्वक (सव सहित और प्रतिष्ठादि कराकर) यात्रा की इसलिये वे सव मुक्तिको प्राप्त हुए । इनके सिवाय असख्य राजा श्री संभेद शिखरकी यात्राको गये और उत्तम

इमे सर्वे नराधीशा मुक्तिनीयुः नरेश्वर । केवल दर्शनेनैव संसुक्त्वा राज्यसपदा ॥ २०७ ॥
सुख प्राप्त किया । इसलिये श्री संभेद शिखरकी महिमा अपरपार है । उसके दर्शन करनेसे भव्य जीवोको सब प्रकारका सुख प्राप्त होता है ।

श्रीसंभेदशिखरयात्राया विधिः ।

(श्रीसंभेद शिखरयात्राया विधि प्रवक्ष्ये चित्तसमाधिना यूय शृणुथ ।)

अथादौ चतुर्दिशासु भव्यान् प्रति यात्रासूचकानि पत्राणि प्रेषणीयानि । पश्चात् रानगरस्थ जिनालयमध्ये भव्यजने सह पंचरुल्याणकामिधमंडलस्य विधिं हरणीय । पुन जिनाग्रे इति जाप्य कर्तव्य --- ओ अंतंताननप्रमसिद्धकरेभ्यो नमोस्तु-श्रीसंभेद शिखरयात्रामह करिष्ये । जातोयुष्यैश्चाष्टोत्तरशतप्रम । पश्चात् सिद्धमंत्रभि सिद्धेज्या कृत्वा । पश्चात् जिनेश्वरस्थ चित्र रथस्थर-

श्री संभेदशिखर यात्रा करनेकी विधि ।

अर्थ---हे श्रेणिक महाराज याव श्रीसंभेदशिखर की यात्रा किस प्रकार करनी चाहिए उसही विधि बतलाते हैं । भव्य जीवोको सावधान पूर्वक श्रवण करनी चाहिए ।

श्रीसंभेदशिखरकी यात्रा करनेवाले भव्यात्तमको सबसे प्रथम-चतुर्विध संवसहित यात्रा करनेके अपने भावोको सूचित करनेवाली कुक्रम पत्रिका प्रत्येक ग्रामोमें आदरके साथ भेजनी चाहिए । फिर अपने नगरमें समस्त भव्यजनोके साथ जिनालयमें अतिशय ठाठ वाट और भावभक्तिये जाकर पंचरुल्याणक विधानका मडल बनाकर पूजा करनी चाहिये । भव्य जीवोको भोजन पान आदिके द्वारा आदरसत्कार करना चाहिए । पूजा पूर्ण

विष्टरमध्ये स्थापयित्वा तदुपरि छत्रचंद्रोपकचामरादिसच्छोभा करणीया । चतुर्विधवादित्राणा अत्रे शब्दोत्करा कर्तव्या । यदि द्रव्यशक्तिर्विशेषा स्यात्सर्हि-मुनि-आर्थिकौवैश्व श्रावकश्राविकौषै साकं गमनं कर्तव्यं ।

“ नमोस्तु सर्वसिद्धेभ्यः ” इति मार्गे जाप्य जपनीयं चतु पंचकोशप्रमाणमेव गमन करणीय । सर्वजीवशमप्राप्त्यर्थं । स्व सवाधिपो भूत्वा-शुक्लावराणि सवार्थं शुक्लामेव माला करे गृहीत्वा विना वाहनमेव मुनीशिना साद्वे गमनं कर्तव्यं भोजनमप्येकवारं हि करणीय । द्रव्यार्च्यं पालनीय । सर्वेषा चतुर्विध संवस्थ भव्यमर्त्याना बैयावृत्यं करणीयं । केवापि न्यादपानादिपु दुःख न देयं

होजानेके वाद् “ ओ अनतानंतप्रमसिद्धकरेभ्यो नमोस्तु श्रीसम्पेदशिशार यात्रामहं करिष्यते ” इस मंत्रके द्वारा एक सौ आठ-(१०८) जुई के फूलो से जाप देनी चाहिये । फिर सिद्धमंत्रोके द्वारा सिद्ध भगवानकी पूजा भावभक्ति और उनके गुणोंके चितवन द्वारा करनी चाहिये । फिर श्रीजितेन्द्र भगवानकी प्रतिमाको रथमें विराजमान करनी चाहिये । रथका श्रृंगार करना चाहिये । रथको सुदर सिंहासन-छत्र-चमर-चदोवा-वंटा झालर-ध्वजा-शुद्धघटिका अष्ट मंगल द्रव्य आदि मंगलद्रव्योसे सुशोभित करना चाहिये । चार प्रकार वादित्रोंके साथ महान उत्सव पूर्वक भगवानके रथको आगे रखकर गमन करना चाहिये । जो द्रव्यकी शक्ति हो तो-मुनि-आर्थिका श्रावक श्राविकाके सह कर चतुर्विध सघके साथ गमन करना चाहिये । सघके योग्य वाहन आदिकी व्यवस्था कर सुख पूर्वक गमन करना चाहिये । जिससे समस्त भव्यगणोंको सतोप हो और विशुद्ध भाव रहें ।

मार्गे में “ नमोस्तु सर्वसिद्धेभ्यः ” इस मंत्रकी जाप्य देनी चाहिये । जाप्य स्फटिक मणि की सफेद हो । सघपतिको स्वयं यह कार्य करना चाहिये । सघपतिको सफेद वस्त्र ही धारण करना चाहिये । समस्त जीवोंके सुखकेलिये प्रति दिवस चार पांच कोशही गमन करना चाहिये । सघपतिको वाहनके विना पैदल मुनिगणोंके साथ २ गमन

मन्थेकवारं सहस्राक्षचर्यैव । वाहनं विना गमन कार्यं । गवाश्व वा ऋमेलरुमपाखिल्लित्तमुदक नो पानीयं । तेषा खानपानेषु महेश्वन
रक्षणीय वाल्लुङ्गाना दुःखं नो दातव्य निशलय सन् पथि सदा गमनं कर्तव्य-स्नानपूजादानकार्यार्थदीन कुर्वन् सन् ।

भो मगधाधिप य म्लौभव्य पुमान् एव तस्य संमेदाचलस्य यात्रा करिष्यति स पचमे वा दशमे भवे शिवाभिधे पुरे यास्यति ।
यदि एतादृश्यपि शक्तिर्नास्ति चेत् नदपि शक्तयनुमारत तस्य पर्वतस्य यात्रा कर्तव्या । अवश्यमेव यूय मोक्षे यास्यथ ।
भो भव्या शक्त्या लोभन मा कुरुन्व । अस्य दशममात्रेण सर्वपापालय प्रलय याल्येव नात्र सदेहः ॥

पूर्व प्रकरण में जो जाण्य वतलाई है वह तो नित्य देनीही चाहिये । सिद्ध भगवानकी पूजा जो प्रथम वत-
लाई वह भी उसी प्रकार करनी चाहिये । भोजन भी एकवार करना चाहिये और ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिये । वाहन
विना ही पैदल यात्रा करना चाहिये ।

गाय बलद-या गाडी-बोडा आदि जो वाहन अपने साथ में हो तो उनको पानी छानकर पिलाना चाहिये
खानपानमें किसी प्रकार का दुःख न हो ऐसी सुदर व्यास्था रखनी चाहिये । अपने सवाम वालक स्त्री-बुद्ध पुरुष होवें
उनकी सेवा सुश्रुपा उत्तम प्रकार से करनी चाहिये । किसीको किसी प्रकारका कष्ट न हो । मार्गमें दान पूजा आदि
करता हुआ निःशय्य गमन करे । किसी प्रकारकी सकल्प भावना न करे । और जो भव्य अपने साथ यात्रा करनेके
लिये आये हो उनकी यथेष्ट सहायता करे । इस प्रकार यात्रा करने से पांचवें या दसव भवसे मोक्ष सुखकी प्राप्ति
होती है ।

अर्थ-हे मगधेश्वर यदि पूर्वोक्त प्रकारकी शक्ति न हो तो शक्तिके अनुमार यात्रा करनी चाहिये । पंतु दान
पूजा आदि कार्यमें शक्तिको नहीं छिपाना चाहिये । जो भव्यजीव निःशय्य भावो से शक्तिको नहीं छिपाकर तीर्थराज
संमेद शिखरकी यात्रा करेगा वह नियमसे मोक्ष को प्राप्त होगा ।

ये नरा मगधाशीश ह्यनेन विधिना कलौ । यात्रा सम्पदेशैलस्य करिव्यति शिवास्पद ॥ १ ॥
 यास्यति क्रमतः कर्मसतते नाशनात खलु । प्राप्य मशालं शर्म देवमानुष्ययोनियु ॥ २ ॥
 सवाहनेन भो भूप करिष्यति नराश्रय ये । यात्रा तस्य भविष्यति कदा मोक्ष च तच्छृणु ॥ ३ ॥
 रश्रवेदभवं सुक्त्वा शिवस्थान च ते ननु । तदश्रे नैव स्थास्यति ससारे दुःखसंभृते ॥ ४ ॥
 करिष्यति शिवं गेहि वाहनेन विना नृप । यात्रा सम्पदेशैलस्य यास्यति ते कदा शृणु ॥ ५ ॥
 हिमाशुनेत्रपर्यंतभवले शर्मनारिधिम् । सुक्त्वा नरेन्द्रदेवादियोनियु तल्पभावात् ॥ ६ ॥
 पश्चात् प्राप्स्यति वै मोक्षपंतशर्मदायकं । सर्वपापविनिर्मुक्तमव्यजनदुर्लभम् ॥ ७ ॥

तनो. वे यदि सार्धं नास्येव मार्गचालने । तदाहि वाहनेनैव कर्तव्यं तस्य दर्शनम् ॥ ८ ॥

तीर्थराजके दर्शन मात्र से ही समस्त पाप नाशहो प्राप्त हो जाते है । इममें सदेह नहीं है ।

अर्थ:— हे मगधेश्वर जो कोई भव्य जीव इस विधिसे श्री सम्पदेशिखरकी यात्रा करेगा वह देव मनुष्य गतिके उत्तमोत्तम सुखोको भोग कर क्रमसे निर्माण पदको अवश्य ही प्राप्त करेगा ।

। अर्थ:— हे मगधेश्वर जो भव्य जीव वाहनपर सवारी कर तीर्थकी यात्रा करे उमको मोक्ष ४९ भवमें प्राप्त होगी । इससे अधिक वह संसारमें नहीं रहेगा ।

अर्थ:— राजन् जो भव्य जीव सनारीके विना ही पैदल भावोसे यात्रा करे उनको चारह भयमें मोक्ष नियम से होगी । देव मनुष्य आदिके उत्तम सुखोको भोग अनत सुखोकी खानि ऐसी मोक्षमें वे भव्य जीव चारहवे भव पर्यंत जायंगे—मोक्षको नियमसे प्राप्त करेंगे । अभव्य जीवोको यह यात्रा होना दुर्लभ है ।

अर्थ:— हे मगधेश्वर जो शरीरमें शक्ति नहीं हो तो सनारी (वाहन) से ही सम्पदेशिखरकी यात्रा करनी

विधिना केन वीर्येण चाभोगी वा सुखी दुःखी । भवेदय महावीर मुदुद्धिमान् कुदुद्धिमान् ॥ ४५ ॥
 विद्वल्यै चैव मूर्खत्व धैर्येण केन कर्मणा । लभते चैव भीरुत्वमय देही जिनैश्च ॥ ४६ ॥
 देहिन सकलार्थज विद्या भवति नि फला । विधिना केन अम्येन यथत्यर्थस्य हाणिता ॥ ४७ ॥
 कर्मणा केन प्रामोति द्रव्यौघ वा स्थिरत्वता । कर्मणा केन जीवति पुत्रपौत्रोत्क्राश्र नो ॥ ४८ ॥
 भवति बहव पुत्रा विधिना केन कर्मणा । भग्न्यय दरिद्री च महुवित्तमतिस्तथा ॥ ४९ ॥
 आतन्ती वा निरातकी भवति केन कर्मणा । जायते लभश्चैव अय जीवो दयापते ॥ ५० ॥
 न्यादो नो जीर्येते वीर अस्य नु केन कर्मणा । कुष्टित्व चैव दासत्व खड्गत्व मानहीनता ॥ ५१ ॥
 हीनागो भवति केन विधिना दुटकस्तथा । पंपुमकः कुरूपो हि रूपमपत्तिभाक् तथा । ५२ ॥
 शरीरवेद्युक्तो वा भवति केन कर्मणा । तद्धीनो भो जिनभिः अय देही च्युतोपम ॥ ५३ ॥

हे वीर ! सर्वज्ञ । हे दयापते यह जीव निर्गन्ध में कौन पाएके कानसे जाता है ? नरकमें कौन पाएके फलसे प्राप्त होता है ? तिर्यच कौन २ कार्य से होता है । मनुष्य गति को कौन कौन से कारणों में प्राप्त करता है । स्त्रीपर्याय कौन २ से कारणसे प्राप्त होती है । नपुमक कौन २ से कारणसे प्राप्त होता है । इस जीवकी सत्प्राप्त्युक्ति का कारण से होती है और दीर्घायु किस कारण से होती है । ममस्त पदार्थीका भोगनेवाला किस कारण से यह जीव होता है । और अभोगी कन होता है । सुखी और दुखी किस किस कारणों से होता है । बुद्धिमान् कुदुद्धिमान् जिद्वान् मूर्ख धैर्यशाली अधैर्यगान् भीरु निर्भय आदि किस किस कारणसे होता है ।

केन दुःसमया स्तामिन धां पचेन्द्रिय प्रसात् । भवेत्कण्डियो नून सर्वत-वपकाशक ॥ ५२ ॥
 स्थियो भवति अर्थेव समारोधे दुःकरोता । हेन वृष्टेन वषाण नांष भो परं २ ॥ ५३ ॥
 विधिना केन प्रवीर अष्टाना कर्मणा धरो । प्रथी च्चस्ते रीग अंधितशोच नागना ॥ ५३ ॥
 केन केन योगेन रोगो भवति पथ्यै । निजो दृष्टाना भो अत्तभासित ॥ ५७ ॥
 विधिना केन गमाथ भवति निर्मासः पभो । गीरानभयुक्तश्च निशीय तपिन्नुना ॥ ५८ ॥
 त्वं भो नाथ दयापेन दिनरियो त्वं सर्वेर्था स्या । त्वं सर्वज्ञ जगन्नाथेः जितभयः । सर्वदराधिः ॥ ५९ ॥
 मे भेदद्विनाशनं च्चनभि गो नाथ । नन्वात्स १६ इतर दिनभय प्रभाते सन्ने । ६० ॥
 इत्थं प्रश्नावति श्रु मा क्त्वात् अणिक्त ३ । उचा न प्रति योगे १२२ वं इत्तान णु ॥ ६१ ॥

धनी-दरिद्री-पुत्रप्राप्-अपत्र-दुःखी सुखी रोगी निरोगी-अवक नेपान् भगवशाली याग्यहीन-गोत्रनादि
 मामग्री से परिपूर्ण-और अन्य एही किन किन कारणों से होता है ।
 कोठी-सजा-मानहीन हीनांग-चित्तल-दृष्टा-पुत्र-कृ-रि कुरुषी स्वपान आदि किन किन कारणोंसे
 यह जीव होता है । विधवा और शीलान किन किन कारणोंसे जीव होता है ।
 संसार का नाश करनेवाला और दीर्घ समयों किन किन कारणोंसे होता है ।
 इत्यादि बहुत से प्रश्नोंको श्रेणिक महाराजने फिर प्रश्नोंसे हीरे और कहा कि हे सर्वज्ञ हे तिलोक्ताय
 आपके विना मेरा संदेह दूर नहीं नागा इत्यश्लेष समस्त जीवके उपकारार्थं समाधान कीजिये । यह श्रवण कर जीव
 प्रश्नने कहा कि हे श्रेणिक ! अपने प्रश्नोंका उत्तर मायधान हाकर श्रवण कर ।

शुभाशुभानि कर्माणि एकैव भागाधिप । वध्यते तस्मल्ल चैव एकैव मुख्यते खलु ॥ ६२ ॥
 वयो वै कारण दुष्टा मदाष्टौ इन्द्रियास्तथा । विकथा वेदसंख्याख्या सैव व्यसनान्यहो ॥ ६३ ॥
 चत्वारो हि कपायाश्च भिव्वाला पचथाशुभा । षट्त्रिंशदेभि सख्याभिरय जीवो नराधिप ॥ ६४ ॥
 निकोतेनंतु खान्द्रियसभूते हि कुकर्मभि । प्रजायतेऽत्र सदेहो नास्ति पापान् कि भवेत् ॥ ६५ ॥
 पशुन् दृतिच शो मर्त्या मास भक्षति वाधम । अलीकच वदत्येव मधु मधं पितृव्यहो ॥ ६६ ॥

अवलामपरमर्यस्य वचयेव प्रसुदरा । दृष्ट्वा प्रयोगमत्राद्यैत्योपायोऽकैरैस्तथा ॥ ६७ ॥
 जिनधर्मच सिद्धांतं सद्गुहं गुणमंडित । सध चतुर्विध चैव जिनधर्मोपदेशकम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर जीवोंके शुभाशुभ परिणामही वधके कारण है । जीप अपने शुभाशुभ भावोंसे कर्मोंका वध करता है और फिर उनका भला बुरा फल भोगता है ।

मन वचन काय आठ मद पच इन्द्रिय चार विकथा सात व्यमन चार कपाय पांच मिथ्यात्व इस प्रकार छत्तीस कारणोंसे निगोदका वध होता है ।

मिथ्यात्व की तीव्रताके साथ यदि मन वचन कायकी प्रवृत्ति अशुभ हो और कपायोंके उद्वेगमें प्रवृत्ति हो तो जीव निगोदका वध करता है ।

अथवा मिथ्यात्व की तीव्रता से सात व्यमनो का संभन करना परिणामोंमें तीव्र कपायका रचना सो भी निगोद के आश्रवका कारण है ।

अर्थ—हे राजन् नरक गतिके आश्रवोंको सुनो । पशुओंका वध करना मास भक्षण करना झूठ बोलना मधुका सेवन करना मदिरापान करना इस्रोंकी सुदर स्त्रियोंको मंत्रादि अथवा किसी भी प्रयोगके द्वारा

हरत्येव परस्वंच कौटिल्यादिकुर्कर्मभिः । आशक्तोऽयेव त्रयस्य वर्द्धने भवति सदा ॥ ६९ ॥

यज्ञादी नैव पापोस्ति जीवाना मारणस्यैव । एव नुवति रात्रौच भोजनस्यैव भक्षणे ॥ ७० ॥

इत्यादीनि कुकर्मणि करोति सैव निश्चयात् । एकादिसप्तश्रेणु व्रजत्येव नरेश्वर ॥ ७१ ॥

घोर घोरं च दुःखौघ तत्र सुखेनप्रिय । सुकृते च सेव एकाकी घोषोपादयात्सु ॥ ७२ ॥

क्रियन्मा जिनाधीश तत्र दुःखोक्तरा प्रभो । शृणु तेषां च भो सस्था सक्षेपात् वरुणह नृप ॥ ७३ ॥

वेदाष्टौच शतानि पंच भवति अकसह्यार्णिवि । अष्टतुप्रमल्लक्षकाश्च नृपते पचैव क्रोड्यस्तथा ॥ ७४ ॥

त्वं जानीहि नगप्रभेणु सकलश्रेणु दुःखोक्तरा । नानाशर्मवियगयका भयप्रदा एतावता निश्चयात् । ७५ ॥

ठगना जिनधर्म जिनसिद्धात जिनगुरु चतुर्विध सध और जिनधर्मोपदेशोकी निंदा रुग्ना अवर्णवाद् लगाना उनके विषयमें मलिन चिंतन करना आदि सब नररुके कारण है ।

दूसरोका धन हरण करना, कुटिल परिणाम रखना परिग्रहका तीव्रतर समुद्र परिणाम रखना यज्ञमें जीवोक्ता बचन करना अथवा ऐसा मिथ्या प्रचार कर जनताका पापके मार्गमें लगाना जीवोके बधमें पाप नहीं बतलाना, जीवहिंसामें धर्म मानना रात्रिमें भोजन करना इत्यादिकु कुर्रुमसे जीव नररु योनिओमें जाता है । जिनधर्म जिना-यतन-जिनगुरु-जिनसधमें मिथ्या अवर्णवाद् लगानेसे और मिथ्यात्वकी तीव्रतासे जीव नरकमें जाता है ।

अर्थः— हे गजन् जीन पापके कारण नरकमें घोर घोर दुःखोको अकेलाही भोगता है ।

यहां कितने प्रकारके दुःख है ? इस प्रकारका प्रश्न सुनकर वीरप्रभुने कहा कि हे श्रेणिक ! नरकमें इस जीवको पांच करोड अडसठ लाख पाचसौ चौरासी प्रकारका दुःख प्राप्त होता है । यह एक सामान्य प्रकारसे दुःखोका पारावारही नहीं है ।

तस्य यात्रासमं नास्ति ह्यपर पुण्यकारण । अतो भव्या शिवाप्स्यर्थं कुर्वीध्वं ता मुदा सदा ॥ १५ ॥
 एकवारमपि त्वं वदयिष्यति ये नरा । अनुकृमाच्च यास्यति शिवेव्यये घराधिप ॥ १६ ॥
 मा कुरुध्व तपोबंधं भो भव्या ध्यानसहति । सम प्रत्येकवारच आमृत्यु तस्य दर्शनम् ॥ १७ ॥
 भजध्वं तेन पुण्येन केवलेन शिवास्थदे । यास्यथ नात्र सेदहो द्वितीयेहि भवेऽव्यये ॥ १८ ॥
 तस्य विगतितमस्यैव कूटाना दर्शनात् नृप । कोटिश प्रोपधानाच फलोत्पत्तिश्च जायते ॥ १९ ॥
 तस्फलात् कर्मवृंदाश्च नाश यात्येव तक्षणे । अग्रे अव्ययगोत्रस्य वंधोत्पत्तिः प्रजायते ॥ २० ॥
 विना वाहनतो पच तस्य दर्शनत शिवे । द्वितीयेहि भवे मूप इतरा यास्यति नृमात् ॥ २१ ॥

अर्थ—श्री संभेद शिखर की यात्राके समान अन्य दूसरा कोई भी पुण्यका कारण नहीं है । इसलिये मोक्षकी प्राप्ति के लिये भव्यजीवी को यात्रा करनी चाहिये । जो कोई एकवार भी उस पर्वतराजकी वदना भावभक्तिसे करता है वह अवश्य ही अनुक्रम से मोक्षसुखको प्राप्त होता है ।

अर्थ—हे भव्यजीव जो तप और ध्यान करने की तुल्य शक्ति नहीं तो मत कर परतु अपनी धर्मिय में वार वार समेदशिखरकी यात्रा कर । जिससे अवश्य सुखको प्राप्त होगा । और जो चतुर्विध संघ सहित विधीपूर्वक यात्रा करेगा तो दूसरे ही भवमें मोक्षसुखको प्राप्त होगा ।

अर्थ—हे मगधेश्वर ! जो कोई भव्यजीव वीस कूटके दर्शन करता है उसको करोडो उपवासका फल प्राप्त होता है जिससे कर्मसमूहका नाश होता है । और मोक्ष पदके योग्य उत्तम गोत्रका वंध होता है ।

हे राजन् जो भव्यजीव वाहनके विना श्रीसंभेद शिखरकी यात्रा व दर्शन करे तो वह दूसरे भवमें ही मोक्षपदको प्राप्त होता है । और वाहन सहित यात्रा करनेवालोको अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त होती है ।

अस्य दर्शनमात्रेण कृष्टाद्या नाशता गता । रोगिणा सकलार्तका ऋद्ध्यासि ऋद्धिकाशिणा ॥ २२ ॥
 पुत्रकाक्षावता चैव जातादि चेलनाप्रिय । पुत्रोत्पत्तिर्विधनोत्सति रावयोत्सति शिवम्यच ॥ २३ ॥
 अस्मास्किमपि नो सति दुर्लभा दुर्धटा सुखा । शिवशर्मस्य संप्राप्तिर्जायते एष्येण किम ॥ २४ ॥
 भो भव्या शिवप्राप्त्यर्थं कुरु-ऽ तस्य दर्शनं । चतुर्विधेन सधेन तथा शक्त्यनुसारत ॥ २५ ॥
 अस्मिन् काले नगणाच मतो भो मगधाधिप । श्रीमच्छिखरसंमेदात्रान्योपाय शिवस्य वै ॥ २६ ॥
 पदस्थामेवच कर्तव्या संमेदमुसृत खलु । सकलकर्मनाशार्थं तूर्णमेद शिवात्मये ॥ २७ ॥

अर्थः—हे राजन् जो भव्यजीव इसके दर्शन भाव भक्तिसे करते हैं उनके कुष्टरोग आदि भयानक रोग नाशको प्राप्त हो जाते हैं । समस्त व्याधि नष्ट हो जाती है । धनार्थीको धनकी प्राप्ति होती है । पुत्रार्थीको पुत्रकी प्राप्ति होती है । और राज्यकी प्राप्ति करनेवाले को राज्य मिलता है । जीवोको संमेद शिखरके दर्शन समस्त प्रकार के सुखोको प्रदान करते हैं ।

अर्थः—इस पर्वतराजकी वदना और दर्शनके पुण्य से ससार में कोई भी वस्तु दुर्घट नहीं है । सब प्रकारके दुर्लभ सुख स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं । जम इसकी वंदनाका फल मोक्षके सुखोकी प्राप्ति है तब अन्य साधारण सुखोकी प्राप्ति में आश्चर्य ही क्या ? इसलिये हे भव्य मोक्ष सुख की प्राप्तिके लिये तीर्थराज श्री संमेदाचलके दर्शन चतुर्विध सब निकालकर अतिशय भावभक्तिसे कर । ऐसी शक्ति न हो तो सशक्तिके अनुसार ही दर्शन (वदन) कर ।

अर्थः—हे मगधेश्वर पचम कालमें मोक्षकी प्राप्तिका सरल उपाय है तो एक मात्र श्रीसंमेद शिखरकी यात्रा पैदल (बिना सवारी) ही करना चाहिये जिससे समस्त कर्मोंका नाश होकर मोक्ष सुखकी प्राप्ति हो ।

यत्रत्या सकला जीवा सिंहसर्पादिका नरा । भव्या स्यु इतरेषाच उत्पत्तिव तत्र वै ॥ २८ ॥

केचिदासन्नभ्यास्ते केचित् दूरतरा खलु । शिवयोग्याश्च सर्वे स्यु नायोग्या मागधेश्वर ॥ २९ ॥

सदातिशयसयुक्त खगामादिवदित । फलभुष्योत्करै सोद्रि सदा मात्स्येव सुदर ॥ ३० ॥

वराहहरिसर्पादिजीवात् यत्र भयो न च । तथानाकारिणा भूय तत्रत्या मृदुमानसा ॥ ३१ ॥

यस्माद् ध्यानादितो मोक्षे अनंभानतगो जिना । गताश्च तस्य किं भूप महिमाच करेभ्यहम् ॥ ३२ ॥

कलौ तद्दर्शनेनैव तश्चिन्वति घना जनाः । भव्यराशिमसुराणा नोऽभव्या तस्य दर्शकाः ॥ ३३ ॥

देवायुर्वज्जीवाना मनुष्यायुर्मुलात्मनाम् । तस्थसि सभक्तेनून इतरेषाच नो भवेत् ॥ ३४ ॥

अर्थ—हे राजन् जिस सम्भेदशिखर पर सस्रत जीन मात्र भव्य है । सिंह-सर्प आदि शुद्र जीव भी भव्य

ही है वहापर अभव्य उत्पन्न नहीं होत है । इमका यह भाव है कि वृक्षारिक एकेन्द्रिय जीव भी वहां पर भव्य ही है ।

अर्थ—हे राजन् ससेदाचलपर क्रिन्नेही तो आमन्न भव्यजीव है । कितने ही दूर भव्य है । परंतु वे मन

मोक्ष जानेके योग्य ही है । जिनको कभी मोक्ष होनेवाली नहीं है ऐसे जीव वहापर उत्पन्न ही नहीं होते है ।

अर्थ—हे राजन् यह तीर्थराज अतिशय चमत्कार सहित है । देव विद्याधरादिसे सदैव पृजित है । फल

फल आदि लताओसे रमणीय है । यहांपर सर्प सिंह सूअर आदि क्रूर प्राणी यात्रीगणोको नाधा नहीं देते है । यह

एक विचित्र अतिशय है वयो कि ये क्रूर प्राणी भी सदैव भद्रपरिणामी ही वहांपर रहते है । —

अर्थ—जिस सिद्धाचल तीर्थरूप श्रीमसेदशिससे ध्यानको धारणकर अनत तीर्थकर मोक्षधामको पधार है

उसकी महिमाका क्या वर्णन किया जाय ? कालिकालमें उस तीर्थराजके दर्शन मात्रसेही बहुतेसे प्राणी ससारसमुद्रसे

पार होगे । भव्यजीवोको ही उसका दर्शन होता है अभव्यको नहीं । भव्योमें से जिन जीवोको देवायु अथवा मनुष्या-

कुरुष्व त्वं हृदि स्वस्य स्मरण भावशुद्धित । तस्य संमेशैलस्य तद्धि तदर्शनोपमम् ॥ ३५ ॥
 प्रातः सन्मूर्च्छसायान्हे भो भव्या त हृदि सदा । चित्तयथाष्टकपरि घातार्थं घातनक्षरम् ॥ ३६ ॥
 इत्यादिमहिमां स्वामी त प्रति भव्यबोधक । सम्भेदादेश्च आचल्यत् स सर्वेणा सुखाप्तये ॥ ३७ ॥
 विभो ध्वनिमिति श्रुत्वा पुनर्द्वीपरदानये । इमा प्रश्नावलिं चके स्वातःस्था भव्यबोधदाम् ॥ ३८ ॥
 वीराधिप महावीर अस्य नु केन कर्मणा । निक्रोते वधनपासिर्जायते परमेश्वर ॥ ३९ ॥
 भो जिनैन्द् दयाधीश कर्मणा केन गच्छति । जीवोसौ नरेकं घोरदुःखसहसिसभृते ॥ ४० ॥
 नाके व्रजति भो नात्र केन वै शुभकर्मणा । तिर्यवाख्य च दुर्योनिं लभते केन कर्मणा ॥ ४१ ॥
 मर्ययोनिं च छिभेदा केन प्राप्नोति कर्मणा । स्त्रिया ना भो जिनाधीश नु वामा केन कर्मणा ॥ ४२ ॥
 नलीवत्तामिघदु कर्म भो स्वामिन् अस्य नुश्च वै । भवति कर्मणा केन अलवायुर्नामकं च वै ॥ ४३ ॥
 दीर्घायुर्भो जिनादित्य भवेदस्यैव केन वै । कर्मणा सार्वतीर्थेश क्रयं भोगी ह्ययं भवेत् ॥ ४४ ॥

युका वन है

उनको ही तीर्थराजका दर्शन होगा । अन्यको सर्वथा नहीं होगा ।
 अर्थ—हे भगवन्धर तू अपने हृदय में भावशुद्धि से उस तीर्थराज श्री संमद शिखर का स्मरण कर । वह

स्मरण तुझको साक्षात् दर्शनके समानही फलका प्रदान करने वाला है । जो भव्यजीव प्रातःकाल-मध्याह्नकाल और
 सायंकाल को उस तीर्थराज का स्मरण करता है वह कर्मोंका नाश करता है । इस प्रकार अचित्त्य महिमा धारक
 श्रीसम्भेदशिखरका किंचित वर्णन भव्य जीवोके उपकारार्थ श्री देवाधिदेव श्री वीर प्रभुने कहा ।

अर्थ—इस प्रकार महावीर प्रभुकी दिव्य धनितो श्रवण कर श्रेणिक महाराज अतिशय प्रसन्न हुआ और
 इस प्रकार प्रश्नावलि भगवानसे की ।

श्रीजिनिपिबिंबाना पचामृतसरसोत्करै । स्नानकर्ता तथैवेज्याकर्त्ताचि मृदुभावयुक् ॥ ७६ ॥
 दयाभावेन संयुक्तो द्वादशव्रतपालकः चतुर्थादानकर्त्ताचि गुरुसेवापरायण ॥ ७७ ॥
 मदकण्ठायसपन्न परदोषपरान्मुख । स्ववामारक्तबुद्धिश्च पररामाविरक्तधी ॥ ७८ ॥
 इत्यादिशुभभावाढ्यो य पुमान् सैव निश्चयात् । नाकलोकं लभयेव सदा शर्मविभूषित ॥ ७९ ॥
 कार्यार्थं सेवते भिन्न कृत्वा कार्यं पुनश्च त । त्यजत्येव नराधीश जिनधर्मपाण्डसु ॥ ८० ॥
 विश्रुतो दुर्जनश्चैव परनिन्दनचातुर । दुर्मते पोषक क्रूर रात्रौ भक्षी च निर्दयी ॥ ८१ ॥
 ईदृश पुरुषो मृत्वा जायते दृष्टभावयुक् । तिर्यक्योनिषु नून सदाशार्माकरेषु च ॥ ८२ ॥
 म्वरुक्क्रोधी च निर्लोभी मार्दवाजंभवभावयुक् । स्वल्पनिद्रश्च निर्दंभी स्वात्मनिद्रापरायण ॥ ८३ ॥

अर्थः—हे राजन् जो भव्यजीव श्रीजिनेन्द्र भगवानके प्रतिविंबोका पचामृतरससे भक्तिपूर्वक स्नान करता है उसी प्रकार पूजा अष्टद्वयसे करता है मृदुभावोको धारण करता है दयाभावका पालन, चारह प्रकारके व्रतोंका परिधारण—चार प्रकारके दानोंका प्रदान करना—गुरुसेवा करना—स्वदार सतोष व्रतका पालन करना परस्त्रीका त्याग करना इत्यादिक अनेक शुभ कारणोंसे स्वर्गके सुखोंकी प्राप्ति होती है ।

अर्थः—हे राजन् तिर्यच योनिका वध मायाचारके परिणामोंसे होता है । जो मनुष्य मतलबके लिये तो भिन्नकी उपासना करे और मतलब सिद्ध हो जानेपर त्याग कर देवे । जो सदैव मायाचारके भावोंसे विश्वासघात करता हो, जिनधर्मसे पराङ्मुख हो, सब प्रकारसे दुर्जन हो, निंदाखोर हो, दृष्टयुद्धि हो, क्रूर हो, रात्रिभक्षी हो, निर्दयी हो इत्यादि दृष्ट आचरणवाला नियमसे तिर्यच गतिमें जाता है ।

अर्थः—हे राजन् स्वल्पक्रोधी, निर्लोभी, सरल परिणामी, शुभ भावोंको धारण करनेवाला, स्वल्प निद्राको

मर्त्यो हि चेदृशो भूप मृत्वा मर्त्यैव शुद्धधी । भवति नात्र सदेह परजन्मनि निश्चयात् ॥ ८४ ॥
 सदा सतोषसंयुक्ता स्वपते भक्तितत्परा । सुशीला क्रोधसहीना विमाना दम्भजिता ॥ ८५ ॥
 साहसधारका नम्रा शुचिस्वगुणसयुता । जिनभक्तिरा नियं दानेज्याव्रततस्या ॥ ८६ ॥
 निःकपटा निरालस्या धार्ज्ज्वासुखपानका । स्थिरचिता च सत्यैव भाषिणी परपोषणी ॥ ८७ ॥
 स्वरूपाहारकरा स्वल्पनिद्रा सयमपालका । कामदेवस्य क्रीडासु स्वल्पचित्तस्य धारका ॥ ८८ ॥
 इत्यादिगुणसंपन्ना भवेन्नायत्र भूयते । ईदृशाया सुवामाया पुरुषो भवति निश्चयात् ॥ ८९ ॥

लेनेवाला, निर्दभी अपने पापकर्मोंकी निंदा करनेवाला, यापोसे डरनेवाला, जिनधर्मका सेवन करनेवाला ऐसा जीव मनुष्य वधको प्राप्त होता है ।

अर्थ— हे राजन् ! स्त्री पर्यायको छोडकर पुरुष पर्याय (स्त्रीलिंगका छेदन) कौन कौन से पुण्यकर्म से प्राप्त होती है सो बतलाते हैं ।

जो स्त्री संतोष से रहती है अपने ही स्वामीकी भक्ति पूजामें अपना धर्म समझती है । शीलव्रतको ही मुख्य धर्म समझकर पालन करती है । क्रोध मान माया आदि विकारो की भावना नहीं करती है । नम्र-पवित्रताको धारण करनेवाली जिनभक्ति में तत्पर-जिनधर्म परायण दान पूजादि पुण्यकार्यमें सावधान-सरल परिणामोंको रखनेवाली-मायाचार रहित शुद्ध चित्तसे कार्य करनेवाली स्वल्प आहार करनेवाली व्रत संयम आदिको भाव भक्तिस पालन करने वाली-विषयोंसे विशेष शृद्धता नही रखने वाली इत्यादि सुदर कृत्योंको करनेवाली स्त्री अपने स्त्री लिंगको छेदनकर पुरुष लिंगको प्राप्त होती है । हे राजन् पुरुष पर्यायसे निंद्य स्त्री पर्याय इस प्रकार प्राप्त होती है ।

मायाकण्टसंपन्न अतिचंचलभाइयुक् । कामसेवासुरसंरक्त अत्यंतक्रूरधी ह्याधी ॥ ९० ॥
 गायन भंडारागस्य अत्यंतचंचलस्तथा । नेत्रविकारसंपन्न तथैव कामभावयुक् ॥ ९१ ॥
 महामानी सदास्वयो वन्द्यारभस्य धारकः । बहुनिद्रातोशुद्ध निद्रापिशुन्यतत्पर ॥ ९२ ॥
 क्रियारुमविहीनश्च निर्दयी निखपी तथा । गढालापी तथा हीनो विरभ्येन नरेत्पर ॥ ९३ ॥
 कस्यापि नैव विश्वासं करोति साधुनिद्रक । बचक स्वजानाच साधूना परदोषद ॥ ९४ ॥
 इत्यादिगुणसंपन्नो मृत्वा मर्योपि निश्चयात् । परजन्मनि निन्धा च इत्येव भवति सद्वुधै ॥ ९५ ॥
 वृषाश्च महिष छांगं माहेर्यो चक्रोमेलक । मातंगं च त्वरं श्वान क्रिय मर्येव वालकम् ॥ ९६ ॥
 लोहशखच संघृत्वा पावनेभ्यो नराधम । इत्यादीनां च जीवाना अंकशतेच निर्दय ॥ ९७ ॥

जो पुरुष मायाचारी है, अतिशय चपल है, सदैव कामाग्नीडामें मग्न रहता है, अत्यंत क्रूर है, पापो अभिमानी बनता है, बहुत आरामका करनेवाला निद्रा और लुगली करनेवाला, भडवचनोका बोलनेवाला, कामोत्पादक मानका करनेवाला, नेत्र विकार और शरीरसे छुट्टा करनेवाला, दूसरोसे द्रोहको करनेवाला, श्रेष्ठ आचरणको छोड़ देनेवाला, नीच आचरणोका पालन करनेवाला, निर्लज्ज, निर्दयी, निद्रक, साधु पुरुषोंमें दोष लगानेवाला, गुरुजनोकी भी निद्रा करनेवाला, सत्यका लोप करनेवाला, किसीका भी विश्वास नहीं करनेवाला और पापमार्गको प्रकट करनेवाला मनुष्य मर कर पर जन्ममें स्त्री पर्याग (स्त्रीलिंग) को प्राप्त होता है ।

हे राजन् ! यह जीव नपुंसक कौन कौन से कारणोंसे होता है । जो मनुष्य काम की तीव्र ज्वाला से अनर्थकारी कार्य करे । तथा वैल घोडा भैस चकरा हाथी गदहा कुत्ता स्त्री वालक वृद्ध

छेदयति तथा तेन वेदात्मिका मूल । वध या वधत चैव अनभारद्विरोधन ॥ १०० ॥
 करोति मैव प्रामोति नपुंसकत्वं दुःखद । क्रमैव ग्रा मय्यु निवृत्तीय च कर्मसु ॥ १ ॥
 अलक्रीन् च कपोलौघान निचरान् च हरीन मुगान् । माक्रोदयान् तन्मानीशान् नीलकंठान् मन्वेत्याम् ॥ २ ॥
 शुक्रान् हंसान् मकार्श्वेव प्रियतं यो नृप कृषी । टयादीन् जीर्णमैहान् माश्रादिष्वेभ्यु च ॥ ३ ॥
 आहन्माऽप्यपर्यन मा खलु वंदिदु गृहे । स्थिति क्षयंति दुर्गौः सुनत याचासोत्तर ॥ ४ ॥
 मनसा निर्देयेनाच्च अदयानरिणामपुत्र । अगर्ह्येव नीमान् यै उगपयान्नादिभान् ॥ ५ ॥
 निर्देय तच्च दृष्ट्वा वै कोप्येवं हुवंते पुमान् । दयालकृतमदान त प्रणि नीरयक ॥ ६ ॥

मनुष्योंके अंगोंपांगका छेदन करे लिए आदिकों मडे २ मगर जगोंके द्वारा मॉटे । अत्रा लिए आदि
 गुह्य स्थानोंको अन्निके द्वारा दाग लगाये अथवा मर्मवेदी स्थानोंमें दुर्भागोंमें पीडा उपलव कानं लायक छेद करे
 कर्ण नासिका आदिको छेदे और भी चौर मकट देतेवाले कुत्सिन काम करे वह मनुष्य मरकर परजन्ममें नपुंसक होता
 है । यह मर्से निध कर्म है ।

हे राजन् सत्यायु होन होनमें कारणसे होती है सो सुन-

जो मनुष्य कवृत्तर तीतर हरिण मृग काकोदर हीन (पक्षी) नीलकठ गरुड सुधा ह्य मगला आदि पशु-
 पक्षियोंको पकडकर काठके पींजरोमें बंद करता है आजन्म उनकी स्मृतत्रताका हरण भूता उनकी इच्छाका न्यायवात
 करता है । जो भनमें सदैव निर्दयभाप रखता है दयाभावोंको जागता ही नहीं [जो किसीभी प्राणीको सुखी नहीं
 देखना चाहता] है । जो सदैव वक्रादि जीवोंका बध करता है । जो कवृत्तर आदि जीवोंको पकडनेमें मारनेमें दत्त-
 चित्त रहता है । जिसके परिणामोंमें निर्दयपनेकी सदैव वासना बनी रहती हो । जिसको दयाका उपदेश करुणक मालुम

नवेव तेच कर्तुं वै युक्त जीवस्य घातक । मा गच्छ दुर्गतिं मूढ ब्रुत्वेत्थमाह दृष्टधी ॥ ७ ॥
 जीवानां मरणे नैव पापोत्पत्तिं पुमान् खलु । न्यादारथं च कृता सर्वे स्वयमुवा इमेस्य नु ॥ ८ ॥
 परलोकश्च नास्त्येव नैव धर्मं तथा ह्यथ । एवं धृत्वा हृदि स्वस्य यो मर्त्यो दुष्टभावयुक् ॥ ९ ॥
 संक्षिप्रैर्निर्दिश्यैश्चैव सांद्रैः कुपुरुषैः सदा । करोति चैव व्यापारं कुकर्मणश्च दुःसद ॥ १० ॥
 सोलायुर्भवरथेव इत्थं कुकर्मणोदयात् । सदा कालेन सदेहो नास्त्येव चेलनाप्रिय ॥ ११ ॥
 स्वयं नैव कदाप्येव मारयत्येव भाषित । मार्यमाणं च संष्ट्वा केनचित् पुरुषेण वै ॥ १२ ॥
 मोचापयति तं नूनं दयाभावेन मंडित । संतुष्टोभयदानेषु परघातनिवारक ॥ १३ ॥

होता हो और जीवहिंसा करनेके समय धर्मात्सार्के रोकनेपर जिसके परिणाममें क्रूरता प्रकट होती है । जो जीवोंके वधमें पापोत्पत्ति नहीं मानता हो । जो जीवों जीमस्य भक्षण कहकर जीवोंके भक्षण करनेमें धर्म मानता हो । जिसे परलोकका भय नहीं हो और जो परलोकको मानताभी न हो । जिसके परिणाम सदैव दुष्ट रहते हो । जो सदैव संकलेश परिणामोंसे रहता हो । और ऐसे ही दुष्ट पुरुषोंकी सगतिमें रहता हो । जो सदैव कुकर्मका व्यापार करता हो । इत्यादि कुत्सित कर्म करनेवाले जीवोंकी स्वल्पायु होती है । निगोद आदि पर्यायमें स्वल्पायुकी प्रुति वै जीव कर्ते हैं ।

अर्थ -- हे राजन् जो किसी भी जीवको स्वतः नहीं मारता है न दूसरोसे मारनेके लिये वचनसे कहता है और न ऐसी अतुमोदना ही करता है । जो दयालु, दूसरोके द्वारा जीवोंके वधको देखकर दयाभावसे उस जीवको मारनेसे बचाता है । जो सदैव दयाभावसे अपने अंतःकरणको आर्द्र रखता है, जो जीवोंके अमयदानमें संतोष मानता है, जो दूसरों जीवोंके घातको रोकता है, जो दूसरोको सुखी देखकर प्रसन्न होता है, जो दूसरोको दुःखी देखकर दुःखी

भयर्मिषु संवृष्टे षट्पुत्रेषु दुःखभाक् । तीरस्त्रं गच्छेत्तत्र मया कालेन मन्वति ॥ १४ ॥
 दैवस्य तन्मैव भो भयमेव निश्चयात् । दीर्घानु मर्मकाले च मृदुभागेदयाचन्द्रम ॥ १५ ॥
 आर्ष्येव विचर्मदोहं स पुनर्न ददात्यहो । आद्राणाम्य च मद्दान पात्राय योहि मानव ॥ १६ ॥
 कदापि लोकस्त्राया वशादेव ददात्यहो । दान पात्राय तर्जित् त्वे हि स्वस्य मानसे ॥ १७ ॥
 पश्चात्तप करोयेमं वृथा ततो हि हा मया । अस्मिं दान च मे स्वस्य व्यथो चातोऽप्य किं कृतं ॥ १८ ॥
 दीयमानं महादाने अन्येषा वर्जयत्यहो । किमर्थं कुत्थ लोका व्यथो द्रव्योत्कृष्टस्य च ॥ १९ ॥
 पभिं कुकर्मभिर्मूला मैव भो मापेक्ष्य । भवति वर्जितो भोगीः मदा दुर्गंरुभाजन ॥ २० ॥

होता है, जो जीवोंकी रक्षा करनेमें सदैव प्रयत्नशील बना रहता है ऐसे दयालु भव्यान्माको दीर्घायुकी प्राप्ति होती है । जो मृदु भागमें दया करता है वह भी दीर्घायुको प्राप्त करता है ।

अर्थ—भोगरहित क्रीन क्रीन में पापों में होता है सो ज्ञाते हैं ।
 हे राजन् ! जो मनुष्य द्रव्यकी यथेष्ट शक्ति रखने पर भी लोभ परिणामोंसे मुनिगणादि चतुर्विध मंत्र की

आहार दान नहीं प्रदान करता है । न पात्र में दान प्रदान करनेकी रुचि करता है । कदाचित् लोक लाज वश किसी खास मौकेपर दान अनिच्छा से देना भी पड़े तो पीछेसे पश्चात्तापको प्राप्त होकर विचार करता है कि हा मैंने व्यर्थ ही दान दिया । इस दानमें मेरा इतना द्रव्य व्यय हो गया । यह सर्व व्यर्थ ही गया । इस प्रकार पश्चात्ताप करता है । अरे तुम लोग व्यर्थ द्रव्य क्यों छुटाते हो जरा तो विचार करो । इस प्रकार मनकी मलिनता से अन्य जीवोंको दान करते हुए रोकता है स्वयं भी धनादिक वस्तुओंका सेवन नहीं करता है । ऐसे कुरुमीसे भोगरहित मनुष्य होता है ।

शयनार्थं मुनीन्द्राणां फलकचतुर्णादिकं शुभे । शयनोपकरणैरेभि वैयावृत्यसुपालक ॥ २१ ॥
 वैयावृत्य करोत्येव तथा पादस्य धोवनं । तेषा सद्गुणसंयुक्तं स्तवनं पापनाशकं ॥ २२ ॥
 पिच्छिका सर्वभूताना रक्षका गुणमंडिता । ओ ददत्येव जुंडीच शौचकार्यार्थं शोभन ॥ २३ ॥
 आर्थिकार्थै तथा वल्लं शुभ्रच ब्रह्मचारिणा । गृहस्थाय तथा तेषा वामार्थे भूषण तथा ॥ २४ ॥
 आङ्गारादिचतुर्द्वानि सदा शर्मप्रदायक । अतिहर्षेण संयुक्तो मृदुभावविर्मंडित ॥ २५ ॥

अर्थ—नाना प्रकार के सुरोको प्रदान करने वाले मोग कौन कौन से कारणो से प्राप्त होते हैं ? हे राजन् ! जो मव्य जीव लकडेका फलरु तृणादिकोके विविध आसन आदि वस्तुओंको मुनिगणोंके शयनार्थ रखता है और उसके द्वारा भाव भक्तिसे मुनिगणों की वैयावृत्य करता है । इसी प्रकार उनके निवासार्थ वसतिका-गुहा-मठ आदि बनाकर वैयावृत्य का लाभ लेता है । तथा जो मुनिगणोंके पादकमलोका धोना, सेवा सुश्रुषा का करना स्तोत्रादिके द्वारा उनके गुणोंमें सुगंध होना आदि विद्युद्ध भावोंसे करता है । जीवोंकी रक्षाके लिये पीछी देता है, शौच रक्षाके लिये रुमडु देता है, आर्थिकाओंको वस्त्र देता है, ब्रह्मचारियोंके लिये वस्त्रादि देता है, गृहस्थोंके लिये भी वस्त्रादि भूषण प्रदान कर वात्सल्य अगको प्रकट करता है, इस प्रकार चारो प्रकारका दान चार

१ मुनि गण-आर्थिका आदि के लिये गृहस्थ अपने यहापर लकडेके फलक (तख्ते) रखता है जिसपर मुनिगण शयनादि करते हैं । इसी प्रकार आर्थिका आदिके निवासके लिये वसतिका-गुहा-मठ-आदि बनाकर प्रदान करता है जिससे उनके शीलक्री रक्षा और संयमकी सिद्धि बराबर बनी रहे । इसके बिना शीलदिकक्री रक्षा होना कठिन है ।

स्वमेव नृत्तवर्षेण नानादृशैश्चैव सदा । संकल्पान्ते एतदंशुः सारं शिखरं ॥ १९६ ॥
 नानां देवैस्त्विन्द्राणां सुखं सुखी । भवति चोदरैश्च तेषु तेषु सदा ॥ १९७ ॥
 कृत्स्नचित्तं संतुल्यः सदा कृत्स्नः । कृत्स्नैश्चैव सुखं सुखी ॥ १९८ ॥
 ईह्यो गन्तव्यो मुखा ह्यनुकूलो भवत्येव । इत्यनेन भाषीत अस्मिन् । १९९ ॥
 त्वत्स्विनां मुनीन्द्राणां पर्येस्थानं स्वीयेति ॥ २०० ॥
 संवत्सरो अत्यंतं हर्षमावसे देवता है और अपने परिणामोंको सदैव कोसल रसता है वरु अनेको योगोंको मोमकेमाण

इस प्रकार चार प्रकारका दान प्रदान करनेवाले प्रत्येक जीवोंके सांतव्य प्रणाली पासि जाती है

और वह पुण्यके प्रभावसे अनुपम सुखोंको प्राप्त होता है ।

अर्थः— यह जीव सुखसम्पन्न कौन कौनसे कारणोंसे होता है ।
 हे राजन् जो भव्य जीव देव, शारत, गुरुओंकी अतिशयाने पाणोंसे अन्तःस्वभाव सदैव तजाले प्रण जो
 हित प्रदाता मानता अतएव उनके प्रति एक भी कटुक आशर नहीं बोलाता, मानन निमग्न और नम्र भावसे जाता है,
 सदैव शांतचित्त रहता और बृद्ध बालक मुनिगणोंकी भी विनम्र भाव रूपसे पूर्ण सेवा करता । ऐसे प्रण कार्योंसे जीव
 सर्व प्रकारके सुखोंसे मपन्न होता है ।

अर्थ—अतिशय दुःख किन्तु कारणोंसे उत्पन्न होता है । अथवा अत्यंत बुद्धिमान फलनेके कारण

होते हैं ।
 हे राजन् तपस्वी-मुनि आदि धर्मस्थापकोंकी निन्दा करना अत्यंत विद्वाना दोषोंका कारण बनता है

निर्गुणी चैव गर्विष्ठो मायावी अतिक्रूणीः । जिनसिद्धतावाक्यानामुत्थापकश्च पापधी ॥ ३१ ॥

महद्भी च भो भूप इत्यादिगुणसेभृत । य पुमान् सैव मृत्वाच महादुखी भवत्यहो ॥ ३२ ॥

परमदुःखसंयोगात् कृत्वा पापस्य सचयं । पुनर्यात्विष दुःखाब्जौ अंहस्य चेदृश फलम् ॥ ३३ ॥

प्रात काले समुत्थाय तस्यात् यो हि नरेश्वर । कृत्वा सामायिक चैव जाप्यं वा परमेष्ठिन ॥ ३४ ॥

पश्चादादाय स्वर्णादिभजने बहुमोदत । वसुद्व्योत्कर शुद्धमभिषेकविधिं तथा ॥ ३५ ॥

जिनवैकुण्ठनि सांस्य तत्र श्रीमज्जिनेश्वरान् । सपूज्य परया भक्त्या सदसि आगमस्य च ॥ ३६ ॥

महत्त्वको गिरानेका प्रयत्नं करना—उनके विषयमें झूठी झूठी विशुनता कर बड़े २ श्रीमानोंको धर्म भावनासे गिरा देना । प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपसे अवहेलना करना, स्वयं निर्गुण होकर भी अपना मिथ्या गर्वका साहस प्रकट करना, मायाचार प्रकटकर अपना मतलब बनाना—अत्यंत क्रूर और कुटिल परिणाम रचना । जैन सिद्धांतके वाक्योंका उत्पादन करना—जैन सिद्धांतके श्लोकोंका विपरीत अर्थ कर धर्मकी पवित्रताका नाश करना । सदैव पापवृद्धि का रखना और महान दंभी बनकर ढोंग फैलाकर अपना मांसारिक स्वार्थ सिद्ध करना—इत्यादि कारणोंसे जीव अत्यंत दुःखी होता है ।

अर्थ—इस प्रकार देव शास्त्र गुरुके निंदको को अपरंगर भयानक दुःख प्राप्त होते हैं । और वे उन दुःखोंसे पीड़ित होकर अन्य ऐसेही पापोंका सचय करते रहते हैं । इसी लिये वे चिरकाल पर्यंत ससारमें दुःखोंको भोगते रहते हैं । पापका फलही यह है ।

अर्थ—ज्ञानवान् कौनसे कारणोंसे होते हैं ? हे राजन् जो मनुष्य प्रात काल उठकर सामायिक करता है । पंच परमेष्ठीकी जाप्य देता है । फिर सोने चांदी आदिके पात्रमें अभिषेक और पूजन की सामग्रीसे श्रीविनेन्द्रदेवकी

कथयत्येव धर्मव अधर्मस्य नराधिप । सोधर्मोहि भवत्येव चाडाल परजन्मनि ॥ ५० ॥
 तित्तरं कुर्कट ध्यान शूकरं च मृगाधिपम् । व्याघ्र वा मर्कट नागं मृग कोकं परिश्रुतम् ॥ ५१ ॥

शुक्रादिजीवजातीना दृढगसेन योऽधमः । गृहीत्वा च गृहे स्वस्य आदाय तान् पुनः नृप ॥ ५२ ॥
 दृढैव रज्जुना तत्र बंधयित्वा च दुष्टधी खलु । रक्षति सैव मृद्या च भीरुको भवति सदा ॥ ५३ ॥

मनसा वचसा चैव कायेन प्राणिना नृप । न करोत्येव त्रास हि सर्वेषा मृदुभावयुक् ॥ ५४ ॥
 कारापयति नो नृप नानुमोदयति कदा । अन्यायवित्ततश्चैव मुक्तधीः पयोषकः ॥ ५५ ॥

ईदृशोसौ नृप मृत्वा सदैव निर्भय खलु । भवति नात्र सदेह पण्डुलस्य मोचनात् ॥ ५६ ॥
 मनुष्य मद्यपान सेवन करे मांस भक्षण करे—विधवा विवाह जैसे व्यभिचार को धर्म वतलावे—असदाचार को धर्म वतला-

कर उसका प्रचार करे वह मरकर चांडाल होता है ।

अर्थः— भीरु-भयवान् कौनसे कारणोंसे होता है ?

हे राजन् तीतर, कुत्ता, सुर्गा, शूकर, सिंह व्याघ्र, बंदर, सर्प, मृग, कर्कर, सूआ (तोता) आदि जीवोंको पकडकर जो दृढ बंधनोंमें रखता है वह मर कर भीरु होता है ।

भावार्थः— ऐसे पशु जो मनुष्योंके उपयोगी नहीं हैं जैसे व्याघ्र, सिंह, सर्प आदि और पक्षिगणोंको जाल द्वारा पकडकर मौज शौकके लिये दृढ बांधकर रखनेमें बडा भारी पाप है ।

अर्थः— निर्भय मनुष्य कौनसे कारणोंसे होता है ?

हे राजन् मन वचन कायसे जो कभी भी किसी जीवको कष्ट नहीं देता है, न दूसरोंसे दिलवाता है और न ऐसी अनुमोदना करता है, जिससे दूसरोंको कष्ट हो, जो अन्यायके कार्योंका परित्याग करता है, जो दूसरोंका परि-

विद्यालोभेन पूर्व च कृत्वा यो विनय गुरोः । विद्या गृह्णाति वा मत्र विवेकाटिकसफलम् ॥५७
 पश्चात् पूर्णे च याते हि मन्यते नैव स्वगुरोः । मया भाग्यासमापत्वा सर्वा विद्यादिसफला ॥५८
 तस्य मर्यास्य भो भूप परजन्मनि वात्र च । कलाच सकला विद्या निष्फला भवति खलु ॥५९
 अत्येव विनयेनैव चित्तशुद्धेन स्वगुरो । करोति विनय भूप वैशावृत्यं च सर्वदा ॥६०
 तद्गुणान् मन्यते चित्ते करोति तस्य कीर्तनम् । आगते सन्मुखे शीघ्रप्रभन्धुरथानादिसत्क्रियाम् ॥६१
 एवं गृह्णाति यो विद्या सेव भोक्ता भवत्यहो । विद्याफलस्य अत्रैव परत्रापि पुनर्भवेत् ॥६२

पालन करता है वह निर्भय होता है ।

अर्थ—किसकी विद्याएं निष्फल होती हैं ।

हे राजन जो विद्या लाभकी प्राप्तिके लोभसे विद्या ग्रहण करते समय प्रथम तो गुरुका विनय सेवा सुश्रुपा करता हो उपकारी मानता हो परन्तु विद्या सपादन हो जानेके बाद कहे कि यह विद्या तो मेरे भाग्यसे मिली है इसमें गुरुने क्या कर दिया । इत्यादिक कार्योंसे जो गुरुके उपकारको भूलकर कृतघ्नी हो उस मनुष्यकी विद्या निष्फल होती है ।

अर्थ - विद्या सफल किसकी होती है ?

हे राजन् जो चित्तकी शुद्धिसे गुरुका विनय करता है वैशावृत्य सेवा सुश्रुपा आदि करनेमें निष्कपट भावो से तत्पर रहता है जो परीक्ष या प्रत्यक्ष गुरुको बड़ा मानता है उपकारी समझता है उनके आनेपर उठकर सम्मान आदि प्रकट करता उसकी विद्या सफल होती है ।

परेषा यो हस्येव कौटिल्यादि कुर्कर्मभिः । द्रव्यं तस्यैव विचक्ष्य द्वियतेऽन्यैश्च मानुजैः ॥६३
 नो हरति कदाप्येव परकीय च यः पुमान् । गृहे तस्यैव द्रव्यस्य सच्यो भवति सदा ॥६४
 नाश कदापि नो स्याद्विद्वि विचक्ष्य परजन्मनि । मगधेश भवत्येव एवं शुभोदयात् खलु ॥६५
 कथयत्येव यो मर्त्यं पूर्वमेव नरेश्वर । वल्ल वस्तु तथा द्रव्यं त्वा दास्यामि मनोहरं ॥६६
 धृत्वा लोभं हृदि पश्चात् नो ददात्येव तंच ताम् । आशाभंगं करोत्येव सर्वपापस्य दायकम् ॥६७
 तद्वि पापेन तस्यैव नाशो यात्येव निश्चयात् । द्रव्याशयाश्च भो मूष परजन्मनि जन्मनि ॥६८
 अर्थ—किसका धन अपहरण होता है ?

हे राजन् ! जो मनुष्य कुटिल परिणामोंसे और विश्वासघातसे दूसरोंके धनका अपहरण करता है उसके धनका अपहरण होता है ।

अर्थ:—किसके धनका नाश नहीं होता है ?

• हे राजन् जो मनुष्य अन्याय पूर्वक दूसरोंका धन हरण नहीं करता है न कुटिल भावोंसे मायाचारी पूर्वक दूसरोंकी वस्तुका अपहरण करता है और न विश्वासघातसे दूसरोंके धनको लेता है उसके धनका लोप इस जन्म और परजन्ममें नहीं होता है ।

अर्थ:—द्रव्यप्राप्तिकी आशा किसकी नाश होती है ?

हे राजन् ! जो कोई मनुष्य विश्वास दिलाकर प्रथम तो बतलावे कि मैं तुमको काम पढनेपर वल्ल दूंगा धन दूंगा या असुक चीज मुझसे माग लेजाना. परंतु उसके काम पढनेपर विश्वास घात कर नहीं देवे और सब प्रकारसे उसकी आशाभंग करदेवे, तो ऐसे दगाबाज मनुष्यकी आशाभंग होती है । जो दूसरोंकी आशाका भंग करता हो

यद्यदि शोभनं वस्तु मुनीना ब्रह्मचारिणाम् । दत्त्वा पश्चाद्धि स्वचित्ते मन्यते यो नरो नृप ॥६९
 धर्मस्य कारणं नास्ति लोकरज्जावशान्मया । वस्तवश्च इमे दत्ता एव हि मूढबुद्धित ॥७०
 सुकृतस्यैव सर्वस्य तस्यैव परजन्मनि । विनाशो हि भवत्येव नात्रैव संशय खलु । ७१
 मृगस्य तस्य वामाया स्त्रिया मर्त्यस्य भो नृप । सिंहिन्याश्चैव सिंहस्य तथा परावतस्य च ॥७२
 नागिन्याश्चैव नागस्य हसिकस्य वै । शुकस्य चैव शुक्याश्च जायायाः वर्हिणस्तथा ॥७३
 इत्यादीना च जीवाना परस्परं करोत्यहो । वियोग यो हि मर्त्यश्च स्थिताना च वनावनौ ॥७४
 पुत्रपौत्रादिहीनाह्यो भवत्येव परत्र वै । स पुमान् मगधावीश परवियोगपापत ॥७५

उसकी भी परजन्ममें आशाशुंग होती है ।

अर्थ:— किसका पुण्य नष्ट हो जाता है ?

हे मगधेश्वर जो उत्तमसे उत्तम और उत्कृष्टमें उत्कृष्ट वस्तुको मुनिगण या ब्रह्मचारी आदि धर्मायतनोमें प्रदान कर फिर पीछेसे मनमें विचार करे । या पश्चात्ताप करे) कि मैंने लोक लाज वश यह वस्तु मुनिगण आदिको दी । नहीं तो वे देने लायक नहीं हैं । इस प्रकार धर्मगुरु आदिके विषयमें अपनी दुर्बुद्धिके कारण विपरीत श्रद्धान कर धर्मगुरुओकी महिमाकी न्हासता प्रकट करे उसके पुण्यकर्मका नाश हो जाता है ।

अर्थ:— पुत्रहीन, स्त्रीविहीन कौन होता है ?

हे राजन् जो मनुष्य मृग, सिंह, कव्चर, सर्प, हंस, तोता, मयूर आदि जीवोकी स्त्रियो (मादाओं) का वियोग करता है या उनके बर्बोका अपहरण करता है या पापबुद्धिसे दूसरोकी स्त्रियोका हरण कर वियोग करता है अथवा दूसरोसे बालक बालिकाओको उनके भूल वा उनके लोभसे एकांतमें मारकर वियोग करता है उसके इस प्रकार

जायतेपि कचिद्देवात् संताना तस्य वा तदा । अत्रिते नैव जीवति तुर्यं वा पंचमे समे ॥७६
 पूर्वोक्तान् नैव यो मर्त्यं कार्यानि करोति निश्चयात् । सर्वजीवेषु भो भूय दयापरो भवत्यहो ॥७७
 बहुपुत्रै तथा पौत्रै वाधवौधैश्च वेष्टित । स भवत्येव जीवानामवियोगस्य कारणत् ॥७८
 जिनाननात्समुत्पन्नमागमं ह्यघनाशकं । वाच्यमानं सभामध्ये गुरुणा शाल्ववेदिना ॥७९
 तन्मध्ये कुरुते वार्तालापादिकं च यो नर । वा कथा विक्थयोरत्रा निद्रा हास्यं च श्रेणिक ॥८०
 बधिरो हि भवत्येव स पुमान् परजन्मनि । अश्रुतं कथयत्येव द्वापरो नात्र निश्चयात् ॥८१

के पापकारणोंसे पर जन्ममें संतान नहीं होती, स्त्रीका वियोग होता है, संतान होवे तो भी वह जीवित रहती नहीं है; मर जायगी ।

अर्थ—किसके पुत्र पौत्र कुटुंब परिवार का वियोग नहीं होता है ?

हे राजन् जो सदैव दूसरे जीवोंको दया भावो (परिणाम) की निर्मलता से पालन करता है । अन्य किसी भी जीव का वियोग नहीं करता है । जो सदैव दयाभावोंसे जीवोंको अभयदान देता है वह पुत्र पौत्र आदिका वियोगी नहीं होता है ।

अर्थ—बधिरा—(बधिर) कौनसे पापोंसे होता है ? हे श्रेणिक ! जो मनुष्य समाप्त समस्त तत्वोंको जानने वाले गुरुके परमाणु के उपदेशके समय वार्तालाप और विकथादिक कर शाल्व श्रवण करने वाले साधर्मी भाइयोंको क्षोभ उत्पन्न करता हो । जो शाल्व स्वयं श्रवण नहीं करता हो । शाल्व वाचनेके समय हास्य आदि कुचेष्टा करता हो या नींद लेता हो वह बधिर होता है ।

हीनश्च विनयेनैव तथा वचनवर्जितः । चारित्रगुणहीनांगो मनोवाक्कायवर्जितः ॥ ८२ ॥
जिनाभिषेकपूजादिवर्जितो दानतोषिच । स दरिद्री भवत्येव पलन्मनि जन्मनि ॥ ८३ ॥
महाचार्यसंपन्नो महाविनयमंडित । चारित्रगुणसंयुक्तो जिनवाक्येषु निश्चलः ॥ ८४ ॥
चित्तवाक्यतनुना च दडको भयवर्जितः । इज्यास्नानविधानस्य कर्ता च पात्रदानदः ॥ ८५ ॥
इत्यादिपुण्यकार्याणां कारक पापवर्जित । स भवत्यत्र भो भूप पुण्यतो धनवान् खलु ॥ ८६ ॥
धनवारधैर्यैस्त्यो वेष्टितो भवति सदा । सैव पश्चाद्भवत्येव नाके हि निर्जगधिप ॥ ८७ ॥

अर्थ— दरिद्री कौनसे पापसे होता है ?

हे राजन् जो शास्त्रविरुद्ध बातको कहता हो जो सदैव जिनाज्ञामें संदेहास्पद रहता हो । देव शास्त्र गुरुकी विनय करनेमें मलिन परिणाम रसता हो । चारित्रसे रहित हो मन वचन काय से श्री जिनन्द्र देवकी पूजा और अभिषेक आदि करने में असावधान हो । शक्ति होनेपर दान देनेमें अतिशय कृपण हो । वह दरिद्री होता है ।

अर्थ— धनवान् कौन होता है ?

हे राजन् ! जो धर्मके कार्योंमें सदैव चतुर रहता है, देव शास्त्र गुरुओंकी विनय वैयाहृत्य करनेमें जो सदैव तत्पर रहता, जो चारित्र पालन करनेमें सदैव उत्सुक रहता है, जो जिनन्द्र भगवान की आज्ञा मानने में भावोकी विद्युद्गतासे दृढ रहता है, मन वचन काय से संयमका आराधन करता है, सगानकी पूजा-अभिषेक आदि धर्मकार्योंको जो श्रेमभाव से करता है और पात्र तथा चतुर्विध सघको दान देता है वह धनवान् होता है । पुण्यकार्योंसे धनवान् होता है ।

अर्थ— जो मनुष्य सदैव दान पूजा अभिषेक आदि पुण्यकार्योंको करता है और अपने परिणामोको सदैव

निजास्वाघातकारीच विपशन्नाग्निना नृप । अतकालेच संयुक्त शल्येन क्रियते तप ॥ ८८ ॥
 निजोज्वलकुलस्यैव क्षयकारीच यो नर । मृत्वा भवति स रोगी पुनः गच्छति दुर्गतौ ॥ ८९ ॥
 प्राणिना रक्षको मर्त्य अंत्यगल्येन वर्जिन । निजापरकुलस्यैव वर्द्धकारीन यो नर ॥ ९० ॥
 निरोगी स भवत्येव परप्राणस्य रक्षणात् । सदाकाले महाशर्मभोक्ता नास्त्यत्र सशय ॥ ९१ ॥
 किंचिद्वस्त्रमदृष्टवच मानवो योद्धि भूषत । दृष्टं हि कथयत्येव परदोषपदस्तथा ॥ ९२ ॥
 समये जिनपूजाया पश्यति सीस्तन तनुम् । आभरण चानन सुरूपलाजण्यादिकम् ॥ ९३ ॥

हर्षके साथ दान पूजामें लगाता है वह धनवान् होता है और फिर निर्जराधिप होता है ।
 अर्थ—रोगी कौनसे पापसे होता है ॥
 हे राजन् अपनी आत्महत्या करना, विप शत्रु अग्नि आदिसे अपघात करना—धर्म समझकर आत्म घातसे मरना—शल्यसे तप करना, अपने पवित्र कुलमें धर्मविरुद्ध क्लृप्तक लगाकर नाश करना, गुरु मातापिता आदि पूज्य पुरुषों की वैयावृत्य सेवा सुश्रुषा आदि नहीं करना इत्यादि कामोंसे मनुष्य रोगी होता है । और दुर्गतिमें जाता है ।
 अर्थ—निरोग कौन कारणों से होता है ?
 हे राजन् समस्त प्राणियों को औषध दान से रक्षण करना । शल्य रहित धर्म सेवन करना । अपने अपने कुटुम्ब तथा समस्त जीवोंके कुटुम्बों की वृद्धि चाहना, दान पूजादि कार्योंमें हर्षित होना इत्यादि पुण्य कार्योंसे निरोगता प्राप्त होती है । वह जीव महान् सुखोंका प्रभोक्ता होता है ।
 अर्थ—जन्मांध कौनसे पापोंसे होता है ?
 हे राजन् विनादेखी हुई वस्तुको देखी हुई बतलाना दूसरों के दोषोंको देखते रहना । धर्मात्मा पुरुषोंके

जात्यंबो भवत्येव परजन्मनि जन्मनि । स पुमान् नात्र सदेह सदा दुःखस्य भाजक ॥ ९४ ॥

बृहत्स्येपि नराधीशः स्त्रीक्रीडाभक्ष्योषणे । मुचति यः पुमान् नैव रसैर्नानाविधैस्तथा ॥ ९५ ॥

स मृत्वाहि भवत्येव अधश्च परजन्मनि । महादुःखाडिययोगी च मरणतेहवारत ॥ ९६ ॥

दुर्गधाढ्यामशुद्धं च उच्छिष्टं परकल्पनात् । मंत्राकर्षेण खानीतं शूद्रस्पृश्यं विवाहितम् ॥ ९७ ॥

ईदृशं न्वादपानच व्रतिना वा मुनीशिनः । आर्यिकाणां ददात्येव यो मनुष्यो नराधिप ॥ ९८ ॥

निवसो जायते तस्मादोगात् दुर्गतिकारणम् । व्रत्युक्तयः नो देयः कतोऽशुद्धच वस्तुकम् ॥ ९९ ॥

छिद्र दृढना । भगवानकी पूजाके समय स्त्रियोंके स्तन मुख और आभूषणोंको देखकर प्रसन्नचित्त होना इत्यादि पापका-
यीसे मनुष्य जन्मांध होता है । और वह सदैव दुखको प्राप्त करता है ।

अर्थः—जो बृद्ध होकर भी कामक्रीडामें तत्पर रहना । इन्द्रियोंके पोषण में ही निमग्न रहना । पुष्ट रसोंके
सेवनमें ही जीवनको व्यतीत करना, धर्मकृत्यको भूल जाना—दूसरोंकी आखें फोडना—इत्यादि पापोंसे अधा होता है ।

अर्थः—महान् निवस (भोगरहित) कौनसे कारणों से होता है ?

हे श्रेणिक ! जो मुनि—आर्यिका—व्रती—सथमी पुरुषोंको दुर्गंध—अशुद्ध—उच्छिष्ट—दूसरोंके 'लिये सकल्प पूर्वक
चनाया हुआ—मंत्रके द्वारा लाया और शूद्रजन से स्पर्श किया हुआ भोजन पान देता है वह भोगरहित होता है । और
मायाचारके पापसे दुर्गतिमें अनंतसत्तार तक भ्रमण करता है । व्रती पुरुषोंको अशुद्ध अन्न देनेसे महान् पाप का आ-
श्रव होता है । इसके समान अन्य पाप नहीं है । इसलिये मन वचन कायकी शुद्धिका उच्चारण कर फिर भी अशुद्ध
और शूद्र जनसे स्पर्श किया, आहार पान देना, दाताको पुण्यके स्थानपर धर्मकार्यमें मायाचारी परिणामोंके कारण
महान् पापबंध होता है । इसलिये ऐसा पापका कार्य कदापि नहीं करना चाहिये ।

मनुष्यो माघाधीश मधुस्थानस्य यः कुवी । घात करोति दाह च अग्निना हि करोत्यहो ॥ १०० ॥

कस्यैव खलु जीवस्य शरीरं ज्वालत्यहो । वा ग्रामं सदनं चैव भूधर जीवसंभृतम् ॥ १ ॥

प्रज्वाल्यशरण्यं च तथा ह्युपवनादिकम् । संव कुष्टी भवत्येव परशत्रैव निश्चयात् ॥ २ ॥

जात्याद्यष्टमहानां च करोति य पुमान् मदम् । परसद्मनि स दासो भवति नात्र संग्रह्य ॥ ३ ॥

अष्टभेदमदस्यैव प्रयोगाच्च किमस्यमा । दोषा भवति अस्मिन् वै तान् शृणु कथयान्हं ॥ ४ ॥

जात्या मदेन अस्यैव नीचजातिर्भवत्यहो । कुरस्य मददोषेण कुकुलस्यैव प्राप्तिता ॥ ५ ॥

मूर्खत्व जायते चास्य ज्ञानमदस्य कारणात् । ऐश्वर्यमदतोय च दासो भवति निश्चयात् ॥ ६ ॥

निर्वली च भवत्येव वरुणर्वस्य दोषत । विचङ्क्रेण अस्यासिर्गेनैव दरिद्रता ॥ ७ ॥

अर्थः—कोठी कौनसे पापसे होता है ?

हे राजन् मधुमक्षिकाके छताओके नीचे अग्नि लगाकर जीवोंको मारना, नगरका दाह करना, ग्राम, घरमें, पर्वतमें अग्नि लगा देना, शूकर आदि प्राणियोंसे भरे हुए वन जला देना । धर्म समझकर सती दाह करना, धर्म समझकर पर्वतमें अग्नि दाह करना, वन या जंगलमें अग्नि लगवा देना, जीवोंको भयानक त्रास देना इत्यादिक पापसे कोठी होता है ।

अर्थ—दास कौनसे पापों से होता है ?

हे राजन् जो जाति कुल ज्ञान बल वीर्य तप ऐश्वर्य और रूप इन आठके मदो (अभिमान) को धारण कर दूसरे धर्मिणा जीवोंका अपमान करता है वह मरकर दास होता है । जातिका मद करनेसे नीच होता है । कुलका अभिमान करनेसे कुकुलीन होता है । ज्ञानका मद करनेसे बूढ़ता आती है । ऐश्वर्यका मद करनेसे

अत्यातंकी तपस्याया भवेत् भवति ह्यय । कुरुषीच सुरूपस्य मदस्य करणात्तथा ॥ ८ ॥
 एभिरुन्मत्तचित्त य करोत्येव नरेश्वर । श्रुत्वा सेव खरो भुक्त्वा दासो भवति स पुन ॥ ९ ॥
 पादेन ताडयत्येव ठणचारीन् नरोत्तम । मानवो य भयत्येव सैन खज परत्र हि ॥ १० ॥
 गडुको जायते चायं केन तु कर्मणा जित । मानुजः सर्वपापशिवेव पुष्पोपममभो ॥ ११ ॥
 सौभेगान् तथा टाणान् लुञ्जयान् च कर्मलकान् । रामभान माट्यान् चैव तथा चानैकपान् नृण ॥ १२ ॥
 इत्यादिजीवसदोहान् वृणभक्षणतत्परान् । अपराधविनिमुक्तान् वचनालाभमर्जितान् ॥ १३ ॥
 पीडयत्यतिभारस्वयरोपणेन नराधमः । अतिनिन्द्यभाभाट्टो योहि परस्य पीडड ॥ १४ ॥

अथैव कुञ्जको मत्वा रगोनि गमन सदा । यष्टिकाभ्याच दृग्भवा वै मुक्त्वा दुःखमनारतम् ॥ १५ ॥

दरिद्री होता है ४ । बलका मद करनेसे निर्मल होता है ५ । तपका मद करनेसे गेगी होता है ६ । रूपका मद करनेसे कुरूपी होता है ७ । और गरीरका मद करनेसे (सायागण दृष्टिसे) दास होता है ८ ।

अर्थ--खंजा किस कारणसे होता है ?

हे राजन् जा पादों (चरणों) से इमरोकी चाद में ठोकर मारता है वह खजा होता है ।

अर्थ--कुम्डा कौन से पापों से होता है ?

हे राजन् कृत्वा-उकरा-मंसा-बलद-गदहा आदि वृणके भक्षण करनेवाले मूक प्राणियों पर शक्तिके वाहर भार लादना-पीडा देना निर्दय भावसे ताडना करना अन्न पानादिका निरोध करना इत्यादि पापसे मनुष्य कुम्डा होता है ।

मृत्वा पश्चाच्च गत्वाहि क्षत्रे तत्रापि निप्रभम् । अशर्म थापाकेन तस्मादपि च स पुमान् ॥ १६ ॥
 आगत्य कुञ्जको नून भवति नात्र सशय । पूर्वपापपयोगेण अशर्मवस्तुभक्षक ॥ १७ ॥
 दारिद्र्याढ्य नर दृष्टा यो धनी स्वात्मनि नृप । जुगुप्साच करोत्येव द्रव्योत्करमदात् खलु ॥ १८ ॥
 परभवे भवत्येव मृत्वाऽसौ मानवर्जित । अन्यैश्चाप्तोति धिक्कार सर्वस्थानेषु तदघात् ॥ १९ ॥
 लकहस्नेन य मर्त्यो मापथिवा ददात्यहो । परेथामशुक मूप महाकपटमडित ॥ २० ॥
 हीनतुलकया चैव धान्यादिवस्तुसंचय । यच्छति अन्यमर्त्याना हीनगनेन वा तथा ॥ २१ ॥
 गृह्णाति परधान्यादिवस्तुसंहतिंजसा । वृद्धतुलकया वृद्धमानेनातीव्रलोभत ॥ २२ ॥
 स हि मृत्वा भवत्येव परजनन्यघोदथात् । अगहीनो महादुःख भाजनो नात्र संशय ॥ २३ ॥

अर्थ—वह कुनडा विना अपराधी [निरपराधी] पशुओको अतिशय पीडा देनेके पापसे मरकर नरकमें
 दुःखोको प्राप्त होता है । और वहांसे निकलकर फिर भी कुनडा होता है । इस लिये मूक और निरपराधी पशुओंको
 सताना अच्छा नहीं है ।

अर्थ—धिक्कार का पात्र कौन होता है ?

हे राजन् जो दरिद्री दीन मनुष्यको देखकर अपने भनमें धनमद से उसका तिरस्कार करता है वह मनुष्य
 मरकर धिक्कार का पात्र होता है । उसका सर्वत्र अपमान होता है ।

अर्थ—अंगहीन कौनसे पापोसे होता है ?

हे राजन् जो मनुष्य तृष्णाकी गृह्णता से कमती तोलता है और बढ़ती लेता है । मापसे कपडा आदि
 को कमती माप कर देता है । बढ़ती लेता है । धान्यादिक वस्तुओको बढ़ती मापकर लेता है कमती देता है । इस

स्वकारेण कदाप्यत्र दान खान च पृढनम् । मानुजो नो करोत्येव य स भवति डुट्टकः ॥२१॥
तीर्थनाथस्य तीर्थ भो करोति नैव यो नर । स हि पशुर्भक्त्येव परतीर्थस्य सेवनात् ॥२५॥
जिनिन्द्रगुणसंभूना रागविद्या शिवभद्राम् । यः विगायति नैवात्र मातवो भूपते ननु ॥२६॥
भडरागसमुद्भुता गायति चातिदुर्वृत । रागविद्या नर सैव मूको भवति निश्चयास ॥२७॥

प्रकार जिसकी निष्ठा मनकी लोभवृत्ति से मलिन रहती है वह मरकर या उसी भवसे हीनांग होता है ।

अर्थ:— दूटा कौनसे पापसे होता है ?

हे राजन् जो अपने हाथसे श्रीमञ्जिनेन्द्र देवकी प्रतिमाका अभिषेक पूजा और मुनिगणोको दान वैयावृत्य आदि नहीं करता है वह दूटा होता है ।

अर्थ— पशु कौनसे पापसे होता है ?

हे राजन् ! जो मनुष्य देवाधिदेव श्री तीर्थकर परमदेवके पवित्र तीर्थोकी यात्रा अपने पैरों से न कर अन्य मिथ्या कल्पित तीर्थोका पर्यटन करता है उसके सत्य धर्म में श्रद्धा न होने के कारण और मिथ्यात्वके सेवन करनेके कारण तीव्र पापका आश्रव होता है ।

अर्थ— मूक कौनसे पापसे होता है ?

हे राजन् जो मनुष्य श्री जिनेन्द्र भगवानके गुणोकी गानविद्याको न गाकर भंडराग और वीभत्स रागो-
त्पादक भंड गानोको गाता है और उसमें अनुराग करता है वह मिथ्यात्व सेवन करने के कारण मूक होता है ।

यो हि सैयमयुक्ताना नराणा गुणिना तथा । शील्यलंकृतगानाणां जिनधर्मोपदेशिनाम् ॥ २८ ॥

दिग्भरसुनीन्द्राणा तथाहि ब्रह्मचारिणाम् । आर्यिकाणा तथा भूष श्रावकाणा सुवर्णिणाम् ॥ २९ ॥

इत्यादीना च य मर्त्य अपवाद दृढात्सहो । करोति पापदा निंदा वा हास्य शर्मनाशकम् ॥ ३० ॥

य मृत्वा तद्धि पापेन कुरूपी गजन्मनि । भयत्यपमर्त्यैर्घे निन्दनीय मदा खलु ॥ ३१ ॥

एषामितरतो भूष महात्सवी भवत्ययम् । तदैव शमभोक्तान मदासारविभूषित ॥ ३२ ॥

अर्थ—महान् कुरूपी कौनसे पाप में होता है ? और जनतामें अपवाद किमका होता है ? हे राजन् मगमको धारण करने वाले परम गुणी मत पुरुष, शील (ब्रह्मचर्य) से निभूषित, जिनेन्द्र मार्ग के प्रकाशक, दिग्भर मुनिगण ब्रह्मचारी-आर्यिका और श्रापिका आदि चतुःश्रेयका अपवाद करनेसे उत्तम स्थित्या दूषण लगानेसे उनकी मिथ्या निंदा करनेसे और उनका हास्य आदि कुमान करनेमें कुरूपता प्राप्त होती है और उसकी निंदा मर्मत्र होती है । डप पापक समान अन्य कोई भी पाप नहीं है । इस पापका फल प्रत्यक्ष इसी भवमें प्रकट होता है । और कोठ रोग आदि भयकर दुःसह वेदना शरीरमें इस प्रकारके पापके फलमें प्रकट होती है ।

अर्थ—कुरूपी और मनोहर कौनसे कारणोंसे होता है ?

हे राजन् चार प्रकारके सबकी मन बचन कायसे प्रशमा करना मराहना करना और चतुःश्रेय को मार्गका प्रकाशकारी मपहकर अतिशय आदर करना-पूज्य मानना और सदैव उसकी भक्तिमें तत्पर रहना इससे मनुष्य सुरूपवान सुदर और कीर्तिशाली होता है ।

जंतो कस्यैव पीडा च अतितीक्ष्णासिना पुमान् । वा कुंतेन करोत्येव कारापयति ह्यन्यत ॥ ३३ ॥

बहुभिर्वेदनाभिश्च सयुक्तो भवति नृप । आजन्मात्यपर्यन्तपरपीडात्र किं भवेत् ॥ ३४ ॥

अन्यस्मिन् य पुमान् जीवे पीडिते व्याधिभि सदा । तेषाहि प्राणिना चैव मोचापयति व्याधित ॥ ३५ ॥

भेषजै वा रसैर्भैषै अन्योपायोःकरै तथा । कारुण्यहृदयं कृत्वा सदा परदयारत ॥ ३६ ॥

स भवति नराधीश पजन्मानि मानव । वेदनारहितो नृनं परपीडानिवारणात् ॥ ३७ ॥

कृषिकर्ममनताना जीवाना क्षयकारकम् । य करोति तथा त च कारापयति अन्यत ॥ ३८ ॥

कृतस्य कारितस्यैव पापस्य गदित जिनै । समनैव फल जन राद्धार सर्ववेदिभिः ॥ ३९ ॥

अर्थः—जीवोको दुःसह पीडा कौनसे पापसे होती है ? हे राजन् जो जीवोको विना कारणही त्रास देता है । तलनाग कुंता चाकू वरछी आदि शस्त्रोंसे अन्य जीवोको पीडा देता है या अन्य किसीसे ऐसी भयानक पीडा जीवोको दिलाया है । समस्त जीवोको दुःखी करनेकी क्रूर भावना रखता है वह आजन्म पीडाको प्राप्त होता है । पापसे क्या नहीं होता है । जो दूसरोंको पीडा देगा उसको अवश्य ही पीडा प्राप्त होगी ।

अर्थ—वेदना रहित कौनसे पुण्यसे होता है ?

हे मगधेश्वर ! जो व्याधि-दुःख-और पीडासे सतप्त, वेदना से आक्रांत जीवोको देखकर उनकी पीडा को दूर करता है जो दूसरोंको दुःखोंसे छुडाता है जो रोग-व्याधीके समय औषधी मत्र आदिसे उनके दुःखोंका नाश करता है और जो समस्त जीवोंपर सदैव दयाभाव रखता है वह वेदना रहित होता है ।

अर्थः— मोही कौनसे कारणोंसे होता है ?

हे राजन् खेती आदि हिंसक व्यापार स्वयं करना अथवा तीव्र मोहके कारण हिंसक व्यापार दूसरोंसे

कुधिकर्मसं पाप नो परं भुवनत्रये । रामकं शृंगेरादि कंद्वारक्रिय तथा ॥ ४० ॥
 जवागुञ्जं मधुच्छिष्टं मर्षिकामशमत्र तथा । गोपसं तथा नागभम्म क्षार च पिजरं ॥ ४१ ॥
 चपलं गंधक चैव शिलिभीत्रं च अन्निशं । तिलोद्भवास नैव लाक्ष जीवस्य घातकम् ॥ ४२ ॥
 इत्यादीना करोयेन क्रय वा विक्रयं तथा । कुटुंबोपणार्थं च घान्नोत्क्रम्य यो नरः ॥ ४३ ॥
 तीव्रमोही कुटुंबेषु मोक्षज्ञानविवर्जितः । हाहाकारकरो दुःखे सदैव दुर्मतिन्तथा ॥ ४४ ॥
 तीव्रोदयो भवत्येव यस्यैव मोहकर्मण । ज्ञानदर्शनयोर्दुर्गुण अत्रेवावयणस्तथा ॥ ४५ ॥
 अतिकौटिल्यता चैव त्रयाणा मगधाधिप । सदा शोकी दिने भोगी म्रिया सद्दर्शवर्जित ॥ ४६ ॥
 णमि दुःकर्मणि सैव पंचेन्द्रियोन्यन्यमपि । भवत्येकेन्द्रियोन्तदुत्तवारम्य भाजत ॥ ४७ ॥

कराना इसी प्रकार अदरस, कंद, गूलर आदि अनंत जीव मिश्रित पदार्थोंका व्यापार करना; मदिग, मांस, शहत आदिका व्यापार करना; रायगुडिया (जीव विशेष) का रस निकाल कर व्यापार करना कराना; जीवोंकी चर्बीका व्यापार, गंधक, लोहा, लाल आदिका व्यापार; महुआ (मधुपुष्प) का व्यापार; मशीनोंके द्वारा महान हिसक होनेवाले व्यापार, चमड़ेका व्यापार आदि निध और हिसाजनक व्यापारोंका करना कराना या ऐसा उपदेश देना, तीव्र मोहोदयसे पापकी प्रवृत्तिमें लग जाना आदि कारणोंसे मोही होता है जो अनंत संसारका कारण है ।

अर्थ—एकेन्द्रिय कौन से पापों से होता है ?

हे राजन् जो अन्य धमर्त्तमा जीवोंके दर्शन ज्ञानका आवरण करता है कुटिल परिणामो से जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रिका अपवाद करता है जो सद्दर्मका लोप करता है जो आर्त्तध्यान से सदैव शोकातुर रहता है जो

महागूढ च आत्मोत्थं चिन्मय कर्मवर्जितम् । य पुमान् जीवतर्ल्वं च सदा निश्चलमंस्थितम् ॥ ४८ ॥
 ईदृशं कर्मकर्तारं भोक्तारं तत्फलस्य च । व्ययमपि च अभव्यानामप्राप्तं च कदाप्यहो ॥ ४९ ॥
 जानाति स्वहृदि नैव धर्मधर्मफल तथा । लोकाकाशमलोक च सर्वज्ञ दोषवर्जितम् ॥ ५० ॥
 मुनीना सकलाचार स्वरूपं च चतुर्गते । कर्मकर्मफल चैव कर्मणो बधनं तथा ॥ ५१ ॥
 व्यवहारनयस्यैव स्वरूपं नाकदायकम् । निश्चयस्य नयस्यैव स्वरूपं मोक्षदायकम् ॥ ५२ ॥
 सैव भो माघाधीश एभि कुकर्मभि खलु । तिष्ठत्येव सदा काले ससारे दु खसंभुते ॥ ५३ ॥
 उक्तदोषान् निजे चित्ते इतरत्वेन यो नर । जानात्येव नराधीश भव्यभावेन महित ॥ ५४ ॥

दिवसमें त्रियों का सेवन करता है जो अपनी प्रवृत्ति धर्मरहित करता है वह एकेन्द्रिय पर्याय को प्राप्त होता है ।
 अर्थ:— अन्त संसारमें कोन परिभ्रमण करता है ?

हे त्रैणिक समस्त द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे रहित आत्माका जिसके श्रद्धान नहीं है, जो चिद्रूप आत्माके अस्तित्वको नहीं मानता है, जिसके अतरंग परिणाम तीव्र अज्ञान मिथ्यात्वसे सत्य पदार्थोंकी श्रद्धासे रहित है, जो लोकाकाशादि तत्वोंको नहीं जानता है, जो मुनिधर्मके चारित्रको नहीं जानता है और जो चारो गतियोंका स्वरूप कर्मका फल, कर्मोंका स्वरूप, कर्मवधका स्वरूप, व्यवहारनयका स्वरूप, निश्चयनयता स्वरूप, मोक्षका स्वरूप आदिके स्वरूपको, नहीं जानकर अन्धथा श्रद्धान करता है, मिथ्यात्वभावोंसे तत्वोंके स्वरूपका अन्यथा श्रद्धान करता है, पदार्थोंके स्वरूपको नहीं जानता है वह चिरकाल संसारमें परिभ्रमण करता है ।

अर्थ—संसारके परिभ्रमणसे कौन शीघ्रही छूटता है ?

हे मगधेश्वर ! जो सात तत्वोंका यथार्थ श्रद्धान करता है । जो मुनिधर्म व गृहस्थ धर्मको मोक्षोपयोगी सम-

बहुकाल च स नैव भवारण्येतिदु खदे । अमति शीघ्रतो मोक्षे आत्येव ह्यघनाशत ॥ ५५ ॥
 भंजनाञ्जिनर्विवांना आल्याना च भो नृप । उपसर्गान्मुनीन्द्राणामागमानाच नाशत ॥ ५६ ॥
 एभिस्त्रिभि कर्मभिश्चास्य कर्मणा च दृढा खलु । ग्रंथी सवधपतेऽनतभवदु ख-दायिका ॥ ५७ ॥
 सम्यग्दर्शनसद्गुणचारित्राणाच य पुमान् । त्रिशुद्ध्या धालयत्येव निश्चयव्यवहारत ॥ ५८ ॥
 तपोयोगेन कृत्वैव ग्रथन ह्यष्टकर्मणाम् । नाशं आत्येव भो भूप मदा शर्मभयेऽक्षये । ५९ ॥
 च्युतोपमे निराधारे वृद्धिहासविवर्जिते । सिद्धसदोहमंयुक्ते ह्यतातीतगुणाल्ये ॥ ६० ॥

शुद्ध भावोंसे धारण करता है जो निश्चयनय आग व्यवहार नगमे आत्मानके स्वरूपको अच्छी तरह जानता है । जो भव्यभावों से मदैव आनंदित रहता है । जो यज्ञम गवेयादि गुणोंको धारण करता है वह शीघ्रही रासाय से युक्त होता है और आत्मीक अविनश्वर सुखको प्राप्त होता है ।

अर्थ— मोहकी गांठ किस कारण से दृढ होती है ? हे राजन् । श्रीमज्जिनेन्द्र भगवानकी प्रतिमाओहा भग्न करना-दुष्ट बुद्धिसे उनका अपमान करना—श्रीजिनदेवके मंदिर का विध्वम करना—मुनियोंको उपसर्ग करना—जिनागम को अवर्णवाढ लगाना या जिनागमको मिथ्या कल्पित सिद्ध करना इत्यादि भयकर पापोंसे मोहकी गांठ दृढ होती जिससे जीव अनतकाल पर्यंत घोर दुःखोंको प्राप्त होता है ।

अर्थ— मोहकी गांठ किस कारण से छटती है ?

हे राजन् ! सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र आदि आत्मिक गुणोंको मन वचन कायकी विभुद्धिसे धारण करनेसे मोहकी गांठ शीघ्रही नष्ट हो जाती है । जिससे आत्मीक सत्य सुख प्राप्त होता है ।

अर्थ— मोहकी ग्रंथी नष्ट होनेपर जीव को उपमा रहित अनुपम स्वभावरूप से प्राप्त अनत गुणोंसे परिपूर्ण

इन्द्रनागेन्द्रमूर्धेन्द्रदृष्टपुण्येक्षविच्युते । ईदृशे परमे स्थाने दुर्लभे चान्यलिङ्गिनाम् ॥ ६१ ॥
 प्रदोषो निह्वयश्चैव तथा मात्सर्यसज्जक । अतरायाभिधश्चैव आसादनोपघातकौ ॥ ६२ ॥
 एभि पट्कर्मभिश्चास्य वधो भवति भूरते । द्वयोर्हि ज्ञानदर्शनावरणयोर्भवेवप्रद. ॥ ६३ ॥
 पृथक् पृथक् शृणु त्व च पण्णाहि लक्षण नृप । निर्विकल्पतया मध्ये कर्मविविधाघातकम् ॥ ६४ ॥
 सम्प्रदर्शनसद्ज्ञानधारकस्यच नुः खलु । चारित्रपालकस्यैव त्र्येकस्य धारकस्य वा ॥ ६५ ॥
 सभायांच कृता नून मत्थेन केनचिदियम् । पशमा पया तम्य अहो वन्योऽधुना सच ॥ ६६ ॥
 शुचिनं नो करोत्येव पुमान् कोप्येन तस्यैव । पैशुन्यदोषितातस्थः परोदयविघातक. ॥ ६७ ॥

इन्द्र नागेन्द्र देवेन्द्रोस पृजित अतीन्द्रिय और अविनाशीक मोक्ष सुख प्राप्त होता है जिसकी प्राप्ति एक जैन दिगंबर लिङ्गमेही होती है ।

अर्थ—ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका आश्रय कौन कौनसे कारणो से होता है ?
 हे राजन् प्रदोष-निह्वय-मात्सर्य-अतराय-आसादन-और उपघात इन छह कर्मसि ज्ञानावरण और दर्शनावरण का आश्रय होता है । इनका स्वरूप आगे खुलासा से बतलाते हैं ।

अर्थ:— प्रदोषादि छहो आसन्नोका पृथक् पृथक् स्वरूप आगे बताते उसे सुनो ।
 अर्थ—प्रदोषको लक्षण क्या है ?

हे रानेन्द्र ! सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान-सम्यक् चारित्र और उनका पालन करनेवाले भव्य प्राणियोंकी सभामें प्रशंसाको सुनकर सहन नही करना-अथवा उन गुणोंमें अनुराग नहीं होना, गुणोंमें रुचि नही प्रकट करना सो प्रदोष

प्रशंसा च वदत्येव चापवाद तु तस्य वै । प्रदोषस्यैव ण्वदद्भि जानीहि रक्षणं नृप ॥ ६८ ॥
 केनचिपुरुषेणैव प्रोक्तं मो दुरभक्तम । भवताच गृहे गस्ति अमुक पुस्तकं शुभम् ॥ ६९ ॥
 मा देहि त पठित्वाच क्तिरित्वैव पूनश्चैव । दास्यामि भवता तद्धि द्वापरो नात्र किंचन ॥ ७० ॥
 किमपि कारणं इत्था लहंकारं च म्हादि । विप्रमनपि जानादौ व्याहृत्येव म कुर्वी ॥ ७१ ॥
 नो जानामि इदं जगन्महत्कार्यं च निश्चयात् । पुनर्नोप्येव म नास्ति मा स्यात्येव मानस ॥ ७२ ॥
 ण्व योद्धि कशेरुकेन जानस्याच्छादनं पुमान् । नास्ति चेति रुच्यत तत् जानस्य विद्यत लज्ज ॥ ७३ ॥
 प्राप्नोति सैव दुर्दोषं निन्दन्वाहं भवप्रदम् । मानवो मगधावीश योभाषल्यनाच्च वै ॥ ७४ ॥

हे । ईर्ष्या या असहिष्णुताके लिये दूसरे पुण्य पुरुषोंके उत्तम सम्प्रदर्शनादि गुणोंके अभ्युदयको सहन न कर मनमं द्वेष बुद्धिमे उमका अपवाद करना निंदा करना-या प्रदोष है । उमसे ज्ञानाधरण और दर्शनान्तरण कर्मका आश्रय होता है ।
 अर्थ—निन्दव दोषका लक्षण क्या है ?

हं गजम् किसी पुरुषने आन जानकी वृद्धिक लिये किसी पुरुषके पास ज्ञानवृद्धिका माधन पुस्तक आदि की याचना की । मागी । परतु मेरी पुस्तकादिजोसे यह ज्ञान संपादन कर महत्वशाली उन जायगा जिनमे मेरी प्रतिष्ठा या गौरवका नाश होगा उम प्रकारके दूष्ट भागोंको हृदयमें धारण कर किसी भी महानेमे निषेध कर देना कि मेरे पास यह पुस्तक नहीं है । उम प्रकार विद्यमान ज्ञान साधनोंको छुगारकर मनकी कुटिलतासे निषेध करना सो निन्दव है । इसी प्रकार शास्त्रकी चर्चाका अपनको ज्ञान होनेपर भी उक्त प्रकार दुष्ट अभिप्रायको रखकर निषेध कर देना कि मुझे यह बात मालुम नहीं है । सो निन्दव है ।

सम्यग्ज्ञानके प्रचारको रोकना-सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि का नाश करना-सम्यग्ज्ञानियों का महत्व गिरा देना मो

विद्यते गन्तार्थं कठस्थो भवता खलु । प्रथो मा पाठय धीर चाप्रवर्द्धनेहेतवे ॥ ७५ ॥
 योग्योऽं पठने तस्य पाठने तस्य निश्चयात् । योग्यस्त्वमसि नान्योऽि महामतिप्रधारक ॥ ७६ ॥
 एव श्रुत्वापि तथैव वाच पुंसे च तस्य वे । दानयोग्याय केनापि हेतुना दीयते न मत् ॥ ७७ ॥
 यः म लभत भो मृप दोष मात्सर्वसत्त्वम् । मात्स्यहेतुतो नूनं भवभ्रमणकारणम् ॥ ७८ ॥
 सदसि विद्यमानेच व्याख्यानभागमस्य वै । केनचित् शरणेनैव तस्मिन्कोपि करोत्यहो ॥ ७९ ॥
 प्रशेदहं मनोकथावा येनैव ह्यागमस्य च । अतरायो भवत्येव स्वकार्यवशात् तथा ॥ ८० ॥

मम निन्दन दोष है । इससे अनन्त दुःख प्रदायी कर्म (ज्ञानाभरण और दर्शनाभरण) का आश्रय होता है ।

अर्थः—मात्सर्य दोष किसे कहते हैं ?

हे राजन् किसी शिष्यने आकर कहा कि हे स्वामिन् आपको शास्त्रोका गहन अर्थ सब कठस्थ है । मैं अपने ज्ञानकी बृद्धिके लिये आपसे पठन पाठन और अभ्यास करना चाहता हूँ । मैं इसके योग्य हूँ । और आप भी सब प्रकार यथेष्ट योग्यताके धारक हों—यह विद्या आपके सिवाय अन्यत्र सुझ प्राप्त नहीं होगी । इसप्रकार प्रार्थना करनेपर जो मनकी मत्सरतासे सम्यग्ज्ञान के शास्त्रों का पठन पाठन नहीं करावे अथवा किसी दुष्ट अभिप्रायसे योग्य ज्ञानको प्रदान करने में द्वेष करे सो मात्सर्य दोषका धारक है । इससे संसारका भ्रमण होता है ।

अर्थः—अतराय दोषका लक्षण क्या है ?

हे राजन् शास्त्रसभामें सम्यग्ज्ञानका उत्तम व्याख्यान हो रहा है । जिसकी श्रवणकर अनेक भव्य अपना हित संपादन करते हो । उस परमाणमके सर्वोत्कृष्ट व्याख्यानको मनकी दुष्टतासे रोक देना अथवा ऐसा प्रश्न सडा कर

अन्या वाहि करोत्येव कुर्वता हास्यदायकाम् । मौल्यैवेन यो मर्यं स्वमदेन तथा नृप ॥ ८१ ॥
 अतगायामिध दोषमहसंततिदायकम् , उपाजैवति सो नूनं शास्त्रविच्छेदकारणात् ॥ ८२ ॥
 करोति नैव यो मूढ सतो ज्ञानस्य मानव । कायेन विनय चैव हस्तकुंडमलतस्तथा ॥ ८३ ॥
 पद्मासनाच्च स्तवनात् स्मरणाच्च प्रशशनात् । प्रब्रंयाना च सोप्येव तदाच्छादनत खलु ॥ ८४ ॥
 आसादनान्त्य दुर्दोषमाप्नोति गगनाधिप । सर्वदु ल्पद ह्येय जैनतत्वविदारैः ॥ ८५ ॥

देना जिससे व्याख्यान बढ़ ही जावे । अथवा मनको दुष्टतासे परमागमके व्याख्यानमें हास्यादिक कर परमागमके प्रभाव को नष्ट कर देना अधना सिद्धया वाते लगाकर परमागमके व्याख्यानमें विघ्न कर देना शास्त्र सभा वा पाठशाला आदिको तोड़ देना या किसी वहानेसे अन्यके द्वारा नष्ट करा देना सो अतराय दोष है । मूर्खता और अभिमान से परमागमका विच्छेद करना सो भी अतराय दोष है । यह अनंत पापका प्रदान करनेवाला भयकर दोष है ।

आसादन दोषका स्वरूप क्या है ?

हे राजन् ! परम उत्कृष्ट और सर्व प्रकार से सर्वदा निर्दोष ऐसे परमागमका मन वचन काय से विनय नहीं करना हाथ नहीं जोड़ना बढ़ना भक्ति नहीं करना पूजा नहीं करना ऊंचे स्थानपर विराजमान नहीं करना परमागम के उपकारको भूल जाना और अन्य समाजमें परमागमका प्रभाव कुठित हो ऐसे आवरण करना, मनसे परमागमको हितरूप नहीं समझना वचनसे उत्तम प्रबंधमें दूषण लगा देना—सो सब आसादन नामका दोष है ।

प्रशस्त ज्ञान और उस ज्ञानको धारण करने वाले भव्योत्तमका आदर सत्कार कर महत्त्व नहीं प्रकट करना सो आसादन नामका दोष होता है ।

सुज्ञाने वाच्यमाने हि सदसि गुरुणा नृप । यः कोपि कथयत्येवं मदमात्सर्यकारणात् ॥ ८६ ॥
 इदं पाठमशुद्धं च कल्पोक्तमिव दृश्यते । अनुक्त भामते नूनं सवधोऽयं कथं घृतं ॥ ८७ ॥
 इत्याद्यगुणबुद्धेश्च आगमस्यैव योधम । दूषणं च ददात्येव मनुजो भो नृपोत्तम ॥ ८८ ॥
 सैव नूनं लभयेवोपघाताहं कुदोषकम् । जिनवाक्यविधातत्त्वास्त्वशब्दस्यैव पोषणात् ॥ ८९ ॥
 एतेहि षड्विधा दोषा ज्ञानावरण-दर्शना-वरणयोर्हि भवत्येव आश्रया भगदायकाः ॥ ९० ॥
 आचार्ये शत्रुता चैव अकालेऽध्ययन तथा । अरुचिपूर्वकं ग्रथपठनं पठतोपि च ॥ ९१ ॥

अर्थ—उपघात दोषका लक्षण—

हे राजन् सभामें उत्तम और सर्वथा निर्दोष परमागमका भाषण होनेपर जो अहंकार या मात्सर्य भावसे (किसी प्रकारकी मलिनतासे) उस सत्यार्थको स्वीकार नहीं कर “ यह पाठ नहीं है ” “ यह अर्थ ठीक नहीं है ” अथवा “ पदार्थका स्वरूप नहीं है ” इस प्रकार ज्ञानका घात करना सो उपघात है ।

आगमके वाच्यार्थ में या पदार्थके स्वरूप में मनकी कुटिलतासे अन्यथा रूप प्रतिपादन करना सो उपघात नामका दोष है । आगममें दूषण या आगममें असत्यार्थ पदार्थकी नियुक्ति कर देना भी उपघात कहा जाता है ।

अपने अहंकार को सिद्ध करनेके लिये अपने मिथ्या वचनों को सत्य कहना और आगमके सत्य वचनोंको मिथ्या बतलाना सो उपघात है ।

अर्थ—ऊपर बतलाये हुए निम्नवादि दोष ज्ञानावरण और दर्शनावरणके वधके कारण है ।

आचार्य से शत्रुता करना, अकालमें पठन पाठन, शाल्म श्रवण करनेमें मनके परिणामोंकी ग्लानि रखना-अथ श्रवण करनेमें प्रमाद प्रकट करना गुरुकी चुगली या निंदा करना अथवा गुरुके समक्ष मिथ्या भाषण करना सो

आत्मस्थकरणं नूतनमादरेण तस्थच । व्याख्यानश्रवणमुन्मनीकत्वं स्वगुरोस्तथा ॥ ९२ ॥
 वाच्यमाने प्रथमानुयोगे धर्मप्रभावके । तत्रैव कथयत्येव कोपि पैशुन्यदोषत ॥ ९३ ॥
 वाचनीयं सभामध्ये मोक्षमार्गप्रदं शुभ । द्रव्यानुयोगनामंच । सभाया नो परं खलु ॥ ९४ ॥
 बहुश्रुतेष्टगर्वस्य विधान चापमाननं । परपक्ष पोषयत्येव मित्रोपदेशकी तथा ॥ ९५ ॥
 स्वस्य पक्षस्य लोकस्य गुष्टकर्मविवर्जित । ख्यातार्थं पूजनार्थंच लाभार्थमागमस्यच ॥ ९६ ॥
 चोपदेश ददात्येव असंबद्ध (निरर्थक) । ऋपटेन ज्ञानगठी चागमानाच विक्रयी ॥ ९७ ॥
 दूषण च ददात्येव सम्यग्दृष्टे- ह्यधप्रदम् । प्रशंसा च करोत्येव कुशाखाणा च मानवान् ॥ ९८ ॥

ज्ञानावरणी कर्मबधके कारण है । सभामें प्रथमानुयोगका व्याख्यान होरहा हो उसको श्रयण करनेमें ग्लानि प्रकट करना तथा “ शास्त्र सभामें तो द्रव्यानुयोगका ही ग्रथ पठना चाहिये वही मोक्षमार्गका प्रदाता है ” इस प्रकार कहकर ग्रथ-
 मानुयोग शास्त्रमें अरुचि उत्पन्न करादेना या प्रथमानुयोग शास्त्रोको मिथ्या ठहरानेका भाव प्रकट करादेना, ग्रीह ज्ञानी
 पुरुषोको अपना गर्व प्रकट करना अथवा उनका अपमान करना ।

आगमके ग्रीह ज्ञाताओं के द्वारा आगमानुमार सत्य २ पदार्थ का स्वरूप सप्रमाण कहनेपर ने तां परपक्ष
 को पुष्ट करनेवाले है मिथ्या उपदेश देनेवाले है अपने धक्षको पुष्ट नहीं करते हैं । इस प्रकार अपने मनकी कल्पनामें
 आगममें पक्षोंकी कल्पना कर सत्यार्थ स्वरूप को रोक देना । मान बडाई पूजा लाभ और स्वार्थके लिये शास्त्रका उप-
 देश देना । अपने स्वार्थके लिये मिथ्या उपदेश देकर सत्य वतलाना असबध और कण्टाचारसे विरुद्ध पाठ पठन
 करना, आगमका क्रय विक्रय करना, सम्यग्दृष्टी जीवोंको दूषण प्रदान करना मिथ्या शास्त्रोकी प्रशंसा करना ।
 इत्यादि बहुतेसे कारणोंसे ज्ञानावरण कर्मका आशय होता है ।

दीर्घनिद्रायुतो निद्रासयुक्तो धर्मनिद्रक । महाआलस्यवान् चैव जुगुप्सी निद्रकी तथा ॥ १९ ॥
 दर्शनावरणस्यैव आश्रवाश्च इमे बुधै । इत्याद्या शिवधस्य कर्तारः संमता खलु ॥ १०० ॥
 दुःखशोकेन तापेन आकन्देन वधेन च । तथा हि रोदनेनैव अहो माघमडन ॥ १ ।
 आत्मपरोभयत्वेन असेद्वेद्यस्य वंधन । भवत्येव च नु त्व च एतेषा वर्णनं शृणु ॥ २ ॥
 आधिब्याध्याटिके जाते स्वस्य परस्य वा तनौ । सक्लिष्टपरिणामेन चित्तन क्रियतेत्र यत् ॥ ३ ॥
 सैव दुःखाभिर्ध दोषं लभत्येव नरेध्वर । वा कारितानुमोदेनानुभयर्यस्य दीपकस्य ॥ ४ ॥

दिवसमें सोना, दीर्घ निद्रा ग्रहण करना, शास्त्र पढते पढते शयन करना, धर्मकी निंदा करना, जिनदर्शनादिक शुभ कार्योंमें आलस करना, दूसरोंके दर्शनेमें व्याघात पहुंचाना, निंदा करना, मुनिगणोंके पवित्र शरीरको देपतार ग्लानि करना इत्यादि कारणोंसे दर्शनावरण कर्मका आश्रय होता है ।

अर्थ:— असाता वेदनी कर्म कौनसे कारणोंसे होता है ?

हे मगधेश्वर दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, रोदन ये सब अपनी आत्सामें, पर जीवमें अथवा दोनोमें उत्पन्न कर देनेसे असाता वेदनी कर्मका आश्रय होता है । आगे इनका विशेष खुलासा प्रकट करते हैं ।

अर्थ — आधि, व्याधि, पीडा और तीव्र वेदना आदि होनेपर संकेश परिणामोंके द्वारा चार चार उस दुःखका अनुभव करना अथवा ऐसा दुःख दूसरोंको देना अथवा दुःख देनेकी अनुमोदना करना, दुःखके कारणोंको उपस्थित कर देना सो सब दुःख है । इस प्रकार अपनेको और दूसरे जीवोंको दुःख देना सो सर्व असाता वेदनी कर्मका आश्रय है ।

पुत्रकृता कुटुंबानां विच्छेदे स्वयं वा नृ। हस्यध्यानद्रव्याणां बहुमोदद्विदायमाम् ॥ ५ ॥

महाशोकं करोत्येव तेषां प्राच्यै सदैव हि । शोकाख्यं नयत्येव दोषं जन्मनि ॥ ६ ॥

केनचिन्निघकार्यस्य कारणात्स्वयं जायते । अपवादो महान् लोकं तं श्रुत्वा ज्ञातानि मया ॥ ७ ॥

पश्चात्तापं करोत्येव नैव मुच्यति तं पुनः । स पुमान् भजते तापाग्निं दोषं स्पृष्टुं सततम् ॥ ८ ॥

केनचित्कारणैर्नैव विरामात्कृदन् तथा । नैवाश्रुपातपतनं पृ कार्कषणं श्रुप ॥ ९ ॥

स्थितोहि रोदनं चैव करोत्येव विकारणं । आकृदनायं मो दोषं लभत भगवत्सदम् ॥ १० ॥

अर्थ—इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग के होनेपर शोक होता है । पृत्र स्त्री कृतुं आदि मजीन पदार्थोंके वियोग होनेपर वा अपने ही वियोग होने पर अथवा हस्ती घोडा—धन धान्य आदि पदार्थोंके वियोग होनेपर जो वेदनारूप शोक होता है उसको शोक कहते हैं । दुःखका विशेष रूप ही शोक है । इससे अमाता वेदनीय कर्मका आस्रव होता है । शोक अपनेमें करना या दूसरेमें कराना मन ही अभाताके कारण है ।

अर्थ— कोई भी निघ कार्य करनेसे अथवा किसी भी अशुचित कार्यके हो जानेपर मंगारमें अपमाद (निंदा) हो जानेसे जो पश्चात्ताप—वार वार आत्म परिणामोंमें संकेश रूप ग्लानि हो मो पश्चात्ताप है । कभी कभी धनधान्यादिके नष्ट हो जानेपर, व्यापारमें हानि होनेपर, कार्यका विपरीत परिणाम होनेपर भी पश्चात्ताप होता है । यह भी एक प्रकारका दुःखका ही रूप है । यह भी असाता वेदनी कर्मका कारण है ।

अर्थ— किसी भी कारणसे ऐसा विलापपूर्वक रोना कि जिसको श्रमण कर दूसरोके मनमें आघात पहुंचे दूसरोके मन दुःखसे पिघल जावे, नेत्रोंसे पुत्कार पूर्वक दीनताके साथ रुदन करना करना अपने परिणामोंका संकलेश भाव प्रदर्शन कर रुदन करना, दूसरोके चित्तको विकार या क्षोभ हो ऐसा रुदन करना

शंषपात हि यो अत्रे पावके च प्रवेशन । अध्वौ च पतनं तथा श्वासोच्छ्वासप्ररोधरम् ॥ ११ ॥
 करोत्येवं तथा नून खादत्येव विषादिकम् । आसिना स्वस्य हस्तेन स्वात्मान घातयत्यहो ॥ १२ ॥
 इत्यादिभि नराधीश स्वस्य प्राणस्य पापघ्नी । वियोगं च करो येव वधाहं सैव निश्चयात् ॥ १३ ॥
 दोषं ह्यनतससारपरिभ्रमणकारणम् । प्राप्नोति आत्मघातस्य करणात्रात्र संशयः ॥ १४ ॥
 परमङ्गलसंयोगात् ईदृशं रोदन नृप । य करोति पुमान् नून महादुःखस्य दायकम् ॥ १५ ॥
 परेषा श्रवणाद्यस्य रोदन भवति सदा । दोष परिवदनाख्य लभते भवदुःखदम् ॥ १६ ॥

सो सब आक्रन्दन है । यह अपनेमें और दूसरोंमें करने करानेसे असाता वेदनी कर्मका आसन्न होता है ।
 अर्थ—समुद्रमें पडकर आर्तौरौद्र परिणामोंसे मरना या दूसरोंको मारना, पर्वतसे गिरकर प्राणोंका
 नाश करना, अग्निमें प्रवेश करना सती होना नदीमें गिरकर प्राणोंका घात करना श्वासोच्छ्वास क्रियाको रोककर
 अपघात करना विषादिक भक्षण कर प्राणोंका नाश करना तलवार बटूक आदि शस्त्रोंके द्वारा प्राणघात या
 आत्मघात करना धर्म समझकर प्राणोंका वियोग करना इत्यादि अनेक प्रकार से संकलेश परिणामपूर्वक मरना—
 दूसरोंको मारना या मरवाना सो सब बध है । इससे भी असाता वेदनी कर्मका बध होता है ।

अर्थ—आत्महत्या अथवा परघात करनेसे अनंत ससारका बध होता है । सबसे भयकर पाप आत्महत्या
 है । जो धर्म समझकर आत्महत्या करते है वे अनंत ससारमें परिभ्रमण करते है ।

अर्थ - हे राजन् ऐसे संकेश और दुःख परिणामों से रोना कि जिसको श्रवण करते ही दूसरों को भी
 रुदन हो जावे । अपने और दूसरोंके परिणामोंको क्लेश कारक— वीभरत रूपसे कल्याणपूर्ण रुदन करना सो परिदेवन

पैशुन्यात् पापकार्यस्य नेरणात् चापवादतः । तिरस्कारस्य करणात् परेषां निन्दनान् तथा ॥ १७ ॥
 परद्रव्यापहरणात् अघर्मिजनसेवनात् । कार्यद्वितेच अनर्थदंडस्य करणात् पुन ॥ १८ ॥
 जीवनार्थं च शास्त्राणामभ्यासकणात्तथा । इत्याद्यन्यदपि नूनमस्याश्रमा भवंत्यहो ॥ १९ ॥
 भूतद्वान्यनुकपाच दान सरागसंयम । योगाना क्षांति शौचश्च एतेहि मगधाधिप ॥ २० ॥
 आश्रवाहि मद्देधस्य महाशर्ममदायका । भेद शृणुच तेषाहि नच्यहंच पृथक् पृथक् ॥ २१ ॥
 सर्वभूतेषु चित्तन कायेन वा हृदा तथा । दयाभावं करोत्यिव यो नाहि भव्यभावयुक् ॥ २२ ॥

नामका दोष है । इससे भी असाता कर्मका आश्रव होता है ॥

अर्थ—चुगली करना-पाप कार्योंकी प्रेरणा करना दूसरोंमें दोष लगाकर निंदा करना, दूसरोका तिरस्कार करना दूसरोकी निंदा करना, दूसरोके द्रव्यको चूट लेना पापी अधर्मी और अपने धर्मसे पतित ऐसे निघ मनुष्य की सेवा करना बिना प्रयोजन हिंसा आरंभ करना, अनर्थदंडके कार्य करना अपनी आजीविकाके लिये विद्याभ्यास करना इत्यादि बहुतेसे अन्य कारण भी असाता वेदनीय कर्मके होते हैं ।

अर्थ—सातावेदनी कर्मके आश्रम कौनसे है ? प्राणी मात्र पर अनुकंपा व्रती पुरुषोपर विशेष विनय-के साथ अनुकंपा, दान सराग संयम क्षांति शौच इत्यादि माता वेदनी कर्म के कारण हैं । इनका स्वरूप खुलासा से बतलाते हैं ।

अर्थ:—भूत अनुकंपाका क्या स्वरूप है ?

हे राजन् मन बचन कायसे समस्त जीवोपर दयाभावोका रखना अर्थात् जीवमात्रमें भेदाभेद विचार किये बिना ही दयाभावसे सबपर दया प्रदर्शित करना सो भूतअनुकंपा है ।

एव विचारयत्येव चतुर्गतिभवा इमे । मृता सर्वे सदैवोच्चैः कर्मोदयवशात् खलु ॥ २३ ॥
 निजनिजैव भुञ्जति दुःखीष पारवर्जितम् । भविष्यति कदा मुक्तिः एतेषा दुःखतो ननु ॥ २४ ॥
 स पुमान् भूतकंगाल्य गुणं शर्मप्रदायकम् । लभते नात्र सर्वेह सद्यपरिणामत ॥ २५ ॥
 पंचाणुव्रतयुक्ताना दृष्ट्वा सद्गर्मवृद्धये । य पुमान् स्वात्मनि नित्य दयाभावं ह्यधापहम् ॥ २६ ॥
 करोति एतम भूप बाल वृद्ध तपस्विनम् । धर्मस्य ज्ञानद चैव जिनधर्मोपदेशकम् ॥ २७ ॥
 परपीडा च जानाति आत्मपीडामिव सदा । परोपकारकरणे हि द्यार्द्रचित्तधारक ॥ २८ ॥

ऐसा विचार करना कि जीव अपने कर्मोंके विपाक (फल) से चारो गतिमें दुःखको प्राप्त हो रहे हैं । इन जीवोंका कर्मका सवध कम नाश को प्राप्त हो । ये जीव का दुःखोंमें छूट जावें । इनको सन्मार्गकी प्राप्ति कब हो जावे इस प्रकारका समयदान समस्त जीवोंपर देनेकी इच्छासे ममस्त जीवोंपर परम करुणाभाव रखकर उनके दुःखोंका प्रतीकार करना सो भूतअनुकपा है ।

अर्थ:— त्रतियोपर अनुकपाका क्या स्वरूप है ?

हे मगधेश्वर पंच अणुव्रतके धारक या पाच महाव्रतके धारक, सयमी, व्रती और श्रेष्ठ चारित्रिके प्रतिपालक पुण्य पुरुषोंको दुखी देखकर श्रेष्ठ धर्मकी वृद्धिके लिये दयाभाव प्रदर्शित करना, उनके पवित्र गुणोंकी चाहना प्रकट कर पूज्य भावसे उनके दुःखोंका नाश करना, उनकी पीडाको शांत करना, बृद्ध बाल तपस्वी गणोंकी सेवा वैयावृत्य करना, रोमी और असमर्थ सयमी को धर्म साधनमें लगाये रहना, धर्मात्मा 'साधर्म्य' भाइयोंकी आदरभावसे सेवा सुशुभा करना, ज्ञानी विद्वानोंको धर्मके अग समझकर उनका आदरभाव करना; पाठक, उपाध्याय और धर्मके स्वरूपको व्यक्त करनेवाले भव्य जीवोंको सहायता कर धर्ममार्गमें दृढ़ बनाये रखना, दूसरोंकी पीडाको आत्मपीडा समझनेवाले भव्य

त्रत्यनुकंपाभिर्घं सैव गुण संसारनाशकम् । प्रामोति मगधावीश अनुकंपात्र किं भवेत् ॥ २९ ॥
संसारहेतुहृत्तारं दानं गत्राय योजयेत् । चतु प्रकारं यो भावात् गुण दानाभिश्च लभेत् ॥ ३० ॥
ससारवर्द्धकान्येव द्रव्यकर्माणि वा तथा । भावकर्माण्यपि यो हि त्यजते मनमादित ॥ ३१ ॥

सो हि सरागसंज्ञं च गुण शिवप्रदं नृप । लभते भावशुद्धिवात् क्रमान्मोक्षपदं खलु ॥ ३२ ॥

जीव सार्धं भाइयोको सत्र प्रकारसे सुखी बनाना, परोपकार दयाभासे करना इत्यादि अनेक प्रकारसे धर्मअंगोंकी दृढता करना सो त्रती अनुकंपा है । समारका नाश करनेमाला एक यही गुण है । इस गुणसे ममत्त पापकर्म एक क्षण मात्रमें विलीन हो जाते हैं । और अनंत पुण्यकर्म संपादन होता है ।

अर्थ—दानका स्वरूप क्या है ?

हे राजन् जिस दानसे संसारके बंधनोंका नाश हो वही मत्स्यदान है वाकी कुदान है । दान पात्रमें ही दिया जाता है । पात्रम प्रदान किया हुआ दान सत्यदान कहलाता है । कुपात्र और अपात्रमें प्रदान किया हुआ दान कुदान कहलाता है ।

चार प्रकारके पात्रमें । मुनि—अर्थिका श्रावक श्राविका) चार प्रकारका दान समारका नाश करता है । और इसके व्यतिरिक्त अपात्रमें प्रदान किया हुआ दान ससारको बढ़ाता है ।

अर्थ—सराग सयम किसको कहते हैं ?

हे राजन् ! संसारको बढ़ानेवाले द्रव्यकर्म और भावकर्मों को मनकी विशुद्ध वासना से नहीं छोड़ना सो सराग संयम है । भागार्थ—बाल बचन और कायकी क्रिया संयमरूप हो परंतु मनमें सकल्प विकल्पोंकी भावना हो, द्रव्य कर्म और भावकर्मोंके परित्याग करनेमें मनकी विशुद्धता नहीं हो सो सराग संयम है । राग सहित संयम सो सराग

पड़ वे जीविकायेपु दयापरिणामकारणात् । वडिन्द्रियाणां बंधत्वात् परसंतोषकारणात् ॥ ३३ ॥

स्नात्मता सर्वभूतेषु निवृत्तिता ह्यथात्था । आच्छादनत्वात् परेषा दोषाणा धर्मदेशनात् ॥ ३४ ॥

क्रियते य पुमान् स्वस्मिन् गुणान् चेमान् सुखप्रदान् । संयमस्यं गुणं सैव प्रामोति चेलनाप्रिय ॥ ३५ ॥

संयमेन ह्ययं प्राणी शोभते नानायकः । सर्वपापक्षयं कृत्वा मोक्षधाम व्रजत्यहो ॥ ३६ ॥

संयमेन विना सर्वा क्रियाः हि निष्फला मता । मुनीना वा गृहस्थाना तपोदानादिका खलु ॥ ३७ ॥

संयम है । यह सराग संयम क्रमसे मोक्ष के सुखको प्रदान करनेवाला है ।

अर्थ—संयम का स्वरूप क्या है ?

चेलनाप्रिय श्रेणिक महाराज ! छह प्रकार (पृथ्वी काय-अप् काय-तेजकाय-वायुकाय वनस्पति काय और त्रस काय) के जीवो की रक्षाके लिये अपने परिणामों की विशुद्धताको धारण कर अपने मन और इन्द्रियोंको रोकना अथवा इन्द्रियोंके बिषयोका परित्याग करना-दूसरोको सतोप भाव प्राप्त हो ऐसा सरलतासे दयाभाव प्रदर्शित करना समस्त जीवोको अपनी आत्माके समान समझकर समस्त जीवोपर दयाभाव रखना सब जीवोकी रक्षा करना-पापकार्यों से भयभीत होना-दूसरोके दोषोको ढांकना, धर्मोपदेशके द्वारा दयाभावका प्रचार करना-इत्यादि कार्योसे संयम भावना प्रकट होती है ।

आत्माके परिणामोंको विशुद्ध बनानेके लिये मन और इन्द्रियोको वश करना-विषय कपार्योंका परित्याग करना संयम है ।

अर्थ—संयमके पालन करनेसे मनुष्यजीवन की शोभा है । संयमके पालन करनेसे ही जीव कर्मोका नाश कर मोक्षसुखको प्राप्त होता है । संयम के विना समस्त जप तप दान आदि क्रियाएँ व्यर्थ हैं ।

तरिता तरंति भो भूप तरिष्यति नरोत्तमा । ये हि चानेन लोकेस्मिन् नान्योपायोस्ति किञ्चन ॥ ३८ ॥
 क्रोधाद्याना त्रयाणा च निवृत्तिर्यत्र तत्र वै । क्षातिर्भवति भो नूनं सर्वाशर्मविनाशिका ॥ ३९ ॥
 य इमा वारयत्येव सैव क्षात्यभिधं गुणम् । सर्वभगत्तिकतरि प्राप्नोति मनुजोत्तम ॥ ४० ॥
 क्रियते यद्विरमणं लोमस्यालोभवस्तुत । परलोकनिदानस्य वा पुमान् हि त्रिशुद्धिन ॥ ४१ ॥
 सैव शौचाभिधं नूनं गुण ह्यगीकरोत्यहो । आत्मशुद्धकरं भूप निर्ममत्वस्य कारणात् ॥ ४२ ॥
 जिनेन्द्रविभवस्खानकरणाच्च रसोत्कै । तपुजनास्तुद्र-यौधै स्तवनात्प्रभनात्तथा ॥ ४३ ॥
 वैश्रावृत्यविमानाच्च वालवृद्धतपस्विनाम् । साधर्मिजनसंमगाति स्वस्य कुलस्य पोषणात् ॥ ४४ ॥

सयमको पालन कर ही भव्य जीव मोक्षको प्राप्त होंगे । संयमसे ही संसारसमुद्रसे जीव तर्ते है । तिरेंगे । और

तिरेंगे । और

अर्थ—क्रोध आदि विकार त्रयकी निवृत्ति होना सो क्षांति है ।

भावार्थ—क्रोध-मान-माया आदि विकारोको मनकी पवित्रतासे रोक लेना-उत्पन्न नहीं होने देना

सो क्षांति है - क्षातिसे । समस्त दुःख नाशको प्राप्त होता है ।

अर्थ—हे राजन् लोभका त्याग करना सो शौच है । समस्त वस्तु मात्रसे निर्ममत्व भावको धारण कर

अपनी पवित्र आत्मामें लवलीन होना सो शौच है । इससे महान् पुण्यकी प्राप्ति होती है ।

अर्थ—श्रीमज्जिनेन्द्र देवकी प्रतिमाका भक्तिपूर्वक शुभभावो से पचामृत (दही दूध घी शर्करा सर्वाषधि)

से स्नान करना-पूजन वंदना स्तोत्र आदिके द्वारा भगवान्के गुणोका स्मरण करना प्रशुको भक्तिसे नमस्कार करना बुद्ध बाल रोगी तपस्वियोंकी वैद्यावृत्य करना-साधर्मि भाइयोकी सेवा सुश्रुषा और दान मान समर्पण करना अपने कुल और

मोचनात् परबंधस्य परदुखनिवारणात् । क्षुधिताय प्रदानाच्च भोजनस्योदकस्य च ॥ ४५ ॥
 मुनीनां त्यक्तसंगानां हस्तपादादिमर्दनात् । तेषां पादारविदानां घोबनात्भाशुर्कैर्जले ॥ ४६ ॥
 ब्रह्माभरणदानाच्च गृहिणा ब्रह्मचारिणाम् । दयादानस्य सदानादन्वेषा सर्वप्राणिनाम् ॥ ४७ ॥
 इत्यादिगुणसदोहधारणादस्य तु नृप । भवति आश्रवा नूनं सद्देवस्यैव सदाः ॥ ४८ ॥
 केवलश्रुतसंघानामवर्णवादतोऽस्य तु । तथाहि धर्मदेवानां भवत्यावरणो ननु ॥ ४९ ॥
 भूय दर्शनमोहस्य यस्यैव कारणात् खलु । सम्यग्दर्शनसमाप्तिः नो भवति कदाप्यहो ॥ ५० ॥
 एषा संक्षेपत कुर्वे वर्णनंच पृथक् पृथक् । शिवदत्तं त्वं शृणु भूय स्वचित्तस्य समाधिना ॥ ५१ ॥

कुटवी जनोका नीतिपूर्वक पालन करना दूसरे जीवोंको वधनोंसे मुक्त करना भूखे जीवोंको भोजन पान करुणाभावसे देकर सत्तोपित करना दीन असमर्थ लोगोंकी करुणाभासे सहायता करना रोगी और पीडातुर जीवोंको कष्ट से छुडाना मुनिजनोके हाथ पांय आदिको दयाकर सेना करना—भक्ति करना वैयाहृत्यके द्वारा उनकी यथोचित सेवा करना उनके चरणक्रमलोंको प्राशुिक निर्मल जलसे धोवना, जैनधर्म अनुयायी गृहस्थोंको ब्रह्माभूषण प्रदान करना ब्रह्मचारी आदि सयमी जनोको ब्रह्म आदिका देना दयादानका करना इत्यादि अनेक शुभ कारणोसे सातावेदनी कर्मके आश्रव होते हैं ।

अर्थ— दर्शन मोहनी कर्मके आश्रवके कौन कौनसे कारण हैं ?

हे राजन् केवली—श्रुत—चतुर्विध सध और धर्ममे अवर्णवाद लगाना असस्वरूप कल्पना करना सो हे दर्शनमोहनी कर्मके आश्रव हैं । इनसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं होती है । आगे इन सबका खुलासासे लक्षण बतलाते हैं ।

दुर्बुद्धिधारका. केचित् भुवलेव मनोक्तित । महामित्यात्वंसमथा सदा द्वापरसंभृता ॥ ५२ ॥

कोट्यादिपूर्ववपति जीवति भोजनादृते । कथं केवलिनश्चोभे इदं पश्यत सज्जना ॥ ५३ ॥

गुप्तत्वेन सदाहारं मुजति सकला इमे । अतो हि सशयो नास्ति देवाचार्याः केवलेक्षणा ॥ ५४ ॥

सामान्यपुरुषोप्येव विना न्यादेन अत्र हि । महातो तदृते तेहि कथं तिष्ठति भो बुधा ॥ ५५ ॥

आतका हि भवत्येव तेषा शातिक्रमंजसा । भेषजैश्च प्रकुर्वति देवा तत्सेवका ह्यत ॥ ५६ ॥

अर्थः— केवली भगवानको आवरण किस प्रकार लगाया जाता है ?
हे राजन् चार घातिया कर्मोंको नाश कर केवली भगवान अनत चतुष्टय युक्त होते हैं ।

अनत चतुष्टयता (अनत ज्ञान, अनत दर्शन, और अनत अंनंत ही तीर्थ— और अनतसुख) तब ही प्राप्त होती है जब कि वे प्रभु अपने ध्यान-सयम- और योग द्वारा समस्त दोषोंका नाश करदेते हैं । केवली भगवान् के उस समय बुधा प्यास-जरा-रोग-चिंता-शोक उपसर्ग आदि एक भी दोष नहीं रहता है । इसीलिये उनमें वह अतिशय प्रफट होता है कि जिसके प्रभावसे देव नागेन्द्र और समस्त त्रिलोकके जीव उनको सर्वोत्कृष्ट और पूज्य समझकर नमस्कार करते हैं, भावभक्तिसे पूजा स्तजन और गुणगान करते हैं । परंतु ऐसे महान पूज्य केवली भगवान् के अज्ञानी अवर्णवाद लगाकर असत कल्पना करते हैं ।

अज्ञानी और सशयशील मनुष्यों का ज्ञान प्रमाणरूप नहीं होता है इस लिये मदेन्मत्त पुरुषके समान सर्वता वश कहते हैं कि भगवान् समोसरणमें कोटि पूर्व वर्ष पर्यंत विना आहार के सजीवित नहीं रहसके इस लिये गुप्त आहार ग्रहण करते होंगे । लुण्छिपकर देवगण या उनके भक्त गण आहार करा देते होंगे । एक साधारण पुरुष आहारके बिना एक वर्ष नहीं रह सकता तो महान् पुरुष कोटि वर्ष पर्यंत किस प्रकार सजीवित रह सके है ?

उपसर्गापि जायते किञ्चित्पापोदयाच्च वै । निर्जरा तद्विनाशे च कुर्वति नात्र सगय ॥ ५७ ॥

त नद्यापि तथाप्येव षोडशाभरणाग्निता । सर्वथा च प्रहृश्यते देवातिशयमंडिता ॥ ५८ ॥

तुर्बो वा कवल दंड रक्षति न न संशय । कालभेदेन वर्सेत तेवा जानोपि निश्चयात् ॥ ५९ ॥

केवलजानिनामेव सर्वेषु महता खलु । तारकाणा च सर्वेषा निर्दोषाणा विमानिना ॥ ६० ॥

निलिगाधिपनागेन्द्रगचरेन्द्रनन्द्रभि । पृथ्यादारविंदाना गुणवता गुणेव्वपि ॥ ६१ ॥

केवली भगवानको गेग भी होता है । जब भोजन करते है तउ उसका विकार कफ वात और पित्त अवश्य ही रोगोकी उत्पत्ति करेगे । और उसकी शांति देवगण करते है । अथवा उनके भक्तगण अनेक प्रकारकी औपधियोंके द्वारा शांति करते है ।

केवली भगवानके उपसर्ग भी होते है । क्योंकि अभी उनके पापका कारण असाता वेदनी कर्मका उदय सौजद है । असाता कर्मके उदयसे दुस और उपसर्गोका होना स्वाभाविक वात है । पापसे क्या नही होता है । भगवानके असाताका उदय होना यह भी तो पाप है ।

केवली भगवान यद्यपि नग्न है तो भी उनकी शोभा देवगण षोडश भूषण पहनाकर करते है । क्योंकि भगवान त्रिलोक के प्रभु है और वे नग्न रहे तो उनका अतिशय ही क्या रहा ? और उनकी प्रभुताही महान कैमी मानी जावे ? क्योंकि महान वही है जो उच्चोत्तम पदार्थोंसे सुसज्जित रहता हो ।

केवली भगवान तुंबी-दड-और कंवल रखते है क्योंकि इसके विना वे प्रभु शौच क्रिया किस प्रकार करे । तथा भयका निवारण किस प्रकार करे एव शील आदिकी वाधा से अपनी रक्षा किस प्रकार करे ।

इत्यादियुक्ताना येऽगमा कलयथंयहो । असद्भूलाभिष्य दोषमनंतभवदायकम् ॥ ६२ ॥
 प्राप्नुवन्ति नूनं ते हि केवल्यावरणाभिषम् । दोषं भो मगतावीश भवाङ्कूणारवर्द्धका ॥ ६३ ॥

प्राज्ञकस्य पलस्यैव मघो मघस्य वा तथा । नवनीतस्य वा प्राप्ते नो दोष किमपि खलु ॥ ६४ ॥
 मातृस्वलादिकस्यैव मेयुने कदमक्षणे । रात्रिमोजनपानादौ अंहो नास्ति कदाप्यहो ॥ ६५ ॥

केवली भगवानका ज्ञान भी कम बढ (न्यूनाधिक) हो जाता है । कालभेदसे केवली भगवानके ज्ञानमें हीनता प्रकट होती है । भगवानके शयन समय ज्ञान ठीक नहीं रहता है और जाग्रत अवस्थामें वे सावचेत रहते हैं ।

इस प्रकार केवली भगवान में अनेक प्रकारकी अमत् कल्पना अपने मनोनीत भावोंसे कितने ही अज्ञानी करते हैं । परंतु केवली भगवान में उक्त प्रकार की असत् कल्पना किंभी प्रकारभी नभावित हो नहीं सकती है । जब कि केवली भगवानने समस्त कर्मोंका प्रचड राजा मोहनीय कर्मका ही नाश कर दिया है तब फिर उनके दोषोत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है । समस्त दोष मोहनीय कर्मक उदयसे होते हैं । उसके अभावमें दोषोंकी सत्ता रह नहीं सकती । इसलिये भगवान में दोष नहीं होते हुए भी कल्पित कर मिथ्या स्वरूप मानना सो केवलीका अवर्णवाढ है । इससे मोहनीय कर्मका आश्रय होता है । जिससे अनत ससारका बंध हो ।

अर्थ—मांग पकाकर प्राशुक होता है । उसका भक्षण करनेमें धर्म शास्त्रकी आज्ञा है । इसी प्रकार मद्य-मधु [शहत] और नमनीतके सेवन करनेमें कोई भी हानि नहीं है । दोष नहीं है । इस प्रकार मलिन और त्रसहिता से निरंतर परिपूर्ण पदार्थोंका संवन करना पवित्र मानना और ऐसी शास्त्रकी आज्ञा बतलाना यह श्रुत [शास्त्र] का अवर्णवाढ है ।

कामवाधा यदा साधो उत्पद्यते तदैव हि । सेमनीयं च वित्तस्य स्त्रिय दासीं च कन्यकाम् ॥ ६६ ॥
 वा साधो सेवका नूनं स्ववैयावृत्त्यसिद्धये । अर्पणीयाश्च स्वामा कामार्तीयव साधवे ॥ ६७ ॥
 अर्पणं न करोत्येव स्वस्त्रिया साधवे च य । भैव स्ववर्मतो बाह्यो भतो नास्त्यत्र संशय ॥ ६८ ॥
 इत्याद्ये ये व्रजेत्येव उन्मार्गे चाक्षपोपका । केचित् पृच्छति तानेव बाहो कुमार्गोपका ॥ ६९ ॥

माता वहिन पुत्री आदि परस्त्रीके सेवन करलेमें मूलरुदके भक्षण करनेमें-रात्रिमें भोजन पान करनेमें पापकी प्रवृत्ति नहीं मानना इस प्रकार नीति और सदाचार विरुद्ध पदार्थोंका सेवन करना और उमको उत्तम ममझ धर्मशास्त्रकी आज्ञा मानना सो श्रुतका अवर्णवाद है ।

जिस समय साधु (मुनिजन) को कामपीडा उत्पन्न हुई हो । तो वह अपनी पीडाको वेदया दासी और किसीकी भी कन्याका सेवन कर शांत कर सक्ता है । इसमें कुछ भी पाप नहीं है । यहा साधुका धर्म है कि पीडाको किसी प्रकार भी शांत कर सुखी रहे-ऐसी आज्ञा धर्मशास्त्रकी बतलाना-इस प्रकार अपने मनकी मलिनतासे धर्मशास्त्रमें मिथ्या दोष लगाकर कहना सो श्रुतका अवर्णवाद है ।

अथवा साधुकी कामपीडाको शांत करनेके लिये उनके भक्तगणोंको अपनी अपनी सुंदर स्त्रियोंका दान कर देनेमें विशेष वैयावृत्य होता है । जो भक्त इस प्रकार अपनी सुंदर स्त्रीको साधुकी कामपीडाको शांत करनेके लिये प्रदान करता है वह धर्मको स्थिर करनेवाला वैयावृती है । कदाचित् कोई भक्त इस प्रकार कामपीडाकी शांतिके लिये अपनी स्त्रीको साधुके लिये नहीं प्रदान करे तो वह अपने धर्मसे बाह्य है, इसमें जरा भी सदेह नहीं है । इस प्रकार अपने अपने स्वार्थको सिद्ध करनेके लिये महानसं महान भयंकर पापको भी उत्तम मानना और उसको धर्मशास्त्रकी ज्ञा बतलाना यह सब श्रुतका अवर्णवाद है ।

काचार सर्वनिधय च भवद्वि लयकारकम् । इदं कस्यानुसारेण आगमस्य च स्वीकृतम् ॥ ७० ॥
 अगीकृत च अम्माभि दन्नून समल बुवा । आचरण तद्वि शान्मोक्त तहते न किमपि नो ॥ ७१ ॥
 इमे सर्वे च संप्रोक्ता आगमेषु न मशय । स्वीसेवनादिका कर्था नो निगतातो भजामहे ॥ ७२ ॥
 शान्माहते किमप्येव नाम्येयाचरण खलु । अम्माक शान्मर्गात्सर्ववर्षस्ति क्रियादिक्म ॥ ७३ ॥
 ह्यनुक्तन गुणमतो महतो हि श्रुतम्य च । अमद्भूत च दुर्दोष ददाति यो हि मानव ॥ ७४ ॥
 श्रुताचरणवादाहं सो हि दोष कुटु खदम् । स्वीकरोत्येव भो भूप शान्मदोपप्रदानत ॥ ७५ ॥
 यथा हि पर्वतो विप्र गतो हि मसभामनौ । कयथित्वैव जीवौषा घातयोया इमे खलु ॥ ७६ ॥

अर्थः--इस प्रकार धर्मशास्त्रमें मिथ्या अवर्णन वाः लगानेमालोसे कितनेही विचारशील मनुष्योंने पूछा कि हे नीति और सदाचारकी पवित्र मर्यादाको अपने स्वार्थमें नष्ट करनेवाले हो और इसी लिये पवित्र धर्मशास्त्रको बदनाम कर अपना मतलब मिट्ट करनेवाले हो, यह निधय पापकारक मलिन आचरण कौनसे आगमसे कहते हो और आचरण करते हो ?

यह श्रणकर पापीने कहा कि जो कुछ हम आचरण करते हैं वे सन धर्मशास्त्रसे ही करते हैं । धर्मशास्त्रकी आज्ञाविरुद्ध कुछभी नहीं करते हैं । " कामपीडित साधुको स्त्री देना " मांस मद्य मधु नमतीत आदिका भक्षण करनेमें हानि (पाप) नहीं नतलाना इत्यादि जितने कार्य हैं वे सग शास्त्रमें वतलाये हैं । इसमें संदेह नहीं मानना चाहिये । शास्त्रविरुद्ध चलनेमें हम भी पाप ममझते हैं । परंतु हमारे शास्त्रोंमें उक्त समस्त क्रिया करनेकी आज्ञा दी है । इसप्रकार परम पवित्र धर्मशास्त्रमें असङ्कत दोषोंको लगाना सो श्रुतका अवर्णन है ।

तथा हि किं न यास्यति अंधदोषस्य कारणात् । ते मूढा इन्द्रियाणा च पोषका आत्मनिन्दका ॥ ७७ ॥ *

धूर्ता पशुपमाश्रमे शूद्रा दिग्गवरा खलु । तथा त्रयीवह्निर्भूता शुचिबर्कर्मवर्जिता ॥ ७८ ॥

निर्लेब्जा मललिप्ताणा अत्रैव दुःखभाजना । परत्रापि भविष्यति ग्हाटु खस्य भाजना ॥ ७९ ॥

महता कथयत्येव य पुमान् सैव निश्चयात् । सधावर्णवादाख्य दुर्दोषच लभत्यहो ॥ ८० ॥

निर्गुणोय खलु धर्मो जिनोक्तो धर्मवर्जित । वर्तते ये हि लोकेऽपिन् पुलगा तद्विधायका ॥ ८१ ॥

हे राजन् यह श्रुतावर्णवाद महान् पापका आश्रय करनेवाला है । पर्वत ब्राह्मणममान मातर्वे नरकमें ले जाने वाला है । पर्वतने भी जीवहिसाको धर्म बतलाया था और वह शास्त्रमें लिखा है गुरूजीने धर्मशास्त्र इसी प्रकार बतलाया है इस प्रकार श्रुतमें मिथ्या स्मकल्पित दोषोंका लगाना सो सम श्रुतका अवर्णवाद है ।

अर्थ—सचका अवर्णवाद क्या है ?

हे राजन् पवित्र और सर्वोत्कृष्ट सदाचारको पालन करनेवाले—कुल और जातिस अतिशय विशुद्ध-त्रिवर्णमें से किसी एक वर्णको अपने गरीरमें धारण करनेवाले शांत-मन और इन्द्रियोंको विजय करनेवाले समस्त दोषोंसे मुक्त ऐसे दिग्गवर साधुओंको धूर्त-पशुसम शूद्र कहना मलिन बतलाना निर्लेब्ज कहना दुःखके पात्र मानना सो यह सम सचका अवर्णवाद है । सर्वमें अमद्भूत दोषोंकी कल्पना कर मिथ्या निंदा करना है ॥

अर्थ—धर्मका अवर्णवाद किस प्रकार होता है ? हे मगवेश्वर ! श्रीजिनिन्द्र देवद्वारा प्रतिपादित (अहिंसा

* कितने ही मत मास संबन्धादिक आपने धर्मशास्त्रोंमें बतलाते हैं । तथा कितने ही साधुओंको अपनी स्त्री प्रदान करनेमें पुण्यकी प्राप्ति बतलाते हैं ।

तेहि सर्वेपि चाग्नेहि भविष्यत्यसुराः खलु । अतोयं सर्वतो वाह्यः संप्रोक्तो वेदधारिभिः ॥ ८२ ॥
 वेदयन्मैण सर्वेहि लोका तरति चान्यत । नो तरति कदाप्येव अस्माद्वाहा परे मताः ॥ ८३ ॥
 महति गुणवति चैव तारके भव्यदेहिनाम् । ईदृशो सर्वदेवेन्द्रै पूज्ये धर्मेच्युतोऽग्रे ॥ ८४ ॥
 केवलज्ञानसपन्नै प्रणीते दोषवर्जिते । य पुमान् स्थापयत्येव दोषं पूर्वोक्तसंज्ञकम् ॥ ८५ ॥
 धर्मावरणवादाहं दोष प्राप्नोति सैव वै । अन्तर्भवदुःखाना कारक मगधाविप ॥ ८६ ॥
 सर्वज्ञोक्तसमं धर्मं नो परं भुवनत्रये । मोक्षदं पापहारं मताऽन्ये दुःखदायका ॥ ८७ ॥
 पिबंत्येव इमे सर्वे निर्जना नात्र संशय । मद्य अदति मास च मधु वा चामृतोपमम् ॥ ८८ ॥
 होमस्य सकलाते हि साग्नीं स्वात्मतोषदाम् । स्वीकुर्वंत्येव रक्तं च सद्योजान च निश्चयात् ॥ ८९ ॥

परमो धर्म) अहिंसास्वरूप सर्वोत्तम पवित्र सदाचार विशिष्ट-इन्द्र नरेन्द्र विद्याधरादि विलोकके उत्तम पुरुषोंसे सेवनीय ऐसे पवित्र जैन धर्मको निर्गुण बतलाना अधर्म स्वरूप बतलाना उसके धारण करने वाले मरकर असुर-राक्षस आदि होंगे ऐसा असदृशत दोष लगाना जैनधर्म वेदको नहीं मानता है अतएव नास्तिक है धर्मनाह्य है ससार के समस्त जीव वेदसेही तरंगे । अन्य धर्मसे नहीं । इस प्रकार अपने अज्ञान भावोंसे हिंसा (पशुबलि) करने वाले वेदके धर्मको सत्य समझकर परम दयामयी सत्य जैन धर्ममें असदृशत दोषोंकी कल्पना करना और असत् दोषोंको अपनी मनोनीत कल्पना से पवित्र जैन धर्ममें लगाना सो समस्त धर्मका अवर्णवाद है ।

अर्थ—देवोंका अवर्णवाद किस प्रकार होता है ?

हे श्रेणिक देवोंका शरीर वैकृतिक होता है-इस लिए उनके शरीरमें मद्य मांस आदिका कुछ भी साथ नहीं है । देव स्वयं पवित्र होते हैं । वे मद्य मांसका सेवन नहीं करते हैं । परंतु मिथ्यात्व कर्मके उदयसे ऐसे पवित्र

एषामर्थं च सर्वेहि रचिता जंतवोखिला । स्वयंभुवा अतो नून होमविधिषि तथा ॥ ९० ॥
 देवार्थं मारयंथेव ये जीवा तेहि सत्यदम् । प्राणुवंत्यत्र सदेहो नास्येव तद्वि शर्मणात् ॥ ९१ ॥
 होमाग्नौ पतिता येहि वापा वा पुरयोक्तरा । सौरभेयाश्च अजावृदा नपुसकाः ॥ ९२ ॥
 तेहि सर्वे गता नाकलोके शर्माब्धिसमृते । एषा मास च देवाहि स्वीकुर्वति सदैव हि ॥ ९३ ॥
 होमकाले अतो यज्ञविधि प्रोक्त स्वयंभुवा । नास्यत्र सशयो नून वानाशर्मप्रदायकम् ॥ ९४ ॥

देवोको मद्यपायी बतलाना मांस भक्षी कहना-मधुसेवी कहना सो देवोका अवर्णनाद है ।

इसी प्रकार (देवोके विषयमें) होमके समय देवगण तत्काल काटे हुए बकरा आदि पशुओका रक्तपान करते है । उनका मांस भक्षण करते है । इसीके लिए समस्त जानवर प्राणी बनाए गए है ।

जो देवोको प्रसन्न करनेके लिए जीवोको मारकर बलिदान देते है वे सत्यथके गामी है । उनको स्वर्गके सुख प्राप्त होते है । इसलिए देवोके सामने पशुओको मारकर चढाना यह उत्तम धर्म है ।

स्त्री-पुरुषोंके हाथसे होममें पडे हुए हाथी घोडे कुत्ते बकरे नपुंसक मनुष्य और दूसरे प्राणि मरकर नियमसे स्वर्गको प्राप्त होते है ।

होममें बलि चढाए हुए जीवोका मांस देवगण स्वीकार कर भक्षण करते है । इसीलिए ब्रह्माने मंत्र जीवोकी सृष्टि निर्माण की है ।

इस प्रकार ब्रह्माने जीवोको स्वर्गकी प्राप्तिके लिये होम विधि बतलाई है । और होममें जीवोको मारकर

इत्यादि उक्तितो येहि ब्रुवति तेहि निश्चयात् । लभते तु खदं दोषं देवस्त्वावर्णवादजम् ॥ ९५ ॥

अदोषे दोषकथनादस्य नुरेभि कर्मभि । मिथ्यावाभिधमोहस्य आश्रवा हि भवंत्यहो ॥ ९६ ॥

शृणु चारित्रमोहस्य कारण कथयाम्यहम् । तीव्रभावो भवत्येव कयायोदयतो ननु ॥ ९७ ॥

यस्य तस्यैव चारित्रमोहस्य भवति खलु । बंधो भो मगधावीश सर्वदु खप्रदायक ॥ ९८ ॥

बलि चढाना बतलाया है ।

यदि देवोको जीव मारकर नहीं चढाये जावें तो देवगण क्रुपित हो जायेंगे । इसलिये उनकी प्रसन्नताके लिये जीवोकी बलि देना चाहिये ।

इस प्रकार पवित्र देवोंमें असद्वृत्त दोषोकी अपने स्वार्थके लिये मिथ्या कल्पना कर अवर्णवाद लगाना मो देवावर्णवाद है । यह अनत दुःखोंको प्रदान करनेवाला है, इसमें संदेह नहीं है ।

अर्थ:— इस प्रकार केवली, श्रुत, सध, धर्म, देवके सर्वथा निर्दोष स्वरूपमें दोष कहना, असद्वृत्त कल्पना करना सो मिथ्यात्व कर्मका कारण है । अनत ससारको बढानेवाले मिथ्यात्वका आश्रय इसमें होता है ।

अर्थ:— हे मगधेश्वर चारित्र मोहनी कर्मके आश्रय बतलाते ह — कपयोके उदयसे परिणामाम तीव्र रूपय पूर्वक सङ्केश भावोंके होनेसे चारित्र मोहनी कर्मका आश्रय होता है । कपयाका उदय और तीव्र परिणाम चारित्र मोहनी कर्मके बधके कारण है ।

त्रेतिना शील्युक्ताना मुनीना ब्रह्मचारिणाम् । वृथैव द्रूपण दुःख ददात्येवापवादकम् ॥ १९ ॥

म्बरय वा हि परम्यैव करोत्युत्पादन इथा । कयायस्यैव यो नून तथा हि धर्मैवसकम् ॥ १०० ॥

मासस्य चैव वैशुन्यं निदा हास्य च धर्मिणाम् । शीलव्रतम्य त्यागं हि विग्रमोपादकं तथा ॥ १ ॥

अतराय च सद्धर्मकार्यं तोषादिक तथा । मन्थासिजामादीना सेवा वा व्रतधारणम् ॥ २ ॥

इत्यादिभिर्नराधीश अम्य जीवस्य निश्चयात् । वंशश्चारित्रमोहरय भवत्यनतदु ष्वद ॥ ३ ॥

अर्थ--ब्रती-सयमी-सटाचारी-मुनि-ब्रह्मचारी आर्थिका-श्रामक-श्राविकाओपर व्यर्थ द्रूपण लगा देना उनकी निदा हो और धर्मका प्रभाव घटे ऐसा कार्य या अपमाद प्रकट कर देना धर्मको न्यस करनेवाली हसी या कथा रुहकर जीवोको सन्मार्ग मे हटानेका प्रयत्न करना धर्मिमा पुरुषोमे मात्मर्यभाव रखना उनकी चुगली कर उनको मन्मार्ग से गिराने के भाव रखना शीलव्रतोके धारक पुरुषोसो शीलका माहात्म्य घटानेके अभिप्राय मे विग्रम

१ कुशिक्षा और विषयोकी अनर्गल प्रवृत्ति जिस समय उपगत होती हे उस समय मनुष्यकी बुद्धिमें कुत्सित स्वार्थके वश दुर्वासना हो जाती हे जिससे वह विवेकको मूलकर निर्दोष और पवित्र पुण्यपुरुषोको अपने समान पापी वनानेका प्रयत्न करता हे । उत्तम सदाचारीके गुणोको उनके सन्मान को उनके आदर्श चरित्र से उत्पन्न हुण निर्मल यशको देखने में असमर्थ होता हे इसलिये किसी प्रकार मे उनकी निंदा कर जगतमें उनकी महिमा को न बढने दे इस प्रकारकी धारणासे अनेक प्रकार के दोष असद्व्युत्त दोष-मनोनीत भावोंसे कश्चित कर जातके सामने रखता हे । परतु इसमें संयमी या पवित्र चारित्रके धारक मुनिगणोंकी हानि नहीं होती हे । उनका यश और अधिक उज्वल होकर विश्वव्यापी बनता हे । परतु इसप्रकार कुत्सित कर्मसे अपनी आत्माको वह अवश्य टगकर नरकादि दुर्गतियोका पात्र बनाता हे ।

भास्योदये हि व्यथैत्र नो भवत्येव श्रेणिक । चारित्रपालने शक्तिश्चात्प्रमात्रापि जुर्ननु ॥ ४ ॥
 वषो भवति भो मय तीव्ररागस्य कारणात् । परद्रव्यापहरणात् विश्वलैरैकागणात् ॥ ५ ॥
 सिध्यादर्शनसंसात् शीलव्रतादिनाशनात् । अत्येव कृष्णनेत्र्यस्तादत्वंतरोद्रथ्यानत ॥ ६ ॥
 बालवृद्धपशुनां च वधनान्मारणात्तथा । हिंसादिकूरुकार्यस्य कारणात्प्रेणात्तथा ॥ ७ ॥
 विषयाणामसिष्टद्वलाददृत्तस्य च पोषणात् । सेवनात्परगमाया निशाभोजनकारणात् ॥ ८ ॥
 अगालितजलस्नानकरणात् कंदमक्षणात् । मधुमधादिमासानामदनाज्जिननिन्दनात् ॥ ९ ॥

उत्पन्न कर देना धर्मकार्यमें अतराय कर देना मन्ग्यासी-पाखंडी कपाली और चाब्य पुरुषोंकी सेवा करना इत्यादि सर्व चारित्र मोहनीके आश्रव हैं । ह श्रेणिक महाराज इम कर्मके उदयसे चारित्र पालन करनेकी अल्पमात्र भी शक्ति नहीं होती है ।

अर्थ—तरक गति कौन कौन से कार्योसे होती है ?

हे राजन् तीव्र राग का करता तीव्र मोह युक्त परिणामोको रखना दूसरोंके द्रव्यका अपहरण करना विश्वल वर चाधना मिथ्यादृष्टियोंका संसर्ग करना ब्रह्मचर्यका नाश करना अथवा दूसरों के ब्रह्मचर्यका नाश करना कृष्ण लेश्यामय होना—अत्यंत आते रौद्र ध्यानका मतत चित्तवन होना—वाल वृद्ध पशुओंको कोडा आदितसे पीटना अथवा शुद्र प्राणियों को मारना—असमर्थ दीन पशुओंको मारना—हिंसादि पाप कार्यो में मतत लगे रहना पापकार्योकी तीव्र अभिलाषा रखना विषयोमें अतिशय घुदता [विशेष अचुराग] रखना परस्त्री सेवन करना रात्रिमें भोजन करना बिना छाने पानीसे स्नानादि समस्त क्रियायें करना कदमूलका सेवन करना—मद्यका पान करना—मांस

नर्कगत्यायुषश्चास्य कर्मण पुरुषस्यैव । इत्यादिकर्मतो नृने सदा दुःखविधायक ॥ १० ॥
 वंचनात्परमस्यैव असत्यानंदधारणात् । नीलकापोतलेश्चत्वात् सदातिथ्यानकारणात् ॥ ११ ॥
 लोपनात् सद्गुणानाच इतराणाच कीर्तनात् । अनर्थवचनस्यैव कथनात्पापीडनात् ॥ १२ ॥
 कृष्णात् कृत्रिमवस्तोः द्रुतस्वाच्च परस्य वै । लोपनात् वचनस्यैव अन्यथैव प्रजल्पनात् ॥ १३ ॥
 मायाकुरुर्मभिश्चैव इत्याद्यैर्भववृद्धैः । तिर्यग्योनिसम नून दुःकर्मिनो नाह नृप ॥ १४ ॥
 तैर्योन्यायुषो वंशो भवत्यस्यैव प्राणिन । अनंतानतदुःखाना दायको वा भयप्रदः ॥ १५ ॥

विनीतप्रकृतित्वाच्च परद्रव्यस्य हापनात् । स्वभावभद्रसंभावात् आसूयत्वात्परस्य च ॥ १६ ॥

भक्षण करना शहतरका सेन करना श्री जिनन्द्र भगवान और उनके पवित्र शासन की निंदा करना, जिन-
 वाणी में दूषण लगेदेना इत्यादि कारणों से नरक गति (नरकायु) का आश्रय होता है ।

अर्थ—तिर्यच कौन कौनसे पापोंमें होता है ।

हे मगधेश्वर मायाचारी रखना, दूसरोंको ठगना, झूट वचन बोलना, नील कपोल लेख्याके परिणाम रखना
 आत्तध्यानके परिणाम वनाये रखना दूमरो के सद्गुणोंका लोप करना और अपनी अपने आप प्रशंसा करना अनर्थकारी
 वचनोंका बोलना दूसरोंको पीडा देना कृत्रिम वस्तुका उत्पन्न करना, द्रुतकर्म करना, अन्य जीवोंको ठगना, मिथ्या
 प्रलाप करना, मिथ्या प्रजल्प करना, मायाचारसे ठगना इत्यादि पापकर्मोंसे तिर्यच गतिका आश्रय होता है ।

अर्थ — मनुष्य आयुका वध कौन कौनसे कारणोंसे होता है ?

हे राजन् [नम्र स्वभाव रखने । सरल भाव रखनेसे दूसरोंकी द्रव्यकी चोरी अपहरण आदि नहीं करतेसे
 स्वभावसे भद्रपरिणामी होनेसे अल्प आरंभ और अल्प परिश्रम रखनेसे मनुष्य आयुका भाश्रय होता है ।

शोषणास्वतनो व्रतध्यानाद्यै शुद्धकर्मभिः । अतकाले चासंकेशभावस्य कृणात्था ॥ १७ ॥
 नाषणान्निष्ठवाक्याना त्रसजीवादिप्रक्षणात् । शिक्तारेखसमानक्रोधस्य घारणात्था ॥ १८ ॥
 पट्टकर्मपालनाच्चैव मिथ्यादर्शनवर्जनात् । ऋशणा विक्रयाणा च शुद्धाना कार्यकारणात् ॥ १९ ॥
 मिश्रपरिणामतश्चैवालभसंकेशभावतः । जिनेन्द्रपूजनादित्य गुरुणा सेवनात्था ॥ २० ॥
 श्रवणाडिजनशास्त्राणा लिलिख्त्वा अर्पणाच्च वै । गुरवे स्वस्य हस्तेन वा घनेनोपदेशत ॥ २१ ॥
 भवभोगागशर्मदौ उदासीनस्य कारणात् । कापोतपीतलेड्यत्वात्परजीवस्य रक्षणात् ॥ २२ ॥
 मानाभावात् मृदुभावाद्व्यारमस्य धारणात् । तथारूपपरिग्रहत्वाच्च यथाविनयपालनात् । २३ ॥
 इत्यादिकर्मतश्चास्य मानुपस्यैव आयुष । बधो भवति मो नून शर्मार्गमपदायक ॥ २४ ॥

सन जीवोंके साथ दया परिणाम रखना, व्रत ध्यानादिकके द्वारा अपने शरीरको कृश करना, उत्तम शुभाचरणोंका पालन करना, अत समयमें असंकेश परिणामोंका रखना मिष्ट हितकारी वचनोंका प्रतिपादन करना, त्रसजीवोंकी रक्षा करना बाल्के समान क्रोधके परिणाम होना पट्टकर्मोंका पालन करना मिथ्यात्वका परित्याग करना व्यापारमें नीति और श्रेष्ठ निष्ठका रखना परिणामोंमें असवलेशताको धारण करना जिनेन्द्र भगवानका पूजन करना, गुरुओंकी सेवा सुश्रुपा वैयावृत्य करना जिनमाणी शास्त्रोंका उद्धार करना अपने द्रव्यका जिनशासनकी वृद्धिमें उपयोग करना संसार भोग और देहसे विरक्त भावोंका धारण करना पर पदार्थोंसे उदासीन रहना कापोत पीत लेख्या के परिणाम होना समस्त जीवोंकी दया पालना निरहकार भानसे सरस परिणाम व कोमल भावोंका होना गुरुजनोंका विनय करना इत्यादि कार्योंसे मनुष्य आयुका आश्रय होता है ।

पालनात् द्वादशानां च व्रतानां धर्मसंग्रहात् । मूलादिगुणव्रताना अगीकारस्य कारणात् ॥ २५ ॥
 धारणात् स्थेदमलाना बुसुक्षत्वस्य रोधनात् । सहनत्वाच्च तृष्णाया भूशयनस्य कष्टत ॥ २६ ॥
 कष्टेन ब्रह्मचर्यस्य धारणात् चदिदुर्गुहे । परितापादिकाना च सहमानादिहादृते ॥ २७ ॥
 एकदंडी त्रिदंडीना सन्यासितापसा पुन । तथा परमहसाना परित्राजादिका पुन ॥ २८ ॥
 इत्यादीना च बालाना सदाहिंसादिकारकाम् । परममिथ्यादृष्टीना तपसः सेवनादपि ॥ २९ ॥
 कायक्लेशव्रतस्यैव धारणात्कष्टसेवनात् । तथाहि शुद्धसम्यग्भावात् नित्येज्याकर्मकारणात् ॥ ३० ॥

अर्थ—देवगतिका आश्रव कौन कौनसे भावोंसे होता है ?

हे राजन् वारह प्रकार के व्रतोंका पालन करना धर्मका सेवन करना अठारह मूलगुणोंका पालन करना आदि उत्तम चात्रि के धारण करनेसे देव आयुका आश्रव होता है । स्वेद मलको धारण करनेवाली दीक्षा लेना भ्रूष ध्यास आदि बाधाओंका सहन करना पृथ्वीपर शयन करना वदीगृह आदिके निमित्त से ब्रह्मचर्य पालना अक्राम निर्जरा के कारण उत्पन्न करना परिताप-धूप-गर्मी-शीत-आदि बाधाओंका सहन करना एकदंडी त्रिदंडी सन्यासी वावा आदिके अज्ञान भेषोंको धारण कर मिथ्या तपश्चरण करना परमहस परिवाज वनकर नग्न होकर तपश्चरण करना बाल तप-बाल चात्रि और बाल (हठ) योग ध्यान आदि क्रियाकांड करना हिंसादि क्रूर भाव वाली दीक्षाको धारण कर कष्ट सहना मिथ्या दृष्टियों के मलिन आचरणोंको धारणकर कष्ट सहन करना काय क्लेश का सहन करना कष्ट पूर्वक व्रतोंका धारण करना इत्यादि कारणोंसे देवगतिका आश्रव होता है ।

शुद्ध सम्यग्दर्शन-शुद्ध चात्रि का पालन नित्य भगवानकी पूजादिक शुभ कर्मोंका पालन शुभ भाव-कया-

इत्यादिहेतुतथास्य देवानामायुषो नृप । प्राप्तिर्भवति नुर्तुं सदाशर्मप्रदायक ॥ ३१ ॥

केचिदेषां च मध्येहि कर्मवधा नरेधर । कुदेव्योनिर्करारं केचित्सुदेवदायका ॥ ३२ ॥

पराधीनस्य मृत्यत्वात् वालादितपसस्तथा । अय जीव प्रयात्येव कुदेवयो निपु सदा ॥ ३३ ॥

महावृताणुनतत्वात् सम्यक् वशुद्धभावंत । यात्येव शुद्धदेवाना पदेपु वार्चनादितः ॥ ३४ ॥

शुद्धभावेन संसाप्तिर्भवत्यस्यैव निश्चयात् । परमशतभावस्य उत्तरेणेतस्य हि ३५ ॥

सिद्धिर्भवति मोक्षस्य चित्तशुद्ध्याहि अस्य नु । तथाहि इतरत्वेन श्वश्रानिकोक्तकर्म्यैव ॥ ३६ ॥

मत्वेति सकला भव्या दानेऽप्यत्रतसचयम् । परिणामस्य संशुद्ध्या कुर्वीत्य च मदेव हि ॥ ३७ ॥

योकी शांतता ध्यानकी प्रवृत्ति सामायिक आदि व्रतोका पालन इत्यादिक कार्णोसे उत्तम देवगतीका आश्रव होता है ।

अर्थ—देवोंके भवनत्रिक और कल्पयासी ऐसे दो भेद हैं । भवनत्रिक मर्त्य कुदेव कहलाते हैं और कल्पयासी सुदेव (सम्यग्दृष्टी) कहलाते हैं । पराधीन और परवशसे व्रतोका पालन करनेसे या चालतप (अज्ञानी मिथ्यादृष्टियोका) तपश्चरण करनेसे कुदेव गतिका आस्रव होता है ।

अर्थ—सम्यग्दर्शन सहित शुद्धभावोंके धारण करने से और सम्यग्दर्शन पूर्वक महाव्रत अणुव्रत आदि धारण करने से उत्तम देवायुका वंध होता है । विशुद्ध भावों से उत्तम देवगतिका वंध होगा और मलिन भावोंसे कुदेवगतिका वंध होगा ।

अर्थ—इस जीवको मोक्षकी प्राप्ति सम्यग्दर्शनादिपूर्वक चित्तशुद्धि से होती है । जिनके ऐसी चित्तकी शुद्धि प्राप्त नहीं हुई है और मिथ्यात्व के उदयसे चित्तकी मलिनता प्रतिसमय मलिन हो रही है ऐसे जीवको नरक या निर्गोद गतिका वंध होता है । इसलिये जिस प्रकार हो भावोंकी शुद्धि सदैव निर्मल रखनी चाहिये । जिनके भाव निर्मल

भावशुद्ध्या च यो मर्येश्चाल्पमात्रमपि बुधा । दानपूजादि सरकार्यं करोति सैव निश्चयात् ॥ ३८ ॥
 लभ्येव वरा पंक्तिं शर्मणां च फलस्य हि । अंतरेण विनाचाग्ने जन्मनि जन्मनि सदा ॥ ३९ ॥
 योगाना वक्रत्वाच्चैव विंशवादाच्च भो नृप । कुनाम्नश्च भवत्येव अस्याश्रवाश्च कर्मण ॥ ४० ॥
 सक्षेपतश्च पतेषा मृणु व्यालुञ्चानमजसा । त्याज्यं संसारभीतैश्च दयार्द्रचित्तधारकै ॥ ४१ ॥
 कायेनाऽन्यत्करोत्येव वचसान्यद्भवीत्यहो । अन्यद्भि चित्तयत्येव दुर्मनसा सदैव हि ॥ ४२ ॥

नहीं रहते है वे व्रत तप करनेपर भी उत्तम फल प्राप्त नहीं करसक्ते हैं। और जिनके भाव निर्मल हैं वे विना व्रत तपके भी सुगतिका लाभ संपादन करते हैं। इसलिये हे भव्यजीवो अपने अपने भावोंको भगवान की पूजा-दान-अभिषेक प्रतिष्ठा महोत्सव लिन धर्मकी प्रभावना आदिसे विशुद्ध बनाओ जिससे भव भवमें उत्तम सुखकी प्राप्ति होती रहे।

कुनाम कर्मका आश्रव कौन से कारणों से होता है? हे राजन्! मन वचन कायकी कुटिलता साधर्मि भाइयोंके साथ विसवाद करना इत्यादिक कार्योंसे कुनामकर्मका आश्रव होता है। आगे इसका विशेष खुलासा करते हैं।

अर्थ— कायसे कुछ अन्य कार्य करना वचन से कुछ अन्य ही भाषण करना और मनमें कुछ अन्य ही भाव रखना— [अर्थात् मन वचन और कायकी कुटिलता रखना— मायाचार पूर्वक प्रश्रुति करना]-सो योगोंकी वक्रता कहलाती है। इस प्रकार योगोंकी वक्रतासे कुनामकर्मका आश्रव होता है।

(मन वचन कायकी कुटिलता) आत्मगत हो तो वह योगोंकी वक्रता कही जाती है। और वही दूसरो के लिये उत्पादिका हो तो उसीको विसवाद कहेंगे।

एवंहि त्रिविधानां च योगानां यस्य वक्रता । भवत्येव हि तस्यैव योगसम्पन्नमुच्यते ॥ ४३ ॥

मत्ता आत्मगतत्वाच्च अस्त्येव योगवक्रता । तथा परगतत्वाच्च त्रिसयादोहि समता ॥ ४४ ॥

स्वस्य कौटिल्ययोगेन स्वस्मिन् कर्माणि यः पुमान् । व गने कुट्टियान्येव स्वात्मदु खकराण्यहो ॥ ४५ ॥

सैव प्रामोति दोष च योगवक्रत्वमहदसु । त्रिसंवादस्य भेदोत्र कथ प्रोक्तो द्वितीयक ॥ ४६ ॥

सम्यक् प्रवर्तते कश्चित् क्रियासु मनुचेत्तम । परमाभ्युदयदायनेषु हि भद्रभावयुक् ॥ ४७ ॥

पुमांसं वर्तमानं तं तत्रैव कोपि दुर्मति । इष्टा हि मानस स्वस्य विपरीतस्य तैत्तिभि ॥ ४८ ॥

मिथ्या प्रेरयति ह्येव माकार्षीं भो नरोत्तम । त्वमेव च इदं सार्थं मयोक्त त्वं कुरु मदा ॥ ४९ ॥

सामर्थ्य—अन्य मनुष्य के परिणामों में कुटिलता उत्पन्न कर चाद विनाड करना या अन्यके लिये अपने परिणामोंमें कुटिलता लाकर चाद विनाड करना सो विषंवाद है ।

अपने मन वचन काय अपने ही (आत्म कार्यके लिये) कार्यके लिये कुट्टिनाको धारण करे, मायाचार पूर्ण मन वचन कायकी प्रवृत्ति मनी रहे वह गोगोकी नकता है । इस प्रकार योगाक्रतासे इनामकर्मका आश्रय होता है ।

अप शका यद होती है कि दूसरा भेद त्रिसंवाद है यह जुदा सो उताया है' इसलिये आगे त्रिसंवादका स्पष्टार्थ करते हैं—

अर्थ— एक भद्रपरिणामी मन्य जीव श्री जिनागमकी आढानुसार मस्यक् प्रज्ञाने एत शुभ क्रियांमं प्रवृत्त हो रहा है । और शुभाचरणोको पालन कर रहा है । उमती इम शुभ प्रवृत्तिको देराकर कोई दुष्ट जीव विपरीत मार्गोको धारण कर अपने मन वचन कायकी कुटिलतासे कहे या मिथ्या प्रेरणा करावे या मिथ्यामार्गमें (स्व मनकल्पित असन्मार्गमें) लेजानेके लिये मीठी शतोंसे ममद्भावे कि, आप यह काम क्या करते हो ? यह तो ठीक नहीं है ।

इमे कार्या हि दातारो नो शिवस्य कदाप्यहो । कुर्वाणाश्च त्वया नून मया प्रोक्ता हि शर्मदा ॥ ५० ॥
 इत्येव नाहि यो भूप मोक्षायति यत्नस्य । शुभकार्यत्तिथा त च दुर्मार्गं पातयत्यहो ॥ ५१ ॥
 सैव तत्कर्मतो नून विसर्वादाभिध नृप । प्रामोत्येव महादोषप्रशुभनामकारकम् ॥ ५२ ॥
 मिथ्यादर्शनतैश्चैव पञ्चन्यदरतस्तथा । धारणात्कूटमानाना तुलकायाश्च कूटतः ॥ ५३ ॥
 कूटेन परद्रव्यस्य हरणान्मानकारणात् । वचनार्थ परेपा च वेपौञ्जल्यवधारणात् ॥ ५४ ॥

इससे आपकी हानि होगी । इस कर्मके करनेसे लाभ नहीं है । इस (पुजाभियेक ब्रह्मचर्यकी रक्षा के लिये दान देनेसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होगी । यह मत करो और मैं नतलाऊ वह कार्य करो जिससे सुख मिले लाभ हो । इस प्रकार उस भव्यजीव को शुभ कार्य से छुड़ाने कुमार्गमें पात करादेवे पापकार्योंमें लगादेवे सो विसंवाद कहलाता है ।

भार्गव-विसंवाद का यह अभिप्राय है कि मायाचारको धारण करनेवाले मनुष्यकी मनकी दुष्टतासे जो स्वार्थ सिद्धिके लिए वचनकी मीठी मीठी प्रवृत्ति और कार्यकी मोहक चेटा जिससे सामनेमाला अपने अभिप्रायको नहीं जानकर अपनी बातोंमें और अपनी चेटामें फँस जाये और इससे सन्मार्गको छोड़कर पाप मार्गमें लग जावे वह विसंवाद कहलाता है ।

अर्थ—मिथ्यादर्शन के प्रभावमें अशुभ नाममात्र मदैव आश्रा होता है । चुगली करना—उठे माप करनेके गत्र पाली मानी आदि माप रखा नरुनो नडनो तोलया माथाचार से दूसरोंकी द्रव्य हर लेना—दूसरोंको ठगनेके लिये ऐसी सोमागटी बनाना कुशिक्षाके अभिमान स दूसरोंको पीडाकारक संन तत्रोंकी रचना करना दूसरोंको ठगनेके

दु मंत्रतत्रयोगेन तथा चूर्णसेन वै । सौभाग्योत्पादनादन्यद्वशीकरणकार्येन ॥ ५५ ॥
 दवानलप्रदानाच्च इष्टकोत्थयपाचमान् । तदोपदेशानुमोदात्तकृतुः ऽवधारत ॥ ५६ ॥
 आरामखंडनाच्चैव मुक्षाना लब्धनात्तथा । त्रापिकाङ्कुरकासाररुणाद्वास्य कारणात् ॥ ५७ ॥
 देवागमगुरुणाच पूजाद्रव्यस्य भक्षणात् । परकुतुहलोत्पादनात्परेषा विडम्बनात् ॥ ५८ ॥
 क्रोधाद्याना चतुर्णाच वर्द्धनात्परपापदात । पापकर्मीरजीवित्वान्महाआक्रोश गराणात् ॥ ५९ ॥
 इत्यादिकार्यतो मुर भवत्यन्वैव आश्रवा । दुर्नामिभारकृति अशुभनामकर्मण ॥ ६० ॥

लिये ऊचा भेष धारण करना । झूठे मंत्र तन प्रयोग कर पार कर्मकी चेष्टा करना पत्र पौत्र जा लोभ
 देकर दूसरोंकी स्त्रियोंको बग करना डानल लगाकर बतलाना ईश्वरका हेर लगाकर
 जलाना (होली मनाकर जलाना) अथवा ऐस्य ही पापिष्ट कायोंकी अशुभोदना करना देना पापिष्ट
 उपदेश देना कुषार्ण या पापमार्ग में ले जाने वाले मिथ्या लेग लिखना । ऐसे व्यवहार करना कि जिमसे
 कुषार्णकी वृद्धि हो जीम हिमाके कार्य करना वागमगीचा तरवावा बुद्धिके जंगलके काटनेका ठंका लेना कथा गावडी
 तलान आदि रोदनेका पापाग्भ करना या रुगना और उगमें धर्म मानना । देशास्तुगुल मनुषी द्रव्यका भक्षण करना
 दूसरो को कौतुहल उत्पन्न करनेवाले पचन रहना दूसरोकी विडम्बना करना क्रोधमान मया-लोभ कर्णयोको बढाना या
 ऐसे मानोये रुपायोत्पादक कार्य करना पाप मार्गका उपदेश देना मिथ्या मार्गकी प्रशंसा कर उपदेश देना पक्ष्मकी
 आजीविका बतलाना आक्रोशको धारणकर कुचेष्टा करना काम वासना में मनचनत्रायकी कुचेष्टा करना कामके राग
 से हसना मिश्रम उत्पन्न करना इत्यादिक कुकार्योंसे अशुभ नाम कर्मका आश्रय होना है ।

कारणात् त्वं शृणु मयि शुभनाम्नश्च कर्मणः । तद्विपरीतत्वेनास्यैव आश्रमा हि भवत्यहो ॥ ६१ ॥
 त्रयाणां चैव योगानां ऋजुभासस्य कारणात् । परेषां मञ्जनानां हि अविशंवादानात्तथा ॥ ६२ ॥
 साधमिजनसंमिलनादरथंतर्पधारणात् । अभ्युत्थानस्य कणात् भलाद्वर्षजल्पनात् ॥ ६३ ॥
 मायाभावस्य सन्यागात् प्रमादवर्जनात्तथा । परपैशून्धमत्यागान् सिग्गचित्तस्य धारणात् ॥ ६४ ॥
 भयशमनस्वाच्च आत्मनिर्दत्तकारणात् । जलानात्स यथाक्वात् कूटमाक्षित्विदर्जनात् ॥ ६५ ॥
 वर्जनात्परद्रव्यस्य जलवारंभसिद्धिहात् । मतोयाच्च परेषा वै परटु लविमोचनात् ॥ ६६ ॥
 रूपदिग्मदनिर्गशात् उद्वलव्यधमणात् । सद्रस्य चत्रयाच्चैव मुद्दुचचनभाषणात् ॥ ६७ ॥

अर्थ—हे राजन् ! शुभनामकर्मके आश्रमको सुनो । जो जा कारण अशुभ नाम कर्मके आश्रमके तल्लोये है ।
 उमके विपरीत कारण शुभ नाम कर्मके आश्रमको सुनो । तो भी विशेषतारो स्पष्ट बतलाते हैं । मन उचनं काय योगीकी
 मरलता परिणामोंकी कोप्रलता सज्जन पुरुषोंके साथ अविमनात् माधमी भाइयोके मिलनेपर अतिशय हर्ष भाव मगमी
 जनोके सयोग होनेपर खडा हांनाना अन्यत आदरके साथ तत्र भावोसे बचनालाप करना, मायाचार परिणामोंभा
 परित्याग करना प्रसादका परित्याग करना चुगली और निंदाका परित्याग चित्तकी स्थिरता का धारण करना
 धर्ममे धर्म सेजत करना दूसरोंके गुणोंकी प्रशंसा करना अपनी आत्मनिंदा करना मत्स्य उचनोका मभाषण, ऋट
 कर्कश गुहा—हास्य—और कामोत्पादक उचनोका परित्याग ब्रुठी माधीका परित्याग करना
 दूसरों की द्रव्यका अपहरण नही करना, अल्प आरंभ और परिग्रह रखना सतोप पूर्वक जांत भावोसे रहना दूसरोंके
 वैर भावका परित्याग करा देना जीम मात्रके साथ मैत्रीभाव प्रकट करना । अन्य जीवोंको दुःखो से छुटाना । अपने
 स्वरूपका अभिमान नही करना । अभिमानका परित्याग करना । ब्रह्मचर्यादि उत्तम भेषका धारण करना सत्य भाषण

संघस्य सेवनाद्धर्मकार्यस्य करणात्तथा । जिनयात्राप्रतिष्ठानां जिनमर्मोपदेशनात् ॥ ६८ ॥
 भवशीकरणाच्चैव परसौभाग्यवर्द्धनात् । हास्यत्यागात्प्रेषां च अकृतुहलकारणात् ॥ ६९ ॥
 इष्टकापाकदावांशं वर्जनात् धनरक्षणात् । निर्मापणात्तथा जैनविवांना धातुवस्तुभि ॥ ७० ॥
 तत्प्रसादादस्य करणात् जीर्णोद्धारणात्तथा । आमणात्तद्व्यस्यैव पुत्राह्वयने शुभे ॥ ७१ ॥
 तन्नामस्तवनाच्चैव अविडम्बस्य धारणात् । चतुर्णां च प्रशमनात् क्रोधाद्यानां सदैव हि ॥ ७२ ॥
 अपापकार्यजीवित्वात् पवस्तुविवर्जनात् । परापवादसत्यागात् परुषवाक्यलोपनात् ॥ ७३ ॥
 सुमुञ्जुसत्वदानाच्च जिनगुणस्यैव गायनात् । मृगादिपञ्चजातीनां नधनिर्नाशतात्तथा ॥ ७४ ॥

करना , मृदु वचनोका उच्चारण करना चतुर्विध सवकी सेवा करना धर्मकार्य में अत्यंत हर्ष सहित उत्साहित रहना । तीर्थ यात्रादि धर्म कार्योंमें तत्पर रहना श्रीमज्जिनेन्द्र भगवानकी प्रतिभा आदिका प्रतिष्ठा महोत्सव करनेमें समुत्सुक होना । श्रीजिनेन्द्र भगवानके शासनकी वृद्धिके लिये सत्य धर्मका उपदेश करना दूसरोको ठगने के लिये वशीकरण आदि प्रपच नहीं करना समस्त जीवोको सुखी करनेका प्रयत्न करना । हास्य और कौतुहल का त्याग करना वनमें अग्नि नहीं लगाना होली इत्यादि हिंसक क्रियाका परित्याग करना जैन मूर्ति निर्माण कर प्रतिष्ठापूर्वक श्रीजिनालय में विराजमान करना जैन चैत्यालय का बनवाना श्री जिनमंदिरकी स्थापना करना श्री जिनागम की वृद्धि और रक्षाके लिये सरस्वतीभवन खोलना गुरुओकी सेवाके लिये वसतिका (मठ) गुफा आदि का बनवाना प्राचीन जीर्णोद्धार श्री जिनमंदिर का जीर्णोद्धार करना भगवानका रथ महोत्सव करना जलयन्त्रा विधान करना अष्टोत्तर कलशों से प्रभु (श्रीजिनदेव) का महाभिषेक करना । अनेक प्रकार के गीत नृत्योके द्वारा भगवानके गुणोंका स्मरण करना रात्रि जागरण कर प्रभुके गुणोंका गान स्तुति भक्तिके द्वारा करना हिसादि पंच पापोंका परित्याग करना

अस्यैव आश्रनाश्रमे भवत्येव नरेश्वर । इत्यादिशुभसमावात् शुभान्नाश्रश्च कर्मणः ॥ ७५ ॥

सदैव शुभनामं च प्राप्तोत्येव अयं पुमान् । एभिः सुकर्मभिर्निवृत्तं सदा शर्मप्रदायकैः ॥ ७६ ॥

तीर्थकराभिषो गोत्र अस्यैव परमेश्वर । नद्यते कर्मभिः कैश्च निलिपाधिपवंदितः ॥ ७७ ॥

बोडशभावनाभिश्च भव्योत्तमस्य अस्य वै । श्रीतीर्थकरगोत्रस्य बधो भवति भूपते ॥ ७८ ॥

तेषा नामानि त्वं शृणु एकाग्रमनसा । अनन्तशर्मसदानि सर्वेषापाभितोषद्वै ॥ ७९ ॥

सम्यग्दर्शनशुद्धिमहानि कर शैलेति वज्रोपमा—माधा सर्वत्रतेषु मोक्षसुखदा भव्यैर्नरैः सद्यताम् ॥ ८० ॥

क्रोधादि कषाय भावोंको छोडना पाप कार्योंकी आजीविका नहीं करना पशुओंके वधन लुडाकर अभयदान करना दूस-
गोंका अपवाद नहीं करना भूखोंको अबदान देना, दीन, अपगु, अंधा, कोडी, दुःखी जीवोंकी रक्षा करना, जीवोंको
पापमार्गसे बचाना, श्री जिनेंद्र भगवानके भक्त साधर्म्य भाइयोंकी सेवा सुश्रुपा विनय तथा आदरभाव करना,
भोजन पानादिकसे संतुष्ट करना, स्थिरभाव करना वात्सल्य प्रकट करना, जिनमार्गकी प्रभावना प्रकट करना
इत्यादिक शुभ कार्योंसे शुभनामकर्मके आश्रव होते है ।

अर्थः— श्रीमत्तीर्थकर प्रशुका गोत्र कौनसे शुभ कार्योंसे होता है ?

हे भगधेश्वर इन्द्र नरेन्द्र धरणेन्द्र आदि समस्त त्रिलोकी जीवोंसे सदैव पूजित पचकल्याणोंके द्वारा जगतमें
परमाश्रयको प्रकट करनेवाले ऐसे श्री तीर्थकर प्रशुका गोत्र योडश भागनासे बंध होता है । उनका स्पष्टीकरण विशेष
रूपके द्वारा बतलाते है उसको हे राजन् एकाग्र मनसे सुन जिससे पापोंका नाश हो ।

अर्थ—हे भगधेश्वर ! समस्त पापरूपी पर्वतों के नाश करनेके लिये वज्रके समान, समस्त व्रतोंमें मुख्य
से सदैव आराध्य समस्त दोषोंसे रहित समस्त जीवोंका उपकार करनेवाली यह दर्शनशुद्धि भावना है । जो

दोष सर्वविवर्जितां मुनिवरो यो धारयत्येव भो । नन्वैव लभ्यहो वरमति सद्भावना भुषते ॥ ८१ ॥

यो रत्नत्रयपालकेषु मुनिषु अत्यंतहर्षोत्सदा । कुर्वादेव विनाशपाभुङ्गा निर्माणशर्मपदम् ॥ ८२ ॥

नानाशर्मपदयुक्तं च वित्तं प्राप्नोति सैव ध्रुव । सर्वेषु विनयाभिषा मन्नुता सद्भावना भेषिणः ॥ ८३ ॥

सर्वेषु योहि धत्ते असमगुणनिधि शीलव्रतेषु मौनी । अनतीचारत्वमेवानुदिन सर्वत्रैवैवगुरुषा नरेन्द्र ॥ ८४ ॥

मुनीश्वर इस पवित्र भावना को परिणामोंकी विशुद्धता से धारण करता है वह श्रीतीर्थंकर मोनका वध अवश्यही करता है ।

पचीस दोष रहित आठ गुणों सहित निर्मल परिणामों से श्रीजिनदेव जिनाभम-और श्रीजिनगुरुका श्रद्धालु पूर्वक सम्यग्दर्शनको धारण करना सो दर्शनविशुद्धि है ।

अर्थ—हे श्रेणिक ! रत्नत्रय और रत्नत्रयही पालन करने वाले मुनिजनोंकी अतिशय भक्तिपूर्वक और अत्यंत हर्षके साथ निष्कपाय शुद्ध भावोंसे विनय करना उनके गुणोंमें आसक्त होना, हाथ जोड़कर नमस्कार करना अंतरंग परिणामोंसे अतिशय पूज्य मानना लोकोत्तम शरणभूत और मोक्ष मार्गके हितकारी समझना सो विनय नामकी भावना है । इसमें सर्व सुखकी प्राप्ति होती है ।

देव शास्त्र और गुरुको सत्य सत्य प्रमाणित मानकर आत्महितके लिये सेवा भक्तिपूर्वक विनय करना चाहिये । इसी जिन धर्म जिनचैत्य जिनचैत्यालय धर्मको धारण करनेवाले भव्यजीव आदि की तथा योग्य विनय करना चाहिये ।

अर्थ—हे श्रेणिक ! जो भव्यजीव समस्त व्रतों में अतीचार नहीं लगाता है, मन वचन कायकी विभार भावना से सम्यक् श्रद्धा पूर्वक पालन करता है और अपने व्रतोंको सर्वोत्कृष्ट समझकर निर्मल भावोंसे निरूपण (निर्व्याघ्र)

अनतीचारस्वप्नशा परमपददा भावना धर्मवीणा । वद्या इन्द्रादिदेवै सकलमलहरा पालयत्येव नूनम् ॥ ८५ ॥
 ज्ञानं दोषविवर्जितं जिनसुखादुत्पन्नमेव शुभ । पापापापविभेदक रविप्रम त्रेधा विशुद्ध्या मुनि ॥ ८६ ॥
 काले काले सदैव सु ष्ठति य ईदृश धर्मवीज । शुद्धा सैव सुभावनामघहरा ज्ञानाभिधा शप्रदाम् ॥ ८७
 संसार दुःखमूल बुधजननिकरै सर्वकालेषु हेयं । निस्सारं शर्महीनं सकलविधिकरं पारहीन अमन्यै ॥ ८८ ॥

पूर्वक पालन करता है वह सगस्त उत्तम सुखोंको प्रदान करनेवाली देवोंसे पूजित शील व्रतेषु अनतीचार नामकी भावना को धारण करता है ।

अर्थ— हे श्रेणिक्र जो भव्यजीन दोष रहित-श्रीजिनद्र भगवानके मुख कमलसे उत्पन्न हुए सम्यग्ज्ञान का मन वचन कायकी विशुद्धिसे कालमें पठन पाठन मनन स्वाध्याय करता है वह ज्ञान भावनाको धारण करता है ।

श्रीजिनागमके श्रद्धापूर्वक विशुद्ध भावोंसे पठन पाठन करना सो ज्ञानभावना है । जिनागम ही धर्मका बीज है । पापोंका नाश करने वाला है और आत्मा आदि असूतीक अतीन्द्रिय पदार्थोंको प्रकाशने के लिये सूर्यके समान है । कल्याण मार्ग इससेही प्रकट होगा । वस्तुका यथार्थ परिज्ञान जिनागम से ही प्राप्त होगा । इस प्रकारके भावोंसे श्रीजिनागमका अभ्यास करना और इसके सिवाय अन्य ज्ञानको संसारका मार्ग समझकर त्याग करना सो ज्ञानभावना है । अपने वालक चालिकाओंको भी जिनागमका अभ्यास सबसे प्रथम कराना चाहिये । अन्य ज्ञानके अभ्याससे बुद्धि मलिन और संस्कार मलिन होते हैं ।

अर्थ— संसार दुःखका मूल है । विचारशील भव्यजीव इस संसारको मूर्खता हेय और निस्सार समझते हैं । इसमें रच मात्र सुख नहीं है । समस्त उत्तम कार्योंका नाश करनेवाला है । उसका पार पाना अभव्योंसे कठिन

एव चित्ते विचारं सकलविधिहरं गो मुनिर्भावशुद्ध्या । सैव संवेगसंज्ञा सुमजति नृपते भावनां कुर्वते हि ॥ ८९ ॥
 शाल्यनुसास्तौवै सकलशुखवरं पुण्यबीजं सुदानम् । पात्राय यच्छति यः सकलमतिप्रदं शुद्धभावाचतेन्द्र ॥ ९० ॥
 त्यागाख्या सैव नूनं लभति च नृपते भावना भावशुद्धया । अहानाः वारानाशे ह्यसुखमवहरा वज्रतुल्या सदैव ॥ ९१ ॥
 प्रोक्तं श्रीजिननायकैर्मुनिवृत्तं संसारपापप्रदम् । नानार्जुमविनाशक मुनिवरो यः शक्तिलोपादृते ॥ ९२ ॥
 पाल्येव विशुद्धितो हि अमलं द्विपट्टप्रभं सत्तप । भैव भो मगधाधिप सुतपजा ता भावना सेवते ॥ ९३ ॥

साधूना साधुबुद्ध्या अमलगुणप्रदा यः करोति नरेन्द्र । तेषामुत्पन्नविघ्नेनश्नत्तपवरात् शीलसद्बुतानाम् ॥ ९४ ॥
 है । ऐसे ससारको अपना हितरूप न समझकर संसार मंत्रांध भोगोपभोगोपर ममत्व भावना त्याग करना और ससार की चाहना मन वचन कायकी शुद्धिसे नहीं करना भो संवेग भावना है । समारसे विरक्तता और आत्मभावना सो सवेग भावना है ।

अर्थ—हे राजन् अपनी शक्तिके अनुसार भक्तिपूर्वक भावोकी विशुद्धिसे 'मन वचन काय और द्रव्यकी शुद्धिसे पात्रमें दान देना सो त्याग भावना है । इस प्रकार नित्य ही पात्रमें दान देनेकी उत्कट भावना और अत्यत हर्षित परिणाम त्यागभावना के उत्पादक है । इस प्रकार की भावनास समस्त सुख प्राप्त होते है ।

अर्थ—हे मगधेश्वर श्री जिन्द्र भगवाने संसारका नाश करनेके लिए और समस्त कर्मोका विध्वंस करनेके लिए अत्यंत पवित्र बारह प्रकारका तप प्रतिपादन किया है । उसको जो यतीश्वर भावोकी विशुद्धिसे अपनी शक्तिको नहीं छिपाकर धारण करते है वे तपोभावनाका पालन करते है ।

अर्थ— हे मगधेश्वर शील संयम व्रत तपयुक्त साधुपणोंके व्रत नियम तपादि अशुभानमें आनेवाले विघ्नोका दूर करना, अतिसय कठिन पाषाण आदि पर योग धारण करनेपर आये हुए दुस्सह उपसर्गोंके विघ्नोको दूर कर

योगाना धारणाद्धै अतिकठिनशिलातिष्ठनाञ्चोपसर्गति । दुष्टाना योगतो वै व्रतयमनिम्हपालकाना सदैव ॥
 राद्धातालापबोधे परममुत्तमै पापसतागहारै । वान्योपायैर्मुनीन्द्र तदुपशमनं भो वाहि विद्वन्म्य नाश ॥ ९५ ॥
 यथा पृथ्वा मुनीन्द्रै शुभगुणपदा भावना मोक्षबीजा । साधुसमाधिसजा परहितकरा सेव प्राप्तोक्ति नूनम् ॥
 दृढाद्याना मुनीना परमगुणपता क्रियते यो मुनीन्द्र । पादाङ्गिर्मर्दनाट्टि मकलनुगप्रदा भैव नृपेन्द्र नूनम् ॥ ९६ ॥
 वैशावृत्य च सैम लभतिच शिवदा सर्ववतेषु सारा । वैयाभृत्यास्त्वयुक्ता मकलविधिद्वा भावना मङ्गलव्याप्त ॥
 विधीयते गत्स्नानादिजाप्य स्वैव तथा तदुणचित्तनच । श्रीमद्भक्ता शुभभावशुद्ध्या नैडेय कोले मुनिमत्सोद्वि ॥ ९७ ॥
 रत्नत्रय की रक्षा करना । आधि व्याधि और दी उपसर्ग आजाने पर मयम और रत्नत्रय की रक्षा करना दुष्ट मनुष्य
 तिर्यच और देव आदि से होनेवाले उपद्रवोंसे रत्नत्रय की रक्षा करना मरणादिक भयंकर उपद्रव उपस्थित होनेपर
 शत्रुओं का उत्तम धर्मोपदेश-सम्यग्ज्ञानका मनुष्यदेश ममार्गी निस्मारना आदिका प्रद्वेगत कर रत्नत्रयकी रक्षा करना
 समाधिभरण समय संक्लेश परिणामोंसे सद्बोध द्वारा रक्षा करना सां भव माशु ममाधि है । टय भावना से आत्मा
 स्थिर-शात-और आत्म भावनामें लयलीन रहता है ।

अर्थ—हे राजन् ! वृद्ध बाल असमर्थ रोगी ऐसे परम गुणवान् मुनीश्वरोंकी बृहद्यमे सक्तिपूर्वक मुश्रुषा पाद
 मर्दन-आदि अनेक प्रकार से वैशावृत्य करना सां वैशावृत्य सामना है । रोगी मुनियोंको ओपत्री (प्रासुक और रोग
 को नाश करनेवाली) प्रदान करना असमर्थ और शीतादिसे पीडित मुनियोंको वमत्तिकादि प्रदान कर वैशावृत्य
 करना बाल मुनिषा को जिम प्रकार धर्ममें दृढता प्राप्त हो वैसे वैशावृत्य करना चाडिये ।

अर्थ—हे राजन् ! जो श्रीमान् जगत पृथ्व अरहत भगवानकी प्रतिमाको साक्षात् अरहत मानकर भक्ति-

सैव नरेन्द्र भजते विशुद्धा भक्तिं मनः पापविमंजकानाम् । तत्राभजा ता शुभभावनाहि सत्सातदा भव्यनैः प्रपूज्याम् ॥ ९८ ॥
 आचार्याणां करोति परमहचिवशाःपादपद्मस्थं पूजा- । मश्रुत्यां तदासे सन्मुखप्रगमनं सत्रप्रस्थं विधानम् ॥
 आज्ञादानं च तथा पुनः प्रणतयो यतीन्द्र त्रिशुद्ध्या । प्रामोति भावना स सकलमुनिनुता सरिभक्त्याल्ययुक्ता ॥ ९९ ॥
 शास्त्रावियोगेषु सुमनिषु मतिमान् यो विधत्तेनुराग । वचनालपरिन्त्यै गुणयशः कथनैःश्रुत्यानादिकैश्च ॥

सैव बहुश्रुतजा सत्रा सुखप्रदा भी मृणते भावना । लभते सधमथी सुभागुणयुक्त द्वापरो नात्र भव्य ॥ १०० ॥
 पूर्वक विशुद्ध भावसे (मन वचन कायकी शुद्धतापूर्वक) पचासृताभियेक पूर्वक पूजा करना गुणगान करना स्तन करना पूजन करना वदन करना अष्टविधार्चन करना आदि समस्त रूपसे श्री जिनेन्द्र भगवानके स्वरूपका चिंतन करना सो सब अरहत भक्ति है ।

हे राजन् जो हृदयकी विशुद्धि और भक्तिभावनासे आचार्य परमेष्ठीके चरणकमलोंकी पूजा करना आचार्य महाराजको सामने आतेही [देखकर । खड़े होजाना हाथ जोड़कर विनय से नमन करना उनके पीछे पीछे विनयसे चलना उनकी आज्ञाको शिरसा बंध समझकर बहुत मन्मान पूर्वक धारण करना उनका योग्य सम्मान कर सदैव अर्चना करना उच्च आसन देकर अभ्यर्थना करना और उनकी सेवा सुश्रुषा करना सो आचार्यभक्ति है ।

अर्थः— हे राजन् जो ममस्त शास्त्रके पागामी और आगमको जाननेवाले ऐसे उपाध्याय परमेष्ठीकी भक्ति करता है, उसके बहुश्रुत भक्ति होती है । उपाध्याय परमेष्ठीकी आज्ञाको शिरोधारण करना, विनय करना, सेवा सुश्रुषा करना, हाथ जोड़ना, नमस्कार करना, मधुर वचनालापसे संतोषित करना, पाद मर्दन करना इत्यादि अनेक प्रकारसे भक्ति की जाती है ।

जिसके आगमपर पूर्ण विश्वास है ऐसे भव्य जोय अपना हित आगमसे ही मानकर आगमके ज्ञाता

शुद्ध श्रीमज्जिनोक्ते सकलसुरागणैर्माननीये प्रपूज्ये । भयाना ताके हि अमलमतिप्रदे तत्वदीपे मनोज्ञे ॥

भूपेदृक्षे करोति मुनि च प्रवचने भावशुद्धयानुराग— । मामोति शर्मदां य प्रवचनसुनामजां वरां भावनां स ॥ १०१ ॥

आवश्यकानि मुनिसत्त्वमाना यो विद्यते पट् शिवदायकानि । काले च काले सकलांहान्यै त्रिशुद्धितो वै मुनिसत्त्वमश्व ॥ १०२ ॥
सो भावना संभजते हि आवश्यकपरिहाण्यभिधा विशुद्धान् । सामायिकाद्यानि शुशुद्धकानि तेषाच चित्तस्य अतो हि कार्या ॥ १०३ ॥

उपाध्याय परमेश्वरीकी पूजा भक्ति कर समस्त सुखको प्राप्त होते है ।

अर्थ:— हे राजन् जैनागम समस्त देव, इन्द्र, नरेंद्र और गणधरेंद्रोंसे पूज्य है । भव्य जीवोंको ससारममुद्रसे धार करनेके लिये समर्थ है, उत्तम निर्दोष ज्ञानका प्रदान करनेवाला है, जगत उपकार करनेवाला है, समस्त तत्वोंका प्रकाश करनेवाला है । ऐसे सर्वोत्कृष्ट जिनागमकी भाव शुद्धिसे शत्रु नष्ट कर भक्ति करना सो श्रुतभक्ति है ।

एक श्रुतभक्तिसे जीव मम्यदर्शनको प्राप्त कर मोक्षसुखको प्राप्त होता है । देशनाके बिना किसी जीवका हित नहीं हुआ है । इसलिये जिनागमपर पूर्ण श्रद्धान रखकर आत्मकल्याण करना चाहिये ।

अर्थ—हे राजन् ! पट् आत्मशुद्ध करिआओका पालन करना नितांत आवश्यक है । जो भव्यजीव शरीरादिके अस्वस्थ हो जानेपर—और (गृहादिकके) आवश्यक कार्य उपस्थित होनेपर भी पट् आवश्यक क्रियाओंके पालन करनेमें प्रमादी नहीं होता है वह इम भावनाको पालन करता है ।

सामायिकादि पट् आवश्यक कर्मोंको जो अपना मुख्य कर्तव्य समझता है और समस्त कार्योको छोडकर समस्त प्रकारकी क्रियाओंको रोककर मन वचन रूप की एक भावनासे पट् आवश्यक कर्मोंका पालन करता है वह इस श्रेष्ठ भावनाका आराध्यक होता है । इस लिये जिस क्रियाका जो समय है उस समय वह आवश्यक क्रिया अवश्य ही करनी चाहिये ।

शुद्धव ज्ञानयोगात्पुन जिनप्रभान्नाद्धा चतुर्दानदानान् । विद्यामत्तद्य नं-नाटनितपञ्जगातीश्यापात्रिमानात् ॥

इत्यादिहेतुनार्व परममतिप्रयुक्तं य ह्योनि त्रिशुद्धया । श्रीमज्जिनेन्द्र गिरेश चतु नृपते सुप्रभाव मनोजम् ॥ १ * ४ ॥
गान्धोति मेव नूनं शिमपदजनका चित्तपारिद्वर्त्री । मार्गप्रभावनां च जिनपरमरदा धर्मवृद्धे प्रोणात् ॥

अर्थ—हं राजन् जो भव्य जीप मंत्रोच्छ्रुष्ट जिनागमके ज्ञानके द्वारा समस्त सत् पतंतरेके अमत् (मिथ्या) तत्त्वोंका खंडन कर मत्प और प्रसाणित अनेकान्त स्वरूप तन्मोका प्रकाश कर जैन गायनकी इटवा करता है वह मार्गप्रभावना प्रकट करता है । अथवा शास्त्रार्थके द्वारा जैन मतकी मंत्रोच्छ्रुतानाका प्रकाशना से मार्गप्रभावना है ।

भगवानकी प्रतिमाका विशुद्ध भावसे और उन्गा गीत नृत्यादि पूर्वक पंचामृताभिषेक जल्पयाना प्रतिष्ठा महोन्मव-ग्यमहोन्मव-और चतुःमवको दान प्रदानके द्वारा महान प्रभावना की जाती है ।

इसी प्रकार मत्रकी शक्तिसे अनेक प्रकारके चमत्कार उत्पन्नकर अमका प्रभाव प्रकट कर समस्त दुर्गोदि और जड श्रवानी जीवोंको तन्मार्ग में लया देनेसे भी प्रभावना होती है ।

इसी प्रकार जप-तप-नीश्यात्रा-जिनमंदिर निर्माण आदि धार्मिक कार्यों की महिमा प्रदर्शन करनेसे मार्ग-प्रभावना होती है ।

अथवा चतु मव (बुनि-आर्षिका श्रावक श्रापिका) निकालकर धर्मका उद्योग करने से भी मार्गप्रभावना होती है ।

जीवों का अमयदान प्रदान करने से और परोपकार केलिये करुणादान करनेसे भी प्रभावना होती है । इस प्रकार जैनधर्मकी महिमा अन्य मिथ्यामतियोंमें प्रकट कर देनेसे धर्मका प्रभाव प्रकट होता है । अपनी शक्तिके अनुसार जैनधर्मका प्रभाव प्रकट करना से मार्गप्रभावना है ।

ब्रह्मया धर्मस्य लोके किमपि न भवति दुःखपंक्ति शरीरे । शक्यत्याजुसारयोगाःसुखनिवगणैः सर्वदैव प्रकार्या ॥ १०५ ॥
 पुरुषे भुप करोति यः सुहृदा स्नेह महानददं । स्ववसे हि कथा च शृंगिणि तथा सद्यः प्रसूता मुढा ॥
 वर्मे अनेन्द्रस्थे भजति प्रवचतवत्सलत्वाख्ययुक्ता । मैव सच्छर्मकारा परमशुणपदा भावना भो मुनीन्द्र ॥ १०६ ॥
 एतानि मगधाधिप हृदि सदा जानीहि तीर्थकरस्यैव । तानि वोडश कारणानि सुखदान्येवाहुः सुस्मरण ॥
 अस्यैवाश्रवकारणानि सकललेखादिवद्यस्यैव । ससारतपघातैकस्य सुमते हे हि भवत्येवच ॥ १०७ ॥
 लोपनं सद्गुणानां च इतराणां प्रकाशनम् । एगिर्हि कर्मिभिः सैव चतुर्भिः दुःखदायकैः ॥ १०८ ॥
 त्मत नीचगोत्रं च शृणु त्व वर्णनं ह्यग । एतेषामेकचित्तेन प्रवक्ष्येहं पृथक् पृथक् ॥ १०९ ॥

धर्मकी बुद्धि-धर्मकी स्थिरता-और धर्मकी महिमा प्रकट होने से यह भावना सर्वोत्कृष्ट है । ममस्त पापोंके नाश करने वाली है और ममस्त प्रहार के सुखोंको प्रदान करनेवाली है ।

अर्थ—हे राजन् जो अल्पजीव श्रीजिनेन्द्र देवके पवित्र धर्मको धारण करनेवाला है और जिसके देव ग्राह्य गुरुका पूर्ण श्रद्धान है उसको अपना धर्मबंधु समझकर गाय और वछडेके समान श्रेयभाव करना उसके साधर्म्य भाई मानकर आदर सत्कार करना सो प्रवचनवात्सल्य भावना है ।

अर्थ—हे राजन् ! उपर्युक्त दर्शनविशुद्ध्यादि वोडश कारणभावनाएँ तीर्थकर गोत्रके आश्रय करने वाली है । देवोंसे पूज्य और लोकोच्चम महिमाको प्रदान करने वाली है और संसारके ममस्त पापोंको नाश करनेवाली है इसलिये भावोंकी विशुद्धिसे नित्यही भावना चाहिये ।

अर्थ—हे राजन् ! दूसरोंके सद्गुणोंको टुक देना । अपने सद्गुणोंका प्रकाश करना, दूसरोंके मिथ्या दोषोंको प्रकट करना और अपने दोषोंको टुक देना इससे नीच गोत्र कर्मका आश्रय होता है जिसका स्पष्टीकरण करते हैं सो

परनिदाभिधं दोष भवति परनिदनात् । अयं पुमान् न मंद्रेह अन्तर्भवतु खदम् ॥ ११० ॥
विधीयते च य म्वस्य प्रज्ञसा पन्ना मदा । प्रशंसाम्य च दुर्दोषं मेव समापत्ने वृत् ॥ १११ ॥

ज्ञानसत्त्वोपुक्तस्य पुल्लस्य महत्तन्त्रा । परोपकारकर्तुं च जिनधर्मतरस्य च ॥ ११२ ॥
पालकस्यैव शीलस्य धर्मोपदेशस्य च । मन वा श्रावस्व्येन व्रीतागामतम्यन ॥ ११३ ॥

इत्यादिसद्गुणानाच धारकस्य नाम्यहि । सद्गुणान तस्य यो मर्थं वंश्यागुणान्ति ॥ ११४ ॥

एकाग्र मनमें श्रवण करना चाहिये ।

अर्थ—हे राजन् ! दूसरीकी निंदा करना दूसरे जीवोंके परोक्षरूप अपवाद या मलिन वचन बोलना बुराई करना-उमकी निंदा बहते हैं । (समाचार पत्रोंमें भी यह निंदा की जा सकती है) मनकी कुटिलता में दूसरीका अभ्युदय सहन नहीं होनेके कारण उसको गिरा देनेके भाव प्रकट करना सो निंदा है ।
हे राजन् ! जो अपने गुणगान अपने आप करना अथवा अपने में गुण नहीं रहनेपर मिथ्यारूपसे करना अपनी प्रशंसा कीर्ति और बढाई के लिये कहना सो आत्मप्रशंसा है ।

अर्थ—सम्यग्ज्ञान सम्यक्कृतप और सम्यक् चारित्र्य सहित महान पूज्य पुरुष तथा जगतके जीवोंको सम्मार्ग में लगानेवाले श्रेष्ठ उपदेशक-श्री जिदधर्मको पालन करनेवाले मिथ्यामार्गिका परित्याग करनेवाले शील धर्मको बढाने-वाले ब्रह्मचर्यकी महिमाको व्यक्त करनेवाले धर्मका उपदेश देनेवाले ऐसे मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका-जिनधर्म धारक भव्य जीवोंके उन सर्वोत्कृष्ट गुणोंको धारण करने वाले को मनके दुष्परिणामोंसे दूर देना उनकी प्रशंसा और उनका आदरभाव नहीं करना सो सद्गुणोच्छादन नामका दोष है ।

आच्छादयति यो भूप महान् दुर्बुद्धिमदित । सदगुणोच्छादनाख्यच स दोष भजते खलु ॥ ११५ ॥
 केचिन्तकारणैरेव कस्यैव पुरुषस्य च । किमपि आगत दोष प्रकटं त करोत्यहो ॥ ११६ ॥
 असद्गुणोद्भावनच स दोष भजते पुमान् । महादु खस्य कर्तार नीचगोत्रप्रदायकम् ॥ ११७ ॥
 चत्वारि खलु कर्माणि एतानि माधेयार । अस्य मलिनगोत्रस्य आश्रवकारणान्यहो ॥ ११८ ॥
 भवत्येव पुन त्वं च शृणु अन्यानि नृप । कारणानस्य संक्षेपात् तु गोत्रकर्मदायकान् ॥ ११९ ॥
 करणाद्यातिमदस्यैव कुलरूपमदस्य च । शिल्पिज्ञानबलस्यैव तपश्चैश्वर्यकस्य च ॥ १२० ॥
 परेषामपमानस्य चापवादस्य कारणात् । वृथा हास्यैव कारणात् परब्रधस्य दानत ॥ १२१ ॥

गुणोकी प्राप्ति गुणोंमें और गुणी जनोमें अदुराग करनेसे होती है । परन्तु जिस मनुष्यका मन दुष्ट है वह मनकी दुष्टतासे उन गुणी जनोका आदर नहीं करता है और न उन सर्वोत्कृष्ट गुणोको धारण करनेकी भावनाही व्यक्त करता है बल्कि उन गुणोको डाकता है । ऐसे समय वह सद्गुणोच्छादन नामके दोषको प्राप्त होता है ।

अर्थः— हे राजन् किसी एक कारण विशेषसे । अनिवार्य कारण विशेषसे) किसी एक भव्य जीवको कोई भी दोष लग गया हो तो उसको प्रकट कर देना सो असद्गुणोद्भावन नामका दोष है । अथवा मिथ्या द्रूपण लगाकर प्रकट करना सो भी असद्गुणोद्भावन नामका दोष है । इससे नीच गोत्र कर्मका आश्रव होता है ।

अर्थः— हे मगधाधिप उपर्युक्त चार कारण नीच गोत्रके आश्रव करनेवाले है । कुलमद १, जातिमद २, रूपमद ३, शिल्पिज्ञानमद ४, बलमद ५, तपमद ६, ऐश्वर्यमद ७, क्रद्धिमद ८ आदि आठ प्रकारका अभिमान दूसरोका अपमान करना, दूसरोका तिरस्कार करना, वृथा हसना, दूसरोकी इसी कर नीचा दिखाना, दूसरोका वधबंधन

उद्धाटनादुद्धृणा च पामवस्त्रं कारणात् । योगिणा कथयन्ति तद्यथापानकारणात् ॥ १२२ ॥

निभर्त्सने पुनन्नेना भजत्ययोदनात्था । म्लानमृगणांश्चैव अनभ्युत्थनस्य कारणात् ॥ १२३ ॥

इत्याथा हि ताम्ब्याभ्य आत्रवाश्च भवद्दो । महाट् पन्थ गान्तये नीचगोत्रस्य दासका ॥ १२४ ॥

आत्मनो सिद्धनाञ्चैव परेषा च पनमनात् । मृदुणोद्गापनाञ्चैवासदुजोञ्च्यदनात्सुनः ॥ १२५ ॥

तथा नीचैर्बृत्विद्यादनुसेनैश्च अनर्हि । वसति आश्रमा उक्तगोत्रस्यै इमे शुभ ॥ १२६ ॥

नीचवृत्तेस्तथा म्यामिन अनुत्पेन्स्य त्पणान् । किं स्याद्वि तच्छृणु च्वा महाशमेवद नृप ॥ १२७ ॥

म्यात्मनो गुणमृद्रेण जानाथै वो ऽट गन्व । प्रदीभाव स्रोतेभ्य चित्तशुद्धया नरेषु हि ॥ १२८ ॥

करना, गुरुओंके दोषोंका उद्घाटन करना परामर्श करना, गुरुओंकी निंदा करना, गुरुओंको अवर्णनाद लगाता, अपमान करना, गुरुको हेमकर मंडे नहीं होना, हाथ नहीं जोड़ना, नमस्कार नहीं करना, धर्मका अनुगम नहीं करना, धर्मकी निंदा मलाक और हसी करना, श्रेष्ठ आचरणोंकी हमी करना, निंदा करना, चाण्डि तमका लोप करना इत्यादि अनेक नीच गोत्रके आश्रय हैं ।

अर्थ—अपनी निंदा करना—दूमरोंके गुणोंकी प्रशंसा करना अपने गुणोंका आच्छादन करना और दूमरोंके गुणोंको प्रशंसा करना दूमरोंको दुर्गुणोंको ढांक्ना अपने दुर्गुणोंको निकालनेका प्रयत्न करना इत्यादि कारणोंसे ऊच गोत्रका आश्रय होता है ।

अर्थ—हे भगवन् नीचवृत्ति नामक गुणका क्या लक्षण है ? हे राजन् जो अपने से अधिक गुणवान् चास्त्रिवान्- और सम्यग्दर्शनादि उत्तम गुणोंसे संपन्न हो उसको देखकर हर्ष करना, गुणी और सयमी देखकर प्रमोद भावना प्रकट करना धर्मात्मा भाईको देखकर हर्षित होना, मनकी प्रफुल्लता प्रकट करना—गुरुजन (गुणोंसे वृद्धिगत) को देखकर

नमस्कारं तथा हर्षादि-शुभान् सुभाषणम् । उपवेशनं तस्माद्दि नीचस्थानेषु नन्ददम् ॥ १२९ ॥
 नीचैर्वृत्यभिघ्नैः गुणमाप्नोति शोभनम् । नम्रन्वात्सर्वकार्येणा सिद्धिर्भवति निश्चयात् ॥ १३० ॥
 ज्ञानसत्त्वयुक्तोपि तथान्यगुणमडित । तथापि नो करोत्येव यो मदं म्वात्सनि नृत् ॥ १३१ ॥
 मेव संभजते नूनमनु सेकाभिध गुणम् । समारवनदावागने सहश मोक्षशर्मदम् ॥ १३२ ॥
 पप्सि षट्कर्मभिश्चास्य वधो भवति मृतते । उच्चगोत्रस्य मर्यस्य नाक्रमोक्षस्य दायकम् ॥ १३३ ॥
 अष्टाना मदसत्यागात्परेषा मानवर्द्धनात् । अन्हास्यैव कर्णात् मृदुवचनभाषणात् ॥ १३४ ॥
 अपविदादनस्यैव कर्णाज्जिनपूजनात् । कुपुष्याना नराणा व सत्कारादिककारणात् ॥ १३५ ॥

नमस्कार करना उच्चासन देना साथ जोडना मिए सभापण कर उनके नीचे बैठना दृष्टिको नीचा कर विनयभावसे रहना उनकी आज्ञाको शिरसा वद्य ममह्वना भोजन पान दान सन्मान आदिद्वारा उनकी पूजा करना-स्तुति करना प्रशमा कर उनके गुणोको महान पृष्य मानना सो नीचवृत्ति नामका गुण है ।

अर्थ—अपनेमें निर्दोष ज्ञान और उत्तम तप विद्यमान होने पर भी अथवा अन्य चारित्रादि उत्तमोत्तम गुण विद्यमान होनेपर भी अभिमान नहीं करना और अपने परिणामोको मरल व कोमल रखना-सो अनुत्तम नामका गुण है । इम प्रकार षट् कारणोसे उच्चगोत्रका आश्रय होता है ।

अर्थ—आठ प्रकारके मदोका परिस्थाय करना, गुणयान् व्यक्तियोका योग्य सन्मान करना उनका आदर भाव-प्रशमा-गुणकीर्तनादिक करना दूसरीकी हसी नहीं करना सदैव मीठे वचन बोलना दूसरोको तिरस्कार करनेके भाव नहीं करना मुनिजनके सम्भावसे मलिन और स्तनत्रयसे पवित्र ऐसे शरीरको देउकर ग्लानि नहीं

गुरुणा सद्गुणाढ्यानामनुद्भूतपरवर्तनात् । तेषाच स्तवनादभ्युत्थानस्य करणात्तथा ॥ १३६ ॥
 स्थानार्पणाञ्च सन्मानविगानाद्गुणव्यापनात् । निवारणास्परेषाच पीडादिकर्मणस्तथा ॥ १३७ ॥
 इत्यादयोपि अस्यैव वक्ष्यन्ते आश्रवाश्च नु । महागोत्रस्य कर्तारं शुद्धभावान्नाराधिप ॥ १३८ ॥
 गमि सुकर्मभिश्चाय पटवडपालकस्यच । बलभद्राच्युतस्यैव कामदेवस्य भूपते ॥ १३९ ॥
 इत्यादिकस्य संशुद्धे नाना सपद्धिभूषिते । नरोत्तमस्य भो नूनं सद्गोत्रे सुरवंदिते ॥ १४० ॥
 उपपद्यते महाशर्म तत्र मुक्त्वा ह्यनुक्रमात् । निहत्य कर्मसंदेहं तपसा याति सत्पदसु ॥ १४१ ॥
 महत्कुलोद्भवा मर्त्या ये भवन्ति शुभोदयात् । सारवीर्यादिसपन्ना तेजसा भास्करोपमा ॥ १४२ ॥

करना श्री जिनेन्द्र देव की प्रतिमा का नित्य पूजन अभिषेक और इसी प्रकार स्तवन गुणकीर्तिन करना पुरुषोंका सत्कार करना गुरुओंके साथ नम्र भावसे विनीत स्वरूपमें रहना—उद्धृतताका परित्याग करना गुरुओंकी पूजा सन्मान प्रभावनाके साथ शुद्ध भावसे करना अभ्युत्थान प्रणामांजलि करना उच्चासन प्रदान करना गुणोंका यशोगान करना दूसरोंके दु खोंको निवारण करना गुरुओंको योग्य वसतिका गुफा बनवाकर प्रदान करना और गुरुओंके लिये योग्य औषधी बनाकर प्रदान करना इत्यादिक शुभ कार्योंसे ऊच गोत्रका कर्माश्रव होता है ।

अर्थ—इस प्रकार उपर्युक्त शुभ कार्योंसे चक्रवर्ती बलभद्र नारायण कामदेव आदि पदवी धारक पुरुषोंके ऊच गोत्रको प्राप्त होता है । जिस गोत्रस उत्तम हुए पुरुषोंकी देवगण भी नित्य सेवा करते हैं और जो लोकमें उत्तम समझा जाता है । जिस ऊच गोत्रको प्राप्त करने पर ही भव्यजीव मोक्ष मार्गके योग्य होता है । ऊच गोत्रके प्रभावसे ही जीव कर्माका नाशकर मोक्षसुखको प्राप्त होता है । ऊच गोत्रसे जीव महान उत्तम कुल उत्तम जाति और उत्तम

चद्रप्रसमा कात्या प्राप्नुवत्येव ते तथा । शिवशर्म निराबाधं कर्मातीत च्युतोपमम् ॥ १४३ ॥
पचमिः कर्ममिथैव भवति आश्रवोऽस्य नुः । नानादु खप्रदैनमतरायस्य कर्मण ॥ १४४ ॥
दानस्य चैव लाभस्य भोगोपभोगकस्यच । वीर्यस्यैव करो येन विघ्न स्वरय कुबुद्धित ॥ १४५ ॥
दातुः पात्रस्य भो भुषास्थवहि व-यते च यः । स्वत्सनि शर्महृत्तरामतरायाभिध विधिम् ॥ १४६ ॥
यच्छति कोपि पात्राय दानमाहारसंज्ञकम् । वज्रयस्यैव त कोपि महाकृष्णभानयुक् ॥ १४७ ॥

वशको प्राप्त होते है । जिनको अतुल बल वीर्य प्राप्त होता है । जिसका प्राप्त करना बड़ा ही दुर्लभ है । जिम् कुलमें तेज क्रांतिरूप आदि सर्व आश्चर्यकारी महिमा होती है । और अतमें मोक्षसुखको प्राप्त होते है ।

अर्थ—हे राजन् ! इस जीवको पाच प्रकार कारणोमे अंतराय कर्मका वध होता है ।

दानांतराय—लाभातराय—भोगातराय—उपभोगातराय—वीर्यांतराय । इम प्रकार पांच कार्यों में विघ्न करना सो इममें अतराय कर्मका वध होता है ।

यदि दाता इस प्रकार दानादिक कार्योंमें विघ्न करता है तो दाताको अंतराय कर्मका आश्रय होगा । यदि मात्र इस प्रकार विघ्न करावे तो उनको आश्रय होगा । इसका स्पष्टीकरण आगे लिखा है ।

दानांतराय —

अर्थ—हे राजन् कोई भव्य जीव किसी पात्रको आहार दान करनेका भाव करता हो या देता हो उसको देखकर कृपणबुद्धि से या दुर्भावो से निषेध करना, अथवा कोई विशेष कारण वतलाकर दान करनेसे रोक देना या कुबुद्धि को धारण कर पात्रकी अयोग्यता (मिथ्या कल्पनाकर) प्रकट कर दान देने में विघ्न कर देना इत्यादि

केनचिद्वा कुबुद्धेन प्राप्तिपुत्रादयस्यहो । येन तस्यैव दातुश्च मतिर्दानि न जायते ॥ १४८ ॥
 दानात्तापयद्, कर्म म लाभस्यैव मूढधी । अग्नेन कर्मणा तस्य दानासिर्नो भवत्यहो ॥ १४९ ॥
 लाभसिञ्जयिते कस्य विधातार्थं न तस्य वै । कुबुद्ध्या यः स्तोत्रेयैव लाभस्यैव विनाशकम् ॥ १५० ॥
 बध्यते सैव तु कर्म लाभान्तरायसंज्ञकम् । दानेन विश्वियोगेन लाभान्तरायस्यैव नो भवेत् ॥ १५१ ॥
 भोगवस्तो करोत्येव धियोगं यो हि मानव । कस्यैव पुरुषस्यैवाप्तमानस्तदोद्दयम् ॥ १५२ ॥
 भोगावरायसंज्ञं न सैव तु कर्म तु खदम् । परजन्मनि प्राप्नोति संग्रयो नात्र भूयते ॥ १५३ ॥

कार्यों से दानांतराय कर्मका आश्रय होता है जिससे जीवोंको सब कुछ पायन मौजूद होनेपर भी दान देनेके भाग नहीं होते हैं या दान देनेका नियोग नहीं प्राप्त होता है ।

अर्थ:— जिस किसी जीवको धनादिक वस्तुका लाभ प्राप्त हो, व्यापारादिकके द्वारा वन प्राप्त होता हो ता कुबुद्धि या दुर्भाग्यासे उसके लाभ प्राप्तमें विघ्न कर देना या उस लाभको ही नष्ट कर देना अथवा ऐसे व्यापारको किसी प्रकार जानकर स्वतः उसका फल (लाभ) लेकर उसको लाभसे वंचित रखना सो इससे लाभान्तराय नामका कर्म बधता है । जिससे जीवको लाभ प्राप्तिका योग नहीं होता है ।

अर्थ - हे राजन् ! जो मनुष्य दूसरोंके भोग पत्तु की प्राप्ति में विघ्न करने अथवा किसीको भोग प्राप्त होते हैं तो उसको नष्ट करदेना भोगोंको भोगने में विघ्न करदेना भोगने नहीं देना इससे भोगांतराय नामका कर्मबंध का आश्रय होता है ।

उपभोगस्य सद्दस्तो नाश करोति य दुष्ठी । कस्यैव सैव भो नूनमप्रजन्मनि जन्मनि ॥ १५४ ॥

लभते उपभोगातराण्यस्य शर्मनाशकम् । कुकर्म मगभाधीश परोपभोगवर्जनात् ॥ १५५ ॥

केनचित्कारणेनैव कोपि कस्यैव मृत । नाश करोति वीर्यस्य नानाटु खपदायकम् ॥ १५६ ॥

वोर्यान्तरायसंज्ञं च विधिं च वध्यते खलु । सैव ससारकातारभयम्रमणकारकम् ॥ १५७ ॥

यात्रादिधर्मकार्येषु ऋणत्याग्राधिप । कारणाद्दाननिंदाया देवनेवेषभक्षणात् ॥ १५८ ॥

जिनकोशस्थवित्तस्य ऋयविक्रयकारणात् । तदगनाल्लोपनाच्चैव धारणाद्ग्राहि स्वापणे ॥ १५९ ॥

छन्दनाञ्चैव जिह्वाया विपश्यंचैव नापनात् । अथमर्चिचरणान्चैव वपनाद्दूधनात्तथा ॥ १६० ॥

कर्तृनाञ्चैव जिह्वाया विपश्यंचैव नापनात् । अवकोत्पाटनाञ्चैव तथातंकविवर्द्धनात् ॥ १६१ ॥

अर्थ—हे राजन् ! उपभोग वस्तुकी प्राप्तिमें विघ्न करना दूसरोंको उपभोगोंके भोगने में विघ्न कर देना उपभोगोंको नष्ट कर देना सो इससे उपभोगान्तराय नामका कर्मका आश्रय होता है ।

अर्थ—किसी कारणसे या दुर्भावसे किमी जीमके वीर्यका नाश करना उसकी शक्तिका न्हास करना या लोप कर देना इससे वीर्यांतराय नामका कर्मव्यय होता है । यह वीर्यांतराय ससारके भ्रमण करनेमें मुख्य सहायक है ।

अर्थ—हे राजन् यात्रा-प्रतिष्ठा-रथमहोत्सव जिनमंदिर निर्माण आदि धर्मकार्योंमें विघ्न करना । कोई प्रतिष्ठादि करता हो तो उसको रोकना “ अभी प्रतिष्ठा व प्रतिमा गहुत होगई अब जरूरत नहीं ” इस प्रकार प्रलोभन या दुर्भावसे उत्तम प्रतिष्ठादिक कार्योंमें विघ्न करना, कृपणतासे धर्मकार्य नहीं होने देना, देवकी पूजाके लिये अर्पण किया हुआ धन जमीन आदि द्रव्यका भक्षण करना । ये सब अंतरायके कारण हैं ।

इत्याद्या आश्रवा भूप अंतरायस्य कर्मण । भवति सर्वभर्यानां शान्तिरायकारका ॥ १६२ ॥

सदैव णभि भो भूप अस्य नु. चाष्टकर्मसि । व-यते कर्मणो वेधा शर्माशर्मपदायका ॥ १६३ ॥

सातासिश्चैव दु लापि यत्तद्धि प्राणिना नृप । जायते नात्र संदेह शुभाशुभैककर्मणा ॥ १६४ ॥

मृते भर्तारि या नारी व्यभिचारं करोत्यहो । तथा भगवन्नायै. बहुमूल्यात्सपुद्ग्यै ॥ १६५ ॥

अर्थ—तीर्थ-जिनमंदिर-जिनशास्त्र भंडार और जिनायतनों के भंडारका भक्षण करना । जिनधर्मका ध्वंस जिनमूर्ति का खंडन करना । जिनधर्मका विधास (सत्यता) का लोप करना पवित्रोचरणोंका नाश करना अंधर्मा-चरणोंको बढाना वध वधनादि हिंसा कार्यकी वृद्धि करना दूसरोकी नाक काटना जिब्हाका छेदन करना, विना प्रयो-जन वृक्षोंका छेदन कराना शुब अशोका छेदन भेदन करना इत्यादिक बहुतेमे कारणोंसे अंतराय कर्मका आश्रव होता है ।

हे राजन् ! इसे प्रकार आठ कर्मोंके आश्रव बतलाये हैं इनमें कितने ही पुण्योत्पादक हैं और कितनेही पापोत्पादक हैं । जीवोंको शुभाशुभ कर्मोंसे सुखदुःख प्राप्त होता है ।

अर्थ—विधवा स्त्री व्यभिचार सेवन करे । अथवा व्यभिचार सेवन करनेके कारणों (पुनर्विवाह) को धारण करे । शरीरपर सुदूर भनको लुभानेवाले वस्त्रधूपण पहने बहुमूल्य साडी पहने । शरीरका शृंगार करे । केशों की रचना करे नेत्रमें शुरभा आदि लगा कर कामोत्पादक चैशको बनावे । भंड राग को गान करे ऐसा कि जिससे ब्रह्मत्वर्थ नष्ट होजावे । पुष्ट रसोंसे अपने शरीरको कामोत्पादक योग्य बनाये रखे । या पुष्ट रसभोजन पान सेवन कर कामोत्पादक बनावे । दूसरो की निंदा और अपनी प्रशंसाके गान करे । मायाचार और मानको धारण कर धर्म धारण करनेका ढोढ बतलावे । कुकथा और कुशिक्षाका ऐसा पठन पाठन और अभ्यास करे कि जिससे काम-

नेत्राणा नन्दैश्वैव भृषयत्येव स्वतनो । नेत्राजन करोत्येव केशादिमडन तथा ॥ १६६ ॥
 गायति महाराग च ब्रह्मचर्यविनाशकम् । तथैव पोषयत्येव शरीरं च रक्षात्करै ॥ १६७ ॥
 परनिदासशसा च मायामान् च स्वात्मनि । कुक्कथा प्रकरोत्येव कुशिक्षा कामवर्द्धका ॥ १६८ ॥

बुद्धि हो व्यभिचार की बुद्धि हो । अथवा मिथ्या शास्त्रोका पठन पाठन करे जिससे कि सदैव कुबुद्धि वनी रहे और कुमार्ग (धर्मलोप करनेके मिथ्यामार्ग) की बुद्धिकी वासना बढे इत्यादि कारणोसे स्त्री मर कर भवभवमें जन्म जन्मांतरो में विधवा होती है क्यो कि उसने अपने धर्माचरण वैधव्य दीक्षाका नाश किया ।

विधवा स्त्रीका वैधव्य दीक्षा देना ही जरूरी है धर्म शास्त्रोमे विधवाके लिये वैधव्य दीक्षाका विधान बतलाया है । वैधव्य दीक्षाको धारण कर वह केशका उत्पाटन-शृंगारका त्याग-सुंदर बह्न जिसे सौभाग्यशाली स्त्रिया पहनती है उनका त्याग करना पडता है ।

असलमें जो स्त्री वैधव्य दीक्षाको धारणकर सथसे धर्माचरण पूर्वक रहती है वह एक प्रकारकी घरमें रहने वाली आर्थिकोके समान है परम साध्वी है । उससे समस्त कुटुम्बको शीलकी शिक्षा प्राप्त होती है वह सवको पवित्र आचरण सिखलाती है और शीलकी रक्षा और माहात्म्यका आदर्श जगतके सामने रखकर स्त्री समाजका और अपना कल्याण करती है । किंतु जो विधवा वैधव्य दीक्षाको स्वीकार न कर शृंगार करती है उत्तमोत्तम बह्ना-भूषण पहनती है और ऐसी कुशिक्षा प्राप्त करती है कि जिससे व्यभिचार बढे और धर्माचरण का लोप हो शील (ब्रह्मचर्च) त्रत नष्ट हो जावे । ऐसी ही विधवायें भ्रमका लोप कर केवल व्यभिचार बढाती है ।

पठति पाठयत्येव मित्याशाखं कुबुद्धिदम् । इत्यादिकर्मभि नारी निर्धवा च भवं ॥ १६९ ॥

भवति शोकसयुक्ता धर्माचरणविघातनात् । अतिर्निन्द्यभावेन रागतिं मारयत्यहो ॥ १७० ॥

मुक्त्वा तं सेवते चान्यं जीवितं स्वर्गतिं खला । पापाचार सदा पालयत्येव धर्मवर्जिता ॥ १७१ ॥

कर्मणाभितरत्येन एतेषा साहि भूपते । शीलव्रतान्निता चाग्ने जन्मनि जन्मनि तथा ॥ १७२ ॥

कुशिक्षाका फल—

असलमें व्यभिचार की जड़ कुशिक्षा है, कुशिक्षा के प्रभाव से विधवा स्वियें ब्रह्मचर्य की सर्यादाका परिप्याग कर निर्लज्ज बनकर व्यभिचार में प्रवृत्त हो जाती है और उसको निर्भर्त्स कर तथा धर्मका लोप कर पुनर्निवाह के द्वारा व्यभिचार बढ़ाती हैं ।

कुशिक्षा से सन कृष्ट हो जाता है कुशिक्षा से ममस्त मार्ग खुले हैं । और कुशिक्षाका परिणाम सबसे प्रथम धर्म लोप-तथा ढीट बनना है ।

अर्थ—हे राजन ! कुशिक्षासे स्त्री अपने पतिको सजीवन अवस्थामें अतियय निर्दय भावसे मार डालती है । अथवा जीवित सुदूर पतिको छोडकर भग जाती है । दूसरोको पति बना लेती है । यह पापाचार कुशिक्षाके प्रभावसे धर्मका नाश करनेवाला होता है ।

अर्थ—उपर जितने कारण विधवा होनेके बतलाये हैं उनसे विपरीत कारण सधवा होनेके जानना चाहिये । जो स्त्री शीलव्रतका पालन करती है श्री जिनेन्द्र देवकी आज्ञाका श्रद्धान कर अपना आचरण आगमके अनुकूल रखती

भवति नात्र संदेहो नानाशर्मविमडिता । अत्ययात्स्येन सधवा गहासौभाग्यमडिता ॥ १७३ ॥

वितागानाश्च सुत्वाहि शीलहीना भवंत्यहो । सदैव कामदेवस्य क्रीडाशक्ता मदोद्धता ॥ १७४ ॥

म्लेच्छोत्पन्ना नरा नार्यः सुत्वाहि सगधेश्वर । भवंति व्रतहीनाश्च इमे वामाश्च मानवा ॥१७५॥

है । वैधव्य दशा प्राप्त होनेपर वह वैधव्य दीक्षा धारण कर ससार देह भोगों से उदास रहती है । न श्रृंगारादि कामोत्पादन दुष्ट कार्योंको करती है वह भवभवमें सधवा होती है । महान् सौभाग्य उसको प्राप्त होता है ।

अर्थः—वैश्यायें जो व्यभिचारका घदा फैलाकर शीलसे रहित होती हैं वे मरकर पर जन्ममें शीलविहीन मदोद्धता^१ अनत पापोंको सेवन करनेवाली और समारमें परिश्रमण करनेवाली होती हैं ।

अर्थ—जिनके यहां पुनर्विवाहादि मलिन आचरण है जिनको उत्तम व्रत धारण करनेकी योग्यता ही नहीं प्राप्त होती है उनको म्लेच्छ वा शूद्र कहते हैं । शूद्रोंको शीलव्रत किसी प्रकार भी पालन नहीं हो सक्ता है । क्योंकि उनके यहां उनकी जातिमें पुनर्विवाह होता है । पुनर्विवाह व्यभिचार है । व्यभिचार करनेवालोंके शीलव्रत हो नहीं सक्ता है । शीलव्रतके अभावसे अन्य व्रतोंका पालन भी परिपूर्ण नहीं होता है । अतएव ऐसे जीव मरकर व्रतविहीन होते हैं ।

१ म्लेच्छ व शूद्र जो स्त्रीका पुनर्विवाह करते हैं अतएव व्यभिचार जिनके सुतरां होता है व्रत होनेकी योग्यता उनको नहीं प्राप्त होती है । शीलव्रत धारण करनेका जिनको अवसर ही प्राप्त नहीं होता है ऐसे म्लेच्छ जीव मरकर व्रतविहीन अनत संसार के चटानेवाले पापी होते हैं ।

मृत भातममृतमेव ह्यखिल ससारापाणहं । वीरो वीरयुणाऋरो मुनिनुतो वृतात्तमेवाजसा ॥
 आनुकायमुमावैभमयुतान् पुण्योदयात् सखुखात् । मर्याना च पृथक्पृथक् जिनपति त्रिषष्टिकाना जुषम् ॥ १७६ ॥
 योगणाथ तथाहि अन्यमनुजाना च चरित्रं महत् । तत्वातत्वविभेदकं च स्मरतो मोक्षस्वरूप तथा ॥
 क्वचंश्च च जिनेश्वरो ह्यत्रहगे व्याख्यानक चोत्तम । मोक्ष ह्याप दशार्द्धधी जितरिपुः सर्वाधिर्वैर्दित ॥ १७७ ॥
 उच्य कर्णसुलप्रज्ञा मुनिवैर्दद्यात् मोक्षप्रदाम् । श्रीतीर्थरत्नकजामघहरा श्रुत्वा गणास्नेऽखिला ॥
 वाणीमामुम्नडात् च निरुपमा मदेहवृदापहा । मोद मोदकगा सुरासुराणै पृथ्याच पुञ्योदयाम् ॥ १७८ ॥

अर्थः— हे मनुवेश्वर जो कुछ समारमें जितना उच्चात हो गया है, आगे होगा और वर्तमानकालमें ही रहा है वह मय वीर प्रभु अपने दिव्य ज्ञानसे परिपूर्ण यथार्थ रूपसे जानते है । इसी लिये वीर प्रभु सर्वज्ञ वीतराग और विलोक वदिन है । मुनिगणोंसे पुर्य है । जो मनुष्य वीर प्रभुके वचनोका श्रद्धान कर उनको ही अपना भ्येय ममज्ञता है, अपना कर्तव्य मानता है वही आशुः काय भोग सपदा आदि उत्तमोत्तम सामग्रीको प्राप्त कर महान् पुण्यका सपादन करता है । वह पुण्य त्रिषष्टि पुरुषोके चरित्रादिकोका श्रवण करनेसे सपादित होता है ।

अर्थ— श्री वीर प्रभुने त्रिषष्टी शलाका पुरुषोका पुण्योत्पादक जीवन चरित्र, तत्वातत्वका विवेचन मोक्षका स्वरूप आदि समस्त पदार्थोंका व्याख्यान ममोशरण में दिया । वे दयालु भगवान् मदैव जयवत रहो ।

अर्थ— इस प्रकार मुनिगणोंसे भी पूजित समस्त प्रकाके सुखोको प्रदान करनेवाली— समस्त पापोंका नाश करनेवाली निरुपम-समस्त सदेहोंकी त्रि-म करनेवाली समस्त जीवोंको आनंद प्रदान करनेवाली महान् पुण्योदय से प्राप्त होनेवाली ऐसी वीर प्रभुकी मनोहर श्री जिनवाणीको प्रभुके सुखकमल से श्रवण कर समस्त गणधर देव प्रसन्नताका प्राप्त हए ।

केचिद्द्वयास्तदा भीत्या समागम्यत खलु । स्वीचक्रु जिनमुद्राच्च श्रावकाचारज व्रतम् ॥ १७९ ॥
 ज्ञानेच पूजने केचित् मति चक्रु शिवासाये । दिनाभिकनियम पचास्यतरसोक्तौ ॥ १८० ॥
 निनाया भक्षणस्यैव त्यागं चक्रुश्च केचन । स्वस्त्रिया नियम केचित् पर्वण्या चाग्रशर्मणे ॥ १८१ ॥
 अष्टान्हिकविधिं केचित् कर्माद्दहनं व्रतम् । स्तत्रयव्रतं केचित् जग्रहु कनकावलिम् ॥ १८२ ॥
 पचकुर्याणनामपि पचकुर्याणश्रायकम् । पल्यास्य व्रतमुल्यव केचित्च जग्रहुस्ता । १८३ ॥
 समेताचक्र्यात्रार्थं मति चक्रुश्च केचन । दुष्टाष्टवधिनार्थं शुद्धमोवेन महिता ॥ १८४ ॥
 श्रेणिकोपि तुगवीशो भाविनीर्थकगमणी । गृहसम्यस्त्वभूषाब्धः वीरगांस्य याक्तिक ॥ १८५ ॥

नदीधीस्त्रज्जाले भावंगमस भावनाम् तथा यात्राव्रतादीना गृहहृदि शुद्धभावत ॥ १८६ ॥
 अर्थ—वीर प्रभुकी दिव्यधनि श्रमणकर कृतने ही भव्योने समागके दुःखोसे भयभीत होकर श्रीजिनदीक्षा धारण करली। श्रावकाचारके व्रतको धारण किया। कितनोने दान करनेकी प्रतिज्ञा ली कितनोने जिनपूजनका नियम ग्रहण किया। कितनोने पचासतसे नित्य जिनाभिके करनका नियम लिया। रात्रिमें भोजनका त्याग कितनोने किया। स्वदागमतोप नियम पालन करनेको प्रतिज्ञा बहुतोने ली। ब्रह्मयज्ञत धारण किया। कितने ही जीवोने अष्टान्हिक स्तत्रय—कर्मदहन पत्यवन—पचकल्याणव्रत; कनकावलि—द्विकानलि मरुपक्ति आदि व्रतको पालन करनेका नियम लिया। श्री समेदाचलकी यात्रा चतुर्विध मव सहित करनेका पुण्यकार्य कितने ही भव्यजीवोने स्वीकार किया।

इस प्रकार शुद्ध भावसे महित भव्यजीवोने श्री वीर प्रभुकी दिव्य धनिकी श्रवण करके दुष्ट अष्ट कर्मको नाश करने के लिये विविध प्रकारका चारित्र धारण किया।

अर्थ—भावि तीर्थकर ऐसे श्रेणिक महाराजने श्री वीर प्रभुकी भक्तिसे शुद्ध सम्यक्त्व से अपनेको विभूषित

इत्याद्यं धर्मसंदोहं स्वप्नशक्यनुसारतः । गृहीत्वा सह भूपेन ययुस्ते स्वपुरे मुदा ॥ १८७ ॥
 चेलनाशाः प्रियास्तस्य वारिषेणादयः सुताः । नागरा भन्वयमावाढ्याः तेषां वासाश्च नन्दना ॥ १८८ ॥
 इत्याद्याः सकला भग्याः भ्रत तं कर्मनाशकम् । यथोक्तविधिना चक्रु कर्मादिदहनाभिधम् ॥ १८९ ॥
 राशुः सजायते भग्या धर्मोत्पत्तिर्नि संशयः । यत्र राजा च धर्मात्मा भवत्येन पजापिच ॥ १९० ॥

किया और जो देसना (धर्मोपदेश) वीर प्रभुने दिया था उसकी भावना की तीर्थ यात्रादिको की भावना की । इस प्रकार धर्म श्रवणकर समस्त भव्यलोक अपने अपने स्थानको गये ।

अर्थ—श्रेणिक महाराजकी बेलना आदि महादेवी वारिषेण आदि राजकुमार और नगरके समस्त नरनारी गणने इस कर्मदहन ऋतको यथोक्त विधिसे धारण किया ।

अर्थ—इस प्रकार श्रेणिक महाराजकी धर्म भावना को देखकर समस्त प्रजा धर्ममय बन गई । नीति है कि राजा धर्मात्मा होने से प्रजा भी धर्मात्मा होती है क्योंकि राजाके भले बुरे आचरण प्रजा सीख लेती है ।

धर्मकी बुद्धि और धर्मकी मर्यादा राजाकोमे ही स्थिर रह सकती है । क्योंकि राजगण दंड आदिके द्वारा प्रजाको अनिति और असदाचार (अधर्म) से रोक सकते हैं । राजाओंकी आज्ञा समस्त प्रजाको पालन करनी ही पडती है । राजाकी आज्ञा धर्मरूप-नीतिसे पूर्ण होगी तो प्रजा भी वही नीति वही धर्मव्यवस्था सांगोपांग स्वीकार करेगी । वर्तमान में वर्णव्यवस्था लोप विधवा विवाह स्पर्शास्पृश्य लोप-समान हक-आदि समस्त धर्मविरुद्ध नीतिविरुद्ध मर्यादाविरुद्ध-घातोंको धर्म नीति और कर्तव्य बतलाया जा रहा है यह सब राजा और राजाकी ऐसी ही कुबिधाका फल है । यह बात सच है कि यथा राजा तथा प्रजाः ।

इमा च महिमां मत्वा नुषा व्रतस्य चास्य वै । कुर्वाध्व सद्गतं चेमं तूर्णमेव शिवप्रदम् ॥ १९१ ॥
 जिनवक्रोद्भवा वृता इमे सर्वे नरोत्तमाः । विधिना क्रियमाणाश्च शिवशर्मप्रदायकाः ॥ १९२ ॥
 शास्त्रोक्तविधिना व्रतमेकमप्येव ये नरा । करिष्यति मज्जियंति मोक्षसौख्यं न संशय ॥ १९३ ॥
 मातंगाबाश्च ये मर्त्या शुद्धैकव्रतपालनात् । सुखमाप्ता ब्रतो भव्या बहुभिः कारणं च किम् ॥ १९४ ॥
 कर्तव्यं यच्च भो भव्या नितारभेण तद्गतम् । भारभेणैव संयुक्ता इमे हि भवदायकाः ॥ १९५ ॥
 कृत्वा चैवोषवांसं च आरंभं न करोत्यहो । गजस्नानसमं शर्म प्राप्नोति सैव मानव ॥ १९६ ॥

अर्थः— हे राजन् कर्मदहनकी महिमा अपरपार है । इस प्रकार जो भव्य जीव इस महिमाको सर्वोत्कृष्ट और परम दुर्लभ समझते हैं वे मोक्षको प्रदान करनेवाले इस व्रतको भावोंकी विशुद्धिसे करें । हे भव्य जीवो ! यह व्रत श्री जिनन्द्र देव भगवानके सुखकमलसे प्रकाशित है । इसलिये जो भव्य जीव शास्त्रोक्त विधिसे इस व्रतका पालन करते हैं वे मोक्षसुखको प्राप्त होते हैं ।

अर्थः— हे भव्य जीवो, मातंग आदिक अनेक भव्य प्राणी इस व्रतके माहात्म्यसे सुखको प्राप्त हुए है तो आप लोगोंको भी निःसंदेह भावसे शुद्ध व्रत पालन करना चाहिये ।

अर्थः—समस्त प्रकारके हिसक और मोहोत्पादक आरंभोंका परित्याग कर व्रतोंका परिपालन करना चाहिये । जो उपर्युक्त प्रकारका आरंभ कर व्रतोंका पालन नहीं करता उसके संसारके मार्गकी वृद्धि होती है ।

अर्थः— इस प्रकार जो मनुष्य आरंभ सहित उपवास करते हैं उनके व्रत सुख व्रदायी नहीं होते है । गजस्नानके समान उनकी क्रिया है ।

अथ श्रीमज्जिनाधीशो महावीर सुरार्चित । विहारं कृतवान् आर्ये वर्षे भव्यनैर्भूते ॥ १९७ ॥
 तर्पयत्सिंघ तान् भव्यान् वचनामृतवर्षणै । मिथ्यातमो हि तेषां च वागमयूखैर्विषहृद्यन् । १९८ ॥
 स्थापयन् श्रीजिनेन्द्रोक्तं सद्धर्म मोक्षदायकम् । उत्थापयन् कुण्डर्मच भवसततिदायकम् ॥ १९९ ॥
 एव कृतेच भव्यौषाः तद्दहनन्दुजं वरम् । गद्धन्नामृतमग्नान्मितरेषां च दुर्लभम् ॥ २०० ॥
 जहुरनादितो लंघन भवाकूपारवर्द्धकम् । मिथ्या विष महाक्रूर शर्मलेशविनाशकम् ॥ २०१ ॥
 ततश्च जग्रहुः शुद्धसम्यक्त्वं भवनाशकम् । यस्यैव धारणात्सर्वे तरंति भवतो नरा ॥ २०२ ॥
 याता याति तथा भव्याः आस्यति शिवसत्वदे । अस्यैव पालनात्कोपि अन्योपायो हि नो बुधा ॥ २०३ ॥

अर्थ—इस प्रकार विलोकगुरु श्री वीर भगवानने अपने वचनामृतसे ममस्त भव्य जीवोको परम सताय करते हुए अपने वचन किण्णोसे जगतके निविड मोहाधकारको नाश करते हुए श्रीमज्जिनेन्द्र देवके अनादिनिधन जैन धर्मको समस्त जगतमें स्थापन करते हुए तथा कुधर्मोका नाश करते हुए भारत क्षेत्रके आर्यखण्डमें विहार किया । और अगणित भव्योको संसारसे पार कर परमसुख धाममें पहुंचाया ।

अर्थ—इस प्रकार त्रिलोकवधु श्री भगवान् महावीर प्रभूके मुखकमलस विनिर्गतं वचनामृत का पानकर अनेक भव्योने अनादि कालसे सलग्न ऐसे मिथ्यात्वरूपी हालाहलका परिस्थाग किया ।

अर्थ—हे राजन् श्रीवीर प्रभूके वचनामृतके पानसे बहुतसे भव्यजीवोने शुद्ध मम्यदर्शनकी प्राप्ति की । जिस सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेपर अनन्तमनके समस्त पाप एक क्षणमात्रमें नाश होजाते हैं । ओं भव्यजीव संसार समुद्रसे पार होजाते हैं ।

अर्थ—इस सम्यग्दर्शनके प्रभावसे ही भव्यजीव संसार से पार हुए । होते हैं । और होने । इसके सिवाय मो-

एव संबोधयन् भव्यान् पावापुरस्य सो जिन । प्रत्यागूर्णस्थकासारे सिताम्बोजैर्विमंडित । २०४ ॥
 तन्मध्ये रचिते देवैश्चन्द्रकांतमये शुभे । शिलापट्टे निरोपम्ये सर्वदेवाधिपै सह ॥ २०५ ॥
 आयौ तत्प्रभावाच्च पूर्वमेव सुरार्चित । तस्योपरं तदा दक्षे प्रतिमायोगमुत्तमम् ॥ २०६ ॥
 अंत्यशुक्लासिना हत्वा कर्मगतीन् ततो जिन । बाहुलाभिधसन्नासे देशे च शर्वरीक्षये ॥ २०७ ॥
 मोक्षमाप सुखाच्च नक्षत्रे स्वातिकाभिधे । महावारो गुणं पूर्णः तारको भव्यपाणिनाम् ॥ २०८ ॥
 चतुर्निकायदेवेन्द्रा तदैवासनकपनात् । आजगमु तस्य पूजार्थं जाल्वा निर्वाणसदृतिम् ॥ २०९ ॥

क्षपट प्राप्त करनेका अन्य उपाय नहीं है ।

अर्थ— इस प्रकार त्रिलोकगुरु देवाधिदेव श्रीवीर भगवान् समस्त भव्यजीवोंको सर्वबंध (रत्नत्रयका परि-
 ज्ञान) कराते हुए पावापुरके तलावके मध्य-भाग भूमिपर आये । देवगणोंने कमलोसे विभूषित उस तलावके मध्यभाग
 में चन्द्रकातिमणि की दिव्य और परम सुंदर एक शिला स्थापन की । देवगणोंसे पूज्य श्रीवीर ग्रथुने उस रत्नमयी
 शिलार प्रतिमायोग धारण किया और कार्तिक वदी चतुर्दशीकी रात्रिक अंतिम समय स्थाति नक्षत्रके उदयमें वे अंत्य
 शुक्ल ध्यानके प्रभाव से समस्त कर्मद्वन्द्वोंका समूल नाश कर निर्वाण पदको प्राप्त हुए ।

भव्य जीवोंको ससार से पार करनेवाले समस्त आत्मीक शुद्ध गुणोंसे परिपूर्ण ऐसे वीर [महावीर] प्रभु
 पात्रपुरके तलावके मध्यभाग से मोक्ष को पधारे ।

अर्थ—वीर ग्रथुके मोक्ष पधारनेके समय देवोंके आसन कणायमान हुए । जिससे चतुर्निकाय देव प्रभुके निर्वाण
 के समयको जानकर भगवानकी निर्वाण पूजा करनेके लिये बहांपर आये ।

महदानदसंपत्ता. सेन्यसप्तविमडिता । नानाशोभाभिसंपत्ता. सागना सहवाहना. ॥ २१० ॥

पदे पदे प्रकाशार्थं चक्रु देवा मुदान्विता । नाकरत्नोद्भवानां च प्रकाश तमनाशकम् ॥ २११ ॥

सुधाधिग. विभो देहं दृष्ट्वा वसंगतस्तदा । नत्वाच स्थापयामासुः शिबिकाया सुरैः कृताम् (?) ॥ २१२ ॥

अग्नीन्द्रशुक्रुटोद्भूतपावकेन पुन शुभैः । काश्मीरगुरुकपूरैर्यैर्द्वैतैः सुरोद्भवैः ॥ २१३ ॥

पर्यायांतरमेवाशु चक्रुस्ते सुनायका । ते काय अतिहर्षेण शिवशर्मकर वरम् ॥ २१४ ॥

तदत्रे मृतपिंडेष्वा शुभां चक्रु. शिवाशये । महामंत्रेण सौधर्मप्रमुलाश्च सुरेश्वरा ॥ २१५ ॥

अर्थ—महान् आनन्द और हर्षसे प्रफुल्लित सात प्रकारकी सेनासे विश्रुपित अपनी अपनी देवांगनाओं सहित अपने अपने वाहनोपर बैठे हुए देवता अपूर्व शोभाके साथ वहाँपर आये ।

अर्थ— उस समय हर्षसे प्रफुल्लित देवगणोंने अधिकार नाश करनेवाले और अपूर्व प्रकाशको प्रकट करनेवाले ऐसे स्वर्गके रत्नमयी दीपक स्थान स्थान पर रखे । अगणित दीपकोसे दीपावली (दिवाली) को प्रकट किया । उसी दिवस से यह उत्सव दीपावलि के नामसे दिवाली आजतक प्रचलित है ।

अर्थ— देवगणोंने त्रिलोकपृथ्वी वीर प्रभुके उस परम औदारिक दिव्य देहको एक सुंदर पालकीमें विराजमान कर महान् उत्सव प्रकट किया ।

अर्थ— पावापुरके उस तलावके मध्यभागमें ही अग्निक्वमारके देवोंके मुकुटोंसे प्रज्वलित अग्निके द्वारा अत्यंत सुगंधित केशर, अगार, चन्दन, कपूर आदि स्वर्गकी पवित्रतम दिव्य वस्तुओंसे वीरप्रभुके परम पुनीत उस दिव्य देहको देवेंद्रोंने पर्यायांतर किया ।

अर्थ— सौधर्म इन्द्र आदि मुख्य देवेंद्रोंने भगवानके उस (पर्यायांतर अवस्थाको प्राप्त हुए) शरीरको मोक्षकी प्राप्तिके लिये महान् मन्त्रोंके द्वारा पूजा की (मृतपिंडकी पूजा की) ।

मोक्षाभिप्रेहि कल्याणे मोदकेत मता बुधा । गणाधीश्विनेन्द्र्य इथा मोक्षप्रदायिका ॥ २१६ ॥

मपेठुः शातिस्र्वाठं सर्वशातिप्रदायकम् । सर्वेन्द्राश्चातिहर्षेण महदानंदसमृताः ॥ २१७ ॥

तद्भ्रम सुजयोः भाले नेत्रेच हृदये सुराः । तथा सर्वशरीरेषु विभो कायसमुद्भवम् ॥ २१८ ॥

सपृत्वा चेति दधुस्तेऽयमस्तु हि नो शुभा । शिवदा स्वामिनो नून मतिनस्त्यत्र संशयः ॥ २१९ ॥

आनदनाटकं चक्रे सौधमंद्रो हि हर्षत । अग्रे निर्वाणसद्भ्रमेऽसह शच्या तथा सुरैः ॥ २२० ॥

अर्थ—मोक्ष कल्याणक की कल्याणक पूजा गणधर देवोंने मोक्षको प्रदान करनेवाली वतलाई है इस लिये प्रत्येक भव्यजीवको अतिहर्षभावसे करना चाहिये ।

देवगणोंने अति हर्षभावसे मन्त्रपूर्वक विधिक्रमसे निर्वाण कल्याणक पूजाको कर अंतमें शांतिपाठ जगतकी शांतिके लिये किया ।

अर्थ—भगवानके शरीरकी भस्मको देवगणोंने अतिशय पूज्य भावसे उन भस्मको अतिशय पूज्य ममहकर सुखकी प्राप्तिके लिये अपने श्रुजोपर हृदयमें भाल नेत्र और समस्त शरीर में लगाई और अपनेको पवित्र माना ।

अर्थ—देवगणों ने उस पवित्रतम और मोक्षको प्रदान करनेवाली भगवानके शरीरकी भस्मको उत्तम और शुभ-वस्तु को अत्यन्त संरक्षणीय समझकर अपनी अपनी रत्नोंकी पिटाखियोंमें बड़े बलसे गोप्य कर रखी । और उससे देवोंने अपनेको मोक्षगति प्राप्त होगी ऐसा निश्चय किया ।

अर्थ— सौधर्म इन्द्रने उस समय निर्वाण भूमिपर अपनी इन्द्राणी और देवगणोंके साथ आनंद नाटक अत्यन्त हर्षसे किया ।

आतोधानां तदा शुत्वा ध्वनि कर्णसुखगदम् । श्रेणिकाषाश्च भ्रज्यौवाः प्रचेत्सु सह भीरुभि ॥ २२१ ॥

इत्याद्रव्येण सयुक्ता मोदगारमिडिता । एव सर्वे च संगणु या देवैश्वराश्च ये ॥ २२२ ॥

तमुत्सव च संदद्या चिता ते मुमिपादयः । मुदमापुश्च संचक्रु प्रणतिमचला च ताम् ॥ २२३ ॥

सुनासीरकृतानंदनाटकं नंददायकम् । विमो मुमे पुम्स्त च ददृशुन्ते नरोचमा ॥ २२४ ॥

परिपूर्णं विधायाश्च धुनृत्य नृत्यागमार्यवित् । मधया सह देवौथिः सर्वेषा वक्रनंददम् ॥ २२५ ॥

सुनासीरस्तश्चाद् शृणु श्रेणिक मूषने । पष्टिसहनप्रश्नानां कर्तारं मगषाभिव ॥ २२६ ॥

अद्य प्रमृतितो जाता वृषभाद्या जिनैश्वरा । तेषा निर्वाणसयुजा अस्माभी रचिता वरा ॥ २२७ ॥

अर्थः— वीर प्रभुके निर्वाण हर्षमें देवोंने दुंदुभि व्रजे त्रिलोकको शुद्धायमान ऋनेवाले बजाये । जिनकी ध्वनिको श्रवण कर श्रेणिक प्रमुख राजाओंने वीर भमवानका निर्वाण महोत्सव जान लिया । और उस महोत्सवकी पूजा करनेके लिये सपरिवार सेना और समस्त प्रजासहित सुदूर सुदूर पूजाकी द्रव्यको साथ लेकर पात्रापूर्कं तलावपर वीरप्रभुको निर्वाणभूमिपर भाये ।

प्रभुके शरीरकी चिताको देखकर अतिशय हर्षको प्राप्त हुए । और भक्तिभावसे मोक्षकी प्राप्ति के लिये उस चिताकी पूजा की । नमस्कार किया और देवोंके उस निर्वाण महोत्सवको देखकर हर्षित हुए ।

देवेंद्रोंके उस आनंद नाटकको समस्त राजाओंने देखा और वीरप्रभुकी महिमाको अपूर्व समझ हर्ष प्रकट किया ।

अर्थ—नृत्यकलामें प्रवीण ऐसे इन्द्रने नृत्यकी विधिको समाप्त किया ।

अर्थ—आनंद नाटकको समाप्त कर इन्द्रने श्रेणिक महाराज आदि प्रमुख राजगणोंसे कहा । श्री बुधमादि पार्श्वनाथ पर्यंत तेजीस तीर्थंकर प्रभुकी निर्वाण पूजा (निर्वाण कल्याणक) विशुद्ध भावोंसे उत्सव की । और आज

अथैव वीरनाथस्य गतिर्निर्वाणकाऽभवत् । अस्मैव चित्तार्थेन मोक्षसौख्याप्तये नृप ॥ २२८ ॥
 प्रत्यब्दं मोदकेनैव दीपत्रातैर्धृतोद्भवैः । राष्यते वीरनाथस्य इज्या कार्या सुभाबतः ॥ २२९ ॥
 इत्युक्त्वा तं च नाकेन्द्रः सहलैले सुरास्पदं । जगाम वीरनाथस्य धितयन् सदुणोक्तान् ॥ २३० ॥
 सह मण्यैस्तदा शूपो मोदकेन शुभेनच । कृत्वेष्यां सिद्धश्रेयैश्च आयातवान् स्वमास्पदम् ॥ २३१ ॥
 तदा प्रमृत्तितो भव्याः आर्यैर्वै च सद्विधिः । अयं बिख्याततां जासः सर्वकार्यकरावहः ॥ २३२ ॥

ही श्री वीर भगवानकी निर्वाण पूजा की है । इस महान महोत्सवके स्मरणार्थे प्रत्येक वर्ष (रात्रिके अंतप्रहर) इसी समय में घृतोंके उत्तमोत्तम दीपसमूह को प्रज्वालित कर और महा सुंदर-दिव्य रससे परिपूर्ण इन्द्रियोंको तृप्त करने-वाले ऐसे लाइसे निर्वाण पूजा करनी चाहिये ।

इस प्रकार कहकर वीर प्रभुके गुणोंको स्मरण करता हुआ इंद्र अपने स्थानपर गया ।

अर्थ—इन्द्रकी आज्ञा से श्रेणिक महाराजने अनेक भव्य राजगणोंके साथ सुंदर लाइसे श्रीवीर भगवानकी निर्वाण पूजा की तथा उस सिद्ध भूमिकी (पावापुरके तलावमध्य जहाँ से श्री वीर प्रभु मोक्ष धामको पधारे) पूजा मुख्यता से की । इस प्रकार समस्त प्रजाके समक्ष निर्वाण पूजा व सिद्धश्रेणि पूजाको यथाविधिसे परिपूर्ण कर श्रेणिक महाराज वीर प्रभुके गुणोंका स्मरण करते हुए अपने स्थानको गये ।

अर्थ—श्रीवीर भगवानकी निर्वाण पूजा भारतवर्षमें सर्वत्र उत्तमोत्तम लाइ और घृतोंकी सुंदर दीपावलीसे भव्यजीव तब से आजपर्यंत करते आ रहे हैं । कर रहे हैं । और जवतक जिन शासन है तबतक करते रहेंगे ।

दिवालीके दिवस लाइ चढानेकी विधिकी प्रवृत्ति उसी समयसे हुई है ।

कृत्वा सुखिनां तत्र कासारे जलसमृते । तदालयस्य स मूपं प्रतिष्ठां तस्य स्थापना ॥ २३३ ॥
 अंतकाले च त्यक्त्वा हि रौद्रध्यानस्य भावत । प्रस्तरे प्रथमस्यैव श्वस्रस्य गतिवधभाक् ॥ २३४ ॥
 प्राणान् जगाम दुःखाद्धे तत्र सुक्त्वाच आयुषम् । मित्राष्टसहोदरंत पश्चाद्विर्गत्य तत्रत ॥ २३५ ॥
 अत्रैव कोशले देशे अयोध्याया भविष्यति । महापद्मालयसयुक्तं आयुस्तीर्थकराग्रणी ॥ २३६ ॥
 क मूप नारकी चैष क पुनः तीर्थनायक । अहो भव्याश्च पश्यन्त्वं चरित्वं कर्मणोद्भुतम् ॥ २३७ ॥
 के के न कर्मणा प्राप्ता दुःखवन्दं बुधोत्तमा । देवमानवसंसेव्या भगताया नरोत्तमा ॥ २३८ ॥

अर्थ—श्रेणिक महाराजने (जलसे परिपूर्ण) उस पावापुरके तलावके मध्यभागमें (जहाँसे श्रीवीर प्रभु निर्वाण पदको प्राप्त हुए थे) श्रीवीर प्रभुका जिनालय बनवाया और उसकी प्रतिष्ठा अतिशय धूमधामसे की। उस जिनालयमें श्रीवीर प्रभुके स्मरणार्थ वीरप्रभुकी चरण पादुका स्थापित की।

अर्थ—श्रीवीर प्रभुसे साठ हजार प्रद्वौको करनेगले शुद्र सम्प्रदष्टि भव्य श्रेणिक महाराजने रौद्रधरिणामोसे नरक आयुका वध किया था और इसीलिये अंतसमयमें संह्रेश परिणामोसे प्राणोका परित्याग कर श्रेणिक, महाराजका जीव प्रथम नरकके प्रथम पाथडेमें चौरासी हजार वर्ष की आयु पाकर उत्पन्न हुआ। वहाँ से निकलकर कोशल देश अयोध्या नगरमें महापद्मनामके प्रथम तीर्थकरका महान पद प्राप्त करेगा।

अर्थ—कहाँ तो महा मंडलीक राज्यपद और कहांपर नारकी अवस्था तथा कहांपर फिर तीन जगतसे पूज्य तीर्थकर पद। ये सर्व बातें एकसे एक आश्चर्य करनेगली हैं। हे भव्य जीवो! परंतु इसमें कुछ भी आश्चर्य मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि ये सब कर्मके चरित्र हैं। कर्म इससे भी अधिक आश्चर्यकारी घटनाको कराता है। संसारमें कर्मोंसे कौन कौन जीवोको दुःख प्राप्त नहीं हुए। अरे भारत महाराज सरीखे चक्रवर्ती पुण्य पुरुष भी

मन्त्रेभ्यः सकला भव्याः कर्मांशानि विहा नये । एकं श्रीतस्त्रिजनेन्द्रोक्तं कुर्वीध्वं धर्ममुत्तमम् ॥ २३९ ॥

अथ श्री गिरनारि सिद्धेश्वर प्रकरणं ।

अथ श्रुणुथ भो भव्याः वृत्तात्मपरं शुभम् । संक्षेपत प्रवक्ष्येह जिनमार्गस्य सूत्रकम् ॥ २४० ॥
 श्रीनेमिनाथस्य सुशोभितेन । पादारविंदेन मनोहरेण । श्रद्धार्थतामिधमधरोहि । पवित्रताः भो गतनिजिराच्ये ॥ २४१ ॥
 यस्याद्गता मोक्षपुरे मुनीन्द्रा । द्विसप्ततिकोटिप्रगालध्यानात् । जायाशतं सार्धमहो सुराच्यर्वा । वंदाभ्यह तान् सकलाद् त्रिकाले ॥ २४२ ॥
 कर्मिके द्वारा दुःखको प्राप्त हुए तो अन्य साधारण जीवोंकी क्या बात ? इसलिए समस्त भव्य जीवोंको कर्मिके नाश करनेके लिये श्रीजिनेन्द्र भगवानके द्वारा प्रतिपादित दयामयी पवित्र एक जैनधर्मका पालन करना चाहिये ।

अर्थ—हे भव्यजीवो समस्त जीवोंके कल्याणके लिये अब एक दूसरा वृत्तांत संक्षेपसे कहते हैं । जिससे जैनमार्गकी महत्त्वता प्रकट होगी ।

त्रिलोक पूजित देवाधिदेव श्री नेमिनाथ भगवान के पवित्र चरण कमलों से पवित्र तीर्थ अवस्थाको प्राप्त हुआ ऐसा पवित्र नेमिनाथ भगवानकी निर्वाण भूमि श्रीगिरनार पर्वत सोरठ देशमें प्रसिद्ध है । जहाँसे बहत्तर कोटि मुनीश्वर मोक्ष धामको पधारे हैं । उस पर्वतराजको भै त्रिकाल भाव विशुद्धि से नमस्कार करता हू ।

अर्थः— गिरनार पर्वतकी गुफामें नग्न दिगंबर धरसेन नामके एक योगीश्वर ध्यान धारण कर रहते थे । श्रीधरसेन योगीश्वर देवगणोंसे साक्षात् पूजित थे । दया, तप, सयम आदि उत्तमोत्तम गुणोंसे विभूषित अगके कुछ अंश पर्यंत महान ज्ञानके धारक, तपसे तैजस, ऋद्धिको प्राप्त, ध्यान क्रियामें अतिशय निपुण, समस्त तत्त्वके

अंगाशायारी तपदीशिष्यारी ध्यानाधिकारी सकलार्थचारी । श्रीजैनधर्माधिपुसोमकारी पुनातु न स वसुभाबधारी ॥ २४४ ॥
 तेन मुनीन्द्रेण विचागितेयं अंगाश्च पूर्वा. बखिलाः गताश्च । स्वस्य हृदि ब्रह्मदिने शुभारुचे श्रीजिनमार्गस्य प्रवर्तनार्थम् ॥ २४५ ॥
 शाखाहते नैव नराखिलाश्च । धर्मस्य मार्गं श्रुतपाठनं च ॥ ज्ञास्यति नैवात्र श्रुतार्णवं च । अतो रचिष्यामि दलेषु मध्ये ॥ २४६ ॥
 जयादिशुभ्रं प्रथम चकार । ग्रंथं ब्रह्मणारसम्, मुनीन्द्र ॥ अनेकमेदार्थभृतं मनोज्ञं । श्रीवीरनाथस्य ध्वनेश्च तुल्यं ॥ २४७ ॥
 प्रमाणं, तस्य ज्ञानं सहस्रसप्ततिं खलु । बुधैर्नमान्धं तं च शिरसा समये त्रिके ॥ २४८ ॥
 विचित्रशब्दं गहनार्थयुक्तं महादि अति धवलंच ग्रंथम् । तत परं भो मतिराट् चकार बुद्ध्याबलेन द्वितीयं शुभंच ॥

प्रेता, श्रीजिनधर्म रूपी समुद्रको वढानेके लिये चद्र समान प्रभुताको धारण करनेवाले ऐसे श्रीधरसेन मुनीश्वर हमारी रक्षां करो ।

अर्थः— श्रीभगवान् श्रीधरसेनाचार्यने अंगको अपने हृदयमें धारण कर जैन मार्गकी प्रवृत्तिके लिये ग्रंथोंकी रचना की ।

श्रीधरसेनाचार्यने विचार किया कि अब आगे जीव मंदज्ञानी धारणा शक्ति विहीन होंगे । इसलिये वे धर्ममार्ग व श्रुतका पठन पाठन नहीं जान सकेंगे । इसलिये मैं श्रुतको पत्रोंपर लिखकर जगत्में प्रकाश करूँ ?

श्री धरसेनाचार्यने सबसे प्रथम समुद्रके समान गंभीर अनेक शब्दार्थों से मनोज्ञ जगतके हित कारक श्रीवीर भगवानकी ध्वनी समान परमपुज्य जयधवलदि ग्रंथ निर्माण किये ।

अर्थः— जयधवल ग्रंथकी श्लोक संख्या सत्तर हजार श्लोक प्रमाण है । उस ग्रंथराजको मैं फिर नयाकर त्रिकाल वंदना करता हूँ ।

अर्थः— विचित्र शब्दरचनासे गुफित और गंभीर अर्थका प्रतिपादक ऐसा महाशबल ग्रंथ बनाया जिसके

चत्वारिंशत्सहस्रस्य मानस्य वर्षेभूतम् । तस्मै ग्रंथाय शुद्धाय नमोस्तु समय प्रति ॥ २५० ॥
विजयादिभ्यो घवलंच ग्रंथं । गूढार्थयुक्तं तृतीयं वरंच । मतांतराः यच्छ्रवणात्म्याति विखंडिता ह्युत्तरवर्जिताश्च ॥
षष्टिसहस्रसंख्यालं भवतीवैश्व पुजितम् । साष्टांगेन सदा तत्र वदे कर्मरिनाशकम् ॥ २५२ ॥

एषा त्रयाणां रचना कृता वै ज्येष्ठस्य मासे शुभध्यानयोगात् । तेन मूर्तीन्द्रेण दलेयुग्मध्ये शुक्राभिधे पंचमीवासेच ॥
मुन्यार्थिकाश्रावकश्राविकौषेथु-प्रकारं महतै सुसंधे । इज्या कृता वै अभिषेकमुद्रया तेषां न गानैर्वादान्मानै ॥
सद्धर्मध्यानेन ब्रह्मन् प्रत्यक्त्वा वगादिसेनो यतिराट् गतश्च । स्वर्गोन्वमृत शर्मतति शुभाच्च किं किं न यात्येव शुभोदयाद्धि ॥
त्रयाणां धारकास्तस्य शिष्या बुद्धयन्त्रिपारगा । मृतबल्यादयो जाता योगीन्द्रा वसनोज्ज्वला ॥ २५६ ॥

श्लोकोंका प्रमाण चालीस हजार है ऐसे समय ग्रंथको मैं त्रिकाल नमस्कार करता हू ।

अर्थ — विजयधवल ग्रंथ अतिशय गूढार्थ बनाया जिसको श्रवण करतेही मतांतर खंडित हो जाते हैं और बड़े २ प्रवादि निरुत्तर होकर सत्य मार्गको ग्रहण करते हैं । यह ग्रंथ साठ हजार श्लोक प्रमाण बनाया । उस ग्रंथ राजको त्रिकाल मैं वदना करता हू ।

अर्थ:— उक्त तीन ग्रंथोंकी ज्येष्ठ सुदी १ को ताडपत्रपर लिपिरूप स्वामी श्री धरसेनाचार्यने रचना की ।
अर्थ — श्री धरसेनाचार्यकी चार प्रकारके संधने (मुनि आर्थिका श्रावक श्राविका) महान् उत्सव और भक्तिपूर्वक अभिषेकपूर्वक पूजा की ।

श्रीधरसेनाचार्य शुभ ध्यानसे प्राणोंका परित्यागकर स्वर्गमें उत्तम सुखोंको प्राप्त हुए । शुभ ध्यानसे क्या क्या नहीं होता है ।

अर्थ:— उक्त तीनों ग्रंथराजोंको धारण करनेवाले आपमके पारगामी श्रीभूतबली आदि अनेक दिग्ंबर योगीश्वर उत्पन्न हुए ।

ग्रंथप्रवर्तना कृत्वा गतास्तेषु दिव खलु । मुनीन्द्रा ध्यानयोगेन त्यक्त्वा नाणान् शिवासये ॥ २५७ ॥
 ह्यनुक्रमेण योगीन्द्रो नेमिचन्द्रो मुनीश्वर । आसीत् क्षितौ प्रविल्यातः तत्राग्र्यां च वाचनात् ॥ २५८ ॥
 तदनुसारतस्तेन ग्रथाना स्वस्य बुद्धित । कृता च रचना लोके ग्रंथवर्द्धनहेतवे ॥ २५९ ॥
 संस्कृतापि कृता ग्रथा प्राकृतापि कृता पुन । तेन धर्मप्रकाशार्थं चात्मकल्याणसिद्धये ॥ २६० ॥
 त्रयाणा रचना तेन महाधवलग्रंथत । ग्रंथानाच कृता नूनं सर्वार्थस्य प्रकाशिका ॥ २६१ ॥

अर्थ—श्रीमान् भूतबली आदि आचार्यगण भी उन ग्रंथोंकी प्रवृत्ति संभस्त ससार में कराकर शुभध्यानसे उत्तम सुखको प्राप्त हुए ।

अर्थ—आचार्य भूतबलि आदि महर्षियोंके बाद अनुक्रमसे श्रीनिखिल परमागमके वेत्ता श्रीदिगंबर योगीश्वर छरि श्रीनेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती उत्पन्न हुए । जिनने उक्त तीनों ग्रंथोंको पढ़कर अपनी प्रसिद्धि सर्वत्र अखण्ड रूपसे व्याप्त कर दी थी ।

श्री आचार्य नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्तीने उन ग्रंथोंको [जय धवल महा धवलादि] पारगत कर उन ग्रंथोंके अनुसार प्राकृत संस्कृत के बहुतसे ग्रंथ बनाये । प्राकृतके ग्रंथ गोमटमार आदि प्रसिद्ध हैं । कितने ही ग्रंथ संस्कृत भाषामें भी बनाये । जिससे नैनधर्मकी महिमा बढे और अपनी आत्माका कल्याण हो ।

महाधवल ग्रंथसे उनने तीन ग्रंथोंकी संस्कृत भाषामें रचना की । उसमें अनागत प्रकाश नामका ग्रंथ निर्माण किया, जो समस्त मत मतान्तरोका खडन करनेमें एक अद्वितीय श्रेणिकी (छटा) धारण करता है और जिसमें समस्त क्रियाओंका स्वरूप वर्णन किया है ।

अनागतप्रकाशाख्यमाद्यमानन्ददं लघु । सर्वक्रियादिकथक मतातरविघातकम् ॥ २६२ ॥

द्वितीय मोक्षद तत्वप्रकाशाख्यमघापहम् । ग्रथ सकलत्वाना प्रकाशकरणे रविम् ॥ २६३ ॥

मुनीना वा गृहस्थाना सट्टमोत्पादक शुभम् । धर्मप्रकाशसंज्ञ च नाकशिवप्रदायकम् ॥ २६४ ॥

इमे च निर्मिताः शुद्धाः त्रयो त्रयाश्च तेन वै । समृताश्च विप्रैकैश्चै कलाभि शिवदायका ॥ २६५ ॥

अनागतप्रकाशग्रन्थानुसाराच्च प्रनिर्मित । सूर्यप्रकाशसत्त्वाम् अथ मयो बुधोचमा ॥ २६६ ॥

दूसरा ग्रथ तत्प्रकाश नामका वनागा जो समस्त तत्त्वोओ प्रकाश करनेके लिए कुर्य समान है । और ममस्त पापोका नाश करनेवाला है ।

तीसरा ग्रंथ धर्मप्रकाश वनाया जिसमें मुनि और गृहस्थोके धर्मका पूर्ण रूपसे वर्णन है । जिसको पढनेसे स्वर्ग और मोक्षके सुख प्राप्त होते हैं । आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्तीने उक्त ग्रंथोकी रचना की जिनमें विविध प्रकारकी कलाएं गुफित की ।

इस ग्रंथका अवतरण

अर्थ—श्री आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्तीके बनाए हुए अनागत प्रकाश नामक ग्रंथके आधार से यह सूर्यप्रकाश नामका ग्रंथ मैंने हे विद्वानो बनाया है ।

१—सूर्यप्रकाश यह स्वतंत्र ग्रंथ है । परन्तु इसकी रचना आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्तीके बनाए हुए अनागत प्रकाश नामके ग्रंथसे की है ।

अनेकनयसयुक्तो मिथ्याधरविस्मृश । सज्जनैर्भयभावान्छ्वै सदा मान्यो न दुर्जनैः ॥ २६७ ॥
 अस्य श्रवणमात्रेण कुण्ठपोषका नरा । सूकवत् येन स्थास्यति यथा नागाश्च कीलिता ॥ २६८ ॥
 सार्थनामयुतं चेदं सकलार्थप्रकाशकम् । सुमत्या दायकं भव्या पठन्व शिवसिद्धये ॥ २६९ ॥
 अस्मिन् अथे वृता केचित् संबंधाश्चान्यग्रथत । केचिद्धि मूलग्रथाच्च जैनमार्गप्रकाशका ॥ २७० ॥
 श्रथोऽय सज्जनाना न महद्वर्षप्रवर्द्धक । दुर्जनाना पुनश्चाय महत्कोषस्य वर्द्धक ॥ २७१ ॥

यह सूर्यप्रकाश अनेक नय सहित मिथ्याधकारकी नाश करनेके लिये हर्षके समान है और भव्यभावसे सज्जन पुरुष इसको सर्वोत्कृष्ट समझते हैं । और सदैव मान्य करते हैं । परंतु दुर्जन पुरुष इसको श्रवणकर मनोनीत भावना करेंगे ।

अर्थ—इस ग्रथके श्रवण मात्रसे कुमारगंको पुष्ट करनेवाले मनुष्य ब्रह्मके समान स्थगित रह जायेंगे । जैसे मर्ष मंत्र से कीलित होकर स्थगित हो जाते हैं ।

अर्थ:—यह सूर्यप्रकाश ग्रंथका नाम मार्थक है । समस्त अर्थको प्रकाश करनेवाला और सुमतिकता प्रदान करनेवाला यह ग्रंथ है । इसलिये इसका पठन पाठन मोक्षकी सिद्धिके लिये करना चाहिये ।

अर्थ:—इस ग्रथ में कितने ही संबध अन्य ग्रथो से लेकर किये हैं । कितने ही मूलग्रथ का प्रबंध जैसा का तैसा रखदिया है ।

अर्थ—यह सूर्यप्रकाश नामक ग्रथ सज्जनोको महान हर्षको बढानेवाला है और दुर्जन पुरुषोको क्रोधको उत्पन्न करनेवाला है ।

सज्जना दुर्जनो लोकं हिताहितकरा घना । संति ह्यनादित अस्मिन् गोपत्रागसमा बुधाः ॥ २७२ ॥

तत्क्षणे सज्जना नैव परकाव्य गुणोज्वलम् । दृपयत्येव त दृष्ट्वा मुदमेव प्रयात्यहो ॥ २७३ ॥

चरत्यहो वृणानेव यथा गौ पयसततिम् । ददात्येव न रक्तं च कदापि तद्वि द्वेषत ॥ २७४ ॥

तथा हि सज्जाना च सदा प्रकृति निर्मला । स्वयमेव मनोमोददायका द्वेषवर्जिता ॥ २७५ ॥

दृढमानोपि भो भव्या पावकैर्नैव चदन । तथापि नैव दुर्गथ ददात्यहो न सशय ॥ २७६ ॥

तथाहि सज्जनो नैव पीड्यमानोपि दुर्जने । मुंचति सज्जनस्य च शत्रुमित्रसमानधी ॥ २७७ ॥

अर्थः— सज्जन और दुर्जन पुरुष गाय और सर्पके समान हिताहित करनेवाले अनादिसे ही है ।

अर्थः— सज्जनोका यह स्वभाव ही है कि दृसरोके निर्माण किये हुए काव्यको गुणसपन्न देखकर प्रमत्त होते हैं ।

अर्थः— जिस प्रकार गाय वृणोको भक्षण कर दूध देती है परतु कभी भी द्वेषसे रक्त नहीं देती है । ऐसे ही सज्जन पुरुष/सदेव गुणग्राही ही रहते हैं ।

अर्थः— सज्जन पुरुषोका ऐसा ही स्वभाव होता है कि वे ममको आनंद ही प्रदान करते हैं परतु किसीसे भी द्वेष नहीं करते हैं ।

अर्थः— चंदन जिस प्रकार जलानेपर भी अपनी सुगंधीको नहीं छोडता है और कभी किसी अवस्थामें दुर्गथ नहीं देता है । यह उसका स्वभाव है । इसी प्रकार सज्जनोका भी ऐसा ही स्वभाव होता है कि वे गुणोको ग्रहण करते हैं ।

अर्थः—चंदनके समान सज्जनोका भी यही स्वभाव है कि दुर्जनोके त्रासको सहन कर भी सज्जन पुरुष

शर्करामिश्रितं दुग्ध पिबत्येव सुजाभा । तथापि गरुडं येहि मुचंयंवामृतं न च ॥ २७८ ॥
 तथाहि दुर्जनानां च स्वभावोय न सशय । दोषाणां ग्रहणे दक्षा गुणग्रहणविच्युता ॥ २७९ ॥
 दर्शने परदोषस्य खलाश्रयात्वेवचातुरा । स्वदोषदर्शने ते हि जन्माधसदृशाः खलु ॥ २८० ॥
 रच्यते नैव दुष्टानां परोदय कदाप्यहो । स्वेस्तेजो यथा लोके दिवाधाना तथैव हि ॥ २८१ ॥
 परोदय च दृष्टा हि वृथा कोप भंज्यहो । ये ते च दुर्जना नूनं धिक् वृथा कोपकारिण ॥ २८२ ॥
 परकीय महाकाव्यं निदयत्येव दुर्जना । मनोहरहि तेषां च स्वभावोयं सनातन ॥ २८३ ॥

अपनी सुजनताका परित्याग नहीं करते हैं और शत्रु मित्रपर एक समान हित रखते हैं ।

अर्थ—मिश्री मिश्रित दूध सांपको पिलानेपर भी सांप विय ही उत्पन्न करता है अमृत नहीं । वैसे ही दुर्जनोंका यह स्वभाव ही है कि वे दोषोंको ग्रहण करते हैं और गुणोंका परित्याग करते हैं ।—

अर्थ—दुर्जन पुरुष दूसरोंके दोष देखनेमें ही अतिशय निपुण होते हैं । परंतु कभी भी अपने दोषोंको जन्मांश पुरुषके समान चक्षु रहने पर भी नहीं देखते हैं ।

अर्थ—दुष्ट पुरुषोंको दूसरोंका अभ्युदय (उन्नति) रुचकर नहीं होता है । जैसे सूर्यका प्रकाश उल्लू नामके जीवको नहीं रुचता है । दुष्ट पुरुष दूसरोंके उदयको देखकर वृथा ही क्रोध करते हैं इस प्रकार विनाकारण क्रोध करनेमाले दुर्जनोंको धिक्कार है ।

अर्थ—दुर्जन पुरुष दूसरोंके बनाये हुए काव्य की निंदा करते हैं यह उनका सनातन स्वभाव ही है ।

सज्जनाना गुणानाच गृह्यार्थं निर्मिता इमे । सज्जना भत्र लोके वा स्वयंसुवा बुधोत्तमा ॥ २८४ ॥
गृह्यार्थं दोष वस्तुना इमेच निर्मिता खलाः । ब्रम्हणा चात्र सदेहो नो खलु सज्जनोत्तमा ॥ २८५ ॥
सुज्ञानधारका लोके कुज्ञानधारका खलु । माहेपीसदृशा येहि ज्ञेयाः पद्मगासदृशा ॥ २८६ ॥
वचनाडबैर किं स्थात् सज्जना गुणयोपका । भो बुधा दुर्जना नूनं दोषपोषणसरता ॥ २८७ ॥
मे काट्योपरि कोपव मा कुरुध्व वृथाच भो । कोपोहि मर्वपापस्य वर्द्धको नात्र संशय ॥ २८८ ॥
हृदिहि भवता चैव रुच्यते भो नरोत्तरा । अथोय भजथ नून माध्यस्थं पापनाशकम् ॥ २८९ ॥

अर्थ— सज्जन पुरुषोंका निर्माण गुणोंको ग्रहण करनेके लिये ही हुआ है । परंतु दुर्जन पुरुषोंका निर्माण दुर्गुणों (दोषों) को ग्रहण करनेके लिये हुआ है । इसमें हर्य विपाद नही करना चाहिये । जिसका जैसा स्वभाव होता है वह वैसा ही करता है ।

अर्थ— इस विशाल संसार में सुज्ञान और कुज्ञान के धारक अनेक मनुष्य हैं । कितने गायके समान सुजन हैं और कितने ही सांपके समान दुर्जन हैं । इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ है । परन्तु समका साराश मात्र यही है कि सुजन गुणोंका पोषण करते हैं और दुर्जन दोषोंको पुष्ट करते हैं ।

अर्थ— मेरे इस काव्य के लिये वृथाही क्रोध किसीको नहीं करना चाहिये क्योंकि क्रोध ममस्त पापोंका मूल कारण है ।

अर्थ— हे सज्जनो ! जो आपको यह मेरा वचनाया हुआ स्वर्गप्रकाश नामका ग्रंथ रुचिकर न हो तो आप मध्यस्थ भावको धारण करें ।

आत्मनिर्दां च कुर्वति परेषा सज्जनाश्च न । परकाव्यं च ते दृष्ट्वा हर्षोत्सासं भजत्यहो ॥ २९० ॥
 वातातंक्रमयुक्तश्च यद्वत् कश्चित् भुवति ना । वचसा सतति नूनं शब्दाशब्दविवर्जिताम् ॥ २९१ ॥
 तद्वत् उक्ता मया ह्यस्मिन् ग्रंथेन वचनावलि । यां दृष्ट्वा सज्जनास्ता च मा भजन्व क्षमाणहम् ॥ २९२ ॥
 अभिमानेन अस्थैव नो कृता रचना बुधाः । मया केवलवर्मस्योद्योतानार्थे शिवप्रदा ॥ २९३ ॥
 आलम्ब्ययोगाद् बुधसत्तमा हि । अस्मिन् वृत्तादित्यप्रकाशग्रंथे ॥
 शब्दा अशुद्धा यदि चेन्मया वै । क्षमध्वमेवाखिलसज्जनाचार्याः ॥ २९४ ॥
 मा शत्रु जानसंपन्ना वालकोपरि मे खलु । रोपत्व सज्जनास्तेहि हीनशब्दार्थदर्शनात् ॥ २९५ ॥

अर्थः—सज्जन पुरुष दूसरोकी निंदा नहीं करते हैं । और दूसरोके काव्यको देखकर वे अतिशय हर्षित होते हैं ।

अर्थ—जिस प्रकार वात रोगी यद्वा तद्वा वक्त्राद् करता है कुछ भी शब्दाशब्दका बोलने न बोलनेका विचार नहीं करता है । ऐसे ही यह मेरी वचनावलि इस ग्रंथमें गुफित की है । सज्जन पुरुष इससे दुर्भावको धारण नहीं करेंगे ।

अर्थः—मैंने यह ग्रंथ अभिमान या किसी अन्य स्वार्थकी सिद्धिके उद्देश्यसे नहीं बनाया है । केवल धर्मका उद्योत ही एक इसी सद्माननासे प्रेरित ही यह ग्रंथ निर्माण किया है ।

अर्थः—इस स्वर्णप्रकाश ग्रंथमें प्रमादसे कोई अशुद्ध शब्द रखे हो । उस पर सज्जन पुरुष क्षमा भाव धारण करें । ज्ञानसे विश्रुति सज्जन पुरुष मुझे बालक समझकर क्रोधभावका प्रकाश नहीं करें ।

वीरः शर्मप्रदायको मुनिन्दुतो वीर श्रिता ज्ञानिनो— । वीरैर्गणैर्ब, समाप्यते शिवपदो वीराय मूर्ध्ना नमः ॥२९६॥
 वीरात्रास्त्यस्यरोहि देव भवने वीरस्य शुद्धा गुणा । वीरे चित्तमह दधे ह्यनुदिन हे वीर मेघं नहि ॥ २९७ ॥
 देवेश पूज्यपाद हतसकलमलश्चिन्मय शातरूपः । वीरेश स्वात्मसस्यो गणधरमहिती लोकभाग्याप्रसस्य ॥
 पापाना वारनाशो ऋतुलपविसम काममातगमिहः । ह्यस्तु मेसौ जिनेन्द्रो विमलमतिप्रदो भगलाय शिवाते ॥२९८॥
 शेषास्ते जिननायका शिवप्रदाः ससारविच्छेदका । देवेन्द्रै लवकेशैर्मुनिवैरै संस्था सदा शप्रदा ॥

पापातकविधातका सुविमला नानागुणै समृता । कुर्वतु मम मंगल शिवपद वधा मया संस्तुता ॥ २९९ ॥

सिद्धा कर्माष्टहीना गणधरमहिता लोकभाग्याप्रसंस्था । वधा नेमीन्दुनाम्ना शिवपटजनका सर्वपापाशिमेषा ॥

अर्थ—वीर भगवान् ही सर्व सुखोको प्रदान करनेवाले हैं । श्री वीर प्रभुका ही शरण मज्जन पुरूप स्वीकार करते हैं । श्री वीर भगवान् के प्रसादसे मोक्षकी प्राप्ति होती है । इसलिये श्री वीर प्रभुको मस्तक नमाकर नमस्कार है । श्री वीर भगवान् के सिवाय अन्य कोई इस जगत्में देव नहीं है । वीर भगवान् के शुद्ध गुण है । मैं वीर भगवान् में अपने चित्तको लगाता हूं । हे वीर प्रभो मेरे पापोंको दूर करो ।

अर्थ—देवाधिदेव पूज्यपाठ समस्त कर्ममल कलकको नाश करनेवाले चिन्मय परमशत अपने स्वरूपमें स्थिरीभूत गणधर देवोंसे पूजित लोकके अग्रभागमें विराजमान पापोंके नाशक काम रूपी हाथी का नाश करनेकेलिये सिंह समान और विमल ज्ञानके प्रदान करनेवाले ऐसे अरहंत श्रीवीर परमात्मा हमें मंगल प्रदान करें ।

अर्थ—मोक्षको प्रदान करनेवाले ससारका नाश करनेवाले देवेन्द्र विधावर और मुनीश्वरोसे सदैव पूज्य, पापोंका नाश करनेवाले अनंत गुणोंको प्रदान करनेवाले ऐसे चतुर्विंशति ब्रह्मभादि देव हमें मंगल प्रदान करो ।

अर्थ—आठ कर्मासे सर्वथा रहित गणधर देवोंसे पूज्य लोकके अग्रभागमें विराजमान मोक्षपदको प्रदान

निकाया निर्विकल्पा गुणगणनिलया सर्वकालेषु सस्था- । ते मे कुर्वतु नित्य सकलसुखकर मंगल पावनं च ॥ ३०० ॥
 आचार्या धर्मतीर्था मुनिवरनिवहं पूजिता सत्पदाब्जा । रामशत्रुगुणाना सुधरणकुशला सर्वपागारिहीना ॥
 धीरा वै वीरसेव्या सुरअसुरनुता पूर्णजानाञ्जिवद्धा । नो वो यच्छत्रु शुद्ध शिवशजनक मगल सत्पाब्जा ॥ ३०१ ॥
 वदेहं पाठकाना पदद्वयमनिश पावनाना त्रिशुद्ध्या । येषा शक्त्यस्ति नित्य अवागमपठने पाठने लेखपूज्यम् ॥
 शिष्याना तेच दद्यु परममतिशुभा पात्रसतापहारा । ते शुद्धं नगलौव कविमतिजनका शुद्धभागाय शुद्धा ॥ ३०२ ॥
 पक्षे वा मासमध्ये मुनिवसकरणे द्विचतैरनरुपशक्ति । मूले वृक्षाय चापि गिरिद्विगिरि तथा वा तटे चैव नया ॥
 करनेवाले समस्त पापोंको नाश करनेवाले शरीर रहित समस्त प्रकारके सकल्प विकल्पोंसे रहित गुणोंके स्थानभूत सब
 शालमें अनादिनिवन रूपसे विराजमान और नेमिचन्द्र (ग्रंथकर्ताका नाम) आचार्य से वंदनीक ऐसे मित्र परमात्मा
 परम पवित्र मगल प्रदान करो ।

अर्थ:— धर्मतीर्थके नायक मुनिगरोसे पूज्यपाद छत्तीस गुणोंसे विराजमान समस्त पचाचारके धारण करनेमें
 कुशल समस्त पापोंके नाशक सुधीर वीर पूर्ण ज्ञानके समुद्र ऐसे आचार्य परमेष्ठी हमे मोक्ष पथमें जानेके योग्य मगल
 प्रदान करो ।

अर्थ — जिनमें समस्त द्वादशगणके पठन पाठनकी अपूर्व शक्ति विद्यमान है देवोंसे पूजित समस्त संता-
 पका नाश करनेवाले और परमबुद्धिके प्रदान करनेवाले (पाठक) उपाध्याय परमेष्ठी मगल प्रदान करो । मैं सतत वदना
 करता हूँ ।

अर्थ — पन्द्रह दिवस-अथवा एक मास पर्यंत प्रोषध (उपवास) धारण करनेकी जितने अपूर्व शक्ति होती
 है । जो वृक्षके मूल या पर्वतके शिखर अथवा नदीके किनारेपरं योगासन लगाकर अपने आत्मध्यानमें लवलीन होते हैं

साधुना सर्वकाले पदयुगलमहं वा त्रिशुद्धया च येषां । ते मे हि साधुवर्गा परमसुखपदा मंगलाय भवन्तु ॥३०३॥

एतथा परमेष्ठिना गात्रस्थपापोत्करा । नानादुःखप्रदायका ह्यतिदृष्टाश्चैव प्रयात्येव वै ॥

नाशत्वं अमलासये शुभहृद्द सस्मरणत तत्क्षणे । कुर्वीचं शिवशर्मदं हृदि सदा स्मरण ह्यत पापहम् ॥ ३०४ ॥

आधिव्याधिहरा शुशर्मजनका पापाग्निनाशकरा । वद्या, पूज्या, सुरैर्द्रे सकलगुणधरा पापसतापहीना ॥

चेमे वद्या, ययावै भवभयहतकाः ते दिशंतु च नो व । शर्म मोक्षस्य नून गुणनिवहृकरा, तारकाहि भवाब्धे ॥ ३०५ ॥

त वदे सर्वकाले परमसुखपद श्रीजिनैर्द्रे प्रणीतम् । भव्याना तारणेशं सकलसुगणैः सेव्यमान सदास्थम् ॥

ऐसे साधु परमेष्ठी के चरण कमलको त्रिशुद्धिस नमस्कार करता हूं । वे साधु परमेष्ठी परम सुखको प्रदान करने वाला मंगल प्रदान करो ।

अर्थ-- ये उपर्युक्त अरुहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और सर्व साधु पंच परमेष्ठी भव्यजीवोंके समस्त प्रकारके पापोंका नाश करनेवाले हैं । और जिनके स्मरण से अमल गुणोंकी प्राप्ति होती है । वे पंचपरमेष्ठी हमे मंगल प्रदान करो । और हमारे पापोंका नाश करो ।

अर्थ--समस्त प्रकारकी आधिव्याधियोंको दूर करनेवाले पापोंके सतापको हरनेवाले देवेंद्रोंसे पूज्य समस्त गुणोंको धारण करनेवाले ससारके समस्त दुःखोंका नाश करनेवाले संसार समुद्रसे तारनेवाले ऐसे पंचपरमेष्ठी मोक्षसुख प्रदान करो ।

अर्थ-- परम सुखको प्रदान करनेवाली भव्य जीवोंको संसारसमुद्रसे पार करनेवाली समस्त देवगणोंसे पूज्य

निर्दीप्यं सप्तपुत्र्यं विषयनगर्वि धीरवीरगणेन्द्रैः । मेघाद्यस्यैव शब्दा अमलगुण (युता) याति मोक्षे सदा हि ॥३०६॥
 यो धर्मोऽधर्मइत्ता जिनवगणद्वौ बंदनीयो मुनीन्द्रैः । यावन्मुक्तयानायाः परमत्पवशाक्षिन् प्राप्तिर्भिन्नेभ्ये ॥
 तावन्मे शुद्धचित्ते दुरितनगपवि तिष्ठतु सर्वबुद्धय । दुःपाप्यो दुर्जनानामप्रमत्तिप्रदः सो हि ससारंहता ॥ ३०७ ॥
 वदे त धर्मनाथ नरसुरखचरैः मेघ्यनान गणेशं । शान्ताया व्रतारूप मकरमुनिगणे महिशाया च सस्यम् ॥
 श्रीमत मुक्तिफातं मकलभयहरं वदनात्सेवकाना । भक्त्या भीमघराहं हरतु मम हृद सो जिन पापशत्रुम् ॥३०८॥
 नरसुरवनिर्वध पापदावानिमेषथ— । ममगुणनिगानं सर्वतत्त्वार्थवारं ॥

समस्त दोषोंमें विमुक्त, कुमार्गका नाश करनेवाली, पूर्वापर विरोध रहित, निर्मल गुणोंसे पूर्ण ऐसी श्री जिनेन्द्र भगवानके मुखकमलसे विनिर्गत श्री शारदा देवीको मैं विकाल बंदना करता हू ।

अर्थ— अधर्मका नाश करनेवाला, श्री जिनेन्द्र भगवानका उत्तम पद प्रदान करनेवाला, मुनिगणोंसे वदनीय, परम तपसे श्राप्त, ममस्त पापोंको नाश करनेवाला, संसारका विध्वंस करनेवाला, विमल बुद्धिका प्रदान करनेवाला और दुष्ट जीवोंको अश्राप्य ऐसा पवित्र जैनधर्म जब तक मोक्षसुखकी प्राप्ति न हो तब तक मेरे हृदयमें विराजित रहो ।

अर्थः— धर्मके ईश, नर सुर विधाधरोसे पूज्य, गणधरोसे सेव्यमान, पूर्व दिशामें ब्रह्माका स्वरूप धारण करनेवाले, मुक्तिके बल्लभ, समस्त भयोंको हरनेवाले ऐसे देवाधिदेव श्री सीमंथर स्वामी मेरे पापशत्रुओंका नाश करो ।

अर्थ—नर देव इन्द्र चक्रवर्ती आदि त्रिलोकके जीवोंसे पूज्य पापरूपी दावागिनको शांत करनेके लिये मेघके समान समस्त गुणोंका निधान सर्व तत्वोंका सारशत ऐसी दिव्य ध्वनिरूप (जिनवाणी) को नमस्कार करता हू ।

जिनवरमुखजातं गौतमाद्यै प्रणीतं । सकलमुनिपसेव्य हि इदं भोजध्वम् ॥ ३०९ ॥

अस्यैव श्रवणाद्भुक्त्वावरा ज्ञानं क्रियाणा तथा । धर्मस्यैव फलस्य शर्मजनक मुक्ते स्वरूपम्य वै ॥

अन्यस्यापि सदैव भो हृदि खलु एव च जाला हृदि । कुर्वीन्व ह्यवहानये अनुदिनं स्वा-ध्यायमस्यैव वै ॥ ३१० ॥

अम्य प्रयोगासकलाश्च अहा । प्रयास्थो दुरतरा जनाना ॥ खगंधारदर्शनतो यथा हि । पवनाशना दुर्जनरूपयुक्ता ॥ ३११ ॥

पठंतु चेम बुवश्चत्मान् ग्रथ मन पापविसर्जन हि । वादस्य कर्तुं गजसिंहबुल्यमनं क्रमेदार्थभृत मनोजम् ॥ ३१२ ॥

यह वाणी श्रीगौतम स्वामीने प्रतिपादन की है । और क्रमसे गुरुपरपराद्वारा वैसीही अविच्छिन्न धाराप्रवाह रूप चली आ रही है ।

अर्थ--इस ग्रथराजके श्रवण करनेसे मनुष्य समस्त क्रियाओके ज्ञाता हो जाते है धर्म और धर्मफलके स्वरूप को जानने लग जाते है । जो इस ग्रथराजका स्वाध्याय करेंगे वे समस्त तत्त्वोंके ज्ञाता होंगे । इस लिये पापोंके नाश के लिये इस ग्रथराजका स्वाध्याय नित्य गतिदिवस करना चाहिये ।

अर्थ—जिस प्रकार गरुडके दर्शन मात्रसे सर्प भाग जाते है । उसी प्रकार इस ग्रंथके पठन पाठन स्वाध्याय और श्रवण करनेसे समस्त पाप शीघ्रही नष्ट हो जाते है ।

अर्थ — इस ग्रंथका पठन पाठन हे भव्यगणो अवश्य ही करिये इससे मनके समस्त पाप शीघ्रही नाश को प्राप्त हो जायगे । यह ग्रंथ वाद विवाद करनेवाले कों सिंहके समान है और अनेक भेदार्य को प्रकट करनेवाला है ।

सूर्य प्रकाश ग्रंथ प्रस्तावितः

श्रीमूल्सधे विदित भगथा गच्छे हि तस्मिन् वरभारतीये । तस्मिन् वरात्काराणोतिरन्ये श्रीकुन्दकुडाह्यमुचयमुक्ते ॥ ३१३ ॥
 तगच्छियुके वरनदिनाम्न आम्नायेषु तस्य तन्मुनेश्च । स्वर्णादिकीर्तिर्विभूमिरान्ना चापत्तीनामपुरे प्रगन्ते ॥ ३१४ ॥
 मुरेः हि तस्य वर वीवद्युक्त । बान्धु सुनाम्ना विदुषाच भान्य ॥ विद्वद्भ्य श्रीयुतराजमस । शिष्यो नृपे पृजिनपादपस ॥
 नाम्ना फनेचद्र सुकूपयुक्त । शिष्यो लामुचस्य मनोभिराम ॥ शान्तादिपारगतात्तेचयुति । रवीव देगवसधर्मकारी ॥ ३१६ ॥
 तम्याप्यमूच्छ्रीवरयोववान् व । वृदावनाह्य मुरपृथपाद ॥ प्रतापवान् शुभगुणाकितथ्य ॥ जिनेन्द्रमादाजद्विरेक्तुस्य ॥ ३१७ ॥

अर्थ—संसार मात्रमें प्रसिद्ध ऐसे मूलसंघमें भारतीय नामक गच्छमें वलात्काराण में और श्रीकुन्दकुद आम्नाय में तप कृद्धि से विश्वपित-पद्मनदी मुनिकी आम्नायमें स्वर्णकीर्ति नामके प्रसिद्ध आचार्य चंपापुर नगर में थे ।

अर्थ—स्वर्णकीर्ति आचार्यके पट्ट पर विद्वानोंसे मान्य श्रेष्ठ विद्वद्दर्श श्रीयुक्त राजमलजी हुए । जिनके अनेक राजा शिष्य थे ।

श्रीराजमलजी के फतेचंद्रजी नामके सुजन शिष्य थे । फतेचंद्रजी समस्त शास्त्रों में पारग्त सरस्वतीको अपने चित्तमें धारण करनेवाले और धर्मको प्रकट करनेवाले थे ।

अर्थ—फतेचंद्रजी के वृदावन नामके शिष्य थें । वे प्रतापी गुणवान् श्रीजिनधर्म के प्रेमी देवताओंसे पुजित ज्ञानकालमें अतिशय निपुण थे ।

स्मरारिहता सकलार्थेत्ता, परोपकारे धृतशुद्धचित्त । धर्माधिपे सेवितपादपद्म धर्माविश्वरुद्रसमभावयुक्त ॥ ३१८ ॥
 कलाकलापाकितविग्रहश्च पचाक्षयामोद्भिद्रुल सदा वै । मायाभिमानेन विवर्जिताग निःक्रोधरूपश्च्युतकोभयशु ॥ ३१९ ॥
 मतातरपालकृभिश्च पादौ सद्ब्रदितौ यस्य प्रतापतेजसा । तस्यापरा किं कथयामि गोभा धर्मोपदेशे धृतचित्तवृत्ति ॥ ३२० ॥
 वृद्धावनस्यापि ह्यभुद्धरेण्यः सीतादिरामाभिग्रथिष्य वाग्मी । भव्यै नृभि सेवितपादपद्मो मुद्गाशयो वा वरपुण्यमूर्तिः ॥ ३२१ ॥
 विवेकधर्ता वररूपयुक्त दयाव्रतपालनचक्षु शुद्धः । श्रीजैनधर्मस्य प्रकाशकारी विद्वज्जानाना मनसोदकारी ।
 षट्कर्मधर्ता बिहताहवारः श्रीसिद्धभूमेश्च कृता सुयात्रा । सच्छीलव्रत्तेन विमुषितागो मानापमाने समधी सदैव ॥

अर्थ—श्रीवृद्धावनका वर्णन ऊपर कहा जा चुका है । फिर भी तीन श्लोकोमें विशेष दिखलाते हैं ।
 कामदेवको नाश करनेवाले समस्त तत्वको जाननेवाले परोपकार करनेमें विशेष लक्ष्मीन राजाओसे संदेव
 मान्य धर्मको वृद्धिगत करनेके लिए चद्रमाके समान अनेक कलाओसे जगतमें चमत्कार प्रकट करनेवाले पांच
 इन्द्रियोको जीतनेवाले विषयोसे विरक्त—मान माया लोभ आदि कपायोसे रहित क्रोधादि दुर्भावनासे विरक्त परमशात
 अनेक मतांतरोका खडन कर समस्त वादियोसे पूजित परम प्रतापी और तेजस्वी ऐसे वृद्धावनके गुणोका कौनसे
 शब्दोसे वर्णन करें । उनके समस्त गुण कह नही सक्ते ।

अर्थः— वृद्धावनके शिष्य सीता— थे । सीतारामजी वाग्मी भव्य जीवोसे पूजित, सरल परिणामी, पुण्य-
 मूर्ति, त्रिवेकी, सुरूपमान, दयानतके पालनेमें विशेष लक्ष्ययोग लगानेवाले, अतःकरणकी शुद्धताको धारण करनेवाले,
 श्री जैनधर्मके प्रभावक विद्वानोसे मान्य, आनन्द स्वभाववाले, षट्कर्मसे प्रवीण, पापको नाश करनेवाले, सिद्धभूमिकी
 यात्रा करनेवाले, शील और व्रतसे विशुषित, मानापमानमें चित्तको सावधान रखनेवाले, परम शांत थे ।

श्री राम होते शिवनीहि आदौ शिष्यो धराया विदित. कृपालु । अमुच्च तस्यापि गुणोत्कराढ्यो विपश्चिदोघेषु सुसुलभ्यमूर्ति ॥
अनेकविज्ञानप्रकाशकारी सद्गर्मध्याने धृतधीः निशान्दि । सिद्धात पौराणविचारदक्षः सद्गीः सदासेवितधर्मवर्त्मा ॥ ३२२ ॥
क्रियत्समाब्दैर्विहिताच तेन तत्रैव चंपावति सत्पुरे हि ॥ सदर्मयुक्तेन गुणाकरण भव्याब्जभानुसहशेन येन ॥ ३२३ ॥
तस्माद्धि चागत्य पुरे मनोज्ञे तक्षाभिधे सैव स्थितिं चकार । कियन्समैर्वा श्रीधर्मवर्त्मैव प्रवर्द्धनार्थम् ॥
आगत्य तस्मादपि सोहि भग्य द्रोणीपुरे वा विदिते क्षितौ हि ॥ अनेकशोभाभिभृते मनोज्ञे सत्खातिकाशालविमण्डिते च ॥
तस्मिन् विभात्येव मनोहरोहि जिनेन्द्रसङ्को वरभृतियुक्तः ॥ सशोभते तस्मिन् पापहंता श्रीपार्श्वनाथो हि जिनेन्द्रदेव ॥

अर्थः— सीतारामके शिष्य शिवजीराम प्रसिद्ध हुए । शिवजीराम कृपालु, गुणगणसे विभूषित, विद्वानोंमें
सबसे अग्रश्रेष्ठ, विज्ञानको प्रकट करनेवाले, धर्मध्यानमें अपनी बुद्धिको लगानेवाले, धर्मके सत्य सिद्धांत समुद्रके पारगन्
श्रेष्ठ वाणीको प्रकाश करनेवाले और धर्ममार्गकी सदैव सेवा करनेवाले थे ।

अर्थः— शिवजीरामजी चंपापुर नगरमें विशेष रहे । और धर्मकी महिमा चंपापुरमें विशेष रूपसे प्रकट की ।
किंग्र वहांसे तक्षाभिध नगरमें कुछ समय सुखसे रहे । और यहांपर भी धर्मका उद्योत करते रहे ।
शिवजीरामने अपनी पर्यायमें अपनी शक्तिसे असीम धर्मकी महिमा प्रकट की । और स्थान स्थानपर धर्मके
प्रकाशनके लिये विहार करते थे ।

अर्थ—श्रीयुक्त शिवजी रामजी वहांसे (तक्षनगर से) कुछ दिवस वाद चले आये और द्रोणी नामक
ग्राममें रहे । उस समय द्रोणीपुर समस्त ससारमें प्रसिद्ध था । खातिका कोट-सरोवर आदिसे विशेष शोभायुक्त और
व्यापार का केन्द्र था । द्रोणीपुरमें एक पार्श्वनाथ भगवान् का दिगंबर जैन मंदिर था । यह जिन मंदिर बडी बडी भारी
विभूतिसे सुशोभित था । उस मंदिरमें समस्त पापोंका नाश करनेवाले स्वर्णके सिंहासन पर विराजमान समस्त प्राणि-

सृगास्मिठोपरि सस्थितं हि दर्विक्राक मनमोददच । छत्रादि शोभाभि विराजमानं पद्मासनस्थं वरसौम्यमृत्तिम् ॥३२७॥
 आतंकरामांतगुण्द्रतुल्यं । सुेन्द्रगुल्यच नेन्द्रवर्ध ॥ चित्तरथपापालिचिनाशक तं । हंतामेवाखिलदुःखकाना ॥३२८॥
 इत्यादिशोभाभि विमडित तं दृष्ट्वाच नत्वा हृदि ब्राप्य मोदं । वासं चकार विदितो धरिष्या धर्मोपदेशार्थमहो हि तस्मिन् ॥
 तत्रैव तस्यापि अभूच्च शिष्यो । नेमीन्दु नाम्ना वरधीप्रयुक्त । श्रीशारदासेवनचिच्चवृत्ति तस्याः प्रसादाच्च अयं कृतोर्वि ३३०
 ग्रंथेऽस्मिन् जिनवक्त्रे तनुधिथा किंचिद्विरुद्धच यत् । मात्राशब्द पदाक्षरादिरहितं आलस्यसंयोगत ॥

राद्धतागमतश्च भो शिवप्रदे नानाकथासमृते । प्रोक्तंच क्षमता सुतद्धि विमले सर्व ममाग खलु ॥ ३३१ ॥

योको आनंद के देनेवाले छत्र चमर भामडलसे अनुपम आत्माको धारण करनेवाले पद्मासन विराजमान सौम्यमृत्ति परम शांत मुद्राके धारक समस्त रोग शोक आदि व्याधिहो दूर करनेवाले देवगणोसे पूजित व भव्य जीवोसे बंदनीय सबके मनके पापोको शांत करनेवाले समस्त प्रकारके कष्टोंको नष्ट करनेवाले सातिशय चमत्कार को धारण करनेवाले इत्यादि बहुतसी शोभासे विभूषित श्री पार्श्वनाथ भगवान् देवाविदेव विराजमान थे ।

शिवजी रामजीने यह स्थान धर्मसाधनके लिये सुयोग्य समझा । और यहाँपर नही धर्मोपदेश देकर (धर्मका प्रकाश कर) धर्मकी मढिमाको बढाने के अभिप्राय से निवास किया ।

अर्थ—द्रोणी नगरमें शिवजीरामके शिष्य नेमिचद्रजीने अनेक शास्त्रोंका पठन पाठन किया था और सरस्वती माताकी विशेष सेवा की थी जिसके प्रसाद से इस ग्रथकी रचना हुई ।

अर्थ—इस ग्रथ में (सर्वप्रकाशमें) श्रीजिनवर भगवान् के मुखकमलसे विनिर्गत दिव्यध्वनि (जिनागम) के विरुद्ध जो हो और अक्षरपद मात्रादि दोष तथा व्याकरणके दोष सहित जो कुछ कहा गया हो विद्वान भव्य मेरे अपराधोंको क्षमा करे । शास्त्र समुद्रमें कौन नही थल खाता है ?

यस्याः मसादाद्रचयति ग्रंथान् कवीश्वराः धर्मकाशकान् हि । श्रीशारदायाः शुभबुद्धियोगात् इहे हि तां सम्मत्तिसिद्धयेहं ॥
 पूजार्थं ख्यातितार्थं ननुच बुधजना नो कृतोयंच ग्रंथः । द्वेषाद्वा रागभावात् शिवपदजनको वा कवित्वाभिमानात् ॥
 बोधार्थं आत्मनो वै पुनश्च शिवपदप्राप्तये सज्जनानां । संबोधार्थं पुनातु ममच सलु हृदं वा शरीरंच वाक्यम् ॥३३२॥
 बुधाश्रेमे ग्रंथं प्रवरगुणद धर्मजनकम् । अथा नाश याति श्रवणपठनादस्य निखिलाः ॥
 ततो नूनं दुःखनिवहविषयाः दुर्जनसमाः । सदाकाले शुद्धे अमलमतिमा भो पठथ वै ॥ ३३३ ॥

अर्थ—जिस सरस्वती के कृपाकटाक्षसे कवीश्वर धर्मकी महिमाको प्रकट करनेवाले ग्रंथोंकी रचना करते हैं । उस सरस्वती माताको मैं भाव विद्युद्धिसे सन्मति की प्राप्तिके लिये पूजा करता हूँ ।

अर्थः— मैंने यह ग्रंथ अपनी प्रसिद्धिके लिये या मान बढ़ाई प्राप्त करनेके अभिप्रायसे नहीं बनाया है या द्वेष और राग भावसे अभिमानके वश होकर नहीं बनाया है । मैंने केवल अपनी आत्माको बोध करनेके लिये और सज्जनोको सवोध करनेके लिये पवित्र भावोंसे बनाया है । इसलिये यह ग्रंथ मेरे हृदय, वचन और शरीरको पवित्र करो ।

भावार्थः— ग्रंथकारका अभिप्राय है कि इस ग्रंथकी रचना किसी दुष्ट बुद्धिसे अभिमानकी रक्षाके लिये राग द्वेषके विकार भावोंसे या किसी भी स्वार्थ बुद्धिसे नहीं की है । जिससे इस ग्रंथमें जिनागमके विरुद्ध वर्णन लिखा जाय । जो कुछ वर्णन किया है वह श्री जिनागमका स्वरूप ही है । मात्र शब्द योजना मैंने की है ।

अर्थः— हे विद्वज्जन हो यह ग्रंथ अनेक गुणोंको प्रदान करनेवाला और धर्मका वीजभूत है ! इसके श्रवण करने और पढ़नेसे पाप नाशको प्राप्त होते हैं । परतु दुर्जनोको यह न रक्षेगा । सुजन जन तो सदा काल इसका पठन करेगा ।

नो सति सज्जनात्र परममुनिपुताः पवमज्ञानिनो हि । लोकाना तारणेणः सकलद्युनुताः संपदासारयुक्ता ॥
 एषु हि संमतान बुधजननिकाग तेषु शास्त्रेषु नृनम् । तत्तुल्या सति भव्या कल्पियुगभवने नो खलु सशयोत्र ॥ ३३३ ॥
 अथो बुद्धिमद सदा सुखकरो अथ श्रिता ज्ञानिनो । अथैव समाप्यतेऽप्रलपदो अथाय तस्मै नम ॥
 अथान्नास्वपरो हितोत्र भवने सच्छर्मद सज्जना । अथस्यैव शुभा गुणा शुभमेदे तस्मिन् हि अथे सदा ॥ ३३४ ॥
 नानासारकथाश्रिते बुधजनैर्विधेव देवेश्वरै । प्रोक्ते श्रीजिनदेवमिश्र महति सर्वैव अथा खलु ॥
 चित्त मोक्षपदे दधेच शुभां भो ईदृगे नददे । मा त्व चोद्वर शीघ्रमेव भवत ईहाहि नो चापरा ॥ ३३५ ॥

अर्थः— इस विषय पचम कालमें, मुनियोसे पूज्य, समस्त जगतके तारक, अनत चतुष्टय और ममोसरणादि विश्वतियुक्त ऐसे तीर्थकर केगली भगवान् साक्षात् नहीं है । परतु उनके वचन ही गणधरोंने तीर्थकर केवली भगवान् माने है । केगली और उनके वचनोमें भेद नहीं है । इसमें कुछ सदेह नहीं करना चाहिये ।

अथ ही बुद्धिके प्रदाता है सुखको करनेवाले है । ज्ञानी पुरुषोंने अथोका आश्रय ग्रहण किया है । अथो से ही अमलपदकी प्राप्ति होती है । अथके लिये भेरा नमस्कार हो । अथके सिवाय अन्य कोई इस ससार में सुखका प्रदाता नहीं है । अथके शुभ गुण सर्वत्र प्रसिद्ध है—अथमें शुभ गुण रहते है ।

अर्थ—अनेक कथाओसे विश्वपित बुध जनोसे मान्य श्रीजिनराजके मुखरुमलसे प्रतिपादित समस्त प्रकारके आनदको प्रदान करनेवाले मोक्षको देनेवाले और ससारका नाश करनेवाले ऐसे शास्त्रोको भव्य जीव अपने हृदयमेंदिर में विराजमान करते है ।

अर्थमें बुधसत्त्वाः शिवसदं विद्वद्वरेणैव वै । प्रोक्तं पापप्रणाशक बुधनुतं सहुद्धिद पावनम् ॥
 सारं सिद्धातसिन्धोः सकलमत प्रियं नेमिचद्रेण धीराः । बुद्धयन्त्रे पारप्रासा सकलमदच्युतास्ते मुदा शोधयतु ॥
 जिनेन्द्रपादाब्जमधुव्रतेन ग्रय कृतोय शुभचेतसा वै । तेन मुदा मन्यप्रभोऽनार्य शिवाय वोऽंगु ननु नोपि शुद्ध ॥३३७
 कराच्च स्वस्यैव लिखति चेद वित्ताच्च स्वस्यैव च लेखयति । श्रीजैनमार्गस्य प्रवर्द्धनार्यं तंऽग्रे भविष्यति सुबोधयुक्ताः ॥
 अथ सूर्यप्रकाशनामकलितो विद्वज्जैर्नैर्बदित । सूर्याचंद्रमसा उडूपनिकरा अग्रे महानिमैले ।
 स्थास्यत्येव ह्ययं यथाश्रितितले मिथ्यामतध्वसतो । मान्यो भव्यनुभिस्तथाहि भवने पूज्यश्चिर नदतु ॥ ३३९ ॥

अर्थ—समस्त पापोंका नाश करनेमाला बुद्धिका प्रदाता मोक्षके सुखको देनेमाला परमपवित्र सिद्धांतका सार शोधन करने ।

अर्थ— श्री जिनराजके पवित्र चरणोंकी सेवा करनेमें तत्पर, विगुद भावोंसे विभूषित ऐसे नेमिचद्रेने भव्य जीवोंके प्रबोधके लिये तथा अपने आत्मकल्याणके लिये यह ग्रंथ बनाया है ।

अर्थ— जो सज्जन इस ग्रंथको अपने हाथोंसे लिखेंगे या जो भव्य जीव अपनी संपत्तिमें लिसायेंगे और इसका विस्तार करेंगे वे जैन धर्मकी वृद्धि करेंगे उनको भविष्यमें अष्ट ज्ञान संपादन होगा ।

अर्थ— विद्वज्जनोंसे वदनीक भव्य जीवोंसे सदैव मान्य और मिथ्या मत्तका ध्वंस करनेमाला यह सूर्यप्रकाश नामका ग्रंथ संसारमें जब तक सूर्याचंद्र या ग्रहनक्षत्र हैं तब तक सदैव स्थिर रहो । चिरकाल तक जैनधर्मका प्रकाश करो ।

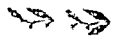
अथ च ग्रथ पठकस्य नित्यं करोतु पापालिविनाशनं हि । सम्गालं बुद्धिवरा तथाहि हृद्वाहितं शर्मति पुनश्च । ३४० ॥
 समाधिष्टु सुगतिं तथैव सदृशनं ज्ञानं तथाच व्रतम् । पुत्रादिष्टुद्धिं जिनधर्मसिद्धिं जिनपादद्वयसन्नुत्तिं च ॥ ३४१ ॥
 ममापि सर्वे सुगुणा भवतु इमे हि मोक्षपददायकाश्च । दुःपापसंदोहविनाशश्चाथ नाकारि स्यात् तस्य कथाहि नास्ति ॥
 अज्ञानदौदुग्धमेहि चाब्दे मित्रादिशैलेन्दु सुशाक्युक्ते । मासे नभारणे शुभनदवक्षे विरोचनस्यैव सुवारके हि ॥ ३४३ ॥
 द्रोणीनार्यां विदितेऽजलायामनेकशोभाविमडिते च । मध्यान्हकाले अरुणस्य शुद्धे । राधाचक्षेत्रे शुभनामयोगे ॥ ३४४ ॥
 श्रीपार्श्वनाथायतने हि तस्मिन् संपूर्णता हि आगदय च । सदा पुनातु प्रवरो हि अंथो नो वश्च चित्त जयति धरिञ्चाम् ॥ ३४५ ॥

अर्थः— यह सूर्यप्रकाश ग्रथ पढनेवाले मन्व्य जीविके पापोका नाश करो, मंगल करो, बुद्धि प्रदान करो और मनके मनोरथ सफल करो ।

अर्थः— यह ग्रथ पढनेवालोको समाधि मरण, सुगति गमन, बोधि लाभ, पुत्रकलत्र आदिकी प्राप्ति और जिनधर्मकी सिद्धि प्रदान करो ।

अर्थः— यह सूर्यप्रकाश ग्रथ ग्रथकर्ता श्रीनेमिचन्द्रको भी समस्त गुणोकी प्राप्ति करो जिससे मोक्षमुख की प्राप्ति हो और पापोका नाश हो । स्वर्गके सुखोकी आवश्यकता नही है ।

अर्थः— यह सूर्यप्रकाश ग्रथ सत्तामें प्रसिद्ध विचित्र शोभा से सुशोभित द्रोणी (डूनी) नगरमें म-गान्ध के समय राधा नक्षत्र शुभयोगमें विशुद्ध भावोंसे श्रीपार्श्वनाथ दिगम्बर जैन चैत्यालय में पूर्ण किया । यह ग्रंथ चिरकाल पर्यन्त सत्तामें जैनधर्मकी वृद्धि करो, हमारे चित्तको पवित्र करो ।



ज्ञानी ध्यानी मुनीन्द्रो मुनिगणमहितो नेमिचंद्रश्च नाम्ना । सिद्धान्तावारकर्ता सकल्मुनिगणेषु च सुख्यत्वमाप ॥
योहि देवै प्रपूज्य सुगुरुप्रतिप द्वंद्वभिर्वर्जिताप । सैव सषातु नो व शिवागदसुखद मंगलं वा करोडु ॥३४६॥

अर्थ—अनागत प्रकाशादिकके कर्ता और गोमट्टमार आदि महान ग्रंथोंके निर्माता श्री नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती मुनीश्वर का आभार (नेमिचंद्र ग्रंथकार) माननेके लिये विनयसे श्रीनेमिचन्द्र मुनीश्वरका गुणानुवाद करता है । क्योंकि उनके अनागत प्रकाशसेही यह ग्रंथ निर्माण किया है । अतएव जिवन उपकार किया है उनका आभार मानना परमावश्यक है ।

आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ज्ञानी ध्यानी तपस्वी व समस्त मुनियोमे मान्य थे जिन्होंने सिद्धांत ग्रंथ बनाये है जो देवोसे पूज्य समस्त प्रकारके द्रव्यसे रहित मुनियोंके स्वामी बृहस्पतिके समान ऐसे श्री नेमिचन्द्र आचार्य ग्रंथकर्ता नेमिचन्द्रको मंगल प्रदान करो ।

इति श्री मुनिनेमिचंद्रसिद्धांतचक्रवर्तिना कृत अनागत प्रकाशग्रन्थतदनुमातोविद्वद्वाश्रीनेमिचन्द्र-
विरचिते श्रीसूर्यप्रकाशनामग्रन्थे श्रीकुटुम्बकद्वयस्वाम्याद्युत्पत्तिवर्णनो नाम
प्रथमोऽध्यायः ॥

श्रीरस्तु-कल्याणमस्तु । श्री

सूर्यप्रकाशग्रंथ समाप्तः ॥